पूज्य पिताजी को

सूरपूर्व ब्रजभाषा के उन अज्ञात लेखकों की
स्मृति में,
जिनकी रचनाएँ
सूर-साहित्य के विशाल भवन के निर्माण के लिए
नींव में दब गयी ।

दूसरा संस्करण

'सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' ग्रन्थ का यह दूसरा संस्करण आपके हाथो सौंपते हुए मुझे अत्यन्त प्रसन्नता और सन्तोष का अनुभव हो रहा है। प्रबन्ध के शास्त्रीय विषय को देखते हुए मुझे यह आशा नही थी कि इसका प्रथम सस्करण इतना शीघ्र समाप्त होगा। यह तो हुआ ही, साथ ही पाठको की ओर से इस पुस्तक की माँग ज्यो-की-त्यो बनी रही। पाठको के इस स्नेहपूर्ण आग्रह के कारण इस पुस्तक का यह दूसरा सस्करण अत्यन्त शीघ्रता से निकालना पडा, इसी कारण अनेक स्थलोपर जिस सस्कार-परिवर्धन को आवश्यकता थी, वह न हो सका।

फिर भी यह सस्करण कुछ नवीन सामग्री से संवलित हो सका, इसकी मुझे प्रसन्नता है और आशा है पाठकगण भी इसे पसन्द करेंगें। परिशिष्ट १ में इस नवीन सामग्री को उपस्थित किया गया है। अभी हाल में ११वी शती का एक शिलाकित काव्य 'राउरवेल' प्रकाश में आया है। मध्यदेशीय परवर्ती अपभ्रश या अवहट्ठ भाषा की इस रचना का हिन्दी के अध्ययन में एक महत्त्वपूर्ण योग स्वीकार किया जायेगा। प्राचीन ब्रजभाषा के अनेक रासकाव्य भी इधर प्रकाश में आए हैं। इन्हें सामान्य रूप से सक्रान्तिकालीन 'नभाआ' को संयुक्त विरासत कह सकते हैं। 'रास' का ब्रजभाषा से अटूट सम्बन्ध है। इसी को दृष्टि में रखकर इस नवीन सामग्री का भी परिशिष्ट १ में समावेश कर लिया गया है। 'कुछ स्फुट काव्य-कृतियाँ' शीर्षक के अन्तर्गत जैन ब्रजभाषा की सामग्रो का सचयन है। चाहिए तो यह था कि इसे पुस्तक के कलेवर में ही यथास्थान अनुस्यूत किया जाता, पर इसके कारण पूर्व-निश्चित व्यवस्था को तोडना पडता और परिच्छेदो में आबद्ध इस पुस्तक की अनुक्रमणिका को नये सिरे से तैयार करना पडता जो शीघ्रता में सम्भव न था। पाठको की सुविधा के लिए विषय से सम्बद्ध विवेचन के सन्दर्भ यथास्थान दे दिए गये हैं।

परिशिष्ट १ में ही गुजरात के प्रसिद्ध वैष्णव कवि नरसिंह मेहता का एक ब्रजभाषा-पद दिया गया है जो उनकी सुप्रसिद्ध रचना 'रास सहस्रपदी' में आता है। इस पद में प्रयुक्त 'साखी' शब्द पर विद्वानो का ध्यान आकृष्ट किया गया है। उमापति के पारिजातहरण के गीतो पर ब्रज-प्रभाव की चर्चा ब्रजभाषा के तत्कालीन उत्तर भारत-व्यापी प्रभाव को समझने में सहायक होगी, ऐसा विश्वास है।

ई० १९५८ में जबसे यह पुस्तक प्रकाशित हुई, तबसे आज तक किसी-न-किसी रूप में इसकी चर्चा, समीक्षा, प्रशसा होती आ रही है। मध्यकालीन भाषा और साहित्य के विविध रूपो के अनुसधित्सुजनो ने अनेक प्रकार से इसका सन्दर्भ-ग्रन्थ के रूप मे उपयोग किया है, ऐसी स्थिति में स्वभावत कई मान्यताओ के प्रति विवाद भी उठ खडे हुए है। साहित्य-अनुसन्धान के क्षेत्र में इस प्रकार के विवाद न

केवल आवश्यक हैं, बल्कि इनका निरन्तर विकासमान अध्ययन में महत्त्वपूर्ण स्थान भी है। मैं इस प्रकार के सभी विद्वानो, अनुसन्धायको और इतिहासकारो के प्रति कृतज्ञ हूँ जिन्होने इस सारस्वत कर्म-योग को प्रेरणा-प्रशंसा दी और इसकी त्रुटियो की ओर लेखक का ध्यान आकृष्ट कराया।

मध्यकालीन काव्य रूपो के अध्ययन में इस पथभृथ कार्य को लोगो ने बडी उदारता से सराहा। हिन्दी में काव्यरूपो का अध्ययन अब भी शैशवावस्था में ही है। इस सस्करण मे मैं काव्यरूपो के अध्ययन को थोडा और विस्तृत करना चाहता था, पर यह अभी हो न सका। अगले सस्करण में इस दिशा में कुछ और कर सकने के सकल्प के साथ ही आपसे छुट्टी लेता हूँ। इति।

१७-१२-६३
हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-५

विदा, पुनर्मिलनाय—
शिवप्रसाद सिंह

भूमिका

सूरदास के मनोहर काव्य से हिंदी का प्रत्येक विद्यार्थी परिचित है। सूरदास और उनके समकालीन भक्तों ने बहुत ही परिमार्जित और व्यवस्थित ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। निस्सदेह उन्होंने ऐसी काव्य-भाषा का एकाएक आविष्कार नही किया होगा। उसमें साहित्य लिखने की परपरा बहुत पुराने काल से चली आती रही होगी। केवल काव्य-भाषा के रूप में ही वह पुरानी परपरा का वाहक नही रही होगी, उसमें छद, अलकार और रस-विषयक ग्रथ भी बन चुके होंगे। जिन लोगो ने हिंदी भाषा के स्वरूप पर विचार किया है वे मानते हैं कि साहित्य के उत्तम वाहन के रूप में ब्रजभाषा सूरदास से बहुत पहले ही चल निकली होगी। परन्तु उस पुरानी भाषा का क्या स्वरूप था, उसमे कैसे काव्यरूप प्रचलित थे, अपभ्रश की प्राप्त रचनाओ से उस पुरानी भाषा का क्या सबध था इत्यादि बातो पर अभी तक व्यवस्थित और प्रामाणिक रूप से विचार नही हुआ। एक तो ब्रजभाषा के क्षेत्र मे लिखी गई किसी प्राचीन रचना का पता नही चलता, दूसरे जो कुछ सामग्री मिलती है उसकी प्रामाणिकता सदेह से परे नही है। इस विषय में इसीलिए कोई महत्त्वपूर्ण विवेचन नही हो सका।

इधर जब से विश्वविद्यालयो में व्यवस्थित रूप से शोधकार्य होने लगा है तब से नवीन सामग्रियो की खोज भी प्रगति कर रही है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा लगभग ६० वर्षों से अप्रकाशित हिन्दी पुस्तको की खोज का महत्त्वपूर्ण कार्य करती आ रही है। इधर उत्तर प्रदेश के सिवा राजस्थान, बिहार आदि राज्यो मे भी खोज का कार्य आरभ हुआ है। अपभ्रश और पुरानी हिंदी के अनेक दुर्लभ ग्रथो के सुसपादित सस्करण भी प्रकाशित होते जा रहे हैं। इस समय देश के विभिन्न केन्द्रो से उत्साह-वर्धक समाचार मिल रहे हैं। जो लोग पुरानी हिन्दी के विविध पक्षो का अध्ययन कर रहे है वे अब उतने असहाय नही है जितने आज से कुछ वर्ष पूर्व के विद्वान् थे। परन्तु नवोपलब्ध सामग्रियो का विधिवत् अध्ययन करके उनकी सहायता से साहित्य के प्रामाणिक इतिहास और भाषा स्वरूप के विकास के वैज्ञानिक और सन्तुलित विवेचन का काम अभी भी आरभ नही किया गया है। इस दृष्टि से मेरे प्रिय शिष्य और सहकर्मी डॉ० शिवप्रसाद सिंह की यह पुस्तक बहुत महत्त्वपूर्ण है। सूर-पूर्व ब्रजभाषा की ऐसी व्यवस्थित विवेचना इसके पहले नही हुई है। सूरदास के पूर्व ब्रजभाषा का विशाल साहित्य विद्यमान था, यह तो सभी मानते आए है पर उसका प्रामाणिक और व्यवस्थित विवेचन नही हुआ था। जिस समय मैंने शिवप्रसादजी को यह काम करने को दिया था उस समय कई मित्रो ने आशका प्रकट की थी कि इस सबध में सामग्री बहुत कम मिलेगी। परन्तु मैंने उन्हें साहस पूर्वक काम में लग जाने

की सलाह दी। शिवप्रसादजी लगन और उत्साह के साथ काम में जुट गए। शुरू शुरू में ऐसा लगा कि मित्रो की आशकाएँ ही सही सिद्ध होगी, परन्तु जैसे-जैसे काम बढता गया, वैसे-वैसे यह स्पष्ट होता गया कि आशंकाएँ निराधार थी। मुझे प्रसन्नता है कि शिवप्रसादजी का यह कार्य विद्वज्जन को सन्तोष देने योग्य सिद्ध हुआ है। इस कार्य को पूरा करने में कई कठिनाइयाँ थी। विभिन्न ज्ञात-अज्ञात भाडारो से सूर-पूर्व व्रजभाषा की सामग्री ढूँढना और फिर उसका भाषा और साहित्य शास्त्र की दृष्टि से परीक्षण करना एक अत्यन्त श्रम-साध्य कार्य था। शिवप्रसादजी ने केवल नई सामग्री ही नही ढूँढ निकाली है, पुराने हिंदी साहित्य और भाषा-विषयक अध्ययन को नया दृष्टिकोण भी दिया है। उन्होने युक्ति और प्रमाण के साथ यह सिद्ध किया है कि १००० ईस्वी के आसपास शौरसेनी अपभ्रश की अपनी जन्म-भूमि में जिस व्रजभाषा का उदय हुआ, आरभ में, उसके सिर पर साहित्यिक अपभ्रश की छाया थी और रक्त मे शौरसेनी भाषाओ की परपरा तथा अन्य सामाजिक तत्त्वो का ओज और बल था। यह भाषा १४वी शताब्दी तक अपभ्रश-बहुल सज्ञा शब्दो और प्राचीन काव्य प्रयोगो के आवरण से ढँकी रहने के कारण परवर्ती व्रजभाषा से भिन्न प्रतीत होती है पर भाषा वैज्ञानिक कसौटी पर वह निस्सदेह उसी का पूर्वरूप सिद्ध होती है। कभी-कभी इन तद्भव शब्दो और प्राचीन प्रयोगो के कारण भ्रम से इस भाषा को 'डिगल' मान लिया जाता है। इस प्रसग में डिगल और पिंगल भाषाओ के अन्तर को स्पष्ट करने में श्री शिवप्रसादजी ने बहुत सन्तुलित दृष्टिकोण का परिचय दिया है। उन्होंने प्राकृतपैगलम्, पृथ्वीराज रासो और औक्तिक ग्रथो में प्रयुक्त होनेवाली व्रजभाषा के विभिन्न स्वरूपो का बहुत अच्छा विवेचन किया है। औक्तिक ग्रथो की भाषा का विश्लेषण करने के बाद वे इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि इन ग्रथो की भाषा लोकभाषा की आरभिक अवस्था का अत्यन्त स्पष्ट सकेत करती है। इन भाषा मे वे सभी नये तत्त्व—तत्सम प्रयोग, देशी क्रियाएँ, नये क्रिया-विश्लेषण, सयुक्तकालादि के क्रिया रूप अपने सहज ढग से विकसित होते दिखाई पडते हैं। यह भाषा १४वी शती के आस-पास मुसलमानो के आक्रमण और ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के दोहरे कारणो से नई शक्ति और सघर्ष से उत्पन्न प्राणवत्ता लेकर बडी तेजी से विकसित हो रही थी। १४वी शती के आस-पास इसका रूप स्थिर हो चुका था।

मैने 'हिंदी साहित्य का आदि काल' मे लिखा था कि 'सही बात यह है कि १४वी शताब्दी तक देसी भाषा के साहित्य पर अपभ्रश भाषा के उस रूप का प्रभाव रहा है जिसमें तद्भव शब्दो का एकमात्र राज्य था। इस बीच धीरे-धीरे तत्सम बहुल रूप प्रकट होने लगा था। ९वी-१०वी शताब्दी से ही बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दो के प्रवेश का प्रमाण मिलने लगता है और १४वी शताब्दी के प्रारम्भ से तो तत्सम शब्द निश्चित रूप से अधिक मात्रा में व्यवहृत होने लगे। क्रियाएँ और विभक्तियाँ तो ईषद् विकसित और परिवर्तित रूप में बनी रहीं पर तत्सम शब्दो का प्रभाव पड़ जाने से भाषा भी बदली-सी जान पडने लगी। भक्ति के नवीन

आन्दोलन ने अनेक लौकिक जन-आन्दोलनो को शास्त्र का पल्ला पकडा दिया और भागवत पुराण का प्रभाव बहुत व्यापक रूप से पडा। शाकर मत की दृढ प्रतिष्ठा ने भी बोलचाल की भाषा मे, और साहित्य की भाषा में भी, तत्सम शब्दो के प्रवेश को सहारा दिया। तत्सम शब्दो के प्रवेश से पुरानी भाषा एकाएक नवीन रूप में प्रकट हुई, यद्यपि वह उतनी नवीन थी नही। मुझे प्रसन्नता है कि शिवप्रसादजी ने तत्कालीन साहित्य की भाषा का जो मथन किया है उससे यह व्यक्तव्य और भी पुष्ट और समर्थित हुआ है। शिवप्रसादजी १२वी से १४वी शताब्दी तक के उपलब्ध ग्रथो की भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण करके अनेक महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों पर पहुँचे हैं। सूरदास के पूर्व के कई अज्ञात और अल्पज्ञात ब्रजभाषा कवियो की रचनाओ के आधार पर उन्होने इस काल की भाषा, साहित्य और काव्य रूपो का बहुत ही उद्बोधक परिचय दिया है। इस निबध मे १४वी शताब्दी से १६वी शताब्दी के बीच लिखे गये ब्रजभाषा-साहित्य का जो अब तक अज्ञात या अल्पज्ञात था, समुचित आकलन होने के कारण, सूरदास की पहले की ब्रजभाषा की त्रुटित शृखला का उचित निर्धारण हो जाता है।

विद्वानो की धारणा रही है कि ब्रजभाषा मे सगुण भक्ति का काव्य ब्रजप्रदेश में वल्लभाचार्य के आगमन के बाद लिखा जाने लगा। शिवप्रसादजी के इस निबध से इस मान्यता का उचित निरास हो जाता है। सगुण भक्ति का ब्रजभाषा-काव्य सूरदास के पूर्व आरभ हो चुका था जिसका सकेत प्राकृपैंगलम् तथा अन्य अपभ्रश रचनाओ मे चित्रित कृष्ण और राधा के प्रेम-परक प्रसगो तथा स्तुतिमूलक रचनाओ से मिलता है। जैन-काव्य के विषय में हिन्दी विद्वानो के मन में अभी उतना आकर्षण नही हुआ है जितना होना चाहिए। मैंने हिन्दी साहित्य के आदिकाल में लिखा था कि इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पडने लगी है कि धार्मिक रचनाएँ साहित्य मे विवेच्य नही हैं। मुझे यह बात उचित नही मालूम होती। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश का होना काव्यत्व का बाधक नही समझा जाना चाहिए। शिवप्रसादजी ने सूरपूर्व ब्रजभाषा के जैन-काव्य का बहुत सुन्दर और सन्तुलित विवेचन किया है तथा पूर्ववर्ती अपभ्रश और परवर्ती ब्रजभाषा काव्य के अध्ययन में उसका उचित महत्त्व भी दिखाया है।

ब्रजभाषा के साहित्य-रूप ग्रहण करने और विभिन्न भौगोलिक और साहित्यिक क्षेत्रो में उसके प्रतिष्ठित होने का इतिहास भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। शिवप्रसादजी ने अनेक प्रकार के काव्यरूपो के उद्भव और विकास की बात युक्ति और प्रमाणो के बल पर समझाई हैं। चरित, कथा, वार्ता, रासक, बावनी, लीला, विवाहलो, वेलि आदि अत्यन्त प्रसिद्ध काव्यरूपो का विस्तृत अध्ययन करके उन्होने मध्यकालीन काव्यरूपो के अध्ययन को नई दिशा प्रदान की है। अब हम सूरदास के पूर्व की ब्रजभाषा के निश्चित रूप को अधिक स्पष्टता के साथ समझ सकते है। परिशिष्ट में इस साहित्य की जो बानगी दी गई है वह स्पष्ट रूप से सूर-पूर्व ब्रजभाषा-साहित्य की समृद्ध परपरा की ओर इगित करती है।

इस प्रकार डॉ० शिवप्रसाद सिंह द्वारा प्रस्तुत यह प्रबन्ध सूरदास के पूर्व की ब्रजभाषा और उसके साहित्य का बहुत सुन्दर विवेचन उपस्थित करता है। मेरे विचार से यह निबंध हिन्दी के पुराने साहित्य और भाषा रूप के अध्ययन का अत्यन्त मौलिक और नूतन प्रयास है। इससे लेखक की सूक्ष्मदृष्टि, प्रौढ विचारशक्ति और मौलिक अन्वेषण प्रतिभा का परिचय मिलता है।

मुझे इस निबंध को प्रकाशित देखकर अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। मेरा विश्वास है कि सहृदय विद्वान् इसे देखकर अवश्य प्रसन्न होंगे। मेरी हार्दिक शुभ-कामना है कि आयुष्मान् श्री शिवप्रसाद अधिकाधिक उत्साह और लगन के साथ नवीन अध्ययनों द्वारा साहित्य को समृद्ध करते रहेंगे।

काशी
दीपावली, सं० २०१५

हजारीप्रसाद द्विवेदी

आभार

सूरपूर्व व्रजभाषा और उसके साहित्य का इतिहास अत्यंत अस्पष्ट और कुहाच्छन्नप्राय रहा है। सूरदास को व्रजभाषा का आदिकवि मानने में व्रजभाषा के प्रेमी चित्त को उल्लास और गर्व का अनुभव भले ही होता हो, जो स्वाभाविक है, क्योकि आरम्भिक अवस्था में इतनी महती काव्योपलब्धि किसी भी भाषा के लिए गौरव की वस्तु हो सकती है, किन्तु सत्याभिनिवेशी और भाषा-विकास के अनुसधित्सु निरतर उस टूटी हुई शृखला के सधान की आशा से परिचालित होते रहे है जिसने अपनी पृष्ठभूमि पर सूर जैसे अप्रतिम प्रतिभाशाली महाकवि को प्रतिष्ठापित किया। किन्तु अनुसधायको की यह आशा आधारभूत प्रामाणिक सामग्री के अभाव मे कभी भी फलवती नही हुई क्योकि १०वी शताब्दीसे १६वी तक के व्रज-साहित्य का सधान पुस्तको मे नही उन ज्ञात-अविज्ञात भाडारो मे हो सकता था जो अद्यावधि अव्यवस्थित हैं और अपनी उदरस्थ सामग्री के विषय मे अकल्पनीय मौन धारण किए हुए है।

सन् १९५३ में गुरुवर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जब सूर-पूर्व व्रजभाषा साहित्य के सधान का यह कार्य मुझे सौंपा तो मैं उस अज्ञात सामग्री की प्राप्ति के विषय में किंचित् आशान्वित जरूर था, किन्तु अपनी सीमित शक्ति और भाडारो में दबी सामग्री की पुष्कल राशि का भी मुझे पूरा ध्यान था। सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश, राजस्थानी और न जाने अन्य कितनी भाषाओ में लिखे हस्तलेखो, गुटको में से सूर-पूर्व व्रजभाषा की सामग्री खोज निकालना तथा भिन्न-भिन्न लिपियो में लिखे इन अवाच्य लेखो के विचित्र अक्षरो को उत्कीलने के बाद भी जो सामग्री मिलती, उसकी प्रामाणिकता के विषय में सदेह-हीन हो पाना एक कठिन कार्य था। जयपुर पुरातत्त्व मदिर के समान्य सचालक मुनि जिन विजय जी, आमेर भाडार के कार्य-कर्ता श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल, अभय जैन पुस्तकालय बीकानेर के सचालक श्री अगरचन्द नाहटा, श्रीकुज मथुरा के श्री व्रजवल्लभ शरण, काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अधिकारी जन, अनूप सस्कृत लाइब्रेरी बीकानेर के पुस्तकालयाध्यक्ष तथा अन्य कई अल्पज्ञात भाडारो के उत्साही जनो ने यदि मेरी सहायता न की होती, तो व्रजभाषा की इस त्रुटित कडी को जोडने का यह यत्किंचित् प्रयत्न भी सभव न हो पाता।

हस्तलेखो में प्राप्त सामग्री के अलावा सूर-पूर्व व्रजभाषा से सबद्ध प्रकाशित सामग्री का भी उक्त दृष्टि से अध्ययन आवश्यक प्रतीत हुआ। किसी भी भाषा की मध्यान्तरित अवस्था का अध्ययन उसकी पूर्ववर्ती और परवर्ती अवस्था के सम्यक् आकलन के बिना सभव नही है। सूर-पूर्व व्रजभाषा के स्वरूप-निर्धारण के समय परवर्ती व्रजभाषा से उसके सबधो का निरूपण करते समय डॉ० धीरेंद्र वर्मा की पुस्तक 'व्रजभाषा' से सहायता मिली। लेखक उनके प्रति अपना विनम्र आभार व्यक्त करता है।

इस प्रबध के लिए उपयोगी सामग्री एकत्र कराने में अन्य भी कई सज्जनो ने अपना अमूल्य सहयोग दिया है। गुवाहाटी विश्वविद्यालय के असमिया विभाग के अध्यक्ष डॉ० विरचिकुमार बरुआ ने शंकरदेव के 'बरगीतो' के विषय में बहुत-सी ज्ञातव्य बातें बताई। कलकत्ता नेशनल लाइब्रेरी के अधिकारियो ने डॉ० जे० आर० वैलन्टाइन के अप्राप्य ब्रजभाषा व्याकरण की प्रतिलिपि करने की आज्ञा प्रदान की। इसकी प्रतिलिपि मेरे मित्र श्री कृष्णबिहारी मिश्र ने प्रस्तुत की। मुनिजिन विजय जी ने कई ज्ञात-अज्ञात कर्तृक-औक्तिक-रचनाओ के हस्तलेख और छपे हुए मूल-रूप (जो तब तक प्रकाशित नही थे) भेजकर लेखक को प्रोत्साहित किया है, इन सभी सज्जनो के प्रति मैं अपनी अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस ग्रथ-प्रणयन के समवाय कारण रहे हैं। उनके स्नेह-सौजन्य के लिए धन्यवाद देना मात्र औपचारिक अथच अक्षम्य धृष्टता होगी।

दो शब्द प्रबध के विषय में भी कहना अप्रासगिक न होगा। नाम से लगता है कि यह प्रबध दो भागो में विभाजित होगा, भाषा और साहित्य। किन्तु ऐसा नही है। प्रबध भाषा और साहित्य के दो अलग-अलग खडो में विभाजित नही है। सूर-पूर्व ब्रजभाषा और इसके साहित्य का क्रमबद्ध धारावाहिक विवरण और विवेचन इस प्रबध का उद्देश्य रहा है, इसलिए विषय के पूर्व और साग अवगमन के लिए १०वी से १६वी शताब्दी के ब्रजभाषा साहित्य को तीन भागो में बांट दिया गया है। उदय काल, सक्रान्ति काल और निर्माण काल। १०वी शताब्दी से पहले की मध्यदेशीय भाषाओ का अध्ययन ब्रजभाषा के रिक्थ-क्रम के रूप मे उपस्थित किया गया है। कालानुसारी क्रम से कवियो और उनकी रचनाओ का परिचय यथास्थान दिया गया है, तथा वही उनके काल-निर्णय और जीवन-वृत्तादि के विषय मे विचार किया गया है आवश्यकतानुसार स्फुट रूप से इनकी भाषा के बारे में भी यत्किंचित् सकेत दिया गया है। इन तीन स्तरो में विभक्त सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसके साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियो का कालक्रम से विश्लेषण देने के साथ ही उनके परस्पर सम्बन्धो और तन्निहित एकसूत्रता को दर्शाने का प्रयत्न किया गया है। अध्याय तीन और चार में ब्रजभाषा के उदय और सक्रान्तिकालीन अवस्था का वैज्ञानिक विश्लेपण प्रस्तुत किया गया है। अध्याय छह मे १४वी से १६वी शताब्दी के बीच लिखित हस्तलेखो के आधार पर आरभिक ब्रजभाषा के व्याकरणिक रूप का विवेचन है। अन्त के दो अध्यायो मे सूर-पूर्व ब्रजभाषा को प्रमुख काव्य-धाराओ और काव्यरूपो का आकलन और मूल्याकन उपस्थित किया गया है।

इस प्रबध के प्रकाशन में श्री कृष्णचन्द्र बेरी ने जो तत्परता दिखाई है उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र है।

हिन्दी विभाग
का० हि० वि० वाराणसी। } शिवप्रसाद सिंह

विषय-सूची

[अंक परिच्छेदसंख्या के सूचक हैं]

सम्बन्ध, ४६–वासुदेव धर्म का उदय, जैन धर्म आदि का दोनो प्रान्तो को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न, ४७–हेम व्याकरण में सकलित दोहो के रचयिता और रचनाकाल, ४८–मुज और भोज ४९–५०–हेम व्याकरण के दोहो की भाषा का शास्त्रीय विश्लेषण। ध्वनि और रूप तत्व की प्रत्येक प्रवृत्ति से व्रजभाषा का घनिष्ठ सम्बन्ध—सूरदास की भाषा से इस भाषा का पूर्वापर सम्बन्ध-निरूपण ५२–७१।

४. संक्रान्तिकालीन व्रजभाषा (विक्रमी १२००–१४००)

हेमचन्द्र के काल में परिनिष्ठित अपभ्रश जन-सामान्य की भाषा नही थी। ग्राम्य अपभ्रश, ७२–७५ अवहट्ठ शौरसेनी अपभ्रश का कनिष्ठ रूप, ७६–पिंगल और व्रजभाषा, ७७–७८–पिंगल नामकरण के कारण डिंगल और पिंगल—सगीत और छन्द का पिंगल नामकरण में प्रभाव, ७९–८२–'जवन' और 'नाग' भाषाएँ, व्रजभाषा से उनका सम्बन्ध, नागो का देश, पिंगल से उनका सम्बन्ध, ८३, १२–१४वी मे मध्यदेश की भाषा-स्थिति पिंगल, अवहट्ठ और औक्तिक व्रज ८४ अवहट्ठ सन्देशरासक, परिचय इसकी भाषा से व्रजभाषा का तुलनात्मक अध्ययन, ८५–१०५–पूर्वी प्रान्तो में अवहट्ठ, चारण शैली का विद्यापति पर प्रभाव, फुटकल अवहट्ठ रचनाओ तथा कीर्तिलता की भाषा में पिंगल का प्रभाव, १०६–१०७–प्राकृतपैंगलम्, परिचय, सकलित रचनाओ के रचयिता का अनुमान, १०८–जज्जल सम्बन्धी रचनाएँ १०९–प्राकृतपैंगलम् के कुछ पद्यो का जयदेव के गीतगोविन्द के श्लोको से अक्षरश साम्य, ११० वब्बर की रचनाएँ, १११–प्राकृतपैंगलम् की भाषा में प्राचीन व्रज के तत्त्व, १११–१२१–जिनपद्मसूरि का थूलिभद्दुफाग–परिचय, ऐतिहासिक विवेचन, भाषा और साहित्य १२२–विनयचन्द सूरि की नेमिनाथ चौपई परिचय, रचनाकाल, भाषादि, १२३–पिंगल या व्रजभाषा की चारण शैली पृथ्वीराज रासो, प्रामाणिकता सम्बन्धी विवादो के निष्कर्ष, १२४–रासो की भाषा पिंगल, १२५–१२६–पुरातन प्रवन्ध सग्रह में उद्धृत चार छप्पयो की भाषा और उनके रूपान्तरो की भाषा मे तारतम्य, १२७–१३२–पृथ्वीराज रासो की भाषा की मुख्य विशेषताएँ, १३३–१४८–नल्लसिह का विजयपाल रासो, १४९–श्रीधरव्यासो का रणमल्ल छन्द, १५०–औक्तिक व्रजभाषा का अनुमानित रूप। उक्तिव्यक्ति प्रकरण, उक्तिरत्नाकर, मुग्धावबोध, बालशिक्षा आदि औक्तिक व्याकरणो के आधार पर १२वी-१४वी मे व्रज-औक्तिक की कल्पना, १५१–१५६।

अप्रकाशित सामग्री का परिचय-परीक्षण

गुरुग्रन्थ में ब्रजकवियों की रचनाएँ

अन्य कवि

हिन्दीतर प्रान्तों के व्रजभाषा कवि

६ आरंभिक व्रजभाषा : भाषाशास्त्रीय विश्लेषण

७ प्राचीन व्रज-काव्य : प्रमुख काव्य-धाराएँ

"इन पदो के सम्बन्ध मे सबसे पहली बात ध्यान देने की यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा मे सबसे पहली साहित्यिक रचना होने पर भी ये इतने सुडौल और परिमार्जित है, यह रचना इतनी प्रगल्भ और काव्यांग पूर्ण है कि आगे होनेवाले कवियो की उक्तियाँ सूर की जूठी-सी जान पडती है अत सूरसागर किसी चली आती हुई गीत-काव्य परम्परा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

प्रास्ताविक

§ १ विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ब्रजभाषा मे अत्यन्त उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण हुआ। ऐसा समझा जाता है कि केवल पचास वर्षों में इस भाषा ने अपने साहित्य की उत्कृष्टता, मधुरता और प्रगल्भता के बल पर उत्तर भारत की सर्वश्रेष्ठ भ षा का स्थान ग्रहण कर लिया। भक्ति-आन्दोलन की प्रमुख भाषा के रूप में उसका प्रभाव समूचे देश में स्थापित हो गया और गुजरात से वगाल तक के विभिन्न भाषा-भाषियो ने इसे 'पुरुषोत्तम-भाषा' के रूप में अपनाया तथा इसमें काव्य-प्रणयन का प्रयत्न भी किया। एक ओर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने इसे पुरुषोत्तम भाषा की आदरास्पद सज्ञा दी क्योंकि यह उनके आराध्य देव कृष्ण की जन्म-भूमि की भाषा थी, दूसरी ओर काव्य और साहित्य के प्रेमी सहृदयो ने इसे 'भाषामणि' की प्रतिष्ठा प्रदान की। डॉ० ग्रियर्सन ने हिन्दी के अभिजात साहित्य के माध्यम के रूप मे प्रतिष्ठित इस भाषा को प्रधानतम बोली (Dialectos Praecipua) कहा है। इसे वे मध्यदेश की आदर्श भाषा मानते हैं।[1] अष्टछाप के कवियो की रचनाओ का सौष्ठव और सौन्दर्य अप्रतिम था। उनके सगीतमय पदो से आकृष्ट होकर सम्राट् अकबर इस भाषा के भक्त हो गये। डॉ० चाटुर्ज्या ने इसी तथ्य की ओर सकेत करते हुए लिखा है कि 'बाबर के सदृश एक विदेशी विजेता के लिए जो भाषा केवल मनोरंजन और साहित्यिक औत्सुक्य का प्रयोग-मात्र थी वही उसके भारतीयकृत पौत्र सम्राट् अकबर के काल तक पूर्णतया प्रचलित स्वाभाविक

---

1 It is a form of Hindi used in literature of the classical period and is hence considered to be the dialectos praecipua and may well be considered as typical of Midland Language On the Modern Indo Aryan Vernaculars, PP. [illegible]

ब्रजभाषा के प्राचीन इतिहास पर विशेष प्रकाश डाल सके।[1] वर्माजी ने स्पष्ट कहा कि पृथ्वीराज-रासो की भाषा मध्यकालीन ब्रजभाषा है, राजस्थानी नही, जैसा कि साधारणतया समझा जाता है किन्तु इस रचना के 'सन्देहात्मक और विवादग्रस्त' होने के कारण इसे वे ब्रजभाषा के अध्ययन में सम्मिलित न कर सके। इसीलिए डॉ० वर्मा ने भी ब्रजभाषा का वास्तविक आरम्भ सूरदास के साथ ही स्वीकार किया। उन्होंने लिखा कि 'ब्रजभाषा और उसके साहित्य का वास्तविक आरम्भ उस तिथि से होता है जब गोवर्धन में श्रीनाथजी के मंदिर का निर्माण पूर्ण हुआ और महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भगवान् के स्वरूप के सम्मुख नियमित रूप से कीर्त्तन की व्यवस्था करने का संकल्प किया। सूरदास ब्रजभाषा के सर्वप्रथम तथा सर्वप्रधान कवि हैं।'[2] डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने स्पष्ट रूप से सूरदास को ब्रजभाषा का आरम्भिक कवि तो नही कहा किन्तु ब्रजभाषा का जो उदयकाल बताया, उससे यही निष्कर्ष निकलता है। उनके मतानुसार 'ब्रजभाषा १६वी शताब्दी में प्रकाश में आयी,'[3] हालाकि उसी पुस्तक में एक दूसरे स्थान पर डॉ० चाटुर्ज्या लिखते हैं कि 'ब्रजभाषा १२०० से १८५० ईस्वी तक के सुदीर्घकाल के अधिकाश मात्रा में सारे उत्तरी भारत, मध्यभारत तथा राजपूताना और कुछ हद तक पजाब को सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक भाषा बनी रही।'[4] डॉ० ग्रियर्सन ने सूरदास को ब्रजभाषा का प्रथम कवि नही स्वीकार किया। उनके मत से १२५० के चन्दबरदाई ब्रजभाषा के प्रथम कवि हैं। १६वीं शताब्दी में सूरदास इस भाषा के दूसरे कवि दिखाई पडते हैं। बीच के ३०० वर्षों का साहित्य बिल्कुल अन्धकार में पडा हुआ है।[5]

§ ३. उपर्युक्त विद्वानो के मतो का विश्लेषण करने पर स्पष्ट मालूम होता है कि ये सभी विद्वान् किसी-न-किसी रूप में सूरदास के पूर्व ब्रजभाषा की स्थिति स्वीकार करते हैं, किन्तु प्रामाणिक सामग्री के अभाव में सूरदास के पहले की ब्रजभाषा और उसके साहित्य का कोई समुचित विश्लेषण प्रस्तुत न कर सकने की विवशता भी व्यक्त करते हैं।

§ ४. आरम्भिक ब्रजभाषा का परिचय-सकेत देनेवाली जो कुछ सामग्री इन विद्वानो को प्राप्त थी वह इतनी अल्प, विकीर्ण और अव्यवस्थित थी कि उस पर कोई विस्तृत विचार सम्भव न था। जो कुछ सामग्री प्रकाशित हो चुकी थी, उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध थी, इसलिए उसके परीक्षण का प्रश्न ही नही उठा। सन्तो की रचनाओ का भाषागत विवेचन नही हुआ, और उसे 'मिश्रित', 'सधुक्कडी' या 'खिचडी' भाषा नाम देकर काम चलता किया गया। इस प्रकार प्राप्त सामग्री का भी सही उपयोग न होने के कारण सूरदास के पहले की ब्रजभाषा का इतिहास पूर्णत अलिखित ही रह गया। मध्यदेश की भाषा-परम्परा छान्दस् या वैदिक भाषा से आरम्भ होकर शौरसेनी अपभ्रंश तक प्राय अविच्छिन्न रूप में ही प्राप्त होती है। ब्रजभाषा का उदय यदि १६वी शताब्दी के अन्त में मान लिया जाता है तो इस महती परम्परा का कुछ सौ वर्षों का इतिहास छूट जाता है और ऐसा जान पडता है कि इस

---

१ ब्रजभाषा, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, १९५४, पृ० २०

२ वही पृ० २१–२२

३ भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, १९५४, पृ० १९५

४. वही पृ० १८९

5. Linguistic Survey of India, Vol IX Part I P 71–73

गये। मुसलमानो के आक्रमण, मिश्रण और मेल-जोल से उत्पन्न परिस्थितियो के कारण १३वी शताब्दी के आस-पास दिल्ली मेरठ की भापा को ज्यादा तरजीह मिली और पजावी तथा खडी-वोली के मिश्रण से उत्पन्न यह नयी भापा फारमी शब्दो के साथ रेखता या 'हिन्दवी' के नाम से चल पडी। किन्तु उम नयी भाषा को परम्पराप्रिय जनता की ओर से कोई वडा प्रोत्साहन न मिला। हिन्दुओ की सास्कृतिक परम्परा का निर्वाह मुसलमानी प्रभाव से अस्पृष्ट अन्य वोलियो द्वारा ही होता रहा। व्रजभाषा इनमें मुख्य थी, जिसका साहित्य राजपूत दरवारो और धार्मिक संस्थानो-द्वारा सुरक्षित हो सकता था किन्तु मुसलमानो के आक्रमण का सवसे वडा प्रभाव इन सास्कृतिक केन्द्रो पर ही पडा और यत्किंचित् साहित्य-सामग्री भी जिसके प्राप्त होने की आशा हो सकती थी, नष्ट हो गयी। ईस्वी सन् की १०वी और १४वी शताब्दी के वीच मध्यदेश में देशी भापा मे लिखा हुआ साहित्य वहुत कम मिलता है। इसका प्रमुख कारण इस आक्रमण को माना जा सकता है। किन्तु जो साहित्य प्राप्त है, वह नितान्त उपेक्षणीय नही। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है कि 'इस अन्धकार युग को प्रकाशित करनेवाली जो भी सामग्री मिल जाये उसे सावधानी से जिला रखना कर्त्तव्य है। क्योकि वह वहुत वडे आलोक की सम्भावना लेकर आयी है, उसके पेट में केवल उस युग के रसिक हृदय की धडकन ही नही, केवल सुशिक्षित चित्त के सयत और सुचिन्तित वाक्पाटव का ही नही, वल्कि उस युग के सम्पूर्ण मनुष्य को उद्भासित करने की क्षमता छिपी होती है।[1]

अपभ्रंश भापा का जो साहित्य प्राप्त होता है उसमें अधिकाश पश्चिमी अपभ्रश का है। १३वी शताब्दी के आस-पास के साहित्य मे प्रान्तीय प्रभाव मिलने लगते हैं। गुजरात देश की रचनाओ में प्राचीन राजस्थानी के तत्व तथा सिद्धो के गानो (दोहो में नही) की भाषा में पूर्वी प्रदेश की भाषा या भाषाओ का प्रभाव दिखाई पडता है। फिर भी ९०० से १२०० तक का अपभ्रश साहित्य अधिकाशत शौरसेनी अपभ्रंश का ही साहित्य है। परिनिष्ठित अपभ्रश की रचनाओ में हम व्रजभाषा के विकास-बिन्दु पा सकते हैं। बहुत से विद्वान् इन रचनाओ की भापा को केवल शौरसेनी अपभ्रश नाम के आधार पर ही व्रजभाषा (शौरसेनी भापा) से सम्वद्ध नही मानना चाहते, किन्तु यदि ध्वनि और रूपतत्वो की दृष्टि से इसे प्रमाणित किया जाये तो अवश्य ही यह सम्बन्ध साधार कहा जायेगा। आगे इस पर विस्तार से विचार किया गया है।

११वी शताब्दी के ठीक बाद की जो सामग्री प्राप्त होती है, उसमें सवसे महत्वपूर्ण हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के अपभ्रश दोहे हैं। गुलेरीजी ने वहुत पहले नागरी प्रचारिणी पत्रिका के भाग २ अक ५ में हेमचन्द्र के दोहो तथा इसी तरह के कुछ अन्य फुटकल दोहो का सकलन 'पुरानी हिन्दी' के नाम से प्रकाशित कराया। गुलेरीजी ने जव इस सग्रह को प्रस्तुत किया था तव इनके आधार-ग्रन्थो का न तो व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक सम्पादन हुआ था और न तो इनके भापा तथा साहित्य सम्वन्धो मूल्यो का कोई विवेचन ही किया गया था। गुलेरीजी ने वडी विद्वत्ता के साथ इन दोहो में पुरानी हिन्दी के भापा-तत्वो को ढूँढने का प्रयत्न किया। अपभ्रश की जो भी सामग्री उस समय उपलब्ध थी उसका गंभीर अध्ययन उन्होने किया था और यही कारण है कि उन्होने इन दोहो की भापा को अपभ्रश से भिन्न

---

१ हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पटना, १९५२, पृ० २५

है क्योंकि इस काल की जो भाषा उपलब्ध होती है उसमें न तो पुरानी भाषा के सब लक्षण लोप ही हुए दीखते हैं न नव्य भाषाओ के सभी लक्षण स्पष्ट रूप से उद्भिन्न ही हो पाये हैं। उत्तर भारत में इन दिनो संस्कृत, प्राकृत और साहित्यिक अपभ्रंश के अतिरिक्त तीन और प्रबल भाषाएँ दिखाई पडती हैं। राजस्थान-गुजरात के क्षेत्र में गुर्जर अपभ्रंश से विकसित तथा साहित्यिक शौरसेनी अपभ्रंश से प्रभावित देशी भाषा जिसे डॉ० तेसीतोरी ने प्राचीन पश्चिम राजस्थानी नाम दिया है, शौरसेनी अपभ्रंश के मूलक्षेत्र मध्यदेश में अवहट्ठ और पिंगल नाम से साहित्यिक अपभ्रंश का ही एक कनिष्ठ रूप प्रचलित था जिसकी आत्मा मूलत. नव्य भाषाओ से अनुप्राणित थी किन्तु जिस पर शौरसेनी अपभ्रंश का भी पर्याप्त प्रभाव था। पूर्वी क्षेत्रो में कोई महत्वपूर्ण सामग्री नही मिलती किन्तु ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्णरत्नाकर, कीर्तिलता के कुछ प्रयोगो और बौद्ध सिद्धो के कतिपय गीतो की भाषा के आधार पर एक व्यापक पूर्वी भाषा के स्वरूप की कल्पना की जा सकती है। अवहट्ठ और पिंगल व्रजभाषा के पुराने रूप हैं। इनके नाम, रूप तथा ऐतिहासिक विकास का विस्तृत विवरण तीसरे अध्याय 'सक्रान्ति-कालीन व्रजभाषा' में प्रस्तुत किया गया है। सक्रान्तिकालीन व्रजभाषा की दोनो शैलियो अवहट्ठ शैली तथा पिंगल या चारण शैली का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन उक्त अध्याय का विषय है। अवहट्ठ चूँकि प्राचीन परम्परा का अनुगामी था इसलिए इसमें मध्यदेशीय नव्य भाषा के तत्व उतनी मात्रा में नही मिलते जैसा कि पिंगल रचनाओ की भाषा में, फिर भी अवहट्ठ व्रजभाषा से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध कहा जा सकता है। अवहट्ठ की रचनाओ में प्राकृत पैंगलम्, सन्देशरासक, कीर्तिलता, नेमिनाथ चोपई, थूलिभद्दफागु आदि अत्यन्त महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं, जिनकी भाषा में व्रजभाषा के बीजांकुर वर्तमान हैं। पिंगल की प्रामाणिक रचनाओ में श्रीधर व्यास का रणमल्लछन्द, प्राकृतपैंगलम् के हम्मीर-सम्बन्धी तथा अन्य चारण शैली के पद गृहीत होते हैं। पृथ्वीराज रासो के प्रामाणिक छप्पयो की भाषा तथा परवर्ती सस्करणो की भाषा की मुख्य विशेषताएँ तथा इनमें समुपलब्ध व्रजभाषा के तत्वो का विश्लेषण भी कम महत्वपूर्ण नही है।

§ ८ सक्रान्तिकाल (१२वी–१४वी) में उपर्युक्त अवहट्ठ और पिंगल अथवा चारण शैली के अतिरिक्त व्रजभाषा के बोल-चाल के रूप की भी कल्पना की जा सकती है। पिंगल या अवहट्ठ जन-सामान्य की भाषाएँ नही थी। पिंगल और अवहट्ठ उस काल की साहित्यिक भाषाएँ थी अर्थात् कृत्रिम भाषाएँ। व्रजभाषा का एक क्षेत्रीय रूप भी रहा होगा। मध्यदेश में बोली जानेवाली व्रजभाषा के तत्कालीन रूप के अनुमान का कोई आधार नहीं है। १२वी-१६वी के बीच के कुछ औक्तिक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। औक्तिक अर्थात् उक्ति या बोली। इस प्रकार के ग्रन्थो में तत्कालीन बोलियो के व्याकरण दिये हुए है। इनमे से कोई भी मध्यदेशीय उक्ति या बोली का ग्रन्थ नही है। उक्तिव्यक्ति प्रकरण, उक्ति रत्नाकर (जिसमें तीन उक्ति-ग्रन्थ सकलित हैं) तथा मुग्धावबोध औक्तिक आदि रचनाएँ सक्रान्तिकालीन देश्य भाषा-रूपो के अध्ययन में बहुत सहायक हो सकती हैं। इनमें से उक्तिव्यक्ति प्रकरण की रचना काशी में हुई है, मुग्धावबोध को गुजरात में तथा उक्ति रत्नाकर की रचनाएँ गुजरात-राजस्थान में लिखी हुई हैं। इनकी भाषा के सतुलनात्मक अध्ययन के आधार पर हम औक्तिक व्रजभाषा अर्थात् बोल-चाल की व्रजभाषा का एक अनुमानित (Hypothetical) रूप निर्धारित कर सकते हैं। परवर्ती व्रजभाषा में भी प्राय दो रूप मिलते हैं औक्तिक शैली और चारण

डॉ० गुप्त ने ब्रजभाषा की वास्तविक स्थिति को भुला दिया है। नामदेव या किसी सन्त कवि का पिंगल या ब्रजभाषा में काव्य करना ज्यादा स्वाभाविक और कम आश्चर्यजनक है, क्योंकि ब्रजभाषा की एक सुनिश्चित और विकसित काव्य-परम्परा थी, जो गुजरात से बंगाल तक के कवियों-द्वारा समान रूप से गृहीत हुई थी। फिर इस भाषा के नामदेव-कृत न होने का प्रमाण भी क्या है? इसके विपरीत नामदेव के पदों की प्राचीनता सिद्ध है क्योंकि १६६१ में लिपिबद्ध गुरुग्रन्थ में ये संकलित हैं। मौखिक परम्परा में भ्रष्टता या रूपान्तर कहाँ उत्पन्न नहीं हुआ है। यदि सन्तों की भाषा में परिवर्तन होने की आशंका है तो सूरदास की भाषा में भी वह आशंका रह ही जाती है। सूरसागर की कौन-सी प्रति गुरुग्रन्थ से पुरानी है। सन्तों के ब्रजभाषा के सम्यक् अध्ययन के बिना सूरदास तथा अन्य कवियों के भाषा-साहित्य का पूरा परीक्षण नहीं किया जा सकता।

§ १२ सन्तों ने एक ओर जहाँ ब्रजभाषा को सहज प्रेम, अहेतुक आत्मनिवेदन, निष्कपट रागबोध की पवित्र भावनाओं से सुसंस्कृत किया वहीं तत्कालीन संगीतज्ञ गायक कवियों ने इस भाषा में गेयता, मधुरता और संगीत की दिव्यता उत्पन्न की। खुसरो, गोपाल नायक, बैजूबावरा, हरिदास और तानसेन-जैसे गायकों ने उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण भी किया। इनकी रचनाएँ नवीन आह्लादकारी लयमयता से परिप्लुत हो उठीं। इस प्रकार १४वीं से १६वीं के ब्रजभाषा-साहित्य को जैन कवियों, प्राचीन कथा-वार्ता के लेखकों, प्रेमाख्यानक-रचयिताओं, सन्तों तथा गायक कवियों ने अपनी साधना से नयी भास्वरता प्रदान की। सूरदास इसी साधना के उत्तराधिकारी हुए, उनके काव्य को विक्रमाब्द १००० से १६०० तक की ब्रजभाषा की सारी उपलब्धियाँ सहज रूप में प्राप्त हुई। न केवल मध्यदेश में रचित साहित्य की परम्परा ही उनको विरासत में मिली बल्कि गुजरात के भालण (१५वीं शती), महाराष्ट्र के नामदेव, त्रिलोचन, पंजाब के गुरु नानक तथा सुदूर पूरब में असम के शंकरदेव की ब्रज-कविताएँ भी ज्ञात-अज्ञात रूप से उनकी भाषा को शक्तिमत्ता प्रदान करने में सहायक हुई।

ब्रजभाषा सम्बन्धी कार्य

§ १३. ब्रजभाषा के शास्त्रीय अध्ययन का यत्किंचित् प्रयत्न बहुत पहले से होता रहा है। अब तक के उपलब्ध व्याकरण-ग्रन्थों में सबसे पुराना व्याकरण मिर्जा खाँ का है जो उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तुहफत-उल-हिन्द' का एक अंश है। वैसे नव्य भारतीय आर्य भाषाओं का स्वरूप बोध करानेवाले कुछ औक्तिक ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं, किन्तु इनमें किसी निश्चित भाषा का पता नहीं चलता। औक्तिक ग्रन्थकार भी अपनी भाषा को उक्त अपभ्रंश या देशी अपभ्रंश ही कहते हैं।[1] इस तरह एक निश्चित भाषा पर लिखा हुआ सबसे प्राचीन व्याकरण मिर्जा खाँ का ही कहा जा सकता है। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने इस ग्रन्थ की भूमिका में ठीक ही लिखा है कि 'अब तक प्राप्त साहित्य में मिर्जा खाँ का 'तुहफत' नव्य भारतीय आर्य भाषाओं का सबसे प्राचीन व्याकरण कहा जा सकता है।[2] मिर्जा खाँ का 'तुहफत-उल-हिन्द' १६७५ ईस्वी के कुछ पहले का लिखा हुआ ग्रन्थ है जिसमें ब्रजभाषा के छन्दशास्त्र, अलंकार,

---

भी कहा गया है।

1934, Foreword PP, xi.

नायक-नायिका भेद, साथ ही भारतीय संगीत, जिसमें भारतीय राग-रागिनियो के साथ फारसी संगीत का भी विवरण है, तथा कामशास्त्र, सामुद्रिक और अन्त में हिन्दी-फारसी के तीन हज़ार शब्दो का कोश प्रस्तुत किया है। व्रजभाषा की कविताओ को समझने के लिए व्रजभाषा के व्याकरणिक रूप से परिचित होना आवश्यक था, इसीलिए मिर्जा खाँ ने व्रजभाषा का सक्षिप्त व्याकरण इस ग्रन्थ को भूमिका के रूप में उपस्थित किया। फारसी उच्चारण के अभ्यस्त मुसलमानो को दृष्टि में रखकर मिर्जा खाँ ने व्रजभाषा के उच्चारण और अनुलेखन पद्धति (Orthography) पर अत्यन्त नवीन ढग से विचार किया है। ध्वनियो के अध्ययन में मिर्जा खाँ का श्रम प्रशसनीय है, किन्तु जैसा डॉ० चाटुर्ज्या ने लिखा है कि वे एक सावधान निरीक्षक तो प्रतीत होते हैं, परन्तु उनके निष्कर्ष और निर्णय कई स्थानो पर अवैज्ञानिक प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए मिर्जा खाँ 'द' को दाल-इ-खफोफ अर्थात् ह्रस्व 'द' कहते हैं जब कि 'ध' को दाल-इ-सकील यानी दीर्घ (Heavy sound) मानते हैं। उसी तरह 'ड' को 'डाल-इ-मुश्किला' यानी दीर्घ और महाप्राणध्वनिक 'ढ' को डाल-इ-अस्कल अर्थात् दीर्घतम ध्वनि कहा गया है। यहाँ पर ह्रस्व (Light) दीर्घ (Heavy) तथा दीर्घतम (Heaviest) आदि भेद बहुत अनियमित और अनिश्चित मात्रा-बोध कराते हैं। फिर भी मिर्जा का ध्वनि-विश्लेषण नव्य आर्यभाषाओ के ध्वनि-तत्व के अध्ययन में बहुत बडा योग-दान है। मिर्जा खाँ ने व्याकरणिक शब्दो (Grammatical terms) के जो प्रयोग किये हैं वे हिन्दी व्याकरण के नये शब्द हैं जो उस समय प्रयोग मे आते रहे होगे। उदाहरण के लिए करतव (Verb) के भूत (Past) वर्तमान (Present) भविक्ख (Future) क्रिया (Perfect Participle) और कृत् (Object) भेद बताये गये हैं।

व्रजभाषा का दूसरा व्याकरण बाबू गोपालचन्द्र 'गिरधरदास' ने लिखा जो छन्दोबद्ध है और जिसे श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी ने पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित कराया है। यह व्याकरण अत्यन्त सक्षिप्त रीति से व्रजभाषा की मूल व्याकरणिक विशेषताओ का उल्लेख करता है। उदाहरण के लिए परसर्ग और विभक्तियो पर लिखा यह छन्द देखें

देव जो सो सुखी देव जे हैं से पूजनीय
देव को नमत पूजें देवन के मति सित
देव सों मिलाप मेरो देवन सों रमें मन
देव को सुदीनों चित्त देवन को गृह वित
देव तें न दूजो साथी देवन सों बड़ो हू न
देव कौ रसिक दास देवन कौ न गुन हित
देव में विरति नति देवन मे सतगति
करो कृपा हे देव हे देवन द्रवो नित

व्याकरणिक नियमो का निरीक्षण स्पष्ट है किन्तु उसमें व्याकरण की वारीकी नही है। फिर भी १९वी शताब्दी में लिखे होने के कारण इस व्याकरण का महत्व नि सदिग्ध है।

§ १४ व्रजभाषा का वैज्ञानिक अध्ययन अन्य भारतीय भाषाओ के साथ ही योरोपीय विद्वानो के प्रयत्न से आरम्भ हुआ। १८८८ ईस्वी में लल्लूजी लाल ने व्रजभाषा के कारक-विभक्तियो और क्रियाओ पर एक निबन्ध प्रस्तुत किया। उस निबन्ध में व्रजभाषा-क्षेत्र की भी चर्चा हुई। लल्लूजी लाल के मत से व्रजभाषा व्रजमडल, ग्वालियर, भरतपुर रियासत,

आधारित थी। ग्रियर्सन ने अपनी पुस्तक 'ऑन माडर्न इंडोआर्यन वर्नाक्यूलर्स' में भी ब्रजभाषा पर प्रसंगवश कही-कही विचार किया है।

ग्रियर्सन के अलावा अन्य कई योरोपीय भाषावैज्ञानिको ने अवान्तर रूपसे, भारतीय भाषाओ के अध्ययन के सिलसिले में ब्रजभाषा पर विचार किया। बीम्स ने अलग से पृथ्वी-राजरासो की भाषा पर एक लम्बा निबन्ध लिखा जो १८७३ ई० में छपा।[1] जिसमें ब्रजभाषा के प्राचीन रूप पर अच्छा विचार किया गया।

इसी प्रकार हार्नले, तेसीतोरी आदि ने भी ब्रजभाषा पर यत्किंचित् विचार किया। डॉ० केलाग ने हिन्दी व्याकरण में ब्रजभाषा पर काफी विस्तार से विचार किया है। केलाग के ब्रजभाषा-अध्ययन का मुख्य आधार लल्लूजी लाल की 'प्रेमसागर' और 'राजनीति' पुस्तकें रही हैं। ब्रजभाषा की विशेषताओ का निर्धारण केलाग ने इन्ही पुस्तको की भाषा के आधार पर किया। केलाग ने परसर्गों, क्रियाओ, सर्वनामो और विभक्तियो की व्युत्पत्ति ढूँढने का प्रयत्न किया है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। १८७५ ईस्वी में केलाग का यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ जो आज तक हिन्दी का श्रेष्ठ व्याकरण माना जाता है।

हिन्दी भाषा में ब्रजभाषा पर बहुत कार्य नहीं हुए। विकीर्ण रूप से विचार तो कई जगह मिलता है किन्तु ब्रजभाषा के सन्तुलित और व्यवस्थित व्याकरण बहुत कम हैं। वैसे तो 'बुद्ध चरित' की भूमिका में रामचन्द्र शुक्ल ने, तथा 'बिहारी रत्नाकर' में कविवर रत्नाकर ने ब्रजभाषा की कुछ व्याकरणिक विशेषताओ पर प्रकाश डाला है। किन्तु इनमें न तो पूर्णता है न वैज्ञानिकता। श्री किशोरीदास वाजपेयी का 'ब्रजभाषा व्याकरण' पुरानी पद्धति पर लिखा गया है, परन्तु यह महत्त्वपूर्ण और काम की चीज़ है। ब्रजभाषा पर हिन्दी में प्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने किया है। उन्होंने १९३५ ई० में पेरिस विश्वविद्यालय की डी० लिट् उपाधि के लिए ब्रजभाषा पर 'ला लाग ब्रज' नाम से प्रबन्ध प्रस्तुत किया। इसी पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर १९५४ मे प्रयाग से प्रकाशित हुआ। व्याकरण और भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन में अन्तर होता है। ब्रजभाषा के उपर्युक्त कार्यों में कुछेक को छोडकर बाकी सभी व्याकरण को सीमा में ही बँधे हुए थे। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने सर्वप्रथम इस महत्त्वपूर्ण भाषा का भाषाशास्त्रीय अध्ययन उपस्थित किया। इस पुस्तक की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमें मध्यकालीन ब्रजभाषा (१६वीं–१८वी) तथा आधुनिक औक्तिक ब्रजभाषा का तुलनात्मक व्यवस्थित अध्ययन किया गया है। लेखक ने बडे परिश्रम से ब्रजप्रदेश के हिस्सो से भिन्न बोलियो के रूप वहाँ के लोगो के मुख से सुनकर एकत्र किया। इस प्रकार इस पुस्तक में साहित्यिक ब्रज और बोल-चाल की ब्रज का तारतम्य और सम्बन्ध स्पष्टतया व्यक्त हो सका है। किसी भी भाषा-अनुसन्धित्सु के लिए परिशिष्ट में संकलित बोलियो के उद्धरणो और अन्त में सलग्न विस्तृत शब्द-सूची का महत्त्व निर्विवाद है।

ब्रजभाषा सम्बन्धी इन कार्यों का विवरण देखकर इतना स्पष्ट हो जाता है कि सूरदास के पहले ब्रजभाषा का यदि शास्त्रीय और प्रामाणिक विवेचन उपस्थित हो सके तो वह निश्चय ही टूटी हुई कडी जोडने में सहायक होगा और १६वी शताब्दी से बाद की ब्रजभाषा के अध्ययन का पूरक हो सकेगा।

---

1 Notes on the Grammar of Candabardai J R A S, 1873.

साहित्य

§ १८. बारहवी शताब्दी से १६वी शताब्दी के बीच प्राप्त होनेवाले ब्रजभाषा-साहित्य का सम्यक् परीक्षण नही हो सका है। इस काल के कुछेक ज्ञात कवियो के बारे में छिट-फुट सूचनाएँ छपती रही हैं, खास तौर से रासो ग्रन्थो के बारे में, किन्तु वहाँ भी साहित्यिक सौष्ठव या काव्योपलब्धि दर्शाने का प्रयत्न कम किया गया है, इनकी प्रामाणिकता अथवा ऐतिहासिकता की ऊहापोह ज्यादा। आचार्य शुक्ल ने अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अपभ्रंश और वीरगाथा काल—दोनो ही युगो के साहित्य पर अन्यमनस्क भाव से विचार किया है। फिर हिन्दी-साहित्य के उक्त इतिहास ग्रन्थ में इस युग के प्राप्त साहित्य की पूरी परम्परा को दृष्टि में रखकर विचार करने का अवसर भी न मिला। रासो ही ले-देकर आलोच्य ग्रन्थ बना रहा इसलिए छोटी-बडी अनेक रचनाओ के काव्य-रूपो (Poetic forms) के अध्ययन का कोई प्रयत्न नही हुआ, जो आवश्यक और महत्त्वपूर्ण था। डॉ० रामकुमार वर्मा ने अपने आलोचनात्मक इतिहास में हिन्दी के आरम्भिक काल पर विस्तार से लिखा और साहित्यिक प्रवृत्तियो को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। वर्माजी के ग्रन्थ में सिद्ध साहित्य, डिंगल साहित्य, सत साहित्य आदि विभागो पर अद्यावधि प्राप्त सामग्री का सकलन किया गया, जो प्रशसनीय है, किन्तु अपभ्रंश, पिंगल और ब्रज-हिन्दी के साहित्य की अन्तर्वर्ती धारा के विकास की एकसूत्रता को पूर्णतया स्पष्ट नही किया गया है अर्थात् सिद्धो और सन्तो के तथा वैष्णव भक्तों के साहित्य की सम-विषम प्रवृत्तियो का तारतम्य और लगाव नही दिखाया गया, उसी प्रकार प्राचीन-साहित्य के रास, विलास, चरित, पुराण, पवाडा, फागु, वारहमासा, षट्ऋतु, वेलि, विवाहलो आदि काव्य-रूपो के उद्गम और विकास की दिशाएँ भी अविवेचित ही रह गयी। इसका मुख्य कारण इन इतिहास-ग्रन्थो की सीमित परिधि ही है, इसमें सन्देह नहीं।

ईस्वी सन् की १०वी से १४वी शती के साहित्य का अत्यन्त वैज्ञानिक विवेचन डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'आदिकाल' में दिखाई पडता है। द्विवेदीजी ने आदिकाल की अल्प प्राप्त सामग्री का परीक्षण किया, उसकी मुख्य प्रवृत्तियो को सोचा-विचारा और उन्हें बृहत्तर हिन्दी साहित्य को सही पृष्ठभूमि के रूप में स्थापित भी किया। उन्होने रासो आदि ग्रन्थो का वास्तविक मूल्याकन उपस्थित किया। काव्यसौष्ठव की दृष्टि से और उनके वस्तु-सौन्दर्य, कथानक रूढ़ियो तथा तत्कालीन सास्कृतिक चेतना के प्रतिफलन के प्रयत्न को दृष्टि में रखकर। अन्त में उन्होने रास, आख्यायिका, कहानी, सवदी, दोहरा, फागु, वसन्त आदि काव्य-रूपो का परिचय भी दिया जो हिन्दी में इस प्रकार का पहला प्रयास था। इसलिए यहाँ भी काव्य-रूपों के विकास का दिशा-सकेत मात्र ही हो पाया है, पूर्ण विवेचन नही। ब्रजभाषा साहित्य की सबसे बडी विशेषता उसके पदो और गानो की सगीतमयता है। सूरपूर्व ब्रजभाषा साहित्य को समृद्ध बनानेवाले सगीतज्ञ कवियो की रचनाओ का अब तक सम्यक् अध्ययन नही हो सका है—सूर और अन्य ब्रज कवियो ने सगीत को साहित्य का एक अविच्छेद्य अग बना दिया था। इस तत्त्व को समझने के लिए गोपाल नायक, बैजूबावरा आदि गीतकारो की रचनाओं का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है (देखिए §§ २३८-४४)। इसी सिलसिले में मीर अब्दुल वाहिद के 'हकायके हिन्दी' का भी उल्लेख होना चाहिए। इस ग्रन्थ में लेखक ने हिन्दी के और विष्णुपद गानों में लौकिक शृगार के वर्ण्य विषयो को आध्यात्मिक ढग से समझाने

की कुञ्जी दी है। लेखक ने अपने मत की पुष्टि के लिए स्थान-स्थान पर ब्रजभाषा की रचनाओ के कतिपय अंश उद्धृत किये हैं (देखिए § २४५) जिनसे सूरदास के पहले की ब्रजभाषा की समृद्धि का पता चलता है।[1]

§ १६. १४वी से १६वी तक के साहित्य का विवेचन सैद्धान्तिक ऊहापोह के रूप में तो बहुत हुआ है, खास तौर से सिद्ध-सन्तो के साहित्य को समझने के लिए पूरा तन्त्र-साहित्य, हठयोग-परम्परा, योगशास्त्र आदि का सर्वाङ्ग विवेचन, भूमिका के रूप में सम्मिलित कर दिया जाता है। किन्तु इस साहित्य का सम्यक् रूप निर्धारण आज तक भी नही हो सका। एक तो इसलिए कि १४ से १६ सौ तक के साहित्य को हम सन्त साहित्य तक सीमित कर देते हैं। सन्त भी एक सम्प्रदाय के यानी निर्गुण सन्त। जैन साहित्य, जिसका अभूतपूर्व विकास शौरसेनी अपभ्रंश में दिखाई पडता है तथा जिसका परवर्ती विकास बनारसीदास-जैसे सिद्ध लेखक की रचनाओ में मिलता है, इस काल में अन्धकार में पडा रह जाता है। कबीर या अन्य संतो की विचारधारा के मूल में नाथ सिद्धो के प्रभाव को ढूँढने का प्रयत्न तो होता है किन्तु जैन सतो के प्रभाव को विस्मरण कर दिया जाता है। दूसरी ओर हिन्दी में प्रेमाख्यानक काव्यो की परम्परा का मतलब ही अवधी काव्य लगाया जाने लगा है। अवधी में भी प्रेमाख्यानक का क्षेत्र सूफी साहित्य तक सीमित रह जाता है। मध्यकालीन भारतीय साहित्य में प्रेमाख्यानक काव्यो का अद्वितीय महत्त्व है। शौर्य और वीरता के उस वातावरण में शृंगार को रसराज की प्रतिष्ठा मिली। इसीलिए रोमानी प्रेमाख्यानको की एक अत्यन्त विकसित परम्परा दिखाई पडती है। इस प्रेमाख्यानक-परम्परा का आरम्भ मुसलमान सूफी संतो ने नही किया। यह मूलत भारतीय परम्परा थी, इसको उन्होंने ग्रहण किया और इनके रूप में कुछ परिवर्तन भी। जायसी के पहले के कई प्रेमाख्यानक काव्य ब्रजभाषा में मिलते हैं जिनमें कवि दामो का लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा (१५१६ विक्रमी) और नारायणदास की छिताई वार्ता (१५५० विक्रमी) प्रमुख हैं। ये दोनो हिन्दू पद्धति के प्रेमाख्यानक काव्य हैं।

§ १७. ब्रजभाषा के प्राचीन साहित्य (१०००–१६००) का सबसे बड़ा महत्त्व इस बात में है कि इसमें मध्यकाल में प्रचलित बहुत से काव्य-रूप सुरक्षित हैं जो परवर्ती साहित्य के शैली-शिल्प को समझने के लिए अनिवार्यत आवश्यक हैं। तुलसीदास के रामचरितमानस की विभिन्न कथानक रूढियाँ और तत्रगृहीत लोक उपादानो को समझने के लिए न केवल रासो काव्यो का अध्ययन आवश्यक है बल्कि जैन चरित काव्यो की भी समीक्षा होनी चाहिए। १४११ विक्रमी सवत् का लिखा हुआ प्रसिद्ध ब्रजभाषा काव्य 'प्रद्युम्नचरित' एक ऐसा ही काव्य है जिसके अन्तर्वर्ती वस्तु-तत्व और शिल्प का अध्ययन आवश्यक है। इसी प्रकार मङ्गल विवाहलो, वेलि, विलास आदि काव्य-रूपो का अध्ययन भी प्राचीन ब्रजभाषा के इन काव्य-रूपों के विवेचन के बिना सम्भव नही।

प्राचीन ब्रजभाषा साहित्य की इस टूटी हुई कडी के न होने से कई प्रकार की गुत्थियाँ सामने आती है। उदाहरण के लिए अष्टछाप के कवियो की लौकिक प्रेमव्यञ्जना और दोहे

---

१. हकायके हिन्दी, अनुवाद . सैयद अतहर अब्बास रिजवी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सवत् २०१४।

चौपाईवाली शैली की पृष्ठभूमि तलाश करने में कठिनाई होती है। डॉ० दीनदयाल गुप्त ने सूफी प्रेमाख्यानकों की वस्तु और शैली दोनों को दृष्टि में रखकर लिखा है कि 'अष्टछाप काव्य पर उस भारतीय प्रेम-भक्ति परम्परा का प्रभाव है जो भारतवर्ष में सूफियों के धर्म-प्रचार के पहले से ही चली आती थी, जिसको अष्टछाप ने अपने गुरुओं से पाया, हाँ इन प्रेम-गाथाओं, दोहा-चौपाई की छन्द शैली का नमूना अष्ट भक्तों के सम्मुख अवश्य था जिसका प्रभाव नन्ददास की दशमस्कन्ध की भाषा, रूपमञ्जरी आदि की शैली पर माना जा सकता है।'[1] राधाकृष्ण के लोकरञ्जक प्रेम का स्वरूप निश्चय ही भारतीय परम्परा से प्राप्त हुआ, और वह गुरुओं से ही नहीं मिला बल्कि ब्रजभाषा प्रेमाख्यानकों से भी मिला। उसी प्रकार यदि हमारे सामने मेघनाथ की गीता भाषा (१५५७ विक्रमी) अथवा विष्णुदास का स्वर्गारोहण और महाभारत कथा (१४९२ विक्रमी) तथा मानिक की बैतालपचीसी-जैसे दोहे चौपाई में लिखे ब्रजभाषा ग्रन्थ रहते तो नन्ददास को इस शैली के लिए सूफियों का मुखापेक्षी न बनना पड़ता। इस तरह की कई समस्याएँ साहित्य के अन्वेषियों और विद्वानों के सम्मुख उपस्थित होती हैं, जिनका सही समाधान प्रस्तुत करने में हम विवशता का अनुभव करते हैं।

भाषा और साहित्य की ये समस्याएँ वस्तुतः इस मध्यान्तरित कड़ी के टूट जाने से ही उत्पन्न हुई हैं। ब्रजभाषा की एक सुष्ठु, उन्नत और सर्वतोमुखी प्रगति की अविच्छिन्न साहित्य परम्परा रही है। इस परम्परा की विस्मृत कड़ियों का सन्धान और उनका यथास्थान निर्धारण इस प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य है।

---

१ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० २०

ब्रजभाषा का रिक्थ :

मध्यदेशीय इन्दो-आर्यन

§ १८ मध्यदेश[1] ब्रजभाषा की उद्गम-भूमि है। गगा-यमुना के काठे में अवस्थित यह प्रदेश अपनी महान् सास्कृतिक परम्परा के लिए सदैव आदर के साथ स्मरण किया गया है। भारतीय वाङ्मय में इस प्रदेश के महत्त्व और वैभव का एकाधिक बार उल्लेख मिलता है।[2] भारत (आर्यभाषा-भाषी) के केन्द्र में स्थित होने के कारण इस प्रदेश की भाषा को

---

१ मध्यदेश मूलत गगा-यमुना के बीच का प्रदेश—

(क) हिमवद् विन्ध्ययोर्मध्य यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेश प्रकीर्तित ।। [मनुस्मृति २।२१]

(ख) विनय पिटक, महावग्ग ५।१३।१२ में मध्यदेश की सीमा के अन्दर कजगल अर्थात् वर्तमान बिहार का भागलपुर तक का इलाका सम्मिलित किया गया है।

(ग) गरुण पुराण (१।१५) में मध्यदेश के अन्तर्गत मत्स्य, अश्वकूट, कुल्य, कुतल, काशी, कोशल, अथर्व, अर्कलिंग, मलय और वृक सम्मिलित किये गये हैं।

(घ) सूत्र-साहित्य के उल्लेखो के विषय में द्रष्टव्य डॉ० कीथ का वैदिक इन्डेक्स।

(ङ) कामसूत्र की जयमगला टीका मे टीकाकार ने मध्यदेश के विषय में वशिष्ठ का यह मत उद्धृत किया है। [गगायमुनयोरित्येके, टीका २।५।२१]

(च) फाह्यान, अलबेरुनी तथा अन्य इतिहासकारो के मतो के लिए देखिए डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का लेख 'मध्यदेश का विकास', ना० प्र० पत्रिका भाग ३, संख्या १ और उनकी पुस्तक 'मध्यदेश' राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना से प्रकाशित।

२ (१) एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ।
स्वं स्व चरित्र शिक्षेरन्पृथिव्या सर्वमानवा ।। [मनु० २।२०]

सदा प्रमुख स्थान प्राप्त होता रहा। ईसा पूर्व १००० के आस-पास सम्पूर्ण उत्तर भारत में आर्य-जनो के आबाद होने के समय से आज तक मध्यदेश की भाषा सम्पूर्ण देश के शिष्ट जनो के विचार-विनियम का स्वीकृत माध्यम रही है। समय और परिस्थिति के अनुसार तथा भाषा के आन्तरिक नियमो के कारण मध्यदेशीय भाषा ने कई रूप ग्रहण किये, वैदिक या छान्दस के बाद संस्कृत, पालि, शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश आदि इस प्रदेश की भाषाएँ हुई, किन्तु यह रूप-परिवर्तन भाषा-भेद नही, बल्कि भारतीय आर्य-भाषा के विकास की अटूट शृंखला व्यक्त करता है। ११वी शती के आस-पास इस प्रदेश की जन-भाषा के रूप में ब्रजभाषा का विकास हुआ, अपनी कैशोरावस्था में, मुसलमानी आक्रमण के काल में, यह उत्तर की सांस्कृतिक और राजकीय भाषा के रूप में सामन्ती दरबारो में मान्य हुई, फलत एक ओर जहाँ वीरता और शौर्य के भावो से परिपुष्ट होकर इस भाषा में नयी शक्ति का संचार हुआ, वहीं दूसरी ओर मध्य-युग के भक्ति-आन्दोलन के प्रमुख माध्यम के रूप में इसे पवित्र और मधुर भाषा की प्रतिष्ठा भी मिली, किन्तु इसके वैभव और समृद्धि का सबसे बडा कारण वह विरासत थी जो इसे अपनी पूर्वज भाषाओ से रिक्थ-क्रम में प्राप्त हुई। वैदिक भाषा से शौरसेनी अपभ्रंश तक की सारी शक्ति और गरिमा इसे स्वभावत अपनी परम्परा के दाय रूप में मिली। अत ब्रजभाषा के उद्भव और विकास का सही अध्ययन बिना इस परम्परा और विरासत के समुचित आकलन के अधूरा ही रहेगा।

§ १९. भारतीय आर्यभाषा का इतिहास आर्यों के भारत प्रवेश के साथ ही आरम्भ होता है। आर्यो के आदिम निवास-स्थान के बारे मे मतभेद हो सकता है, बहुत से विद्वान् उन्हें कही बाहर से आया हुआ स्वीकार नही करते, किन्तु यहाँ इस विवाद से हमारा कोई सीधा प्रयोजन नही है। ईस्वी पूर्व १५०० के आस-पास बोली जानेवाली आर्यभाषा का रूप हमें ऋग्वैदिक मन्त्रो मे उपलब्ध होता है। ऋग्वैदिक भाषा आश्चर्यजनक रूप से पूर्वी ईरान और अफगानिस्तान में बसे हुए तत्कालीन कबीलो की बोली से साम्य रखती है। ईस्वी सन् १९०६ में प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् ह्यूगो विकलर ने एशिया माइनर के बोगाज़कुई स्थान में बहुत से पुरालेखो का पता लगाया जिनमें आर्य देवताओ इन्द्र (इन्द्-अ-र) सूर्य्य (शु-रि-य-स) मरुत (मरु-तश) वरुण (उ-रु-व-न) आदि के नाम मिलते हैं। बोगाज़कुई ईसा पूर्व १३वी शताब्दी में हत्ती साम्राज्य की राजधानी था, ये लेख इसी साम्राज्य के पुराने रेकॉर्ड्स् हैं जिन्हें मिट्टी की पटरियो पर कीलाक्षरों में लिखा गया है। हत्ती के इन पुरालेखो में शालिहोत्र सम्बन्धी एक ग्रन्थ प्राप्त हुआ है जिसमें उपर्युक्त आर्य देवताओ के नामो का प्रयोग हुआ है। इन आधारो पर आर्य जाति के प्राचीन कबीलो का सम्बन्ध एशिया माइनर की प्राचीन

---

(२) मध्यदेश्या आर्यप्राया शुच्युपचारा [कामसूत्र २।५।२१]
(३) वाल रामायण, १०।८
(४) काव्यमीमांसा, अ० ७
(५) यो मध्ये मध्यदेश निवसति स कवि सर्वभाषानिषण्ण [का० मी० १०]
(६) प्रबन्ध चिन्तामणि, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का अनुवाद, पृ० ४५ तथा ८७
(७) देसनि की मणि यहि मध्यदेश मानिये—केशव, कविप्रिया

मितानी जातियो और उनके जनो के साथ स्थापित किया जाता है।[1] हत्ती भाषा वस्तुतः मूल आर्यभाषा की एक शाखा है, जो योरोपीय भाषा के समानान्तर विकसित होती रही। इन्दो-आर्यन से इसका सम्बन्ध सीधा नही कहा जा सकता। भारतीय आर्यभाषा का सीधा सम्बन्ध हिन्द ईरानी आर्यभापा से है जो अफगानिस्तान और ईरान के पूर्वी हिस्सो में विकसित हुई थी। अवेस्ता इस भाषा में लिखा सबसे प्राचीन ग्रन्थ है जिसमें जरठोष्ट्र धर्म के प्राचीन मन्त्र संकलित किये गये हैं। पूर्वी ईरान और अफगानिस्तान के कुछ हिस्सों में बसनेवाली आर्य जाति की एक विकसित भापा थी, जिसे हम इन्दोईरानी कह सकते हैं, जो भारतीय आर्यभाषा के प्राचीनतम रूप यानी वैदिक भाषा या छान्दस के मूल में प्रतिष्ठित है।[२] ऋग्वैदिक काल में आर्यों के कबीले सप्तसिन्धु मे पूर्ण रूप से फैल चुके थे और उनका दबाव पूर्व की ओर निरन्तर बढ़ने लगा था। ऋग्वैदिक भाषा उस आर्य प्रदेश की भाषा है जिसकी सीमा सुदूर पश्चिमोत्तर की कुभा और स्वात नदियो से लेकर पूरब में गगा तक फैली हुई थी। ऋग्वैदिक मन्त्रो का बहुत बडा हिस्सा सप्तसिन्धु या पचनद के प्रदेश में निर्मित हुआ। यह भी सहज अनुमेय है कि इस विशाल मन्त्र-राशि का कुल अश यायावरीय आर्य-जन अपने पुराने ईरानी आवास से भारत में ले आये हो।[3] किन्तु ऋग्वेद के अन्तिम मण्डलो के मन्त्र नि.सन्देह गगा-यमुना के काठे में बसे हुए आर्यों-द्वारा निर्मित हुए हैं जिन्होने वैदिक धर्म की स्थापना की, इसके साहित्य को क्रमबद्ध किया और उत्सव पर्वों के अनुसार मन्त्रो को विभक्त किया। 'मध्यदेश के इन आर्य-जनो ने भारत के सर्वाधिक वैभवपूर्ण प्रदेश में बसे होने के कारण अपनी स्थिति, संस्कृति और सभ्यता के बल पर सम्पूर्ण उत्तर भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस प्रदेश के बुद्धिवादी ब्राह्मणो और आभिजात्य राजन्यो ने अपनी श्रेष्ठतर मनोवृत्ति के कारण आस-पास के लोगो को प्रभावित किया और मध्यदेश की तहजीब और सभ्यता को पूरब में काशी और मिथिला तथा सुदूर दक्षिण और पश्चिम के भागो में भी प्रसारित किया।'[४] मध्यदेशीय आर्यों की भाषा की शुद्धता का कई स्थानो पर उल्लेख मिलता है[५] किन्तु यह बाद के युग में मध्यदेशीय प्रभाव की वृद्धि का सकेत है। वस्तुत वैदिक युग में उदीच्य या पश्चिम की भाषा को ही आदर्श और शुद्ध भाषा माना जाता था, ब्राह्मण ग्रन्थो में कई स्थलो पर उदीच्य भाषा के गौरव का उल्लेख हुआ है।[६] यह मान्यता साधार भी कही

---

1 H. R Hall Ancient History of Near East, 1913 pp 201, and Cambridge History of India Vol I, chapter III

२ अवेस्ता और ऋग्वैदिक मन्त्रो की भाषा के साम्य के लिए विशेष द्रष्टव्य · इन्दो आर्यन ऐंड हिन्दी, पृ० ४८, ५९ तारापोरवाला एलिमेंट्स ऑव द साइन्स ऑव लैंग्वेज़ पृ० ३०१–२४, ए० वी डब्ल्यू जैक्सन कृत 'अवेस्ता ग्रेमर'।

३ अवेस्ता के ईरानी आर्य-मन्त्रो और ऋतुओ या उत्सवो पर गाये जानेवाले वैदिक सूत्रो के तुलनात्मक अध्ययन के लिए मार्टिन हाग का 'एसे ऑन द सेक्रड लैंग्वेज, राइटिंग्स ऐंड रिलीजन्स ऑव पारसीज़ ऐंड ऐतरेय ब्राह्मण' १८६३, द्रष्टव्य।

4 Origin and Development of Bengali Language, 1926 P. 39

५ यजु सहिता २।२०

६ तस्मात् उदीच्याम् प्रज्ञाततरा वाग् उद्यते उदञ्च एव यन्ति वाचम् शिक्षितम् यो वा तत् आगच्छति, तस्य वा शुश्रूषन्त इति (साख्यायन या कोषीतकि ब्राह्मण ७।६)।

जा सकती है। मध्यदेशीय आर्यों को इस प्रदेश में बसने के लिए अनार्य जातियो से विकट सघर्ष लेना पडा था। कोल, द्राविड और अन्य जातियो ने पद-पद पर उन आक्रमणकारी आर्यों का सामना किया। पराजय इनकी अवश्य हुई, किन्तु विजेता की सस्कृति और भापा इनकी गौरवमयी सस्कृति और भाषा से प्रभावित हुए बिना न रह सकी। आर्यभाषा के अन्दर स्थानीय जातियो की भाषा के बहुत से तत्व सम्मिलित हो गये।[1] विजित अनार्य जातियों के लोग न केवल आर्य परिवारो में दास-दासियो के रूप में घुल मिल गये बल्कि साथ-साथ उनकी बोलियो के भी बहुत से शब्द आर्यों की भाषा में मिश्रित हो गये।

§ २० हार्नले ने आर्यों के भारत-आगमन की अवस्थाओ के अध्ययन के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि आर्यों के विभिन्न जन भारत में दो समूहो में प्रविष्ट हुए। प्रथम समूह के आर्य गगा के काठे में आबाद हुए जिसे हम मध्यदेश कहते हैं। आर्यों के दूसरे समूह ने पहले से मध्यदेश में बसे हुए इन आर्यों को इधर-उधर बिखरने के लिए बाध्य किया। प्रथम समूह के ये आर्य अपने स्थान को छोडकर पूरब, पश्चिम और दक्षिण की ओर फैल गये, बिहार, बगाल, गुजरात आदि प्रदेश इनके निवास-स्थान बने। दूसरे समूह के आर्य मध्यदेश में आबाद हुए, इन्हीं भीतरी या अन्तर्वर्ती आर्यों ने अर्थात् दूसरे समूह के आर्यों ने वैदिक सस्कृति और ब्राह्मण-धर्म का विकास और प्रचार किया।[2] हार्नले के इस मत को जॉर्ज ग्रियर्सन ने और अधिक पल्लवित किया और उन्होने इसी के आधार पर आर्यभाषा को अन्तर्वर्ती और बहिर्वर्ती इन दो श्रेणियो में विभक्त किया। पश्चिमी हिन्दी या ब्रजभाषा अन्तर्वर्ती आर्यभाषा की वर्तमान प्रतिनिधि कही जाती है। जबकि पूर्वी हिन्दी, बगाली, गुजराती आदि भाषाएँ बहिर्वर्ती श्रेणी में रखी जाती हैं।[3] ग्रियर्सन की इस मान्यता के पीछे भाषा-सम्बन्धी कुछ खास विशिष्टताएँ कारण रूप मे वर्त्तमान थीं। उन्होने पश्चिमी हिन्दी और उपर्युक्त अन्य भाषाओ के भाषा-रूपों में ऐसी विषमताएँ देखी जो एक समूह की भाषाओ में नही होती। ग्रियर्सन ने यह भी बताया कि पश्चिमोत्तर भारत की दर्दी भाषा बहिर्वर्ती भाषाओ से कई बातो में साम्य रखती है। इस प्रकार ग्रियर्सन के मत से आर्यभाषा की दो श्रेणियाँ हुई मध्यदेशीय या शौरसेनी प्रकार जिसके अन्तर्गत सस्कृत भी परिगणित की गयी और दूसरी श्रेणी अ—सस्कृत भाषाएँ, मागधी आदि अहिन्दी अन्य नव्य आर्यभाषाएँ तथा सिहली आदि गिनी गयी। डॉ० ग्रियर्सन ने अन्तवर्ती और बहिर्वर्ती भाषा-शाखाओ के विभाजन के लिए भाषा-सम्बन्धी जो तर्क उपस्थित किये, वे विचारणीय है। इन तथ्यो से मध्यदेशीय (ब्रजभाषा) भाषा की कुछ विशिष्टताएँ भी स्पष्ट होती है। डॉ० चाटुर्ज्या ने ग्रियर्सन की इस मान्यता का विरोध किया,[4] किन्तु ग्रियर्सन की स्थापनाएँ एकदम अविचारणीय नही हैं।

---

१ पी० टी० श्रीनिवास आइअगार, लाइफ इन एन्सिएन्ट इडिया इन द एज ऑव मन्त्राज़, मद्रास १९१२, पृ० १५।

2 A R, Hoernle and H A Stark History of India, Calcutta, 1904 pp 12-13

3 Grierson B S O S Vol I NO 3 P 32

४ ग्रियर्सन और चाटुर्ज्या के इस मतभेद का पूरा विवरण 'ओरीजिन ऐंड डेवलप्मेन्ट ऑव बेंगाली लैंग्वेज़, कलकत्ता १९२६, के पृ० १५०—१६९ पर देखा जा सकता है। इसका संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद डॉ० उदयनारायण तिवारी के 'हिन्दी भाषा का उदगम और विकास' पृ० १६२—१७६ पर उपलब्ध है।

६।१२।१, ६।२।७) यह अवस्था बाद की भाषाओ अर्थात् मध्य और नव्य आर्य[1] भाषाओं में दिखाई पडती है। हिन्दी में आदि मध्य और अन्त स्वरागम के प्रयोगो के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। स्वरागम (Intrusive Vowels) के उदाहरण नयी हिन्दी में विरल हैं किन्तु पुरानी हिन्दी (व्रज, अवधी) में इनकी सख्या काफी है। वैदिक भाषा में मध्यग र् का विकल्प लोप दिखाई पडता है जैसे प्रगल्भ>पगल्भ (तैत्तिरीय सहिता २।२।१४) हेमचन्द्र ने अपभ्रश में इस प्रवृत्ति को लक्षित किया था जैसे प्रिय>पिय; चन्द्र>चन्द आदि रूप।[2] व्रजभाषा में प्रहर>पहर, प्रमाण>पमान, प्रिय>पिय आदि बहुत से प्रयोग मिलते हैं। वैदिक भाषा की र् ध्वनि उच्चारण की दृष्टि से भारोपीय 'ल्' ध्वनि की विकल्प रूप में स्थानापन्न प्रतीत होती है। विद्वानो की धारणा है कि र् और ल् का यह साम्य आकस्मिक नही है। प्राचीन काल में आर्य भाषा की तीन शाखाओं में क्रमश र्, र और ल् और केवल ल् ध्वनियाँ रही होगी। शाखाओ के एकीकरण के बाद इस प्रकार की शिथिलता अपने-आप उत्पन्न हो जाती है। श्रीर, श्रील, श्लील एक ही शब्द के तीन रूप हैं जिनसे ऊपर के कथन की सत्यता प्रमाणित होती है।[3] र और ल व्रजभाषा में परस्पर विनिमेय ध्वनियाँ हैं। इन्हें अभेद ध्वनियाँ कहा गया है। हिन्दी में र् और ल के परस्पर विनिमेयता के उदाहरण द्रष्टव्य हैं। भद्रक>भल्ला>भला। चत्वारिंशत>चालीस, पर्यंक>पलंग घूर्ण>घोल आदि तथा व्याकुल>वाउल>बाउर, में यह विनिमेयता परिलक्षित होती है।

§ २२ वैदिक भाषा के शब्द-रूपो का विचार करते समय हमारा ध्यान वाक्य-विन्यास की ओर आकृष्ट होता है। ब्राह्मणो में प्रयुक्त गद्य की भाषा इस काल की स्वाभाविक भाषा है जिसके वाक्य-विन्यास के बारे में डॉ० मैकडानल लिखते हैं 'वाक्य के आरम्भ में कर्ता का और अन्त में क्रिया का प्रयोग होता था। यह प्रवृत्ति सामान्य है, इसमें अपवाद भी मिलते हैं।'[4] वैदिक भाषा में क्रिया पदो में उपसर्गों को जोडकर अर्थ-परिवर्तन की चेष्टा दिखाई पडती है, यह प्रवृत्ति सस्कृत में भी प्रचलित थी, किन्तु वैदिक भाषा में प्र, परा, अनु आदि उपसर्ग क्रियाओ के साथ न रह कर उनसे अलग भी प्रयुक्त होते थे। सस्कृत में क्रिया विशेषण और असमापिका क्रियाओ का उतना प्रयोग नही है जितना वैदिक भाषा मे मिलता है। वैदिक भाषा की ये प्रवृत्तियाँ सस्कृत की अपेक्षा मध्यदेशीय नव्य भारतीय भाषाओ के निकट मालूम होती हैं। सविभक्तिक प्रयोग सस्कृत के मेरुदण्ड हैं वैदिक भाषा में इनमें कुछ शिथिलता दिखाई पडती है। गुलेरीजी ने निर्विभक्तिक पदो के ऐसे प्रयोगो को ही लक्ष्य करके कहा था कि पुरानी हिन्दी को 'वैदिक भाषा की अविभक्तिक निर्देश की विरासत भी मिली'[5] वस्तुत वैदिक भाषा परिनिष्ठित सस्कृत की अपेक्षा ज्यादा सरल, सहज और सामाजिक-धारा से सपृक्त थी।

---

१. हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० १४८, हिन्दी का उद्गम और विकास पृ० ३५३ पर हिन्दी उदाहरण दिये हुए हैं।

२ वाधो रो लुक्, प्राकृत व्याकरण ८।४।३९८।

३ रलयोरभेद पाणिनीय।

4 Vedic Grammar, IV Edition, 1955, London P 284

५ पुरानी हिन्दी, प्रथम संस्करण सवत् २००५, पृ० ६

भापा के अध्ययन मे सहायक हो सकते हैं। डॉ० चाटुर्ज्या ने भी कृदन्तज प्रयोगो को पश्चिमी भाषाओ की अपनी विशेपताएँ कहा है।[1]

§ २१ वैदिक या छान्दस के बारे में हम विचार कर रहे थे। यहाँ सक्षिप्त रूप से वैदिक भाषा के स्वरुप और उसको कुछ विशिष्टताओ का उल्लेख किया जाता है जो किसी-न-किसी रूप में व्रजभापा या मध्यदेशीय नव्य आर्यभाषा के विकास में सहायक हुई हैं। प्राचीन आर्य-भापा में कुल तेरह स्वर ध्वनियो का प्रयोग होता था। अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ और औ। प्रातिशाख्यो में आरभिक नौ ध्वनियो को समानाक्षर और अवशिष्ट चार स्वरो को सध्यक्षर कहा गया है। मध्यकालीन भारतीय भाषा में ऐ औ, इन दो सध्यक्षरो (Diphthongs) का एकदम अभाव हो गया था, व्रजभापा में औ और ऐ दोनो ध्वनियाँ पचुर मात्रा में प्राप्त होती हैं। प्राचीन भारतीय आर्यभापाओ में स्वर-परिवर्तन की प्रक्रिया को सस्कृत वैयाकरणो ने लक्ष्य किया था। इस काल की भाषा में स्वर-विकार के मुख्य पाँच प्रकार दिखाई पडते हैं (१) स्वरयुक्त प्रकृत स्वर ए, ओ, आर्, आल्, का स्वर-रहित ह्रस्वीभूत स्वरो में परिवर्तन यथा दिदे्श (उसने बताया) दिष्टे (बताया हुआ) आप्नोमि (मैं प्राप्त करता हूँ) आप्नुम (हम प्राप्त करते हैं) वधुयि (वृद्धि) और 'वृधाय' आदि इसके उदाहरण हैं। (२) स्वरयुक्त (Accented) प्रकृत सप्रसारण-स्वरो य, व, र का स्वर हीन ह्रस्वीभूत स्वरो इ, उ, ऋ में परिवर्तन इयज (मैंने यज्ञ किया) का इष्ट, वृष्टि (वह इच्छा करता है) उश्मसि (हम इच्छा करते हैं) जग्रह (मैंने पकड़ा) जगृहु (उन्होने पकडा)। (३) ह्रस्वीभूत क्रम में अ का लोप हो जाता है हन्ति (मारते हैं) घन+ अन्ति। वृद्ध स्वर आ का ह्रस्वीभूत क्रम में या तो लोप हो जाता है या अ रह जाता है जैसे पाद का 'पदा' रूप (तृतीया में) दधाति (रखता है) दधमसि (हम रखते हैं)। (४) ह्रस्वीभूत क्रम में ऐ (जो स्वरो के पूर्व 'आय' एव व्यञ्जनो के पूर्व आ हो जाता है) का रूप ई हो जाता है यथा गायन्ति (गाता है) गाथ (गान) और गीत (गाया हुआ)। इसी प्रकार औ का ह्रस्वीभूत क्रम में ऊ हो जाता है धौतरौ (कथित) धूति (कम्पित करने वाला) एव धूम (धुवाँ)। (५) पदो में स्वर परिवर्तन होने पर समास में द्वित्व (Reduplication) की अवस्था में तथा सम्बोधन में ई, ऊ, ईर्, ऊर् का परिवर्तन, इ, उ, ऋ में होता है यथा हूति (पुकार) का आहुति, दीपय (जलाओ) का दीदिव, कीर्त्ति का चकृषे। देवी (कर्ता कारक) देवि (सम्बोधन)।[2] स्वर विकार की यह अवस्था अनार्य जातियो की भापाओ के सम्पर्क के कारण और तीव्रतर होनी गयी और इस भाषा में कुछ बहुत ही महत्त्वपूर्ण ध्वनि परिवर्तन हुए जो वाद की भापाओ में भी उपलब्ध होते हैं। इसमें स्वर भक्ति-वाले परिवर्तन विशेष मलक्ष्य हैं। छन्दो के कारण शब्दो में इस तरह की स्वर भक्ति दिखाई पडती है। ऋक् सहिता में इन्द्र का उच्चारण इन्द्अर होता था। स्वरभक्ति के कुछ महत्त्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं दर्शत>दरशत, इन्द्र>इन्दर, सहस्त्रय >सहस्त्रिय, स्वर्ग>सुवर्ग (तैत्तिरीय सहिता ४।२।३), तन्व >तनुव, स्व >सुव (तैत्तिरीय आरण्यक

1 Orign and Development of Bergali Language P. 165

२ डॉ० उदयनारायण तिवारी, हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० ३५-३६।

६।१२।१, ६।२।७) यह अवस्था वाद की भाषाओ अर्थात् मध्य और नव्य आर्य[१] भाषाओ में दिखाई पडती है। हिन्दी में आदि मध्य और अन्त स्वरागम के प्रयोगो के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। स्वरागम (Intrusive Vowels) के उदाहरण नयी हिन्दी में विरल है किन्तु पुरानी हिन्दी (ब्रज, अवधी) में इनकी सख्या काफी है। वैदिक भाषा में मध्यग र् का विकल्प लोप दिखाई पडता है जैसे प्रगल्भ>पगल्भ (तैत्तिरीय सहिता २।२।१४) हेमचन्द्र ने अपभ्रंश में इस प्रवृत्ति को लक्षित किया था जैसे प्रिय>पिय, चन्द्र>चन्द आदि रूप।[२] ब्रजभाषा में प्रहर>पहर, प्रमाण>पमान, प्रिय>पिय आदि बहुत से प्रयोग मिलते हैं। वैदिक भाषा की र् ध्वनि उच्चारण की दृष्टि से भारोपीय 'ल्' ध्वनि की विकल्प रूप में स्थानापन्न प्रतीत होती है। विद्वानो की धारणा है कि र् और ल् का यह साम्य आकस्मिक नही है। प्राचीन काल में आर्य भाषा की तीन शाखाओ में क्रमश र्, र और ल् और केवल ल् ध्वनियाँ रही होगी। शाखाओ के एकीकरण के बाद इस प्रकार की शिथिलता अपने-आप उत्पन्न हो जाती है। श्रीर, श्रील, श्लील एक ही शब्द के तीन रूप हैं जिनसे ऊपर के कथन की सत्यता प्रमाणित होती है।[3] र और ल ब्रजभाषा में परस्पर विनिमेय ध्वनियाँ हैं। इन्हें अभेद ध्वनियाँ कहा गया है। हिन्दी में र् और ल के परस्पर विनिमेयता के उदाहरण द्रष्टव्य हैं। भद्रक>भल्ला>भला। चत्वारिंशत>चालीस, पर्यंक>पलंग घूर्ण>घोल आदि तथा व्याकुल>वाउल>बाउर, में यह विनिमेयता परिलक्षित होती है।

§ २२ वैदिक भाषा के शब्द-रूपो का विचार करते समय हमारा ध्यान वाक्य-विन्यास की ओर आकृष्ट होता है। ब्राह्मणो में प्रयुक्त गद्य की भाषा इस काल की स्वाभाविक भाषा है जिसके वाक्य-विन्यास के बारे में डॉ० मैकडानल लिखते हैं . 'वाक्य के आरम्भ में कर्ता का और अन्त में क्रिया का प्रयोग होता था। यह प्रवृत्ति सामान्य है, इसमें अपवाद भी मिलते है।'[४] वैदिक भाषा में क्रिया पदो में उपसर्गों को जोडकर अर्थ-परिवर्तन की चेष्टा दिखाई पडती है, यह प्रवृत्ति सस्कृत में भी प्रचलित थी, किन्तु वैदिक भाषा में प्र, परा, अनु आदि उपसर्ग क्रियाओ के साथ न रह कर उनसे अलग भी प्रयुक्त होते थे। सस्कृत में क्रिया विशेषण और असमापिका क्रियाओ का उतना प्रयोग नही है जितना वैदिक भाषा में मिलता है। वैदिक भाषा की ये प्रवृत्तियाँ संस्कृत की अपेक्षा मध्यदेशीय नव्य भारतीय भाषाओ के निकट मालूम होती हैं। सविभक्तिक प्रयोग सस्कृत के मेरुदण्ड हैं वैदिक भाषा में इनमें कुछ शिथिलता दिखाई पडती है। गुलेरीजी ने निर्विभक्तिक पदो के ऐसे प्रयोगो को ही लक्ष्य करके कहा था कि पुरानी हिन्दी को 'वैदिक भाषा की अविभक्तिक निर्देश की विरासत भी मिली'[५] वस्तुत वैदिक भाषा परिनिष्ठित सस्कृत की अपेक्षा ज्यादा सरल, सहज और सामाजिक-धारा से सपृक्त थी।

---

१ हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० १४८, हिन्दी का उद्गम और विकास पृ० ३५३ पर हिन्दी उदाहरण दिये हुए है।

२ वाघो रो लुक्, प्राकृत व्याकरण ८।४।३९८।

३ रलयोरभेद पाणिनीय।

4 Vedic Grammar, IV Edition, 1955, London P 284.

५ पुरानी हिन्दी, प्रथम सस्करण सवत् २००५, पृ० ६

§ २३ ईसापूर्व १००० के आस-पास वैदिक भाषा सारे उत्तर भारत में फैल गयी। अनार्य और स्थानीय जातियो के सघर्ष और भाषा के स्वाभाविक और अनियमित प्रवाह के कारण इसमें निरन्तर मिश्रण और विकास होता गया। आर्यों के पवित्र मन्त्रो की यह भाषा सर्वत्र मिश्रित और अशुद्ध भाषा का रूप धारण करने लगी, मध्यदेश के रक्त-शुद्धता के अभिमानी ब्राह्मण और राजन्य भी अपनी भाषा को एकदम शुद्ध न रख सके। अपनी भाषा की शुद्धि के चिन्तित आर्यों ने मध्यदेशीय भाषा का ब्राह्मण ग्रन्थो की भाषा के निकटतम रूप को आदर्श मानकर सस्कार किया। इस सस्कार की हुई सस्कृत भाषा को प्राचीन भारत की धार्मिक तथा साहित्यिक भाषा के रूप में प्रचारित किया गया, 'लौकिक सस्कृत का अभ्युदय लगभग उसी प्रदेश मे हुआ जिसमें कालान्तर में हिन्दुस्तानी का जन्म हुआ, अर्थात् पजाब तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश। हिन्दू शब्द का अर्थ प्राचीन भारतीय लेते हुए जिसमें ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैनो के सभी मत-मतान्तर सम्मिलित हैं, हम कह सकते हैं कि हिन्दू सस्कृति के प्रसार के साथ ही सस्कृत का भी प्रसार हुआ। प्राचीन भारत को सस्कृति एव विचार-सरणि के वाहक या माध्यम के रूप में सस्कृत को यदि हम एक प्रकार की ऐसी प्रत्नकालीन हिन्दुस्थानी कहें जो कि स्तुतिपाठ तथा धार्मिक कर्म-काण्ड की भाषा थी तो कुछ अनुचित न होगा।'[१] हम यह प्रश्न उठाना आवश्यक नही समझते कि सस्कृत प्राचीन काल में कभी सामान्यजन की भाषा के रूप में स्वीकृत रही है या नही। बहुत से लोग यह मानते हैं कि सस्कृत केवल एक कृत्रिम वर्ग-भाषा (Classjargon) थी जिसका निर्माण तत्कालीन बोलियों के पारस्परिक मिश्रण से एक साहित्यिक भाषा के रूप मे हुआ।[२] जिसे हम साहित्य-कलादि की भाषा (Kunsts-Prache) कह सकते हैं। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में स्वीकार किया है कि सस्कृत शिष्टजन की भाषा है। एडाल्फ केजो-जैसे विद्वान् सस्कृत को ऋग्वैदिक भाषा की तुलना मे अत्यन्त कृत्रिम और बनावटी भाषा मानते है। ऋग्वैदिक भाषा नि सन्देह एक अत्यन्त प्राचीन बोली है जो व्याकरण की दृष्टि से परवर्ती कृत्रिम सस्कृत भाषा से पूर्णतया भिन्न है, उच्चारण, ध्वनिरूप, शब्द-निर्माण, कारको, सन्धियो और पद-विन्यास मे कोई मेल नही है। पुराण, महाकाव्यो, स्मृतियो और नाटको की सस्कृत और वैदिक भाषा में कही अधिक भिन्नता है जितनी कि होमर की भाषा और अत्तिक (Attic) मे।[3] किन्तु सस्कृत भाषा का यह रूप आरम्भ में ऐसा नही था। सस्कृत एक जमाने में नि सन्देह काफी बडे जनसमुदाय की भाषा थी। कीथ ने सस्कृत को बोल-चाल की शिष्ट भाषा कहा है। डॉ० प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती ने तो इससे भी आगे बढ़कर कहा कि 'सस्कृत न केवल पाणिनि और यास्क के समय में ही बोल-चाल की भाषा थी बल्कि प्रमाणो के आधार पर हम यह भी कह सकते है कि वह बाद तक कात्यायन और पतजलि के समय में भी बोल-चाल की भाषा थी।[४] शिष्ट समुदाय की भाषा के रूप में स्वीकृत होने पर यह बोल-चाल की भाषा धीरे-धीरे जनसमुदाय से दूर हो गयी और कालान्तर में वैयाकरणो के अति कठोर नियम-श्रृंखला मे आबद्ध हो जाने के कारण इस भाषा का स्वाभाविक विकास

---

१ भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० १७३।

2 S S Narula-Scientific History of Hindi Language 1955, PP. 25.

3 Studies in Rig-Vedic India

4 The Linguistic speculation of Hindus Calcutta,

रुक गया जो प्रवहमान जीवन्त भाषा के लिए आवश्यक है। इस प्रकार मध्यदेश की यह सास्कृत भाषा साहित्य दर्शन और अन्य ज्ञान-विज्ञान के विषयो के अध्ययन-अध्यापन का माध्यम बनकर रह गयी।

§ २४. संस्कृत का प्रभाव परवर्ती, खास तौर से नव्य भारतीय आर्य भाषाओ के साहित्य पर पूरा-पूरा दिखाई पडता है, किन्तु भाषिक विकास में इसका योग प्रकारान्तर से ही माना जा सकता है। सस्कृत भाषा के साथ ही साथ जन साधारण के बोलचाल की स्वाभाविक यानी प्राकृत भाषाएँ विकसित हो रही थी, सस्कृत अपने को इनके प्रभाव से मुक्त न रख सकी। बौद्धो की सस्कृत में यह सकरता स्पष्टतया परिलक्षित होती है। बौद्धकाल की प्रचलित भाषाओ पर विचार करते हुए श्री टी० डब्ल्यू० रायडेविस ने जो तालिका प्रस्तुत की है उसमें मध्यकालीन आर्य-भाषा[1] के प्रथम स्तर ६०० ई० पू० से २०० ईस्वी तक की स्थिति का बहुत अच्छा विवेचन हुआ।[2] 'बौद्ध भारत में गान्धार से बगाल और हिमालय से दक्षिण समुद्र तक के भू-भाग में बोली जाने-वाली भाषाओ के मुख्य पाँच क्षेत्र दिखाई पडते हैं

१—उत्तरपश्चिमी, गान्धार, पजाब और सभवत· सिन्ध में प्रचलित भाषा का क्षेत्र।

२—दक्षिण पश्चिमी, गुजरात, पश्चिमी राजस्थान।

३—मध्यदेश और मालवा का क्षेत्र जो (२) और (३) का सन्धिस्थल कहा जा सकता है।

४—पूर्वी में [क] प्राचीन अर्धमागधी और [ख] प्राचीन मागधी शामिल की जा सकती हैं।

५—दक्षिणी जिसमें विदर्भ और महाराष्ट्र की भाषाएँ आती हैं।

उत्तरभारत में प्रचलित इन भाषाओ को इस प्रकार रखा जा सकता है —

१—आर्य आक्रमणकारियो की भाषा, द्राविड और कोल भाषाएँ

२—प्राचीन वैदिक भाषा

३—उन आर्यों की भाषा जो विवाह-आदि सम्बन्धो के कारण द्रविडो से मिश्रित हो गये थे, ये चाहे कश्मीर से नेपाल तक हिमालय की तराई में हो, या सिन्धु की घाटी में या गगा यमुना के द्वावे में।

---

१ भारतीय आर्यभाषा के मुख्यतया तीन काल-विभाजन होते हैं

(१) प्राचीन आर्यभाषा-१५०० ई० पू० से ६०० ई० पू०। वैदिक भाषा आदर्श

(२) मध्यकालीन-६०० ई० पू० से १००० ईस्वी सन्

(क) प्रथम स्तर ६०० ई० पू० से २०० सन्। अशोक की प्राकृतें, पाली आदर्श

(ख) द्वितीय स्तर-२०० ई० से ६०० ई० सस्कृत नाटको की प्राकृतें शौरसेनी, महाराष्ट्री, अर्धमागधी आदि आदर्श

(ग) तृतीय स्तर-६०० ई० से १००० ई० शौरसेनी अपभ्रश आदर्श

(३) नव्यआर्यभाषा-१००० ई० से वर्त्तमानयुग-हिन्दी, मराठी, बगला आदि आदर्श

2 Buddhist India, 1903, London, pp 53-54

४—द्वितीय स्तर की वैदिक भाषा जो ब्राह्मणो और उपनिषदो की साहित्यिक भाषा कही जा सकती है।

५—बौद्ध धर्म के उदय के समय गाधार से लेकर मगध तक की बोलियाँ जो परस्पर भिन्न होते हुए भी एक दूसरे से बहुत अलग नही थी।

६—बात-चीत की प्रचलित भाषा जो श्रावती की भाषा पर आधारित थी। जो कोशल के राज्य कर्मचारियो, व्यापारियो और शिष्टजनो की भाषा थी, जिसका प्रयोग कोशल-प्रदेश तथा उसके अधिकृत स्थानो में पटना से श्रावती और अवन्ती तक होता था।

७—मध्यदेशीय भाषा पाली सभवत न० ६ के अवन्ती मे बोले जानेवाले रूप पर आधारित।

८—अशोक की प्राकृतें न० ६ पर आधारित किन्तु न० ७ और ११ से पूर्ण रूप से प्रभावित।

९—अर्धमागधी, जैन अगो की भाषा।

१०—गुफाओ के शिलालेखो की भाषा, जो ईसापूर्व दूसरी शताब्दी के बाद के शिलालेखो में प्राप्त होती है जो मूलत न० ८ पर आधारित थी।

११—परिनिष्ठित सस्कृत भाषा जो रूप और शब्दकोष की दृष्टि से न० ४ पर आधारित थी किन्तु जिसमें न० ५, ६ और ७ की भाषाओ के शब्द भी शामिल किये गये जिन्हें न० ४ के व्याकरणिक ढाँचे में ढाल लिया गया, शिक्षा के कार्यो में प्रयुक्त होनेवाली यह साहित्यिक भाषा दूसरी शती ईस्वी सन् के आस-पास राजमुद्राओ और शिलालेखो की भाषा के रूप में स्वीकृत हुई और इसके बाद में चौथी-पांचवी शती के आस-पास भारत की देश-भाषा का स्थान ग्रहण कर लिया।

१२—पांचवी शती की देशी भाषाएँ।

१३—साहित्यिक प्राकृतें न० १३ की बोलियो का साहित्यिक रूप थी जिनमें महाराष्ट्री प्रमुख थी। इसका विकास न० ११ (सस्कृत) के आधार पर नही नं० १२ के आधार पर था जो न० ६ को अनुजा कही जा सकती है अर्थात् अवन्ती को शौरशेनो की अनुजा।

प्रो० राय डेविस के इस विवेचन से ईसा पूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दी से पाँचवी ईस्वी शती तक की भाषिक-स्थिति का रेखा-चित्र उपस्थित हो जाता है। पालि, मिश्रित सस्कृत, साहित्यिक प्राकृतो के पारस्परिक सबधो के पूर्ण आकलन में उपर्युक्त विवेचन का महत्त्व निर्विवाद है।

§ २५ बौद्धयुगीन भाषाओ के इस पर्यवेक्षण से एक नया तथ्य सामने आता है। बहुत काल के बाद मध्यदेश की भाषा के स्थान पर पूरब की प्राच्य भाषा को सास्कृतिक भाषा के रूप में सारे उत्तर भारत में मान्यता प्राप्त हुई। बुद्ध और महावीर जैसे प्रबल धर्मप्रचारको की मातृभाषा होने के कारण पूर्वी भाषा को एक नया ओज और विश्वा
शिलालेखो में यद्यपि स्थान विशेष की बोलियो और जनपदीय भाषाअ
प्रयत्न हुआ है, किन्तु वहाँ भी प्राच्य भाषा (भावी मागधी प्राकृत

अशोक के शिलालेखो की प्राकृत भाषा सस्कृत से बहुत दूर नही दिखाई पडती, उसके वाक्य विन्यास और गठन के भीतर सस्कृत का प्रभाव मिलेगा, किन्तु अशोककालीन प्राकृतो में जो सहजता और जनभाषाओ की प्रवहमान प्रवृत्ति का दर्शन होता है, वह आर्यभाषाओ के विकास के एक नये युग की सूचना देता है। अशोककालीन प्राकृतो का मध्यदेशीय भाषा से कोई सीधा सम्बन्ध नही है किन्तु इनके विकास को दिशाओ में हम तत्कालीन मध्यदेशीय के विकास के सूत्रो को ढूँढ सकते हैं। अशोक के शिलालेखो की भाषा की कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ यहाँ प्रस्तुत की जाती हैं। ध्वनि विकास की दृष्टि से ऋ का परिवर्तन द्रष्टव्य है। ऋ>अ, उ, इ, ए रूपो मे परिवर्तित होतो है।

कृत>कत (गिरिनार) कट (कालसी) किट (शाहवाजगढ)
मृग>मग (गिर०) मिग (कालसी) म्रुग (शाहवाजगढी)
व्यापृत>व्यापत (गिर०) वियापट (कालसी) वपट (शाहवाजगढी)
एतादृश>एतारिस (गिर०) हेडिस (कालसी) एदिश (शाहवाजगढी)
भ्रातृ>भ्रातु (शाह० मानसेरा) भाति (कालसी)
पितृ>पितु, पीति (शा० मा०) पितु-पिति (काल० धौली)
वृक्ष>व्रछ (गिर०) रूछ (शाह० मा०) लूख (कालसी)
वृद्धि>वढि (गिर०) व्रढि (शाह०) वढ (कालसी)

सस्कृत धातु √ दृश् के दक्ख और दिक्ख परिवर्तन कई लेखो मे दिखलाई पडते हैं। दिसेया को श्री केर्न (Kern) और श्री हुल्तश (Hultzsch) सस्कृत के दृश्यते निष्पन्न मानते हैं। पृथ्वी>पुठवी (धौली) मे ऋ का उ रूपान्तर हुआ है। ऋ का यह परिवर्तन बाद में एक सर्वमान्य प्रवृत्ति के रूप में दिखाई पडता है। व्रजभाषा का हिया<हृदय, पूछनो<पृच्छ्, पुहुमी<पृथ्वी, कियौ<कृत आदि रूप इसी तरह की प्रवृत्तियो के परिणाम हैं। इन शिलालेखो की भाषा में सस्कृत सध्यक्षर ऐ का ए के रूप में परिवर्तन महत्त्वपूर्ण है। कैवर्त>केवट। औ का प्राय सर्वत्र ओ रूप दिखाई पडता है। पौत्र>पोत्र (गि० मान०) पोता (शा० गिर० कालसी) सस्कृत पौराण>पोराण (मैसूर)। कुछ शब्दो में आरम्भिक अ का लोप भी विचारणीय है। जैसे अपि>पि, अध्यक्ष>धियछ। अहकम्>हकम्, हम या हौं (व्रज)। अस्मि>सुमि। अन्त्य विसर्ग का प्राय लोप होता है और अन्त्य अ का ओ रूप दिखाई पडता है। यश >यशो, यषो या यसो भी। वय >वयो। जन >जने, प्रिय >पिये, रूपो में विसर्ग रहित अ का ए रूप हो गया है। व्यञ्जन परिवर्तन के उदाहरण भी काफी महत्त्वपूर्ण हैं। आरम्भिक ह का लोप जैसे हस्तिन्>अस्ति। सघोष व्यञ्जनो मे स्पर्श ध्वनि का लोप जैसे करण-कारक की विभक्ति भि का सवन हि (Palatalization) तालव्यीकरण के उदाहरण भी दिखाई पडते हैं। क्ष>छ, क्षण>छण, मोक्ष>मोछ। त्य>च, आत्ययिक>आचयिक। द्य>ज, अद्य>आज। न्य का ण मे परिवर्तन विचारणीय है। यह प्रयोग कोई जैन अपभ्रश की ही विशेपता नहीं है। अन्य>अण। मन्य>मण। आज्ञप्>आ+णय भी होता है।

रूप-विचार की दृष्टि से हम प्राचीन आर्यभाषा का व्याकरणिक उलझनो का बहुत अभाव पाते हैं। कारक विभक्तियो में सरलीकरण की प्रवृत्ति का विकास हुआ है। पदान्त व्यञ्जनो के लोप से प्राय अन्त्य स्वरान्त प्रातिपदिक ही बच रहे हैं। अकारान्त प्रातिपदिकों के

सुप् प्रत्ययो में प्रथमा में ओ (जनो) द्वितीया में अं (ध्रमं) तृतीया में एन (पुत्रेन) चतुर्थी में ये (अठाये7अर्थाय) पञ्चमी में अ (करण) षष्ठी मे स (जनस) तथा सप्तमी में ए, स्पि (ओरोधनस्पि उढनसि) रूप मिलते हैं।

सर्वनामो में अहम>हकम>आम (मानसेरा) तथा सस्कृत वयम् का मया से प्रभावित मये रूप काफी महत्त्व के हैं। तस्य>तसा, ता, करण में तेहि<तै । इदम्>इय (मैसूर) किमसु<केण (* किण हेमचन्द्र ३।६९) सबा<सर्व आदि सार्वनामिक रूप विकास की निश्चित अवस्था के द्योतक है। क्रिया के रूपो को 'अ' या 'अय' विकरणवाले रूपो में ही सीमित कर दिया गया है। यहाँ सस्कृत के अधिकाश धातुओ के रूप किञ्चित् ध्वनि परिवर्तन के साथ सुरक्षित हैं।

§ २६ अशोक के उत्तर पश्चिम और मध्यदेशीय शिलालेखो की भाषा को दृष्टि में रखकर ऊपर जो सक्षिप्त विचार प्रस्तुत किया गया है[1] उसमें मध्यकालीन भाषा के आरभिक स्थिति का कुछ पता चलता है। जैसा मैंने निवेदन किया है कि अशोक की प्राकृत पर मुख्यतया प्राच्य प्रभाव ही दिखाई पडता है, किन्तु प्राच्य भाषा का यह आधिपत्य बहुत दिनो तक न रह सका और अशोक के काल में ही पालि भाषा ने जो मध्यदेश की भाषा थी, प्राच्य भाषा को दबाकर मध्यदेशीय प्रभुत्व की परम्परा को पुन शृखलित किया। पालि भाषा के बारे में, उसके स्थान को लेकर काफी विवाद हुआ है। आरम्भ में यह माना जाता था कि पालि बुद्ध के प्रदेश की भाषा है यानी यह अर्धमागधी का एक रूप है इसलिए इसे प्राच्य के अन्दर सम्मिलित करना चाहिए। मैक्स वालेसर ने पालि शब्द का उद्गम पाटलिपुत्र से बताया। उनके मत से ग्रीक लेखो में पाटलिपुत्र को पालिबोथ् (Palibothra) कहा गया है। अत पालिबोथ् के पालि से सम्बन्ध जोडकर वे इस भाषा को मगध की मानते है। ग्रियर्सन ने पालि भाषा के विवेचन के सिलसिले में कुछ मागधी और पशाची प्रभावो के आधार पर इसे मगध की भाषा स्वीकार किया। प्रोफ़ेसर रीज़ डेविड्स ने पालि को कोशल की बोली माना क्योकि उनके मत से यह बुद्ध की मातृभाषा थी और चूँकि बुद्ध ने अपने को 'कोशलखत्तिय' यानी कोशल का क्षत्रिय कहा है इसलिए यह भाषा अवश्य ही कोशल की होगी। इस तरह के बहुत से कथन उद्धृत किय जा सकते हैं जिनमें पालि को पूर्वी प्रदेश की भाषा कहा गया है। सिंहल के विद्वानो ने पालि को बुद्ध के साथ जोडकर इसे मगध को भाषा ही समझ लिया। किन्तु अब इस भ्रम का सावार परिहार हो चुका है। स्वर्गीय सिल्वा लेवी और हाइन्रिख ल्यूडर्स (Heinrich Lueders) जैसे प्रसिद्ध भाषा-शास्त्रियो ने पुष्कल आँकडो के आधार पर इस भाषा को मध्यदेश की प्राचीन बोली सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है।[2] बुद्ध वचनो का अनुवाद भारत को तत्कालीन विभिन्न बोलियो में हुआ क्योकि अपने उपदेशो को जन सामान्य तक पहुँचाने के लक्ष्य से उन्होंने स्वय इनके विभिन्न रूपान्तर उपस्थित करने की आज्ञा दी थी बुद्ध के निर्वाण के

१ अशोक के शिलालेखो की भाषा के सन्तुलनात्मक अध्ययन के लिए द्रष्टव्य—
M A Mahendale, Historical Grammar of Inscriptional Prakrits, Poona, 1948 Chapter I PP 1-46

2 W Geiger, Pali Gramatik and H Lueders, Epigraphische Beitrage, 1913

३ अनुजानामि भिक्खवे सकाय निरुत्तिया बुद्धवचन परियापुणितुम्।

बाद उनके उपदेशों के संग्रह के लिए जो समिति बैठी उसमें भिक्षु महाकस्सव प्रमुख थे, वे चूँकि मध्यदेश के निवासी थे, इसलिए भी सम्भव है कि उन्होंने वे वचन अपनी भाषा में उपस्थित किये हो। राजकुमार महेन्द्र स्वय उज्जैन मे रहते थे जहाँ उन्होंने मध्यदेशीय भाषा में ही त्रिपिटको का अनुवाद पढ़ा जिसे वे प्रचारार्थ सिंहल ले गये थे। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ध्वनि-प्रक्रिया और रूपविचार (Morphology) दोनों ही दृष्टियो से पालि को मध्यकालीन आर्यभाषा के द्वितीय स्तर की शौरसेनी प्राकृत के निकट मानते हैं।[1] साहित्यिक भाषा के रूप में पालि मध्य आर्यभाषाओ के सक्रान्तिकाल (२०० ईसा पूर्व से २०० ईस्वी सन्) में विकसित हुई। मध्यदेश की एक बोली पर आधारित यह भाषा सस्कृत की प्रतिद्वन्द्वी भाषा की हैसियत से भारत की लोक-कथाओ के जातक रूप में सकलित होने और बुद्ध दर्शन के लिपि बद्ध होने के बाद एक शक्तिशाली भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी। 'इस प्रकार पालि भाषा मध्यदेश की लुप्त भाषिक परम्परा को पुन स्थापित करने में समर्थ हुई। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या पालि के महत्व की अभ्यर्थना करते हुए लिखते हैं कि 'पालि उज्जैन से मथुरा के भू-भाग की भाषा पर आधारित साहित्यिक भाषा है, वस्तुत इसे 'पश्चिमी हिन्दी' का प्राचीन रूप कहना ही उचित होगा। मध्यदेश की भाषा के रूप में पालि भाषा आधुनिक हिन्दी या हिन्दुस्तानी की भाँति केन्द्र की, आर्यावर्त के हृदय-प्रदेश की भाषा थी, अतएव आस-पास पूर्व, पश्चिम, पश्चिमोत्तर, दक्षिण पश्चिम आदि के जन इसे सरलता से समझ लेते थे। पालि ही हीनयान बौद्धो के 'थेरवाद' सम्प्रदाय की महान् साहित्यिक भाषा बनी और यही शाखा सिंहल में पहुँचकर आगे चलकर वहाँ प्रतिष्ठापित हो गयी।[2] भारतीय आर्यभाषा का अध्येता मध्यकाल में पूर्वी भाषा के सहसा प्राधान्य को देखकर आश्चर्य कर सकता है, अशोक के शिलालेखो मे मध्यदेश की भाषा को कोई स्थान नही मिला यहाँ तक कि मध्यदेश में स्थापित स्तम्भो के आलेख अर्थात् कालसी, टोपरा, मेरठ और बैराट के शिलालेखा में भी स्थानीय भाषा को स्थान नही दिया गया 'फिर भी मध्यदेशीय भाषा अपने–र् शब्दों, कर्ताकारक के—ओ—वाले रूपों, कर्म बहुवचन के—ए—प्रयोगों के रूप में राजकीय और शासन सम्बन्धी कार्यों के बाहर अपने अस्तित्व के लिए सघर्ष करती रही, और एक समय ऐसा भी आया कि उसने पालि भाषा के विकास के साथ ही प्राच्य को अपने क्षेत्र मे बहिष्कृत कर दिया, अपमान का बदला मध्यदेशीय ने भयकर रूप से लिया और सक्रान्ति काल से लेकर आज तक वह शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश, व्रजभाषा और आज की हिन्दुस्तानी के रूप में पूर्वी और बिहारी भाषाओं पर प्रभुत्व जमाये रही।'[3] हम पालि और बाद की मध्यदेशीय भाषाओं के प्राधान्य को चाटुर्ज्या के शब्दो मे रखना उचित नहीं समझते, ये मात्र भाषिक स्थितिजन्य परिस्थितियाँ थी, जिनके कारण मध्यदेशीय को प्रमुखता मिलती रही है, जैसा कि चाटुर्ज्या ने स्वय कहा कि यह आर्यावर्त के हृदय देश की भाषा है, जिसे आस-पास के लोग आसानी से और ज्यादा सख्या में समझ सकते है, इसीलिए इसे सदैव सम्मान और प्रमुखता मिलती रही है इसमें किसी प्रकार के बदले या प्रतिकार की भावना का आरोप उचित नहीं जान पड़ता।

---

1 Origin and Development of Bengali Language P 57

२ भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, १९५४, पृ० १७४।

३ ओरीजिन ऐंड डेवलेप्मेन्ट ऑव बेंगाली लन्वेज, पृ० ६०

जो भी हो, पालि भाषा मध्यदेश की भाषा के रूप में ब्रजभाषा के अध्येता के लिए अत्यन्त अमूल्य कडी है, जिसके महत्व और गौरव के साथ ही भाषागत सौष्ठव और शक्ति की भी ब्रजभाषा उत्तराधिकारिणी हुई। यहाँ पालि भाषा के कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण व्याकरणिक तत्वो का उल्लेख ही सभव है।[१]

§ २७ पालि और सस्कृत भाषा के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकालीन भाषा एक दूसरे स्तर पर विकसित होने लगी थी। ध्वनिविकास की दृष्टि से पालि की सर्वमान्य विशेषता है व्यञ्जनो का समीकरण (Assimilation of the consonents) उप्पन्न<उत्पन्न, पुत्त<पुत्र। भत्त<भक्त, धम्म<धर्म, आदि उदाहरणो में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। य और ज तथा ब् और व् के परस्पर परिवर्तन के उदाहरण भी मिलते है। अक्षर-सकोच की प्रवृत्तियाँ ब्रजभाषा या हिन्दी में मिलती है, किन्तु इनका आरम्भ पालि से ही दिखाई पडता है। कात्यायन>कच्चान, यवागु>यागु, स्थविर>थेर, मयूर>मोर, कुसीनगर>कुसीनर, मोद्गल्यायन>मोग्गलान आदि में सकोच का प्रभाव स्पष्ट है। उसी प्रकार स्वरभक्ति या विप्रकर्ष के उदाहरण भी मिलते है तीक्ष्ण>तिखिण, तृष्ण>तषिण, राज्ञा>राजिञ्ञो, वर्यते>वरियते आदि। पालि भाषा मे र और ल दोनो ही ध्वनियाँ वर्तमान हैं किन्तु र और ल के परस्पर परिवर्तन के उदाहरण भो विरल नही हैं। एरड>एलदु, परिखनति>पलिखनति, त्रयोदस>तेरस>तेलस, दर्दुर>दद्दल, तरुण>तलुण। यह प्रवृत्ति ब्रजभाषा को परम्परा से प्राप्त हुई है। पीछे घूर्ण>घोल, पर्यंक >पलग, भद्रक>भला आदि के उदाहरण दिये गये है। उष्म व्यञ्जनो का प्राणध्वनि ह में परिवर्तन भी द्रष्टव्य है प्रश्न> पण्ह (metathesis) अश्मना>अम्हना, कृष्ण>कण्ह, सुस्नात>सुण्हात। इन उदाहरणो मे व्यजन-व्यत्यय भी दिखाई पडता है। इस तरह के उदाहरण ब्रज में बहुत मिलते है।

सस्कृत भाषा के व्याकरणिक नियमो की कडाई को पालि ने शिथिल कर दिया। सज्ञा और क्रिया दोनो के (duets) रूपो की असार्थकता सस्कृत में भी अनुभव की जाती थी, किन्तु पालि ने इस व्यर्थ प्रयोग को समाप्त ही कर दिया किन्तु सरलीकरण का यह कार्य बहुत कुछ मिथ्या या निराधार समानताओ की दृष्टि से किया गया।[२] सस्कृत के नपुसक लिंग के रूपो के साथ इ या उ अन्तवाले सज्ञा रूपो के न् विभक्ति को नकल पर पुल्लिग रूपो में भी मच्चुनो (मृत्यो के लिए) जैसे प्रयोग किये गये। सप्रदान-सबध कारक के रूप भी अकारान्त प्रातिपदिको की तरह बनाये गये जैसे अग्गिस्स, वाउस्स आदि उसी प्रकार अग्गिनो भिक्खुनो रूप नपुसक लिंग प्रातिपदिका के मिथ्या सादृश्य के आधार पर बने। पालि व्याकरण की उन स्वच्छन्द प्रवृत्तियो के आधार पर कुछ भाषाविदो ने यह निष्कर्ष निकाला कि मध्यदेश की यह भाषा उस वैदिक बोली के नियमो से ज्यादा साम्य रखता है, जिसके बहुत से भाषिक विधान

परिनिष्ठित संस्कृत में नहीं स्वीकार किये गये थे।[1] उदाहरण के लिए इदम् का एकवचन पुंलिंग रूप 'इमस्स', 'फल' का प्रथमा बहुवचन 'फला', 'अस्थि' और 'मधु' के कर्ता और कर्म के बहुवचन के 'अट्ठी' और 'मधू' रूप। डॉ० भांडारकर इन रूपों को मात्र वैदिक रूपों के सादृश्य पर ही निष्पन्न बताने की प्रवृत्ति को ठीक नहीं मानते। इन रूपों में वे पुंलिंग और नपुंसक लिंग के अन्तर को मिटाने की उस प्रवृत्ति का सूत्रपात मानते हैं जो आगे चलकर हिन्दी आदि भाषाओं में विकसित हुई।[2] संस्कृत क्रिया के दस काल और क्रियार्थभेद के रूपों में पालि में केवल आठ ही रह गये। भविष्य और वर्त्तमान कालों के रूपों में तो बहुत कुछ सुरक्षित भी रहे किन्तु दूसरे काल में केवल दो-तीन ही अवशिष्ट रहे। कुछ नये क्रियारूप भी दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिए 'म्हे' वर्त्तमान काल के आत्मनेपद उत्तम पुरुष का रूप, या मध्यम पुरुष एकवचन का रूप 'त्थो'। इस प्रकार के कई कालों के रूप मिलते हैं। वे वस्तुतः 'अस्' धातु के विभिन्न कालों के रूप हैं जिनका निर्माण आरम्भिक मौलिक रूपों के विस्मृत हो जाने के बाद किया गया, इनमें से कई संस्कृत 'अस्' के रूपों से निष्पन्न माने जा सकते हैं। इन्हीं प्रयोगों को दृष्टि में रखकर डॉ० भांडारकर ने कहा कि 'जब संस्कृत के कई मूल रूप विस्मृत हो गये, उनके स्थान पर पालि में नये रूपों का निर्माण हुआ, केवल मिथ्या सादृश्य के आधार पर ही नहीं, बल्कि क्रिया की अभिव्यक्ति को दृष्टि में रखकर क्रियार्थक भेदों के अनुसार इनका गठन हुआ। अस् धातु के विभिन्न रूपों का प्रयोग विशेष महत्व रखता है। *यहाँ पर हम देखते हैं कि नव्य आर्यभाषाओं के कुछ नये क्रियार्थ भेद और काल (Mood and tense)* के रूप तथा अस् के विभिन्न रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति जिसे हम वर्तमान भाषाओं के विकास में सक्रिय देखते हैं, बहुत पहले प्राचीन काल में ही वर्त्तमान रही है।[3] ब्रजभाषा या हिन्दी में कृदन्त + सहायक क्रिया की प्रवृत्ति को एकदम नवीन माननेवालों के लिए यह विचारणीय होना चाहिए।

§ २८ पालि काल ही में प्राकृतों का प्रयोग आरम्भ हो चुका था। भारतीय आर्यभाषा के मध्यस्तरीय विकास में (२०० ई० से ६००) प्राकृतों का अपना विशेष महत्व है। इन प्राकृतों को हम बहुत हद तक जनता की भाषा नहीं कह सकते। संस्कृत नाटककारों ने इस भाषा का प्रयोग पामर या ग्राम्य जनों की बात-चीत की भाषा के रूप में ही किया है, बहुत कुछ शिष्ट श्रोता-मण्डल के लिए हास्य का एक सस्ता आधार उपस्थित करना ही जैसे इनका उद्देश्य रहा हो। बाद की प्राकृत रचनाएँ इतनी कृत्रिम और नियमबद्ध आर्ष शैली में लिखी गयी हैं कि उन्हें साहित्यिक कृत्रिम भाषा ही कह सकते हैं। यह सत्य है कि इन साहित्यिक प्राकृतों के पीछे उन बोलियों का आधार रहा है जिनसे वे विकसित हुई थीं, किन्तु हमारे पास उन बोलियों को शुद्ध सहज रूप में प्राप्त करने का कोई साधन नहीं है। संस्कृत वैयाकरणों के प्रमाण पर हम प्रमुख प्राकृतों में शौरसेनी, महाराष्ट्री और मागधी का नाम लेते हैं। मागधी प्राकृत निःसन्देह मगध की भाषा थी अतः इसे हम प्राच्य प्राकृत भी कह सकते हैं, शौरसेनी शूरसेन प्रदेश वर्त्तमान मथुरा के आस-पास की भाषा थी इसे मध्यदेशीय प्राकृत कहा जा सकता है।

---

१ वही, पृ० ५७
२ वही, पृ० ५७
३. वही, पृ० ६३

मागधी और शौरसेनी प्राकृतो के नाम के पीछे जनपदीय सबधो को देखते हुए लोगो ने महाराष्ट्री प्राकृत को महाराष्ट्र की भाषा और आज की मराठी की पूर्वज बोली स्वीकार किया। किन्तु नवीन शोध के आधार पर यह धारणा बहुत अंशो में निराधार प्रमाणित हो चुकी है। ईस्वी सन् १९३३ मे डॉ० मनमोहन घोष ने अपने 'महाराष्ट्री शौरसेनी का परवर्ती रूप' शीर्षक निबन्ध[1] मे कई प्रकार के प्रमाणो के आधार पर यह सिद्ध किया कि महाराष्ट्री प्राकृत वस्तुत जनपदीय प्राकत नही है, जिसका सबध महाराष्ट्र देश से जोडा जा सकता है, बल्कि यह मध्यदेश की प्रसिद्ध शौरसेनी प्राकृत का परवर्ती रूप है जो सम्पूर्ण उत्तर में प्रचलित होने के कारण महाराष्ट्री (आज के शब्द में राष्ट्रभाषा) कहलायी। दण्डी ने काव्यादर्श में प्राकृतो मे महाराष्ट्री को 'महाराष्ट्राश्रित' तथा श्रेष्ठ प्राकृत कहा था

महाराष्ट्राश्रया भाषा प्रकृष्ट प्राकृत विदु ।
सागरसूक्तिरत्नाना सेतुबन्धादि यन्मयम् ॥

इसी के आधार पर डॉ० भाडारकर भी महाराष्ट्री को महाराष्ट्र देश से सबधित मानते हैं। उन्होने सेतुबन्ध, गाथासप्तशती, गौडवध काव्य, आदि पर आश्रित महाराष्ट्री को शौरसेनी से भिन्न माना है।[2] श्री पिशेल और जूल ब्लाक भी महाराष्ट्री प्राकृत को मराठी भाषा की सुदूर पूर्वज मानते है। किन्तु डॉ० मनमोहन घोष इन ग्रन्थो की भाषा को शौरसेनी का परवर्ती रूप कहना ही उचित मानते है। श्री घोष के मत से वररुचि के प्राकृत-प्रकाश के वे अश निश्चित ही प्रक्षिप्त हैं, जिनमें महाराष्ट्री को प्रधान प्राकृत बतलाया गया है। वररुचि के बाद उन्ही के पदचिह्नो पर चलनेवाले कुछ अन्य वैयाकरणो ने भी महाराष्ट्री को प्रधान प्राकृत बताया किन्तु दशरूपककार धनञ्जय, तथा रुद्रट के वर्गीकरणो में महाराष्ट्री का नाम भी नही है और प्रधान प्राकृत शौरसेनी समझी गयी है। वे शौरसेनी, मागधी, पैशाची और अपभ्रश की ही चर्चा करते हैं। उसी प्रकार प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचन्द्र ने भी प्राकृत, शौरसेनी, मागधी और पैशाची तथा अपभ्रश का वर्णन किया है, वे भी महाराष्ट्री नाम से किसी खास भाषा को अभिहित नही करते। कई प्रमाणो के आधार पर श्री घोष इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्राकृत चाहे उसे दण्डी के उद्धरण के आधार पर महाराष्ट्री नाम दिया जाये किन्तु महाराष्ट्री का उस बोली से कोई सम्बन्ध न था जो महाराष्ट्र प्रान्त में उदित हुई। और यदि भौगोलिक क्षेत्र से उसका सम्बन्ध ढूँढना हो तो उसे हम मध्यदेश से सबद्ध कह सकते है। वस्तुत यह शौरसेन प्रदेश की भाषा है।[3] डॉ० मनमोहन घोष के इस मत से मिलती हुई धारणा और भी भाषाविदो ने स्थापित की थी। जॉन बीम्स ने स्पष्ट लिखा था कि सभवत यह मान लेना जल्दीबाजी होगी कि मराठी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत की वशानुगत उत्तरा-

1 Journal of the Deptt of Letters, Calcutta University Vol XXIII, 1933.
2 Wilson' Philological Lectures, pp 72-73
3 Thus we may conclude that Prakrit, though it may be called Maharastri for the sake of Dandi, was not the dialect which has its origin in Maharastra and the geographical area with which it has any possible vital connexion is the Indian Midland and it is the language of S'aursena Region

Maharastri, a later phase of Sauraseni J. D L. C XXIII p. 1-24

घिकारिणी है।[1] मध्य आर्यभाषा के प्रथम स्तर मे स्वर मध्यग अघोष व्यञ्जनो का सघोष रूप दिखाई पडता है, कालान्तर में सघोष ध्वनियाँ उष्मीभूत ध्वनि की तरह उच्चरित होने लगी और बाद के उच्चारण की कठिनाई के कारण ये लुप्त हो गयी। विद्वानो की धारणा है कि शुक7सुअ, शोक7सोअ, नदी7नई की विकास-स्थिति मे एक अन्तर्वर्ती अवस्था भी रही होगी। अर्थात् 'शुक' के सुअ होने के पहले शुग और सुग ये दो अवस्थाएँ भी रही होगी। चाटुर्ज्या ने लिखा है कि इसमें एक विवृति या ढिलाई से उच्चरित अर्थात् उष्मीभूत उच्चारण 'घ, ध' सामने आया। इस तरह उपर्युक्त शब्द शोक, रोग, नदी आदि एक अवस्था में 'सोघ', रोघ' और 'नधी' हो गये थे। साहित्यिक प्राकृतो में शौरसेनी तथा मागधी मे क, ख, त, थ की जगह एकावस्थित स्वर मध्यस्थ रूप में प्राप्त ग, घ (या ह) द, घ के प्रयोगो का वैयाकरणो-द्वारा उल्लेख मिलता है। परन्तु महाराष्ट्री प्राकृत में सभी एकक-स्थिति स्वरान्तर्हित स्पर्श (Inter vocal single stop) पहले से ही लुप्त या अभिनिहित पाये जाते हैं यह महाराष्ट्री के विकास की पश्चकालीन अवस्था का द्योतक है। इसी तरह के और भी समता सूचक और परवर्ती विकास-व्यञ्जक आँकडो के आधार पर मनमोहन घोष ने महाराष्ट्री को शौरसेनी का परवर्ती रूप सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है। शूरसेन से यह भाषा दक्षिण ले जायी गयी और वहाँ उसे स्थानीय प्राकृत के अति न्यून प्रभाव मे उपस्थित करके एक साहित्यिक भाषा का रूप दिया गया। इस प्रसग मे डॉ० चाटुर्ज्या ने हिन्दुस्थानो को दक्षिण ले जाने और 'दकिनी' बनाने की घटना का मजेदार उल्लेख किया है। इस प्रकार समूचे भारतवर्ष में पूरब के कुछ हिस्सो में प्रचलित मागधी को छोडकर एक बार फिर सम्पूर्ण देश की भाषा का स्थान मध्य-देशीय शौरसेनी प्राकृत को प्राप्त हुआ। पूरब में भी इसका प्रभाव कम न था। खारवेल के हाथी गुफा के लेखो तक की भाषा में शौरसेनी के प्रभाव को विद्वानो ने स्वीकार किया है। सस्कृत वैयाकरणो मे कुछेक ने महाराष्ट्री के महत्व को स्वीकार किया है। किन्तु उनका निरीक्षण अवैज्ञानिक था, जैसा ऊपर कहा गया। शौरसेनी का परवर्ती रूप या महाराष्ट्री प्राकृत बहुत कुछ कविता की भाषा कही जा सकती ह। इसमे गद्य बहुत कम मिलता है या उसका एकदम अभाव है। शौरसेनी प्राकृत सस्कृत न जाननेवाले लोगो विशेषत स्त्री वर्ग और असस्कृत परिवारो की बोल-चाल की भाषा थी। इसमे प्राय गद्य लिखा जाता था।[2] जब कि इसी का परवर्ती रूप महाराष्ट्री केवल पद्य (Lyric) की भाषा थी। महाराष्ट्री प्राकृत गीतो की भाषा थी जैसा कि १५वी शती के बाद ब्रजभाषा केवल काव्य की ही भाषा मानी जाती थी।[3] प्राकृतो में मथुरा में मुख्य केन्द्रवाली शौरसेनी प्राकृत सबसे अधिक सौष्ठव एव लालित्यपूर्ण प्राकृत या पश्चमध्ययुगीन भारतीय आर्यभाषा सिद्ध हुई। वैसे देखा जाय तो शौरसेनी आधुनिक मथुरा की भाषा, हिन्दुस्थानी की बहन एव विगतकाल की प्रतिस्पर्धिनी ब्रजभाषा का ही एक प्राचीन रूप थी।[4]

---

1. It is rather hasty to assume that Marathi is the lineal decendent of the Maha-rastri prakrit Comparative Grammar of Modern Aryan Languges 1872 p 34
२ डॉ० हरिवल्लभ भायाणी—वाग्व्यापार पृ० १२०–१३८, विभिन्न प्राकृतो के सम्बन्धो के लिए द्रष्टव्य निबन्ध 'प्राकृत व्याकरणकारो'।
3 Like Brajbhasa in Northern India from the 15th century downwards, Maha-rastri became the recognised dialect of lyrics in the Second MIA period
Orign and development of Bengali Languge p 86.
४ डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० १७७।

§ २९. ऊपर के कथन के पीछे मात्र स्थानीय सम्बन्धजनित युक्ति ही नही बल्कि ठोस भाषाशास्त्रीय धरातल भी है। हम ब्रजभाषा के उदय और विकास के अनेक उलझे हुए तत्वो को शौरसेनी के ध्वनि और रूप विकास के अध्ययन के आधार पर सुलझा सकते हैं। ध्वनि विकास के क्षेत्र में प्राकृत भाषा के अन्तर्गत एक आश्चर्यजनक स्थिति दिखाई पडती है। सस्कृत के तत्सम शब्दो के तद्भव रूपो के प्रयोग की प्रवृत्ति तेजी से बढने लगी। ध्वनियो के इस क्षयकाल में स्वरो के ह्रस्व और दीर्घ व्यवहार में प्राचीन आर्यभाषा की नियमितता का अभाव दिखाई पडता है। स्वरान्त व्यञ्जनो के प्रयोगो के बढ़ जाने के कारण सम्भवत स्वरो की दीर्घता मे कमी आ गयी। ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ और दीर्घ के स्थान पर ह्रस्व स्वरो के प्रयोग की अनियमित प्रवृत्ति जोर पकडने लगी। पिशेल ने इस प्रकार के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।[1] पाअड<प्रकट, रिट्ठामय<अरिष्टमय, पासिद्धि<प्रसिद्धि, णाहीकमल< नाभिकमल, गिरीवर<गिरिवर, धिईमओ<धृतिमत। नव्यभारतीय आर्यभाषाओ में भी स्वरो के ह्रस्व दीर्घ के विपर्यय के उदाहरण मिलते हैं। पानी>पनिहार, नारायण>नरायण, राजा>रजायस आदि। मध्यग व्यञ्जनो के लोप के कारण प्राकृत शब्दो के प्रयोगो में अराजकता उत्पन्न हो गयी। परिणामत नव्य आर्यभाषाओ में इसे दूर करने के लिए पुन तत्सम शब्दो का प्रयोग बढा। किन्तु सरलीकरण की जिस प्रवृत्ति के कारण व्यञ्जन और स्वरो में क्षयिष्णुता उत्पन्न हुई, उसने शब्दो की एक नयी जाति ही खडी कर दी, यही नही प्राकृत भाषा में स्वराघात के पुराने नियम एकदम लुप्त-से हो गये। रूपतत्त्व की दृष्टि से इस भाषा के परिवर्तन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। सज्ञा के प्राचीन द्विवचनवाले रूपो का शनै-शनै अभाव-सा होने लगा। कारको की सख्या में भी न्यूनता दिखाई पडती है। सम्प्रदान और सम्बन्ध कारक के रूप प्राय एक-जैसे हो गये। प्रथमा और द्वितीया के बहुवचनो में प्रयुक्त रूपो में समानता दिखाई पडती है। विभक्तियो की शिथिलता के कारण परसर्गों के आरम्भिक रूप दिखाई पडने लगे। 'रामाय दत्तम्' के स्थान पर 'रामाय कए दत्तम्' तथा 'रामस्य गृहम्' के स्थान पर 'रामस्य केरक घरम्' के प्रयोगो मे हम नव्य भाषा के षष्ठी के 'की', 'का', 'को' आदि परसर्गों के बीज बिन्दु पा सकते हैं। भाषा की यह प्रवृत्ति इसे अश्लिष्टता की ओर प्रेरित करने लगी। क्रिया रूपो में आश्चर्यजनक परिवर्तन उपस्थित हो गये। प्राचीन आर्यभाषा के भावरूप प्राय नष्ट हो गये। इस प्रकार प्राकृत में कर्तरि वर्तमान, कर्मणि वर्तमान, एक भविष्यकालिक निर्देश का रूप और एक आज्ञार्थक तथा एक विधिलिंग के रूप ही प्रचलित रहे। भूतकाल में सामान्य भूत में कृदन्त रूपो का प्रयोग बढने लगा, जो आगे चलकर अपभ्रशो में और भी अधिक प्रचलित हुआ जिनसे नव्य आर्यभाषाओ में भूतकाल के कृदन्तज रूप तथा सयुक्त रूपो का निर्माण हुआ।[2]

---

१ पिशेल ग्रेमेटिक डर प्राकृत स्प्राखे §§ ७०, ७३ आदि। डॉ० चाटुर्ज्या-द्वारा भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० ९० पर उद्धृत।

२ प्राकृत भाषा के शास्त्रीय विवेचन के लिए द्रष्टव्य
 (क) प्राकृत व्याकरणो के अतिरिक्त
 (ख) नाटरकर फिलालॉजिकल लेक्चर्स-प्राकृत ऐंड अ-
 (ग) चाटुर्ज्या, भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० ९

§ ३०. शौरसेनी प्राकृत के वैज्ञानिक और साधार व्याकरण तथा उसकी भाषिक विशेषताओ का समुचित मूल्याकन नही हो सका है। प्राकृत व्याकरणकारो ने महाराष्ट्री के विवेचन के बाद केवल उन्ही बातो का उल्लेख शौरसेनी के प्रसंग में किया है, जो महाराष्ट्री से भिन्न पडती थी। इस प्रकार ये विशिष्टताएँ शौरसेनी के मूल स्वरूप की नहीं, बल्कि साहित्यिक प्राकृत से उसकी असमानताओ की ओर सकेत करती हैं। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण के चतुर्थ पाद के २६०-२८६ सूत्रो में शौरसेनी की विशिष्टताएँ बतायी है [1]

(क) सस्कृत शब्दो के त का द में तथा थ का ध में परिवर्तन (सूत्र २६०-२६२-२७३-२७६)।

(ख) र्य का य्य में परिवर्तन, आर्यपुत्र >अय्यपुत्त।

(ग) भू धातु के रूपो में भ की सुरक्षा (२६६-२६६) भोदि, भवति, भुवदि आदि।

(घ) व्यञ्जनान्तस्वरो के कुछ विचित्र कारक रूप (२६३-२६५) कचुइया<कंचुकिन्, सुहिया<सुरविन्, राय<राजन, विययवम्म<विजयवर्मन्।

(ङ) पूर्वकालिक क्रिया में सस्कृत 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान पर इय, दूण, उडुअ प्रत्यय लगते हैं (२७१-२७२) जैसे पढिय, पढिदूण, (√पठ्) कडुअ<√कृ और गडुअ<√गम्।

(च) भविष्यत्काल में 'स्सि' विभक्ति, हि, स्स, या ह नही (२७५)

(छ) दाणि, ता य्येव, ण, हीमाण हे, ह, जे, अम्महे, ही ही आदि क्रिया विशेषणो का प्रयोग (२७७-८५)

शौरसेनी की उपर्युक्त विशेषताओ के आधार पर हम उस भाषा के रूप की कल्पना नही कर सकते। शौरसेनी का रूप वही था जो महाराष्ट्री प्राकृत का था, जैसा पहले कहा गया, इसलिए शौरसेनी की ये विभिन्नताएँ आपवादिक प्रयोगो पर आधारित हैं। मूल शौरसेनी प्राकृत का व्याकरणिक स्वरूप प्रधान प्राकृत के भीतर ढूँढा जा सकता है। हेमचन्द्र ने सस्कृत नाटककारो की विकृत और अतिकृत्रिम शौरसेनी को दृष्टि में रखकर ही ये विशेषताएँ निर्धारित की। आजकल की तरह उस समय बोलियो के अध्ययन की न सुविधा थी और न तो स्थानीय जनता की बोली का क्षेत्र-कार्य (Field work) के द्वारा निरीक्षण ही सभव था। इसलिए प्राकृत के इन अपवाद-नियमो को मूल विशेषताएँ समझने का भ्रम नही होना चाहिए। वस्तुत साहित्यिक शौरसेनी की यत्र-तत्र प्राप्त रचनाओ की भाषा पर सस्कृत का घोर प्रभाव दिखाई पडता है। यह एक कृत्रिम भाषा थी।

§ ३१. ईस्वी सन् की छठी शताब्दी के बाद, मध्यकालीन भाषा-विकास के तीसरे स्तर में अपभ्रशो का उदय हुआ। छान्दस से शौरसेनी प्राकृत तक के विकास के उपर्युक्त विवरण में भारत की अनार्य जातियो की भाषा के तत्त्वो का विवेचन नही किया गया है। भारत में विभिन्न भाषाओ की मिश्रण-प्रक्रिया का समुचित अध्ययन नही हो सका है। साहित्य में हम भाषाओ के जो आदर्श देखते हैं वे ऊपरी स्तर के तथा अत्यन्त कृत्रिम हैं। समाज में भाषाओ का विकास इतने सीधे ढग से नही होता। प्राकृत भाषाओ में कितना तत्त्व अनार्य भाषाओ का है, यह अध्ययन और शोध का विषय है। अपभ्रशो के विकास में भी अनार्य

---

१ हेम व्याकरण, वम्बई सस्कृत और प्राकृत सीरीज, १६३६।

भाषाओ का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। अपभ्रश भाषाएँ अपने व्याकरणिक ढाँचे में क्रान्तिकारी परिवर्तन की सूचना देती हैं। याकोबी ने कहा था कि 'अपभ्रश मुख्यत प्राकृत के शब्दकोश और देशी भाषाओ के व्याकरणिक ढाँचे को लेकर खडा हुआ। देश भाषाएँ जो मुख्यत पामरजन की भाषाएँ मानी जाती थी, शुद्ध रूप मे साहित्य के माध्यम के लिए स्वीकृत नही हुई, इसलिए वे साहित्यिक प्राकृत मे सूत्र रूप मे गूँथ दी गयी इसी का परिणाम अपभ्रश है।'[1] याकोबी द्वारा सकेतित देश भाषाएँ क्या थी। उनके व्याकरणिक ढाँचे को क्यो स्वीकार किया गया, यह व्याकरणिक ढाँचा प्राकृतो से इतना भिन्न क्यो हो गया ? इन प्रश्नो का उत्तर पाने के लिए हमे जन-भाषाओ के विकास और अनार्य भाषाओ के मिश्रण और प्रभाव का पूरा इतिहास ढूँढ़ना पडेगा। इसी इतिहास के अन्वेषण के सिलसिले मे सस्कृत वैयाकरणो ने अपने शुद्धता-अभिमान के जोश में इस भाषा को 'च्युत भाषा' कहा, आभीरादि असभ्य लोगो की बोली से जोडने का प्रयत्न किया और तरह-तरह के मिथ्या अनुमानो को सिद्धान्त के रूप मे प्रसारित किया। अपभ्रश भाषाएँ ईस्वी सन् की छठी शताब्दी के आस-पास जनता में बोली जानेवाली आर्य और अनार्य भाषाओ के मिश्रण से बनी जातीय भाषा का रूप ले रही थीं, आभीरादि लोग जो सस्कृत नही जानते थे, और बहुत से राजपूत राजे जो सस्कृत से अनभिज्ञ थे, इस अपभ्रश को जन-भाषा के रूप मे महत्त्व देने लगे और देखते-ही-देखते यह भाषा सम्पूर्ण भारत की साहित्यिक भाषा के रूप मे स्वीकृत हो गयी। इन विविध अपभ्रशो में शौरसेनी प्राकृत की उत्तराधिकारिणी के रूप में शौरसेनी अपभ्रश को सारे देश के शिष्टजन की भाषा होने का गौरव प्राप्त हुआ। यह शौरसेनी अपभ्रश ब्रजभाषा की निकटतम पूर्ववर्ती भाषा थी। ६०० शताब्दी से १००० ईस्वी तक इस शौरसेनी का प्रभाव रहा। बाद में यह अपभ्रश भाषा ब्रजभाषा के विकास के साथ ही जन-भाषा के पद से अलग हो गयी, इसमें बाद में भी रचनाएँ होती रही किन्तु इसका प्रभाव कुछ साहित्यिक और शिष्टजनो की गोष्ठी तक ही सीमित हो गया।

§ ३२ पिछले पचास वर्षों के भीतर अपभ्रश भाषा की पुष्कल सामग्री प्रकाश मे आ चुकी है। अपभ्रश की विविध रचनाओ के आधार पर इसके भेदोपभेदो के बारे में कोई ठीक निर्णय नही हो सका है फिर भी उस विशाल सामग्री का अधिकाश पछाँही अपभ्रश में लिखा हुआ है। इस पश्चिमी परिनिष्ठित अपभ्रश के व्याकरणिक स्वरूप और विकास की मुख्य प्रवृत्तियो का नीचे सक्षिप्त उल्लेख किया जाता है, यहाँ मैंने जानकर शौरसेनी अपभ्रश शब्द का प्रयोग नही किया। क्योकि शौरसेनी पश्चिमी अपभ्रश के मूल में प्रतिष्ठित है, किन्तु वह एक नागर अपभ्रश के रूप मे अपना अलग महत्त्व रखती है। इस अन्तर के बारे में आगे विचार किया जायेगा।

२ प्राकृत-शब्दो में प्राय आदि अक्षर और स्वर की मात्रा सुरक्षित रहती है, इस नियम में कुछ अपवाद भी दिखाई पडते हैं।

३. प्राकृत शब्दो में प्रयुक्त सयुक्त व्यजनो को सरलीकृत करके एक व्यंजन और पहले में क्षतिपूर्ति करके पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है। यह प्रवृत्ति बाद की भाषाओ मे विशेषत ब्रजभाषा में अत्यन्त प्रबल दिखाई पडती है। शब्द मार्दव पर इतना ध्यान दिया जाने लगा कि ब्रज में प्राय सरलीकृत व्यञ्जनो का ही प्रयोग हुआ है।

४ प्राकृत की ही भाँति उद्वृत्तस्वरो के विच्छेद को सुरक्षित रखा गया है। बाद में यह प्रवृत्ति नष्ट हो गयी। उद्वृत्त स्वरो के विच्छेद के स्थान पर सध्यक्षरो और संयुक्त स्वरो का प्रयोग होने लगा।

५ शब्दो के बीच में य, व, ब, ह और कभी-कभी र् के आगम-द्वारा उद्वृत्त स्वरो का पृथक् अस्तित्व सुरक्षित किया जाने लगा।

६ लोक अपभ्रशो और परवर्ती अपभ्रशो में उद्वृत स्वरो को एकीकरण-द्वारा सयुक्त कर दिया गया, किन्तु परिनिष्ठित अपभ्रश में इसका अभाव ही रहा।

७ आदि और अनादि स्पर्श व्यञ्जनो का प्राय' महाप्राण रूप दिखाई पडता है। जैसे √ज्वल् >झल, कीलका >खिल्लियइ आदि।

८ ऋ अथवा र के समीवर्ती दन्त्य व्यञ्जन प्राय मूर्धन्य हो जाते हैं।

९ मध्यग व्यञ्जनो का अपभ्रश में प्राय लोप हो जाता है। यद्यपि प्राकृत वैयाकरणो में मध्यम क, त, प तथा ख, थ, फ जैसी अघोष ध्वनियो के घोष हो जाने की व्यवस्था दी है, परन्तु अपभ्रशो में इस नियम का पालन नही होता। अपभ्रश में प्राकृत की ही तरह क, ग, च, ज, त, द (और प भी) लुप्त हो जाते हैं। इसी तरह ख, घ, थ, घ, फ, य प्राय ह हो जाते हैं।

१० स्वरमध्यग म् अपभ्रश में प्राय सुरक्षित रखा गया है किन्तु म् >वँ के विकास के वैकल्पिक उदाहरण भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। कमल >कवँल आदि।

११ सयुक्त र् के प्राय समीकरण की प्रवृत्ति ही लक्षित होती है, वैसे वैयाकरणो ने प्रगण, प्रयावदी, प्राउ, प्राद्व, प्रिय आदि प्रयोगो में इसकी सुरक्षा को लक्ष्य किया था। र के आगम को वैयाकरणो ने अपभ्रश की एक विशेषता कहा हैं किन्तु र का आगम बहुत कम दिखाई पडता है।

§ ३४ रूप-तत्त्व की प्रमुख-विशेषताएँ—

रूप तत्त्वो के विकास की दृष्टि से अपभ्रश भाषा प्राकृतो से काफी दूर हटी मालूम होती है। राहुलजी के मत से इसने नये सुबन्तो और तिङन्तो की सृष्टि की। आरम्भिक अवस्था में प्राकृत का प्रभाव अत्यन्त तीव्र दिखाई पडता है, किन्तु धीरे-धीरे अपभ्रश अपने को उस प्रभाव से मुक्त करने लगा और इस विकासक्रम में उसने नव्यभारतीय आर्य

भाषाओ के विकास की पूर्वपीठिका स्थापित कर दी। रूप तत्त्व सम्बन्धी अपभ्रश की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१ पालिकाल से ही व्यञ्जनान्त प्रातिपदिको का लोप होने लगा था। अपभ्रश ने इस प्रकार अधिकाश प्रातिपदिको को स्वरान्त कर दिया। स्वरान्त प्रातिपदिको के रूप भी अकारान्त पुलिंग शब्द के रूपो से अत्यन्त ही प्रभावित होते थे। अपभ्रश में अ-इ-उ-कारान्त प्रातिपदिक ही रह गये और इस तरह इस भाषा में शब्द रूपो की जटिलता समाप्त हो गयी।

२ व्याकरणिक लिंग-भेद प्राय लुप्त हो गया और अ-इ-उ-कारान्त प्रातिपदिको के रूपो मे बहुत कुछ समानता होने के कारण शब्दो का लिंग निर्णय करना और भी कठिन हो गया। कुम्भइ (पु) रहइ<रेखा (स्त्री) अम्हइ< अस्मे (उभयलिंग)।

३ अपभ्रश की कारक-विभक्तियो को तीन समूहो में रखा जा सकता है। प्रथमा, द्वितीया और सम्बोधन का एक समूह, दूसरा तृतीया और सप्तमी और तीसरा समूह चतुर्थी, पञ्चमी और षष्ठी का। पिछले दोनो समूहो में विपर्यय और मिश्रण इस मात्रा में होने लगा कि सामान्य कारक (Direct case) और विकारी रूप (Oblique) से ही काम चल जाता था। इस प्रकार सस्कृत के एक शब्द के २१ रूपो के स्थान पर प्राकृत में १२ और अपभ्रश में केवल ६ रूप रह गये।

४ लुप्त विभक्तिक पदो के प्रयोग के कारण वाक्य-विन्यास में काफी कठिनाई उत्पन्न होने लगी। निर्विभक्तिक प्रयोग परवर्ती भाषाओ में भी मिलते हैं किन्तु अपभ्रश काल में ही इस कठिनाई को दूर करने के लिए परसर्गों का प्रयोग होने लगा। अपभ्रश में करण कारक में सहु, तण (जिससे ब्रजभाषा का सो, तण और तैं रूप बना) सम्प्रदान में रेसि और केहि (केहि कह, आदि) षष्ठी में केरअ, केर, केरा (जिनसे ब्रज का कैरो, को, करी आदि परसर्ग बने) अधिकरण में मज्झि, मझि (जिससे मह, माहि, मझारी आदि परसर्गो का विकास हुआ) आदि परसर्गो का प्रयोग होता था।

५ सर्वनामो के बहुविध प्रयोग दिखाई पडते हैं। पुरुष वाचक के हउँ, महु, मुज्झु, तुहुँ, सो, तसु तासु, तथा अन्य, ओइ (वह) इहो (यह) कवण, कोव आदि रूपो में हम नव्य भाषाओ के सर्वनामो की स्पष्ट छाया देख सकते हैं। अपणा (निजवाचक) जित्तिउ, तित्तिउ (परिमाणवाचक) जइसो तइसो (गुणवाचक) तुम्हारिम, हम्मारिस (सम्बन्धवाचक) आदि प्रयोग महत्त्वपूर्ण हैं।

६ काल रचना को दृष्टि से अपभ्रश के क्रिया रूपो में लट्, लोट् और लृट् के रूप तिङन्त होते थे, शेष कालो के रूप प्राय कृदन्तज होने लगे। कृदन्त रूपो के साथ क्रियार्थभेद और काल सूचित करने के लिए सयुक्त रूपो का निर्माण हुआ जिसमें अच्छइ, अच्छ-जैसी सहायक क्रियाओ का प्रयोग भी होने

लगा। सामान्य वर्तमान के करउ, करहु, करहि, करह, करइ, करह आदि रूपो से करौं, करै, आदि व्रज में सीधे विकसित होकर पहुँचे। लोट् (आज्ञार्थक) में अ-इ-उ-कारान्त रूप होते थे—करि, कर, करु आदि। व्रज में करौ, करहुँ आदि 'करु' से वने रूप हैं। भविष्यत् में अपभ्रश में-स-और-ह-दोनो प्रकार के रूप चलते थे किंतु परिनिष्ठित अपभ्रश में-ह-प्रकार की अधिकता थी करिहइ, करिहउ आदि। व्रज में करिहै, करिहौ, ह्वैहै आदि रूप चलते हैं। विधिलिंग के रूपो में इज्ज प्रत्यय लगता है। करिज्जह>करीजे (व्रज) भूतकाल के रूप कृदन्तज थे, किय, भणिय, हुअ, गय आदि। उकार वहुला भाषा मे ये कियउ, हुयउ, गयउ हो जाते थे। व्रज में कियौ, गयौ, भयौ आदि इसके रूपान्तर हैं। सयुक्त क्रिया वनाने की प्रवृत्ति वढ़ रही थी, यह अपभ्रश युग की क्रिया का एकदम नवीन विकास था। रडन्तउ जाइ, भग्गा एन्तु, भज्जिउ जन्ति आदि प्रयोग इस प्रवृत्ति की सूचना देते हैं। व्रज के 'चलत भयी, आवतो भयो, आनि परचो' आदि में इसी प्रवृत्ति का विकास हुआ। पूर्वकालिक क्रियाओ में आठ प्रत्यय लगते थे इ, इवि, एवि, एविणु, एप्पिणु, आदि के प्रयोग होते थे किन्तु प्रधानता 'इ' की ही रही। व्रज में यही प्रचलित हुआ। प्रेरणार्थक 'अव' प्रत्यय वोल्लावइ, पणवइ में दिखाई पडता है, यही व्रजभाषा मे भी प्रयुक्त होता है।

७ अपभ्रश ने देशज शब्दो और धातुओ के प्रचुर प्रयोग से भाषा को एक नयी शक्ति प्रदान की। इन देसी प्रयोगो के कारण अपभ्रश के भीतर एक ऐसी विशिष्टता आ गयी जो प्राकृत में विलकुल नही थी। इसी देसी प्रयोग ने इस भाषा को नव्य भाषाओ की ओर उन्मुख किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्रजभाषा के विकास के पीछे सैकडो वर्षों तक की परम्परा छिपी है। इस प्रकार के विकास मे आर्य, अनार्य, कोल, द्राविड और न जाने कितने प्रकार के प्रभाव घुले-मिले हैं। आर्यभाषा को प्राचीन से नवीन तक विकसित होने मे जितने सोपान पार करने पडे हैं, जितने मोड लेने पडे हैं, उन सवकी कुछ-न-कुछ विशेषता है, इन सवका सतुलित और आवश्यक दाय व्रजभाषा को प्राप्त हुआ, उनके निरन्तर विकासशील तत्त्व इस भाषा के ढाँचे में प्रतिष्ठापित हुए। १००० ईस्वी के आस-पास शौरसेनी अपभ्रश की अपनी जन्मभूमि में व्रजभाषा का उदय हुआ—उस समय उसके सिर पर साहित्यिक अपभ्रश की छाया थी और रक्त में शौरसेनी भाषाओ की परम्परा और अन्य सामाजिक तथा सास्कृतिक तत्त्वो का ओज और वल।

ब्रजभाषा का उद्गम

शौरसेनी अपभ्रंश, वि० १०००-१२००

§ ३५ ईस्वी सन् की पहली सहस्राब्दी के अन्तिम भाग मे, जब परिनिष्ठित अपभ्रंश समूचे उत्तर भारत को प्रमुख भाषा के रूप में स्वीकृति पाकर साहित्य का लोकप्रिय माध्यम हो गया था, उन्हीं दिनो उसका मूल और शुद्ध शौरसेनी रूप अपनी जन्मभूमि में विकसित होकर व्रजभाषा की पूर्वपीठिका प्रस्तुत कर रहा था। १००० ईस्वी के आस-पास नव्य भारतीय आर्य-भाषाओं के उदय का काल निर्धारित किया जाता है। यह काल-निर्धारण पूर्णत अनुमानाश्रित है इस काल को सौ वर्ष आगे-पीछे भी खींचा जा सकता है, किन्तु ईस्वी सन् की १३वीं शताब्दी के अन्त तक मैथिली, राजस्थानी, अवधी और गुजराती आदि भाषाओं के समारम्भ को सूचित करनेवाले साहित्य की उपलब्धि को देखते हुए उनके उदय का काल तीन-चार सौ साल और पीछे ले जाना ही पड़ता है। मध्ययुग मे अपभ्रंश के प्रचार और उसकी व्यापक मान्यता के पीछे राजपूत सामन्तो के प्रति जन-सामान्य की श्रद्धा और अभ्यर्थना को भी एक कारण माना जाता है। चूँकि इन सामन्तो ने अपभ्रंश को अपने दरबारो की भाषा का स्थान दिया, उनके यश और शौर्य की गाथाएँ और स्तुतियाँ इसी भाषा में छन्दोबद्ध की गयी इसलिए मुसलमानी आक्रमण से सत्रस्त और संघटन तथा त्राण की इच्छुक जनता ने इस भाषा को सांस्कृतिक महत्त्व प्रदान किया। '९वीं से १२वीं शताब्दी के काल में परिनिष्ठित अपभ्रंश, राजपूत राजाओं की प्रतिष्ठा और प्रभाव के कारण, जिनके दरबारो में इसी शौरसेनी की परवर्ती या उसी पर आधृत भाषाएँ व्यवहृत होती थीं, और जिसे चारणों ने समृद्ध और शक्ति-सम्पन्न बनाया था, पश्चिम में पंजाब और गुजरात से लेकर पूरब में बंगाल तक समूचे आर्य भारत में प्रचलित हो गया। सम्भवत यह उस काल की राष्ट्रभाषा माना जाता था।'[1] श्री चाटुर्ज्या के

---

1 Origin and Development of Bengali Language, pp. 113

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि राजपूत दरबारो मे परिनिष्ठित अपभ्रंश को उसी रूप में मान्यता प्राप्त नही थी, बल्कि शौरसेनी के परवर्ती विकसित रूप का वे राजभाषा के रूप मे व्यवहार करते थे। यह भाषा निश्चित ही व्रजभाषा की आरम्भिक अवस्था की सूचना देती है। शौरसेनी अपभ्रंश के आधार पर निर्मित परिनिष्ठित अपभ्रंश और इस परवर्ती विकसित भाषा में बहुत अधिक अन्तर नही था, क्योंकि दोनो की मूल प्रवृत्तियाँ, शौरसेनी या मध्य-देशी थी।

§ ३६. इसलिए विकास सूचक इस यत्किंचित् अन्तर को भी समझने का प्रयत्न नही किया गया। श्री चाटुर्ज्या ने अपभ्रंश के अन्त का समय तो लगभग १०वी शताब्दी का अन्त ही माना, किन्तु व्रजभाषा का उदयकाल उन्होने १५वी शती का उत्तरार्द्ध बताया। इस मान्यता के लिए हम उन्हें दोषी भी नही ठहरा सकते क्योकि तब तक व्रजभाषा के उदयकाल को और पीछे लाने के पक्ष मे कोई ठोस आधार प्राप्त न था। व्रजभाषा सूर के साथ शुरू होती थी। पृथ्वीराजरासो सवत् १२५० की कृति कहा जाता था, किन्तु उसे जाली ग्रन्थ बतानेवालो की सख्या निरन्तर बढती जा रही थी। यत्र-तत्र फुटकल प्राप्त सामग्री को कोई अधिक महत्व नही दिया जा सकता था।

§ ३७. नव्य भाषाओ के उदय का जो काल निर्धारित किया जाता है, वही व्रजभाषा के लिए भी लागू होता है। मध्यदेश की भाषा होने मे जहाँ एक ओर गौरव और प्रतिष्ठा मिलती है वही दूसरी ओर हर नयी उदीयमान भाषा के लिए भयकर परीक्षा भी देनी होती है। परिनिष्ठित भाषा के मूल प्रदेश के लोग राष्ट्रभाषा का गौरव सँभालने मे घरेलू बोली को भूल जाते हो तो कोई आश्चर्य नही। क्योकि उनके लिए परिनिष्ठित और देशभाषा या जनपदीय में कोई खास अन्तर नही होता। व्रजभाषा या हिन्दी के आरम्भ की ऐतिहासिक सूचना हमें निजामुद्दीन के तबकात-ए-अकबरी तथा दो अन्य लेखको की कृतियो में मिलती है। कालिजर के हिन्दू नरेश ने बिना हौदे और महावत के हाथियो को सरलता से पकडने और उन पर सवारी करनेवाले तुर्कों की प्रशसा में कुछ पद्य हिन्दी भाषा मे लिखे थे जिसे महमूद गजनवी ने अपने दरबार के हिन्दू विद्वानो को दिखाया। केम्ब्रिज हिस्ट्री के लेखक के मुताबिक महोबा के कवि नन्द की कविता ने महमूद को प्रभावित किया था।[1] खुसरो ने मसऊद इब्न-साद के हिन्दी दीवान का उल्लेख किया है। यह लेखक महमूद के पौत्र इब्राहिम के दरबार मे था, जिसने ११२५-११३० ईस्वी के बीच शासन किया।[2] इन प्रमाणो में सकलित भाषा को डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या शौरसेनी अपभ्रंश ही अनुमानित करते हैं—किन्तु हिन्दी से अप-भ्रंश का अर्थ खीचना उचित नही जान पडता। शौरसेनी अपभ्रंश से भिन्न भाषा बोलनेवाले जनपदो की नव्य भाषाओ के उदय और विकास के अध्ययन के लिए तो तब तक कठिनाई बनी रहती है, जब तक उस जनपदीय अपभ्रंश में लिखी कोई रचना उपलब्ध न हो। परि-निष्ठित अपभ्रंश में लिखनेवाले जनपदीय या प्रादेशिक लेखक भी अपनी बोली का कुछ-न-कुछ प्रभाव तो लाते ही थे, इन प्रभावो के आधार पर भी, उस बोली के स्वरूप का कुछ

१ केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इडिया, भाग ३, पृ० २।

२ प्रो० हेमचन्द्रराय ८वी ओरियन्टल कॉन्फरेन्स का विवरण—मैसूर १९३५ 'भारत में हिन्दुस्तानी कविता का आरम्भ'।

निर्णय हो सकता है, किन्तु यह कठिनाई ब्रजभाषा के लिए तो बिलकुल ही नही है, क्योकि उनकी पूर्वपीठिका के रूप में शौरसेनी अपभ्रंश की सामग्री उपलब्ध है, हम उस सामग्री के आधार पर सक्रान्तिकालीन ब्रजभाषा के स्वरूप का अनुमान कर सकते हैं। याकोबी ने कहा था कि अपभ्रंशो का ढाँचा नव्य भाषाओ का था और रूप-सँभार आदि प्राकृत का। याकोबी के इस कथन की यथातथ्यता भी प्रमाणित हो सकती है यदि हम शौरसेनी अपभ्रंश के मूल ढाँचे को ब्रजभाषा के व्याकरणिक रूप से सबद्ध करने में सफल हो सकें।

§ ३८ प्रश्न होता है कि यह शौरसेनी अपभ्रंश क्या है? १०वी शताब्दी के आस-पास उसका कौन-सा रूप कहाँ उपलब्ध होता है। वैयाकरणो ने अपभ्रशो के प्रसंग में शौरसेनी को एक प्रकार माना है। किन्तु शौरसेनी का निश्चित रूप क्या है, इसमे मतैक्य नही है। १९०२ ईस्वी में प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् पिशेल ने अपभ्रंश की यत्र-तत्र प्राप्त रचनाओ का सकलन करके 'मेतीरियलिन डर कैन्तिस स्प्राखे' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन कराया। उक्त ग्रन्थ की भूमिका मे उन्होने इस सुन्दर और पुष्ट भाषा की पुष्कल सामग्री के विनाश के लिए शोक व्यक्त किया, किन्तु कौन जानता था कि उनके इस शोक के पीछे छिपी अपभ्रंश के उद्धार की महती सदिच्छा इतनी शीघ्र पूर्ण होगी। आज अपभ्रंश की काफी सामग्री प्रकाश मे आ चुकी है। जो कुछ प्रकाश में आयी है उसका कई गुना अधिक अब भी विभिन्न ज्ञाताज्ञात भाडारो में दबी पडी है। प्रो० हरि दामोदर वेलणकर ने १९५४ में अपभ्रंश ग्रन्थो की एक सूची प्रकाशित करायी थी जिसमें ढाई सौ से ऊपर महत्त्वपूर्ण रचनाओ का विवरण उपलब्ध है।[1] अलग-अलग भाडारो की सूचियाँ प्रकाशित होती जा रही हैं। इस सामग्री के समुचित विवेचन और पूर्ण विश्लेषण के बाद ही बहुत से उलझे हुए प्रश्नो का समाधान सम्भव है।

§ ३९ इनमें से प्रकाशित ग्रन्थो की सख्या भी कम नही है। स्वयभू, पुष्पदन्त, धनपाल, योगीन्दु और रामसिंह-जैसे कवियो की कृतियाँ किसी भी भाषा को गौरव दे सकती है। इन लेखको की भाषा प्राय परिनिष्ठित अपभ्रंश कही जाती है। किन्तु ९वी शताब्दी से पहले की कृतियो की भाषा प्राकृत से इतनी आक्रान्त और रञ्जित है कि इसमें भाषा का सहज प्रवाह नही दिखाई पडता, वैसे इनके भीतर भी हम प्रयत्न करके ब्रजभाषा के विकास के कुछ तत्त्व पा सकते हैं। वस्तुत ९वी तक की यह अपभ्रंश भाषा अत्यन्त कृत्रिम तथा रूढ प्रयोगो से दबी हुई है। यह आज की पडिताऊ हिन्दी की तरह अत्यन्त पुस्तकीय और प्राकृत का अनावश्यक सहारा लेने के कारण पगु मालूम होती है। अपभ्रंश का लोकमान्य तथा सहज रूप ९वी-१०वी शताब्दी के बाद की रचनाओ में मिलता है। गुलेरीजी ने ठीक ही कहा था कि 'पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत मे मिलती है और पिछली पुरानी हिन्दी से। विक्रम की ७वी से ११वी तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गयी।'[2] हम गुलेरीजी की तरह बाद की अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी न भी कहें तो भी इतना तो मानना ही पडेगा कि पुरानी हिन्दी या ब्रजभाषा के स्वरूप में सहायक भाषिक

तत्त्वो के अन्वेषण के लिए यही बाद की अपभ्रंश ही महत्त्वपूर्ण है। इस बाद की अपभ्रश में भी सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण कृतियाँ वे हो सकती हैं, जो शौरसेनी अपभ्रंश के निजी क्षेत्र में लिखी गयी हो। अभाग्यवश इस तरह की और इस काल की कोई प्रामाणिक कृति, जो मध्यदेश में लिखी गयी हो, प्राप्त नही होती। मुसलमानो के निरन्तर आक्रमण से ध्वस्त मध्यदेश में हस्तलेखो की सुरक्षा का कोई प्रयत्न नही हुआ। मध्यदेश की अपभ्रंश भाषा सारे भारत की भाषा बनी, किन्तु मध्यदेश में क्या लिखा गया, इसका कुछ भी पता नही चलता।

§ ४० सस्कृत तथा प्राकृत वैयाकरणो ने प्राकृत के साथ-साथ अपभ्रश का उल्लेख किया है। रामशर्मन्, मार्कण्डेय, त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर आदि वैयाकरणो ने प्राकृत का काफी अच्छा विवरण प्रस्तुत किया है, किन्तु अपभ्रश का जैसा सुन्दर और विशद् विवरण हेमचन्द्र ने उपस्थित किया, वैसा अन्यत्र उपलब्ध नही होता। हेम व्याकरण के अपभ्रश भाग की सबसे बडी विशेषता नियमो के उदाहरण रूप में उद्धृत अपभ्रश के दोहे हैं जिनके चयन और सकलन में हेमचन्द्र की अद्वितीय काव्य मर्मज्ञता और तत्त्वग्राहिणी प्रतिभा का पता चलता है 'सीला बीनने वालो की तरह वह (हेमचन्द्र) सीला बीनने वाला न था। हेमचन्द्र का पहला महत्त्व है कि और वैयाकरणो की तरह केवल पाणिनि के व्याकरण के लोक-उपयोगी अश को अपने ढचर में बदलकर ही वह सन्तुष्ट न रहा, पाणिनि के समान पीछा नही तो 'आगा' देखकर अपने समय तक की भाषा का व्याकरण बना गया—उसने एक बडे भारी साहित्य के नमूने जीवित रखे, जो उसके ऐसा न करने से नष्ट हो जाते, वह अपने व्याकरण का पाणिनि और भट्टोजी दीक्षित होने के साथ-साथ उसका भट्टि भी है।' हेम व्याकरण में सकलित अपभ्रश के ये नमूने इस भाषा की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और प्रमाणभूत सामग्री समझे जाते हैं।

§ ४१ हेमचन्द्र के इस अपभ्रश को विद्वानो ने शौरसेनी अपभ्रश कहा है। डॉ० एल० पी० तेस्सीतोरी ने स्पष्ट लिखा है कि शौरसेनी अपभ्रश के बारे में अब तक हमारी जानकारी मुख्यत हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण ४।३२९-४४६ सूत्रो के उदाहरणो और नियमो पर आधारित है। हेमचन्द्र १२वी शताब्दी (सवत् ११४४-१२२८) में हुए थे और स्पष्ट है कि उन्होने जिस अपभ्रश का परिचय दिया है, वह उनसे पहले की है इसलिए इस प्रमाण के आधार पर हम हेमचन्द्रवर्णित शौरसेनी अपभ्रश की पूर्ववर्ती सीमा १०वी शताब्दी ईस्वी रख सकते हैं।[१] तेस्सीतोरी ने हेमचन्द्र के व्याकरण के दोहो को शौरसेनी अपभ्रंश क्यो मान लिया, इसके बारे में कोई स्पष्ट पता नही चलता। सम्भवत उन्होने यह नाम जॉर्ज ग्रियर्सन के भाषा सर्वे में व्यक्त मत के आधार पर ही स्वीकार किया था। डॉ० ग्रियर्सन ने मध्यदेशीय अपभ्रश को नागर अपभ्रश बताया जिसका एक रूप शौरसेनी कहा। उन्होने यह भी कहा कि इस नागर अपभ्रश का गौर्जर से घनिष्ट सम्बन्ध है। आगे डॉ० ग्रियर्सन ने बताया कि हेमचन्द्र के व्याकरण का अपभ्रश 'नागर' था। इस प्रकार मार्कण्डेय के नागर उपनागर और व्राचडवाले विभाजन को आधार मानकर ग्रियर्सन ने भारतीय नव्य भाषाओ का जो समूहीकरण किया वह बहुत कुछ Hypothetical है। यहाँ उनके इसी कथन से मतलब है

१. पुरानी राजस्थानी, नागरी प्रचारिणी सभा, पृ० ५।

कि हेमचन्द्र को अपभ्रंश भाषा नागर थी जो मध्यदेश की भाषा थी।[1] डॉ० भाण्डारकर अपभ्रंश भाषा का उद्गम और विकास का क्षेत्र मथुरा के आस-पास मानते हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि ६ठी-७वी शताब्दी के आस-पास अपभ्रंश का जन्म उस प्रदेश में हुआ, जहाँ आजकल ब्रजभाषा बोली जाती है।[2] हेमचन्द्र के काल में मध्यदेशीय शौरसेनी अपभ्रंश का सारे उत्तर भारत में आधिपत्य था। मुंशी ने लिखा है कि 'एक ज़माना था जब शौरसेनी अपभ्रंश गुजरात में भी प्रचलित थी।'[3] प्रसिद्ध जर्मन भाषाविद् पिशेल हेमचन्द्र के व्याकरण के अपभ्रंश दोहों की भाषा को शौरसेनी मानते हैं।[4] इसी प्रकार डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या हेमचन्द्र के दोहों को पश्चिमी अपभ्रंश (जिसे मूलत वे शौरसेनी मानते हैं) की रचनाएँ स्वीकार करते हैं। 'पश्चिमी अपभ्रंश को एक तरह से ब्रजभाषा और हिन्दुस्तानी की उनके पहले की ही पूर्वज कहा जा सकता है। गुजरात के जैन आचार्य हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) द्वारा प्रणीत व्याकरण में उदाहृत पश्चिमी अपभ्रंश के प्रचलित साहित्य के कुछ उदाहरणों से हमें इस बात का पता चलता है कि उस काल की भाषा हिन्दी के कितनी निकट थी।[5] एक दूसरे स्थान पर डॉ० चाटुर्ज्या लिखते हैं 'मध्ययुग के उत्तर भारत के सन्त और साधु लोगों की परम्परा जिन्होंने स्थापित की थी, ऐसे राजपूताना, पंजाब और गुजरात के जैन आचार्य लोग तथा पूर्व भारत के बौद्ध सिद्धाचार्य लोग, और बाद में समग्र उत्तर भारत में फैले हुए शैव योगी या नाथ पंथ के आचार्य लोग, बंगाल के सहजिया पंथ के साधक—इन सबों के लिए शौरसेनी अपभ्रंश जनता के समक्ष अपने मत और अपनी शिक्षा के प्रसार के वास्ते एक अच्छा साधन बना।'[6] इस कथन में 'जैन आचार्य' पद से हेमचन्द्र की ओर संकेत स्पष्ट है।

§ ४२ एक ओर उपर्युक्त और अन्य भी बहुतेरे विद्वान् हेमचन्द्र की अपभ्रंश को शौरसेनी मानते हैं, दूसरी ओर गुजरात के कुछेक विद्वान् इसे 'गुर्जर अपभ्रंश' मानने का आग्रह करते हैं। सर्वप्रथम श्री के० ह० ध्रुव ने १०वी-११वी शती में गुजरात में लिखे अपभ्रंश के साहित्य की भाषा को प्राचीन गुजराती-विकल्प से अपभ्रंश नाम देने का सुझाव रखा। इसी मत को और पल्लवित करते हुए श्री केशवराम काशीराम शास्त्री ने हेमचन्द्र के व्याकरण के अपभ्रंश को शुद्ध गौर्जर अपभ्रंश सिद्ध करने का प्रयास किया।[7] आपणा कवियो के उपोद्घात में उन्होंने संकल्प किया कि इस पुस्तक में हेमचन्द्र के अपभ्रंश

को गौर्जर सिद्ध करके रहेंगे। उनके तर्क इस प्रकार हैं। मार्कण्डेय ने २७ अपभ्रंशो के नाम गिनाये हैं। उसमें एक का सम्बन्ध गुजरात से है। भोज के सरस्वती कठाभरण में 'अपभ्रशेन तुष्यति स्वेन नान्येन गौर्जरा' की जो हुकार सुनाई पडती है, वह किसी-न-किसी हेतु से ही, इसमें किसे शका हो सकती है। महाराष्ट्री और शौरसेन आदि नाम कोई खास महत्त्व नही रखते। साहित्यिक या (standard) अपभ्रश में बहुत-सी बाते प्रान्तीय हैं, कुछ विशेषताएँ व्यापक भी हैं। किन्तु प्रान्तीय विशेषताओ पर ध्यान देने पर शास्त्रीजी के मत से 'एटले आ० हेमचन्द्रना अपभ्रश ने तेनी प्रान्तीय लाक्षणिकताये गौर्जर अपभ्रश कहेवा माँ मने बाध जणातो न थी।' ब्रजभाषा और गुजरात में बहुत निकट का सम्बन्ध स्थापित कराने में आभीर और गुर्जर लोगो का 'फेलव' (बिखराव के अर्थ मे शायद) भी कारण रहा है। शास्त्रीजी के मत से वस्तुत यदि ब्रजभाषा के विकास के लिए किसी क्षेत्रीय अपभ्रश का नाम लेना हो, तो उसे 'आभीरी अपभ्रश' कहना चाहिए। यह आभीर-अपभ्रश मध्यदेश का था ऐसा 'जूना' वैयाकरणो का कहना है। हेमचन्द्र की अपभ्रश को शौरसेनी कहनेवालो पर रोष प्रकट करते हुए शास्त्रीजी लिखते हैं 'श्री उपाध्ये शौरसेनी नो छाट आ० हेमचद्र ना अपभ्रश मा जोई छे। डॉ० जोकोबी, पीशल, सर ग्रियर्सन, डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, डा० गुणे वगेरे विद्वानो पण जोई आ० हेमचन्द्रना अपभ्रश ने शौरसेनी अपभ्रश कहेवा ललचाय छे।' इसके बाद हेमचन्द्र की बतायी शौरसेनी प्राकृत की आपवादिक विशिष्टताओ का प्रभाव अपभ्रश में न देखकर शास्त्रीजी इसकी शौरसेनी से भिन्नता का निर्णय दे देते हैं।

§ ४३ मुझे शास्त्रीजी के तर्कों पर विस्तार से कुछ नही कहना है क्योकि ये तर्क स्वतोव्याघात दोष से पीडित हैं। मैं-स्वय शौरसेनी से भिन्न एक अलग गुर्जर अपभ्रश मानने के पक्ष में हूँ। किन्तु उस गुर्जर अपभ्रश का विकास ईस्वी सन् की १०वी शताब्दी तक दिखाई नही पडता। गुजरात के लेखको की लिखी अपभ्रश रचनाओ में निश्चित ही पुरानी गुजराती की छाप मिल सकती है, यदि यह रग गाढा हो, यदि उसमें गुजराती के तत्त्व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो, तो उसे निश्चित ही गुजराती का पूर्व रूप मानना चाहिए किन्तु यह विशिष्टता १२वी शताब्दी के बाद की रचनाओ में ही दिखाई पड सकती है। पहले की रचनाएँ चाहे गुजरात में लिखी हो चाहे बगाल में, यदि उनमें शौरसेनी की प्रधानता है तो उसे शौरसेनी ही कहा जायेगा, किन्तु कोई भी भाषा का विद्यार्थी 'भरतेश्वर बाहुबलिरास' (स० १२४१) को गौर्जर अपभ्रश कहे जाने पर आपत्ति न करेगा क्योकि उसमें गुजराती के पूर्वरूप का घोर प्रभाव दिखाई पडता है।

§ ४४ अपभ्रश भाषा में लिखे समूचे अपभ्रश साहित्य को जो लोग शौरसेनी या उस पर आधृत परिनिष्ठित अपभ्रश का बताते हैं वे भी एक प्रकार के अतिवाद के शिकार हैं। परमात्मप्रकाश की भूमिका में डॉ० उपाध्ये ने 'भाषिक तत्त्वो' के आधार पर कहा कि स्वर और विभक्ति सम्बन्धी छोटे-मोटे भेदो को भुलाकर भी हेमचन्द्र की अपभ्रश का आधार शौरसेनी का परमात्मप्रकाश में पता भी नही चलता। इसके सिवा हेमचन्द्र की अपभ्रश की ओर भी बहुत-सी बातें परमात्मप्रकाश में नही पायी जाती।[1] सोमप्रभ के

---

१ परमात्मप्रकाश, एस० जे० एस० १९, प्रस्तावना पृ० १०८

कुमारपाल प्रतिबोध की अपभ्रंश तथा नेमिनाथ चरित के लेखक हरिचन्द्र सूरि की भाषा हेमचन्द्र के दोहों की भाषा से बहुत भिन्न मालूम होती है। यह अन्तर खास तौर से तृतीया एकवचन, षष्ठी विभक्ति (सम्बन्ध के) तथा भूत कृदन्त के रूपों में दिखाई पड़ता है। उसी प्रकार पुष्पदंत की भाषा भी हेमचन्द्र से भिन्न मालूम होती है।[1] गुजरात के जैन लेखकों की बहुत-सी रचनाओं की भाषा, जिन्हें श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने जैन गुर्जर कवियो भाग १ और २ में संकलित किया है, जिनमें कई ग्यारहवीं शताब्दी की भी हैं, हेमचन्द्र की अपभ्रंश से भिन्न मालूम होती है। इसमें पश्चिमी अपभ्रंश का रूप तो है किन्तु रंग पुरानी गुजराती का ज़रूर है। जंबू स्वामी चरित्र (सं० १२१०) रेवतगिरि रास (१२३०) आदि रचनाओं में गुजराती के भाषिक तत्त्व ढूँढ़े जा सकते हैं। किन्तु हेमचन्द्र के व्याकरण का अपभ्रंश तो निश्चित ही गौर्जर अपभ्रंश नहीं कहा जा सकता। इस प्रसंग में डॉ० हरिवल्लभ भायाणी का निष्कर्ष अत्यन्त निष्पक्ष मालूम होता है, 'हेमचन्द्र गुजरात के जरूर थे किन्तु उनके रचे हुए अपभ्रंश व्याकरण से गुर्जर अपभ्रंश का कुछ प्रत्यक्ष 'लेवा-देवा' नहीं है। क्योंकि उन्होंने प्राचीन प्रणाली और पूर्वाचार्यों के अनुसरण पर बहुमान्य साहित्य-प्रयुक्त अपभ्रंश का व्याकरण लिखा था। बोल-चाल की भाषाओं (क्षेत्रीय) का सूक्ष्म अध्ययन करके व्याकरण लिखने का चलन बिल्कुल आधुनिक है।'[2]

§ ४५ हेम व्याकरण के अन्त साक्ष्य से भी मालूम होता है कि अपभ्रंश का यहाँ अर्थ शौरसेनी से ही है। ३२९वें सूत्र की वृत्ति में हेमचन्द्र ने लिखा है—

'यस्यापभ्रंशे विशेषो वक्ष्यते तस्यापि क्वचित्प्राकृतवत् शौरसेनी वच्च कार्यं भवति'

अर्थात् अपभ्रंश में कहीं प्राकृत कहीं शौरसेनी के समान कार्य होता है। एक दूसरे सूत्र की वृत्ति में वे लिखते हैं,

'अपभ्रंशे प्राय शौरसेनीवत् कार्यं भवति ।—८।४।४४६

यहाँ अर्थ और भी स्पष्ट है। पहले सूत्र में प्राकृत का अर्थ लोग महाराष्ट्री प्राकृत लगाते हैं क्योंकि इसे मूल प्राकृत कहा गया है, किन्तु जैसा पिछले अध्याय में निवेदन किया गया कि महाराष्ट्री अलग प्राकृत नहीं बल्कि शौरसेनी का ही एक विकसित रूप है, और शौरसेनी की अपेक्षा उसके विकसित रूप की हैसियत से यह अपभ्रंश से कहीं ज्यादा निकट है। इसलिए यदि अपभ्रंश में प्राकृत (यानी महाराष्ट्री=विकसित शौरसेनी) के नियम अधिक लागू होते हैं तो इसमें आश्चर्य और अनौचित्य क्या है। 'ईस्वी सन् ४००–५०० के आस-पास प्राकृत वैयाकरण वररुचि ने केवल प्राकृत (शाब्दिक अर्थ प्रकर्षेण आकृत=अत्युत्तम बोली) का उल्लेख किया है तो उसकी शौरसेनी रही होगी, वररुचि के समय में ही यह भाषा (महाराष्ट्री-

शौरसेनी प्राकृत) अभ्यन्तर व्यजनो के लोप के साथ अपनी द्वितीय म० भा० आ० अवस्था तक पहुँच चुकी थी।[१] इस प्रकार शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रश के बीच की कडी हेमचन्द्र के 'प्राकृत' में दिखाई पडती है। अत अन्त साक्ष्यो के आधार पर भी हेमचन्द्र की अपभ्रश शौरसेनी ही साबित होती है।

§ ४६ इस प्रसग में गुजरात और मध्यदेश की सास्कृतिक एकता तथा सपर्कता पर भी विचार होना चाहिए। केवल हेमचन्द्र के अपभ्रश को शौरसेनी समझने के लिए ही इस 'एकता' पर विचार अनिवार्य नही बल्कि व्रजभाषा के परवर्ती विकास मे सहायक और भी बहुत-सी सामग्री गुजरात में मिलती है, जिस पर भी इस तरह का स्थान सम्बन्धी विवाद हो सकता है। इस प्रकार की सामग्री के सरक्षण और सृजन का श्रेय नि सकोच भाव से गुजरात को देना चाहिए, साथ ही इस समता और एकता-सूचक सामग्री के मूल में स्थित सास्कृतिक सम्पर्कों का सर्वेक्षण भी हमारा कर्त्तव्य हो जाता है। जॉर्ज ग्रियर्सन ने गुजराती को मध्यदेशी अथवा अन्तर्वर्ती समूह की भाषा कहा था। इतना ही नही, इस समता के पीछे ग्रियर्सन ने कुछ ऐतिहासिक कारण भी ढूँढे थे जिनके आधार पर उन्होने गुजरात को मध्यदेश का उपनिवेश कहा।[२] डॉ० धीरेन्द्र वर्मा राजस्थान और गुजरात पर गगा की घाटी की सस्कृति के प्रभाव को दृष्टि में रखकर लिखते हैं 'भौगोलिक दृष्टि से विन्ध्य के पार पहुँचने के लिए गुजरात का प्रदेश सबसे अधिक सुगम है, इसलिए बहुत प्राचीन काल से यह मध्यदेश का उपनिवेश रहा है।'[३] इन वक्तव्यो मे प्रयुक्त उपनिवेश शब्द का अर्थ वर्त्तमान-प्रचलित उपनिवेश से भिन्न समझना चाहिए। सुदूर अतीत में मध्यदेश के लोगो के अपने निवास-स्थान छोडकर गुजरात मे जाकर बसने का सकेत मिलता है। महाभारत में कृष्ण के यादव कुल के साथ मथुरा छोडकर द्वारावती (वर्तमान द्वारिका) बस जाने का उल्लेख हुआ है।[४] महाभारत के रचनाकाल को बहुत पीछे न भी मानें तो भी यह प्रमाण ईस्वी सन् के आरम्भ का तो कहा ही जा सकता है। ऊपर श्री के० का० शास्त्री द्वारा आभीरो और गुर्जरो के फैलाव को भी निकटता-सूचक एक कारण मानने की बात कही जा चुकी है। वस्तुत आभीरो का दल उत्तर-पश्चिम से आकर पहले मध्यदेश मे आबाद हुआ, वहाँ से पश्चिम और पूरब की ओर बिखरने लगा। गुजरात में आभीरो का प्रभाव इन मध्यदेशीय आभीरो ने ही स्थापित किया। अपभ्रश का सम्बन्ध आभीरो से बहुत निकट का था, सभवत ये अनार्य जाति के लोग थे जो सस्कृत नही जानते थे, इसलिए इन्होने मध्यदेश की जनभाषा को सीखा और उसे अपनी भाषा से भी प्रभावित किया। शासन पर अधिकार करने के बाद इनके द्वारा स्वीकृत और मिश्रित यह भाषा अपभ्रश के नाम से प्रचलित हुई। आभीरो के पहले एक दूसरी विदेशी जाति अर्थात् शको ने उत्तर भारत के एक बहुत बडे हिस्से पर अधिकार किया था। ये बाद में हिन्दू हो गये थे। महाप्रतापी शको का शासन भारत के एक बहुत बडे भाग पर स्थापित था और इतिहासकारो का मत है कि ये दो-तीन शाखाओ में विभक्त

---

१ भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० १७७

२ लान द माडर्न इन्डो आर्यन वर्नाक्यूलर्स, § १२

३ व्रजभाषा, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९५४, पृ० ३

४ मथुरा सपरित्यज्य गता द्वारावतीपुरीम् (महाभारत २।१३।५६)

थे, जो गुजरात से मध्यदेश तक फैली हुई थी। मथुरा इन्ही शाखाओ में एक को राजधानी थी। ईसा पूर्व पहली शताब्दी मे मथुरा के प्रसिद्ध क्षत्रप शोडास के राज्यकाल का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है जिसमे एक वासुदेव भक्त अपने स्वामी क्षत्रप शोडास के कल्याण के लिए वासुदेव से प्रार्थना करता है।[1] १८८२ ईस्वी मे श्री कनिंघम को मोरा नामक स्थान में एक लेख मिला था जो दूसरे क्षत्रप राजूलस के काल का बताया जाता है जिसमें पञ्चवीरो (कृष्ण, संकर्षण, बलराम, सोम और अनिरुद्ध) की प्रतिमाओ की चर्चा है।[2] क्षत्रप रुद्रदामन् गुजरात का प्रसिद्ध शासक था जो संस्कृत का बहुत बडा हिमायती और विद्वान् था। इस प्रकार शको के शासनकाल मे मध्यदेश और गुजरात का सम्बन्ध बहुत नजदीकी हो गया था।

दृढ़तर हो गया। इसी कारण गुजरात की प्रारंभिक रचनाओ और शौरसेनी अपभ्रंश में बहुत साम्य है। व्रजभाषा का प्रभाव भी गुजरात पर कम न पडा। वल्लभाचार्य के ज्येष्ठ पुत्र श्री गोपीनाथ का प्रभाव-क्षेत्र गुजरात ही रहा। श्री विट्ठलनाथ ने भी एकाधिक बार गुजरात की यात्रा की और वैष्णव भक्ति का प्रचार किया। भालण, नरसी, केशव दास आदि कवियो की भाषा पर न केवल व्रज का प्रभाव है बल्कि उन्हो ने तो व्रजभाषा के कुछ फुटकल पद्य भी लिखे।[1]

§ ४८ हेमचन्द्र के शौरसेनी अपभ्रंश के उदाहरणो की भाषा को हम व्रजभाषा की पूर्वपीठिका मानते हैं। हेमचन्द्र के द्वारा सकलित अपभ्रंश रचनाओ मे १४१ पूर्ण दोहे, ४ दोहो के अर्धपाद और बाकी भिन्न-भिन्न १७ छन्दो मे २४ पूर्ण और १० अपूर्ण श्लोक (पद्य) मिलते हैं। ये रचनाएँ कहाँ-कहाँ से ली गयी इसका पूरा पता नही चलता। हेमव्याकरण के अपभ्रंश-दोहे कहाँ से सकलित किये गये, इनके मूल स्रोत क्या हैं, आदि प्रश्न उठते हैं? अब तक इन दोहो में से सभी का उद्गम-स्रोत ज्ञात नही हो सका है। इनमें से कुछ दोहे कुमारपाल प्रतिबोध मे सकलित मिलते हैं। कुमारपाल प्रतिबोध एक कथा-प्रबन्ध ग्रन्थ है जिसमें भिन्न-भिन्न काल की ऐतिहासिक लौकिक और निजधरी कथाएँ सकलित की गयी हैं। कुमारपाल प्रतिबोध[2] की रचना 'शशिजलधिसूर्यवर्षे' अर्थात् सम्वत् १२४१ के आषाढ सुदी अष्टमी रविवार को अनहिलवाडे में श्री सोमप्रभ सूरि ने की, यह ग्रन्थ हेमचन्द्र के बाद ही का है और इसमें हेमचन्द्र सम्बन्धी विवरण ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत कुछ यथातथ्य मालूम होते हैं, इसमें सोमप्रभ के कुछ अपभ्रंश दोहे भी हैं जो परवर्ती अपभ्रंश को समझने में सहायक हो सकते हैं। हेमचन्द्र के व्याकरण का एक दोहा कवि अद्दहमाण के सदेशरासक के एक दोहे से एकदम मिलता है—

जउ पवसन्ते सहु न गय न मुअ विओएँ तस्सु
लज्जिजउ सदेसडा दिंतेहिं सुहय स जणस्स
(हेम० व्या० ८।४।४१३)

जसु पवसत ण पवसिया मुअए विओइ ण जासु
लज्जिज्जउ सदेसडउ दिन्ती पहिअ पियासु
(स० रा० ७२)

सदेशरासक का यह दोहा न केवल रचनाकाल की दृष्टि से भी बल्कि भाषा की दृष्टि से भी स्पष्टतया परवर्ती प्रतीत होता है, यही नही किंचित् परिवर्तनो को देखते हुए प्रतीत होता है कि यह दोहा अद्दहमाण ने हेमचन्द्र से नही किसी दूसरे स्रोत से प्राप्त किया था। सभव है कि यह अद्दहमाण का निर्मित भी हो, किन्तु हेमचन्द्र के व्याकरण के रचनाकाल को देखते हुए, ऐसी सभावना बहुत उचित नही मालूम होती, क्योकि अद्दहमाण का समय अधिक पीछे ले जाने पर भी १२वीं-१३वीं शती के पहले नही पहुँचता, यदि हेमचन्द्र का समसामयिक भी

---

१ श्री के० का० शास्त्री कृत भालण, कवि चरित भाग १।

२ कुमारपाल प्रतिबोध, गायकवाड सीरीज न० १४ मुनि जिनविजय-द्वारा सम्पादित।

माने तो भी हेमचन्द्र ने अद्दहमाण से यह दोहा लिया ऐसा प्रतीत नही होता। लगता है कि दोनो ही लेखको ने यह दोहा लोक प्रचलित किसी बहुमान्य कवि को कृति से या किसी लोक-गीति (Folk song) से प्राप्त किया था। इस दोहे पर लोकगीति के स्वर और स्वच्छन्द वर्णन की विशिष्ट छाप आज भी सुरक्षित है। हेम व्याकरण के अन्य दोहो में से एक परमात्म-प्रकाश मे उपलब्ध होता है और कुछेक की समता सरस्वती कंठाभरण, प्रबन्ध चिन्तामणि, चतुर्विंशति-प्रबन्ध आदि मे सकलित दोहो से स्थापित की जा सकती है।[1] हेमचन्द्र के कई दोहे अपनी मूल परम्परा मे विकसित होते-होते कुछ और ही रूप ले चुके है, गुलेरीजी ने 'वायसउडावन्तिए' वाले तथा और कुछेक दोहो के बारे मे सन्तुलनात्मक विवेचन पुरानी हिन्दी में उपस्थित किया है।[2]

इन दोहो मे एक दोहा मुज-भणिता से युक्त भी मिलता है जो प्रबन्ध चिन्तामणिवाले मुजभणिता-युक्त दोहो की परम्परा मे प्रतीत होता है।

बाहु विछोडवि जाहि तुहुँ हउँ तेवइ को दोस।
हियट्ठिय जइ नीसरइ जाणउँ मुज सरोस॥

व्रजकवि सूरदास के जीवन से सम्बद्ध ऐसा ही एक दूसरा दोहा भी है, इन दोनो का विचित्र और मनोरजक साम्य देखते ही बनता है। सूर सम्बन्धी दोहा यह है—

बाँह छुड़ाये जात हो निबल जानिके मोहिं।
हिरदै से जब जाहुगे तो हौं जानौं तोहि॥

की गाथाएँ उसकी विचित्र मृत्यु के बाद सारे देश में छा गयी होगी। शत्रु-भगिनी मृणालवती के प्रेम में उसने प्राण गँवाये, पर पृथ्वीवल्लभ की आन में फरक नही आने दिया। इस प्रकार के जीवन्त प्रेमी और वीर की मृत्यु के बाद न जाने कितने कवियो और लेखको ने उसकी प्रेम-गाथा को भाषाबद्ध किया होगा, ये दोहे नि सन्देह उस भाववेगाकुल काव्य-सृजन के अवशिष्ट अश है जो मुजराज की मृत्यु के बाद जनमानस से स्वत फूट पडे थे। मध्यदेश में रचित ये ही दोहे प्रबन्ध चिन्तामणि और प्राकृतव्याकरण मे सकलित किये गये—इन्ही दोनो में से एक भाषा-प्रवाह में बहता हुआ सूरदास के पास पहुँचा। मेरा तो अनुमान है कि हेम व्याकरण के ६० प्रतिशत दोहे मध्यदेश के अत्यन्त लोकप्रिय काव्यो, लोकगीतो आदि से ही संकलित किये गये। इनके प्रभाव से अद्दहमाण भी मुक्त न रह सका।

मुज और मृणालवती के प्रेम के दोहे मध्यदेशीय अपभ्रश के जीते-जागते नमूने हैं। कुछ लोग इन्हें मुज की रचना कहते हैं, यह भी असम्भव नही है।[1] मुंज के दोहे प्रबन्ध चिन्तामणि[2] और पुरातन प्रबन्ध-सग्रह[3] के मुंजराज प्रबन्ध में आते हैं। प्रबन्ध चिन्तामणि मे मृणालवती को तैलप की भगिनी 'कराया तद्भगिन्या सह' और पुरातन प्रबन्ध-संग्रह में राजा की चेटी कहा गया है (मृणालवती चेटी परिचर्या कृते युक्ता)। इसी के आधार पर एक नया दोहा भी वहाँ दिया हुआ है।

वेसा छंडि वड़ाइती जे दासिहिं रचन्ति
ते नर मुंज नरिंद जिम परिभव घणा सहन्ति

वार्धक्य-चिन्तित मृणालवती को सान्त्वना देते हुए मुज ने यहाँ एक और भी दोहा कहा है—

मुज भणइ मुणालवइ केसां काइं चुयन्ति
लद्धउ साउ पयोहरह बधण मणीय रुअन्ति

इस प्रकार पुरातन प्रबन्ध-सग्रह और प्रबन्ध चिन्तामणि के आधार पर मुंज का एक विचित्र प्रकार का व्यक्तित्व सामने आता है जो कवि, प्रेमी, कामुक, वीर, शृगारिक और इन सबसे ऊपर मस्त और स्वच्छन्द आदमी प्रतीत होता है। उसकी मृत्यु पर कहा हुआ यह श्लोक अत्यन्त उपयुक्त है

लक्ष्मीर्यास्यति गोविन्दे वीरश्रीवीरवेश्मनि।
गते मुञ्जे यशःपुञ्जे निरालम्बा सरस्वती॥

—प्रबन्ध चिन्तामणि

§ ५० मुज का भतीजा भोजराज भी अपभ्रश का प्रेमी और संस्कृत का उत्कट विद्वान् राजा था। अपने पिता सिन्धुराज की मृत्यु के बाद वि० स० १०६७ के आस-पास गद्दी पर बैठा। भोज भी विक्रमादित्य की तरह निजधरी कथाओं का नायक हो चुका है, उसकी

१. गुलेरीजी का 'राजा मुज—हिन्दी का कवि' पुरानी हिन्दी, पृ० ४२-४४।
२ दोनों पुस्तकें सिंघी जैन ग्रन्थमाला में मुनि जिनविजय-द्वारा प्रकाशित।
३ पुरातन प्रबन्ध-सग्रह, पृ० १८।

प्रशंसा के श्लोक में लिखा हुआ है कि इस पृथ्वीतल पर कवियो, कामियो, भोगियो, दाताओ, नेताओं, साधुओं, धनियो, धनुर्धरो, धर्मधनिको, में कोई भी नृप भोज के समान नही है।[१] भोजराज का सरस्वतीकण्ठाभरण साहित्य का महत्वपूर्ण शास्त्रग्रन्थ माना जाता है। इसमें कुछ अपभ्रंश की कविताएँ सकलित है जो हमारे लिए महत्वपूर्ण है। हालाँकि ये कविताएँ प्राकृत के प्रभाव से अत्यन्त जकडी हुई हैं फिर भी इनमें परवर्ती भाषा का ढाँचा देखा जा सकता है। सरस्वतीकण्ठाभरण के एक श्लोक का मै जिक्र करना चाहता हूँ जिसमें ब्रजभाषा की दो पक्तिया मिलती है

> 'हा तो जो ज्जलदेउ' नैव मदन साक्षादय भूतले
> तत्किं 'दीसइ सच्चमा' हत वपु काम' किल. श्रूयते।
> 'ऐ दूए किअलेउ' भूपतिना गौरीविवाहोत्सवे
> 'ऐसें सच्चु जि बोल्लु' हस्तकटक किं दर्पणे नेक्ष्यते॥
>
> —स० कं० भरण १।१५८

इस श्लोक मे 'हा तो जो ज्जलदेउ', 'दीसइ सच्चमा', 'ऐ दूए किअलेउ', 'ऐसें सच्चु जि बोल्लु' आदि वाक्य या वाक्यांश तत्कालोन भाषा की सूचना देते हैं। निचले पद का रूप तो आज की भाषा के समान दिखाई पडता है। 'ऐसे साचु जु बोलु' यह सूर की कोई पक्ति नही प्रतीत होती क्या ? भोज का यह श्लोक तत्कालीन ब्रजभाषा की आरभिक स्थिति की सूचना का प्रबल आधार है। ज्जलदेउ<उज्ज्वलदेव का तथा किअलेउ<कृतलेप का रूप हो सकते हैं। 'ऐसे साचु जु बोलु' तो सीधा ब्रज प्रतीत होता है।

§ ५१ नीचे हेम व्याकरण के अपभ्रंश दोहो की भाषा मे आरम्भिक ब्रजभाषा के उद्गम और विकास चिह्नो का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

—

तरह होता था (ब्रजभाषा § ८८)। अपभ्रश में प्राकृत परम्परा मे स्वरो की विवृत्ति की सुरक्षा हुई है, किन्तु ब्रजभाषा में अउ या अइ का 'ओ' 'औ' या 'ए' 'ऐ' हो जाता है। यह प्रवृत्ति कुछ अशो में हेम व्याकरण के प्राकृताश में भी दिखाई पडती है, यद्यपि अत्यन्त न्यूनाश में। 'ए (८। १। १६९<अयि) आओ (आयो - ब्रज ८। २६८<आगत) किन्तु हेम व्याकरण के अपभ्रश भाग में यह प्रवृत्ति नही दिखाई पडती। फिर भी लोण (४।४४८<लउण< लवण) तथा सोएवा (८।४।४३८ सउ<स्वय) तो (४।३७९<तऊ<तत)। आश्चर्य तो यह देख कर होता है कि प्राकृतवाले हिस्से में जिन शब्दो में स्वर-विवृत्ति को हटाने का प्रयत्न हुआ है, उन्ही को बाद में सुरक्षित दिखाया गया है, इसे लिपिकार की प्रवीणता कहे या नियम की प्रतिकूलता। चौद्दह (८।१।१७१< चतुर्दश) चौद्दसी (८। १। १७१<चतुर्दशी) चोव्वारो (८। १। १७७<चतुर्वार) यही चतुर्दश शब्द मुज के दोहे में 'चउदहसइ' दिखाई पडता है। जो भी हो अपभ्रश की यह अइ-अउ वाली प्रवृत्ति ही ब्रज में ऐ और औ के रूप में दिखाई पडती है।

§ ५३ व्यजन की दृष्टि से ब्रजभाषा में लुठित सघोष 'ल्ह' सघोष अनुनासिक म्ह, न्ह आदि ध्वनियाँ मौलिक और महत्वपूर्ण कही जा सकती हैं। इनका भी आरम्भ अपभ्रश के इन दोहो में दिखाई पडता है। उण्हउ (४। ३४२ <उष्ण), तुम्हेहि (४। ३७१ <*तुष्मे), अम्हेहिं (४। ३७१<*अष्मे), ण्हाणु (४।३९९<स्नान = न्हानो, ब्रज)। उल्हवइ (४।४१६ <उल्लसति) इसी तरह मेल्हइ<मेल्हइ (४।४३०) का परवर्ती विकास हो सकता है 'ल्ल' का उच्चारण सभवत मौलिक रूप में उतना सुकर न था इसलिए उल्लास उल्हास, आदि परिवर्तन अवश्यभावी हो गये। मैथिली के प्राचीन प्रयोगो से तुलनीय। (वर्णरत्नाकर § २२)।

§ ५४ ब्रजभाषा में व्यजन-द्वित्व को उच्चारण सौकर्य के लिए सरल करके (simplification) उसके स्थान में एक व्यजन और परवर्ती स्वर को दीर्घ कर देने की प्रवृत्ति काफी प्रवल है। उदाहरण के लिए ब्रज मे जूठो (जुट्ठ<*जुष्ट या उच्छिष्ट), ठाकुर (<ठक्कुर अप०), डाढो (डड्ढा अप०<दग्ध), तीखो (तिक्खेड अप०<तीक्ष्ण आदि शब्दो में यह क्षतिपूरक सरलीकरण की प्रवृत्ति दिखाई पडती है। अपभ्रश के इन दोहो में भी यह व्यवस्था शुरू हो गयी थी यद्यपि उसका विकास परवर्ती अपभ्रश मे ज्यादा हुआ।

ऊमासेंहि (४।४३१<उच्छ्वासे), ओहट्टइ (४।४१९<अव उ<अपभ्रश्यते), दूसासणु (४।३९१<दुस्सासणु<दुःशासन), नीसरहि (४।४३९<निस्सरहि<निःसरसि), नीसासु (४।४३०<निस्सास<निःश्वास), सीह (४।४१८<सिंह), तासु (४।३५८<तस्स<तस्य), जासु (<जस्स<यस्य), कासु (किस्स<कस्य)। जैसा कि ऊपर निवेदन किया गया अपभ्रश में ऐसे नियम बहुप्रचलित नहीं हुए थे। इनका वास्तविक विकास १२वीं शताब्दी के बाद की आरम्भिक ब्रजभाषा में दिखाई पडता है, वैसे यह भाषा विकास की एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति मानी जाती है, किन्तु ऐसे रूप प्राकृत में भी कम नहीं मिलते। प्राकृतवाले भाग में भी यह प्रवृत्ति मिलती है ऊसव (८।२।२२<उत्सव), ऊससिरो (८।१।१४५<उच्छ्वसन-शील), ऊसारियो (८।२।२१<उत्सारित), कासिवो (१।४३<कश्यप), दूहिओ (१।१३९<दुःखित)।

§ ५५ हेमचन्द्र ने अपभ्रंश में अन्त्य स्वर के लोप या ह्रस्वीकरण का जिक्र किया है, जैसे रेखा>रेह, धन्या>धण आदि। यह प्रवृत्ति बाद मे ब्रजभाषा में और भी विकसित हुई। बाम<बामा (बिहारी), बात<वार्ता, प्रिय<प्रिया, बाल<बालिका आदि।

§ ५६ स्वर सकोच (Vowel contraction) अन्त्याक्षरो में व्यजन ध्वनि के ह्रास या लोप के बाद उपधा स्वर (Penultimate) और अन्त्य स्वर का सकोच दिखाई पड़ता है। उदाहरणार्थ अधारउ (४।४३९<अधकारे), रन्नु (४।३४१<अरण्य), पराई (४।३५०, ३६७<म० परकीया), नीसावन्नु (४।३४१<नि सामान्ये), चत्तकुस (४।३४५< त्यक्ताङ्कुश), सलोणी (४।४२०<सलावण्या), तइज्जी (४।४११<तृतीया), दूरुड्डाणें (४। ३३७<दूरोड्डाणेन)। हालाकि इस प्रकार के प्रयोग अभी शुरू ही हुए थे क्योंकि इनके अधिक उदाहरण नहीं मिलते। सदेशरासक की भाषा में ऐसे बहुत से उदाहरण प्राप्त होते हैं। ब्रजभाषा में यह प्रवृत्ति काफी प्रचलित रही है। हिन्दी ब्रज के उदाहरणो के लिए द्रष्टव्य, (हिन्दी भाषा उद्गम और विकास § ९८-१००)।

§ ५७ म् और वँ के परिवर्तन—मध्यमम् का रूपान्तर प्राय वँ होता है। जैसे कँवलु (४।३९७<कमलम्), कवलि (४।३९५<कमलिनी), भँवड (४।४०१<भमड<भ्रमति), जेवँ ४।४०१<जेम=यथा), तिवँ (४।३७५<तिम=तथा), नीसावन्नु (४।३४१<नि सामान्य), ब्रजभाषा में इसके उदाहरण साँवरो<श्यामल, कुवाँरे या कुँवर<कुमार, आँवलो<आमलक आदि देखे जा सकते हैं। तुलनीय (ब्रजभाषा § १०६, में बोली के कुछ उदाहरण दिये गये हैं।)

§ ५८ मध्यग व चाहे वह मूल तत्सम शब्द मे आया हो या स्वरो की विवृति से उत्पन्न असुविधा को दूर करने के लिए 'व' श्रुति के प्रयोग से आया हो अपभ्रश के इन दोहो मे 'उ' के रूप में परिवर्तित हो जाता है। उदाहरण के लिए घाउ (४।३४६<घाव<घात), झुणि (४।४३२<ध्वनि), ठाउ (४।३५८ ठाँव<स्थान), पमाउ (४।४३०<प्रमाव<प्रमाद), मुरउ (४।३३२<*मुरव<मुरत), मउलिअहिं (४।३६५ मुवुलअहि<मुकुलन्ति), पिउ (४।४४२ पिव<प्रिय), हेम० प्राकृत में इस प्रकार के रूप मिलते हैं। पाउओ (१।१३१<प्रावृतम्), पाउरण (१।१७५<प्रावरणम्), पाउसो (३।५७<प्रावृट्), राउल (१।२६६<रावल< राजकुल), विउहो (१।१७७<विवुहो<विबुध)। मध्यग व के ह्रास की यह प्रवृत्ति ब्रजभाषा में भी पायी जाती है (सन्देशरासक स्टडी § ३३)।

§ ५९ अघोष क का सघोष ग में भी परिवर्तन होता है। विगुत्ताइ (४।४२१ <वियुक्ताइ), खयगालि (<४।४०१<क्षयकाले), नायगु (४।४४७>नायक), ब्रजभाषा में शकुन>सगुन, शुक>सुग्गा, शोक>सोग, भक्त>भगत, मकर>सिगरे या सगरे, रोग-शोक> रोग-सोग आदि रूप मिलते है। इसी प्रकार अघोष ट ध्वनि का कई स्थान पर सघोष ड मे परिवर्तन होता है। पडावड (३।३४०<√पट्), चवेड (४।४०६ देशी<चपेट), देसुच्चाडण (४।३३८<देशोच्चाटन), रडन्तउ (४।४४५<रट दे०) इसी प्रकार ब्रजभाषा का घोडा< घोटक, अखाडा <अखवाट, कडाही<कटाह आदि रूप भी निष्पन्न होते है।

रूप विचार—

§ ६० कारक विभक्तियाँ—कारक विभक्तियो की दृष्टि से इन दोहो की भाषा का

अध्ययन काफी महत्त्वपूर्ण और परवर्ती भाषा-विकास की कतिपय उलझी हुई गुत्थियो को खोलने मे सहायक है। अपभ्रंश की सबसे महत्त्वपूर्ण विभक्ति 'हि' है जिसका प्रयोग अधिकरण और करण इन दोनो कारको मे होता था।

(क) अगहि अगण मिलिउ (४।३३२) करण
(ख) अद्धा वलया महिहि गउ (४।८२२) अधिकरण
(ग) नवि उज्जाण वणेहि (४।४२२) अधिकरण

व्रजभाषा में 'हिं' विभक्ति का प्रयोग न केवल करण-अधिकरण मे बल्कि कर्म और सम्प्रदान मे भी बहुतायत से होता है। परसर्गों के प्रचुर प्रयोग के कारण जहाँ खडी बोली में प्राचीन विभक्तियो के अवशिष्ट चिह्नो का एकदम अभाव दिखाई पडता है, वहाँ व्रजभाषा में परसर्गो के प्रयोग के साथ प्राचीन विभक्तियो के विकसित रूपो का प्रयोग भी सुरक्षित रहा। खडी बोली में कर्म–सम्प्रदान मे 'को' 'के लिए' आदि के साथ 'हि' का कोई प्राचीन रूप नही मिलता।

व्रजभाषा मे 'हि' के कुछ उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं।

(क) राधेहि सखी बतावत री (सूर०[1] ३५५८)—कर्म
(ख) सूर हमहिं पहुचाइ मधुपुरी (सूर० ३४७१)—कर्म
(ग) राज दीन्हो उग्रसेनहि (सूर० ३४८५)—कर्म सप्रदान
(घ) ले मधुपुरहिं सिधारे (सूर० ३५९४)—अधिकरण
(ङ) धरयो गिरिवर वाम कर जिहि (सूर० ३०२७)—करण

न केवल व्रजभाषा मे ये पुरानी विभक्तियाँ सुरक्षित हैं बल्कि इनके प्रयोग की बहुलता दिखाई पडती है, साथ ही एकाधिक कारको मे इसका स्वच्छन्द प्रयोग दिखाई पडता है, परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ठ मे तो इसका प्रयोग अत्यन्त स्वच्छन्द हो ही गया था, जिसे डॉ० चाटुर्ज्या के शब्दो मे कामचलाऊ सर्वनिष्ठ विभक्ति (A sort of made up of all work) कह सकते है, इन अपभ्रंश दोहो की भाषा मे भी इसके प्रयोगो मे ढिलाई पडती है। ऊपर अधिकरण और करण के उदाहरण दिये गये हैं। चतुर्थी और द्वितीया मे इसके प्रयोग के उदाहरण नही मिलते, किन्तु हेमचन्द्र ने चतुर्थी के परसर्गो 'केहि आर रेसि' के उदाहरण मे चतुर्थी-अर्थ में 'हि' का प्रयोग किया है।

तुहु पुणु अन्नहिं रेसि ४।८२५ (अन्य के लिए)

इस प्रकार के प्रयोग बाद मे कुछ परसर्गो के साथ और कुछ बिना परसर्ग के भी 'हिं' विभक्ति-द्वारा चतुर्थी का अर्थ व्यक्त करने लगे होगे।

§ ६१ हेम व्याकरण के अपभ्रंश दोहो की भाषा मे एक विशिष्टता यह भी दिखाई पडती है कि परसर्गो का प्रयोग मूल शब्दो के साथ नही बल्कि सविभक्तिक पदो के साथ सहायक शब्द के रूप मे होता हैं। अर्थात् 'रेसि' परसर्ग चतुर्थी मे 'अन्नहि' यानी सविभक्तिक पद के साथ प्रयुक्त हुआ है। वैसे ही अन्य परसर्ग भी।

१ पदो की संख्या, काशी नागरी प्रचारिणी सभा के सूरसागर प्रथम संस्करण २००७ वि० के आधार पर दी गयी है।

(क) जसु केरउ हुकारडए (४।४२२) षष्ठी
(ख) जीवहिं मज्झे एहि (४।४०६) सप्तमी
(ग) अह भग्गा अम्हहं तणा (४।३६१) षष्ठी

यहाँ परसर्गों के पहले तसु, जीवहिं, अम्हह, तेहिं आदि पूर्ववर्ती पद सविभक्तिक हैं। ब्रजभाषा में निर्विभक्तिक या मूल शब्दो के साथ परसर्गों के प्रयोग बहुत मिलते हैं, किन्तु सविभक्तिक पदो के साथ भी इनके प्रयोग कम नही है।

(क) तब हम अब इनहीं की दासी (सूर ३५०१)
(ख) हिरदै माझ बतायौ (सूर ३५१२)
(ग) धिक मो कौ धिग मेरी करनी (सूर ३०१३)

इस प्रकार सविभक्तिक रूपो के अलावा ब्रजभाषा में विकारी रूपो के साथ परसर्गों के विविध प्रयोग दिखाई पडते है। इनमें प्रथमा द्वितीया के 'इनि' प्रत्यय वाले नैननि कौ, कुञ्जनि तैं आदि बहुवचन के रूपो का बाहुल्य दिखाई पडता है। यह प्रवृत्ति बाद के अपभ्रंश-पिंगल से विकसित होकर ब्रज में पहुँची।

§ ६२ **परसर्ग**—नव्य आर्यभाषाओ की विश्लिष्टता-प्रधान प्रवृत्ति के विकास में परसर्गों का महत्त्वपूर्ण योग माना जाता है। वैसे परसर्गों का प्रयोग अपभ्रंश काल में ही पुष्ट हो गया था किन्तु मध्य आर्यभाषा के अन्त तक इनका प्रयोग कारको के सहायक शब्द के रूप में ही होता था। बाद में ध्वनि-विकार और बलाघात के कारण इनके रूपो में शीघ्रगामी परिवर्तन उपस्थित हुए और ये टूट-फूट कर द्योतक शब्द-मात्र रह गये और आज तो इनकी अवस्था इतनी बदल गयी है कि इनके मूल का पता लगाना भी केवल अनुमान का विषय रह गया है। हेम-व्याकरण के अपभ्रंश दोहो में प्रयुक्त परसर्गो मे से अधिकाश किसी-न-किसी रूप में ब्रजभाषा में सुरक्षित हैं, यह अवश्य है कि इस विकासक्रम में इनके रूपो में अद्भुत विकास या विकार दिखाई पडता है। नीचे दोनो के तुलनात्मक उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं—

(१) जसु केरउ हुकारडए (४।४२२)
(२) तुम्हह केरउ घण (४।३७३)
(३) जटे केरउ, तहे केरउ (४।३५९)

यह केरउ, जिसकी उत्पत्ति सस्कृत कार्य>कज्ज>कौ, केरउ आदि मानी जाती है, को का, कै, की के रूप में ब्रजभाषा में वर्तमान है।

(१) वह सुख कहाँ काकै साथ (सूर ३४१७)
(२) हस काग कौ सग भयौ (सूर ३४१८)
(३) मधुकर राखि जोग की बात (सूर ३८९३)

अधिकरण के परसर्गों मे हेमचन्द्र ने मज्झे के प्रयोग बताये है। मज्झे के ही रूपान्तर माँहि, मह या माझ होते हैं। यह मज्झे मध्य का विकसित रूप है। इन दोहो मे मज्झ के तीन प्रयोग मज्झहे (४।३५०) मज्झे (४।४०६) और मज्झे (४।४४०) हुए हैं। ब्रजभापा के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

(१) हिरदै माँझ (सूर० ३५१२)
(२) हिरदै माँझ बतायौ (सूर० ३५१२)
(३) ज्यों जल माहिं तेल की गागर (सूर० ३३३५)

इसी का परवर्ती विकास 'मे' के रूप में दिखाई पडता है। अधिकरण में एक दूसरे परसर्ग 'उप्परि' का भी प्रयोग हुआ है।

सायरि उप्परि तृण धरेइ ४।३३४

इस उप्परि के ऊपर, पर, पै आदि रूप विकसित हुए जिनके प्रयोग ब्रजभाषा में प्राप्त होते हैं।

१—मदन ललित वदन उपर वारि डारे (सूर० ८२३)

२—पुनि जहाज पै आवै (सूर० १६८)

३—आपुनि पौढ़ अधर सेज्या पर (सूर० १२७३)

सम्प्रदान के परसर्ग 'केंहि' के 'कहँ', 'कौं' आदि रूप भी ब्रजभाषा में प्रयुक्त हुए हैं किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण विकास तणा या तणेण परसर्ग का है जो ब्रजभाषा में तै या त्यो के रूप में दिखाई पडता है। हेम व्याकरण में ये कुल आठ बार प्रयुक्त हुए हैं।

१—तेहि तणेण (४।४२५) करण

२—अह भग्गा अम्हह तणा (४।३७९) सम्बन्ध

३—वड्डतणहो तणेण (४।४३७) सम्प्रदान

अपभ्रंश में यह परसर्ग करण, सम्प्रदान और सम्बन्ध इन तीन कारको में प्रयुक्त होता था, इसी का परवर्ती विकास तणेण>तने, तैं के रूप में हुआ। ब्रजभाषा में तैं और त्यो का प्रयोग होता है। ब्रज में इसका अपादान मे भी प्रयोग होता है।

१—लच्छा गृह तें काढि कै (अपादान)

२—तुव सराप तैं मरिहैं (करण)

३—भीर के परे तैं धीर सबहिन तजी (करण)

तण का 'तन' प्रयोग ओर के अर्थ में भी चलता है। हम तन नही पेखत (२४८४) हमारी ओर नही देखते।

अपभ्रंश के करण का सहुँ परसर्ग वाद में सउँ>सौं के रूप मे ब्रज मे प्रयुक्त हुआ।

१—मह सहुँ नवि तिल तार (४।३५६ हेम०)

२—जह पसवन्तें सहुँ न गय (४।३१९ हेम०)

यहाँ सहुँ का अर्थ मूलत सह या साथ ही है, उसका तृतीया का 'से' अर्थ बोध तब तक प्रस्फुटित नही हुआ था, वाद में इसने साथ सूचक से कर्तृत्व सूचक रूप ले लिया।

(१) कासौं कहैं पुकारी (सूर ३६८७)

(२) हरि सौं मेरो मन अटक्यो (सूर ३५८५)

(३) अब हरि कौने सौं रति जोरी (सूर ३३६१)

सर्वनाम—

§ ६३ हेम व्याकरण-अपभ्रंश के सर्वनामो में न केवल ऐसे रूप हैं जो ब्रजभाषा के सर्वनामो के निर्माण में सहायक हुए वल्कि कई ऐसे प्रयोग हैं जिन्होने ब्रजभाषा में विचित्र प्रकार के साधित सर्वनाम रूपो को जन्म दिया। ब्रज में सर्वनाम जिस, तिस, किस प्रकार के नहीं वल्कि जा, ता, का प्रकार के साधित रूपो से बनते हैं। नीचे अपभ्रंश और ब्रजभाषा में सर्वनामिक रूपो के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं। पुरुषवाचक सर्वनाम के उत्तम पुरुष के हउ और मइ के दो रूप हेम व्याकरण में प्राप्त होते हैं। हउ के १३ प्रयोग और मइ के १५

प्रयोग हुए हैं। यानी दोनो प्रकार के रूप बराबर-बराबर के अनुपात में मिलते हैं, यही परिस्थिति लगभग ब्रजभाषा में भी है

(१) हउ झिज्जउ तउ केंहि पिय (४।४२०)
(२) ढोला मइ तुह वारियो (४।३३०)
(३) हौं प्रभु जनम जनम की चेरी (सूर० ४१७२)
(४) हौं वलि जाउ छबीले लाल की (सूर० ७२३)
(५) मैं जानति हौ ढीठ कन्हाई (सूर० २०४२)

हेम व्याकरण की भाषा के अम्हे (४।३७६) अम्हेंहि (४।३७१) आदि रूपो से ब्रज का 'हम' रूप विकसित हो सकता है। अम्हेहि की तरह ब्रज का विभक्ति सयुक्त रूप हमहिं दिखाई पडता है।

ब्रजभाषा के मो और मोहिं रूप इन दोहो में प्राप्त नही होते किन्तु प्राकृताश में अस्मद् के मो रूपान्तर का वर्णन मिलता है। 'अस्मदो जसा सह एते षडादेशा भवन्ति। अम्ह, अम्हे, अम्हो, मो, वय, भो, भणामो (हेम० ३।१०६) ब्रज में मो और मोहि दोनो के उदाहरण मिलते हैं। मो विकारी साधित रूप कहा जा सकता है जिसमें परसर्गो का, मोकौ, मोसौ, मोपै आदि प्रयोग हुआ है

(१) मो सौ कहा दुरावति प्यारी (३२८७ सूर०)
(२) मो पर ग्वालिनि कहा रिसाति (१९५१)
(३) मो अनाथ के नाथ हरी (२४९)
(४) मो तैं यह अपराध परचो (२७१६)
(५) मोहि कहत जुवती सव चोर (१०२६)

मध्यपुरुष के तुहु<*तुष्म (४।३३०), तह (४।३७०), तुम (४।३८८), तउ (४।३५८), तुज्झ (४।३६७) आदि रूप मिलते हैं। इसमें तुहु तइ तैं, तुम, तू, तो, तउ, तुझ आदि का ब्रजभाषा में ज्यो-का-त्यो प्रयोग होता है।

(१) तव तैं गोविन्द क्यो न सभारे (३३४)
(२) तव तू मारवोई करत (३७५६)
(३) तुम अव हरि को दोष लगावति (१९१२)
(४) तो सौं कहा धुताई करिहौ (११५५)
(५) तोहि किन रूठन सिखई प्यारी (३३७०)

मध्यपुरुष के इन सर्वनामो के प्रयोग आश्चर्यजनक रूप से अपभ्रश दोहो के प्रयुक्त सर्वनामो से मिलते-जुलते हैं। अन्यपुरुष के सर्वनामो के सस्कृत स वाले 'तद्' के रूपो में त (४।३२०), तेण (४।३६५), तासु (४।४०१), सो (४।३८४), सोइ (४।४०१), तसु (४।३३८), ताह (४।३५०), तें अंगि (४।३४३) आदि के प्रयोग हुए हैं। खडी वोली में अन्यपुरुष में वे, वह, उसने आदि रूप चलने लगे है। ब्रज मे भी इनके प्रयोग हुए हैं। किन्तु ब्रज में अपभ्रश के इन प्राचीन रूपो की भी सुरक्षा हुई है।

(१) सोइ भलो जो रामहि गावै (२३३)
(२) सो को जिहि नाही मचुपायो (४१५४)

(३) धाइ चक्र लै ताहि उबारयो (सूर)
(४) अर्जुन गये गृह ताहिं (सूर० सारा०)
(५) तासौं नेह लगायो (सूर)

वे, उन आदि रूपो के लिए भी हम अपभ्रश का 'ओइ' सर्वनाम देख सकते हैं,

(१) तो वड्डा घर ओइ (४।३६४)
(२) वे देखो आवत दोऊ जन (३६५४ सूर० सा०)
(३) वह तो मेरी गाइ न होइ (२६३३ सूर० सा०)

सर्वनामो की दृष्टि से ब्रजभाषा की सबसे वडी विशिष्टता उसके साधित रूप हैं। जिनमें परसर्गों के प्रयोग से कारको का निर्माण होता है, ताकौ, वाकौ, जाकौ, ताने, वाने, आदि रूप। इस प्रकार के रूपो का भी आरम्भ अपभ्रश के इन दोहो की भाषा में दिखाई पडता है।

जा वप्पी की भुइँहडी (४।३९५)

इसी जा में को, सौ, तै आदि के प्रयोग से जाकौ, जातै, जासौं आदि रूप बनते हैं। जा के अलावा सम्वन्धवाचक 'यद्' के अन्य रूप भी अपभ्रश से ब्रज में आये। जिनमें जो (४।३३०), जेण (४।४१४), जास (४।३५८), जसु (४।३७०), जाहु (४।३५३) आदि रूप महत्वपूर्ण हैं। इनके ब्रज मे प्रयोग निम्न प्रकार होते हैं।

(१) घर की नारि वहुत हित जासौं (सूर)
(२) जासु नाम गुन गनत हृदय तैं (सूर)
(३) जा दिन तें गोपाल चले (४२९२)

प्रश्नवाचक सर्वनाम कवण (४।३५०), कवणु (४।३९५), कवणेण (४।३६७), क्रमश कौन, कोनो और कवनें का रूप लेते हैं। ये सर्वनाम ब्रजभाषा में बहुतायत से प्रयुक्त हुए हैं।

(१) कौन परी मेरे लालहिं बानि (१८२६)
(२) कौने वाध्यो डोरी (सूर)
(३) कहो कौन पै कढत कनूकी (सूर)
(४) किन नभ वाध्यो झोरी (सूर)

सर्वनामिक विशेषण—

§ ६४. पुरुषवाचक और निजवाचक इन दो प्रकार के सर्वनामो को छोडकर वाकी सभी प्रकार के सर्वनाम विशेषणवत् प्रयुक्त हो सकते हैं। फिर भी वादवाले दो मुख्य सर्वनाम विशेषण माने जाते हैं।

अइसो (४।४०३<ईदृश) यह प्रकार-सूचक सर्वनामिक विशेषण है। दूसरे परिमाण सूचक एवडु (४।४०८<इयत्) तथा एत्तुलो (४।४०८<इयान्) हैं। अइस के ऐसा, ऐसे, ऐसो रूप वनते हैं जवकि एत्तुलो से एतौ, इतौ, इतनो आदि।

(१) एतौ हठि अव छाडि मानि री (सूर० ३२११)
(२) तुम विनु एतौ को करै (ब्रज कवि)
(३) ऊधौ इतनी कहियो जाइ (सूर० ४०५६)
(१) ऐसो एक कोद कौ हेत (सूर० ४५३७)

(२) ऐसेई जन धूत कहावत   (सूर० ४१४२)

(३) ऐसी कृपा करी नहि काहू   (सूर० ११८७)

पूर्ण सख्यावाचक लक्खु (४।३३२ लाखो-ब्रज), सएण (४।३३२, से, ब्रज), दुहुँ (४।४४० दूनो), दोण्णी (४।३४० दूनी), एक्कहिं (४।३५७ एकहिं), पचहिं (४।४२२ पाँचहिं), चउद्दह (१।१७१ चौदह), चउबीस (३।१२७ चौबीस) आदि कुछ महत्वपूर्ण प्रयोग हैं जो व्रज में ज्यो-के-त्यो अपनाये गये ।

२—क्रम सख्या वाचक पढ्यो ? (१।१२५ प्रथम), तइज्जी (४।३३९ तीजी), चउत्थी (१।१७१ चौथी) ।

३—अपूर्ण सख्यावाचक—अद्धा (४।३५३ आधो) ।

४—आवृत्ति सख्या का उदाहरण चउगुणो (१।१७६ चौगुनो) प्राकृताश में प्राप्त होता है ।

§ ६५ क्रियापद

(क) व्रजभाषा क्रिया का सबसे महत्त्वपूर्ण रूप भूतकाल निष्ठा रूप है जो अपनी ओकारान्त विशिष्टता के कारण हिन्दी की सभी बोलियो से अलग प्रतीत होता है । चल्यो, गयौ, कह्यौ आदि रूपो में यह विशिष्टता परिलक्षित होती है । अपभ्रश के इन दोहो की भाषा में भूतकाल के यही रूप प्रयुक्त हुए हैं ।

(१) ढोला मइ तुहुँ वारियो[1]   (४।३३०।१)
मानव नाहिन वरज्यो   (सूर २३१७)
मिल्यो धाइ वरज्यो नहिं मान्यो   (सूर २२८३)

(२) अगहि अग न मिलिउ   (मिल्यो ४।३३२।२)

(३) असइहिं हसिउ निसक   (हस्यो ४।३९६।१)

(४) हियडा पइ एहु बोल्लिओ   (४।४२२।११)

(५) मइ जाणिउं   (४।४२३।१)

(६) मैं जान्यौ री आये हैं हरि   (३८८०)

(७) हउ झिज्झउ तउ केंहि पिय   (४।४२५।१)

(८) अञ्जलि के जल ज्यो तन छीज्यो   (सूर)

स्त्री लिग भूत कृदतन्ज निष्ठा रूपो के प्रयोग में भी काफी समानता है । नीचे कुछ विशिष्ट रूप ही दिये जा रहे है

(१) सुवन्न देह कसवट्टहिं दिण्णी   (४।३३०)

(२) प्रीति कर दीन्ही गले छुरी   (सूर ३१२५)

(३) हउ रुट्ठी   (४।४१४।४) (रूठी)

(ख) अपभ्रश में सामान्य वर्तमान के तिङन्त रूपो का व्रजभाषा में सीधा विकास दिखाई पडता है । वर्तमान खडी बोली में सामान्य वर्तमान में कृदन्त और सहायक क्रिया के सयोग से सयुक्त क्रिया का निर्माण और प्रयोग होता है, यहाँ खडी बोली ने अपभ्रश की पुरानी

---

१ तीन प्रतियो के आधार पर सम्पादित व्याकरण की दो प्रतियो मे वारियो पाठ है एक मे वारिया, प्राकृत व्याकरण, पृ० ५९५ ।

परम्परा को छोड दिया है। किन्तु ब्रज मे वह पूर्ववत् सुरक्षित है। केवल अन्तिम सप्रयुक्त स्वरो को सयुक्त करके अइ>ऐ या अउ>औ कर दिया जाता है।

(१) निच्छइ रूसइ जासु (४।३५८)
निहिचै रूसै जासु
(२) तलि घल्लइ रयणाइ (४।३३४)
मातु पितु सकट घालै (सूर० ११३१)
(३) उच्छगि घरेइ (घरै) (४।३३६)
(४) जो गुण गोवइ अप्पणा
लाजनि अखियनि गोवै (सूर ९६५)
(५) हउ बलि किज्जउं (४।३३८)
(६) हौं बलि जाउं (सूर० ७२३)

बहुवचन मे प्राय हिं विभक्ति चलती है जो ब्रजभाषा में भी प्राप्त होती है।

मल्ल जुज्झ ससि राहु करहिं (४।३८२)

पूरी पक्ति जैसे ब्रजभाषा की ही है। ब्रज में यही अहिं>अइ होकर ऐं हो जाता है जो चलैं, करैं आदि में मिलता है।

(ग) भविष्यत् काल में ब्रजभाषा में ग-वाले रूपो की अधिकता दिखाई पडती है किन्तु 'ह' प्रकार के रूप भी कम नही है जो ष्यति>स्सइ>हइ>है के रूप मे आये। अपभ्रंश में हइ वाले रूप प्राप्त होते हैं।

'निद्दए गमिही रत्तडी' का नमिहो गमिहै होकर ब्रज में प्रयुक्त होता है किन्तु अधिकाशत, जाइहै (गमिहै का रूपान्तर जाइहै) का प्रयोग होता है। आगे कुछ समता सूचक रूप दिये जाते हैं—होहिइ (४।३३८ होइहै) हेमचन्द्र ने प्राकृताश में स्पष्टत भविष्य के लिए इहि का प्रयोग किया है।

'भविष्यति डज्झिहिइ, डहिहिइ' (२।४।२४६)

इस डहिहिइ का रूप डहिहै ब्रज में अत्यन्त प्रचलित है। उमी तरह पठिहिइ (अ० १७७ पढिहै)।

(घ) नव्य आर्यभाषाओं मे सयुक्त क्रिया का अपना अलग ढग का विकास हुआ है। भूत कृदन्त असमापिका क्रिया तथा क्रियार्थक क्रियापदो तथा अन्य क्रिया के तिङन्त रूपो की मदद से ये रूप निष्पन्न होते है।

पहिय रडन्तउ जाइ (४।४४५)
कुछ कह्यो न जाइ (सूर)
तुम अलि कासों कहत बनाइ (सूर ३६१७)

भूतकालिक से—

भग्गा घरु एन्तु (४।३५१)
नैना कह्यो न मानत (सूर)
बहे जात मागत उतराई (सूर)

पूर्वकालिक से—

(१) वाहँ विछोडवि जाहितुह (४।३३५)
(२) बाह छुडाये जात हौ (ब्रज)
(३) तिमिर डिम्भ खेल्लन्ति मिलिय (४।३८२)
(४) चितै चलि ठिठुकि रहत (सूर० २५८५)

क्रियार्थक सज्ञा से—

(१) तितुवाणु करन्त (४३११।१)
(२) खेलन चली स्यामा (सूर० ३६०७)
(३) इन द्यौसनि रूसनो करति (२८२६)

(ड) सयुक्तकाल के रूप अपभ्रश के इन दोहो में प्राप्त होते हैं जो आगे चलकर हिन्दी (खडी व्रजादि) में बहुत प्रचलित हुए

भूत कृदन्त के साथ भू या अस् के बने रूपो के प्रयोग—

(१) करत म अच्छि (हेम० ४।३८२) मत करता हो
(२) वाल सघाती जानत है (सूर० २३२७)
(३) स्यामसग सुख लूटति हौ (सूर० २२१२)

§ ६६ क्रिया विशेषण आश्चर्यजनक रूप से एक-जैसे प्रतीत होते हैं। किञ्चित् ध्वनि-परिवर्तन अवश्य दिखाई पडता है।

कालवाचक—

अज्ज (४।४१४<अद्य=आज), एवहि (४।३८६<इदानीम्=अवहिं, जाँव (४।३९५ यावत्=जाम, व्रज), तो (४।४३९<तत=व्रज तौ), पच्छि (४।३८८ पश्चात्=पाछे), ताव (४।४४२ तावत् तौ)।

स्थानवाचक—

कहिं (४।४२२ कुत्र=व्रज कही), कहिं वि (४।४२२ कही भी), जहिं (४।४२२ यत्र= जहिं व्रज), तहि (४।३५७ तत्र=तहिं, तहाँ)।

रीतिवाचक—

अइसो (४।४०३ ईदृश =व्र० ऐसो), एउ (४।४३८ एतत्=व्र० यो), जेव (४।३९७- यया=ज्यो व्रज), जिव (४।४३० व्र० जिम), जिव-जिव (४।३४४ जिमि-जिमि व्र०), जि (४।२३ व्रज जु), तिव (४।३७६=व्रज० तिमि), तिव-तिव (४।३४४ तिमि-तिमि-व्रज०)।

शब्दावली—

§ ६७ अपभ्रश में प्राय दो प्रकार के शब्दो की बहुलता है। सस्कृत के तत्सम शब्दो के विकृत यानी तद्भव और दूसरे देशज शब्द। तद्भव शब्दो का प्रयोग प्राकृत की आरभिक अवस्था से ही पड़ने लगा था। तद्भव शब्दो में ध्वनि परिवर्तन तथा अवशिष्ट स्वरो की मात्रा में ह्रासलोपादि के कारण मूल से काफी अन्तर दिखाई पडता है, ऐसे शब्दो की सख्या काफी बड़ी है। इनका कुछ परिचय ध्वनि-विचार के सिलसिले मे दिया गया है। किन्तु तद्भव शब्दो से देशज शब्दों का कम महत्त्व नहीं है। ये शब्द जनता मे प्रयुक्त होते थे और उनके निरन्तर परिष्कृत रूप भाषा की गठन और व्याकरणिक ढाँचे के अनुसार कुछ परिवर्तित होकर

प्रयोग में आते थे। हेम व्याकरण के दोहों में प्रयुक्त इन शब्दों की सख्या भी कम नहीं है, वैसे हेमचन्द्र ने इन शब्दों के महत्व को स्वीकार करके अलग देशी नाममाला[1] में इनका सकलन किया।

§ ६८ नीचे प्राकृत व्याकरण के महत्वपूर्ण तद्भव और देशज के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। इन शब्दों में से कुछेक को सस्कृत व्युत्पत्ति भी ढूँढी जा सकती है

ओक्खल	१।१७७	ओखरी	(सूर० को[2] १७९)
कुम्पल	१।२६	कोपल और कोप	(सूर० को० ६५)
खाइ	४।४२४	खाई	चहुदिस खाई गहिर गभीर (प्र० चरित)
खोडि	४।४१९	खोरि, त्रुटि	मेरे नयननि हो सब खोरि (सूर)
गड्डो	२।३५	गड्ढा	गडहा, गड्ढ (सूर० को० ३६८)
घुग्घिउ	४।४२३	घुडकी	घुघुआना (सूर० को० ४५६)
			दियौ तुरत नौवा को घुरकी (१०।१८०)
चूडल्लउ	४।३९५	चूडी	(सूर० को० ५२३)
छइल्ल	४।४१२	छैला	छैलनि को सग यो फिरैं (सूर १।४४)
छुच्छ	२।२०४	छूछा	छूछी छाडि मटकिया दधि की (१०।२६०)
			प्रश्न तुम्हारे छूछे
झुप्पडा	४।४१६	झोपडा	(सूर० को० ६८)
डाल	४।४४५	डाल, डार	एक डार के से तोरे (१०५६) नवरंग दूलह
			रास रच्यो (कुम्भनदास ३८)
तिरिच्छी	४।४१४	तिरछो	तिरछै ह्वै जु अरै (सूर)
थू	२।२००	कुत्साया निपात	थूथू
थूणा	१।१२२	थूनी	बहु प्रयुक्त
नवल्ली	२।१६५	नवेली	नवेली सुनु नवल पिय नव निकुज हैं री
			(३०७१)
नवखी	४।४२०	नोखी	कैसी बुद्धि रची है नोखी (सूर २१६०)
पराई	४।३५०	परकीया	नारि पराई देखिकै (सूर० सा० २१९५)
वप्पुडा	४।३८०	बापुरो	कहा बापुरो कचन कदली (कुभन १९८)
लट्ठी	१।२४०	लाठी	लाठी कबहु न छाडिये (गिरधरदास)
लोहडी	४।४२३	लुगरी	बहु प्रयुक्त लुगरी
विहाण	४।३३०	विहान	विहान, सबेरा
सलोणी	४।४२०	सलोनी	कहाँ तै आई परम सलोनी नारी
			(सू० सा० २१५९)

---

१ देशी रत्नमाला, द्वितीय सस्करण, स० श्री परवस्तु वेंकट रामानुजस्वामी, पूना, १९३८।

२. ब्रजभाषा सूर कोश, स० प्रेमनारायण टडन, लखनऊ, २००७ सम्वत्।

§ ६९ हेमचन्द्र ने लोक अपभ्रंश मे प्रयुक्त होनेवाले देशी शब्दो का एक संग्रह देशी नाममाला में प्रस्तुत किया है। इस शब्द-संग्रह मे बहुत से ऐसे शब्द हैं, जो ब्रजभाषा में प्रयुक्त होते हैं। नीचे उन शब्दो की संक्षिप्त सूची दी गयी है। साथ ही इन शब्दो के परवर्ती रूपो का ब्रजभाषा में प्रयोग भी दिखाया गया है।

अग्घाण	१।४१९	निद्रा अति न अघानौ (१।४६ सूर० सा०)
अगालिय	१।२८	अगारी, इक्षुखण्ड
अच्छ	१।४९	अत्यर्थम्, सारग पच्छ अक्छ सिर ऊपर (साहित्य ल० १००)
अम्मा	मा	
आइप्पण	१।७८	ऐपन की सी पूतरी सखियन कियो सिगार (सूर० १०।४०)
उक्खली	१।८८	ऊखल, ओखरी (ब्रज० सूर कोश)
उग्गाहिअ	१।१३१	उगाहना—हाट बाट सब हमहि उगाहत अपणो दान जगात (सूर १०८७)
उज्जड	१।९६	ऊजर, ज्यो ऊजर खेरे खे देवन को पूजै कौ मानै (सूर ३३०६)
उदिडो	उडद	
उड्डशो	१।९६	ऊडस (मत्कुण)
उव्वरिय	१।३२	उबरना, बचना (अधिकम्) उबरो सो ढरकायो (सूर ११२८)
उव्वाओ	१।१०२	खिन्न ऊबना (सूर० को०)
ओसारो	१।१४९	गोवाट (सूर कोश १८३)
ओहट्टो	१।१६६	ओहार, परदा (सूर कोश १८३)
कट्टारी	२।४	क्षुरिका (सूर कोश १९६)
कतवारो	२।११	तृणाद्युत्कर , (सूर कोश २००)
करिल्ल	२।१०	वशाकुर, करील की कुजन ऊपर (रसखानि)
कल्होडी	२।९	वत्सरी, वछिया (सूर कोश २२९)
काहारो	२।२७	कँहार, पानी लाने वाला (सूर० को० २३५)
कुड्य	२।६३	कुडा मिट्टी का वरतन (सूर कोश ३७९)
कुल्लड	२।६३	कुल्हड [illegible] का पुरवा (सूर कोश ३७९)
कोइला	२।४९	कोय [illegible] को० ३००) कोयला भई न राम

गुत्ती	२।१०१	शिरोवन्धनम् । पाटाम्बर गाती सब दिये (सूर)
गोच्छा	२।९५	गुच्छा (सूर० को० ४००)
गोहुर	२।९६	गोहरा (सूर० को० ४३४)
घग्घर	२।१०७	जघनस्थ वस्त्रभेद घघरा मोहन मुसुकि गही दौरत में छूटी तनी छन्द रहित घाघरी (२६३९)
घट्टो	२।१११	नदीतीर्थम् । घाट खर्‌यो तुम यहै जानि के (सूर)
घम्मोह	२।१०६	गुण्डुत्सञ्जतृणम् (सूर० कोश ४४६)
चंग	३।१	चगा, ठीक । रही रीझ वह नारि चगी (सूर)
चाउला	३।८	चावल, व्रज० चाउर.(सूर० कोश० ४९६)
चोट्टी	३।१	चोटी, मैया कब बढिहै मेरी चोटी (सूर)
छाइल्लो	३।२४	छैला, छैलनि के सग यो फिरै जैसे तनु सग छाई (सूर० १।४४)
छलियो	३।२४	छलिया, जिन चखनि छलियो बलि राजा (१०।१४१)
छासी	३।२४	छाछ, भये छाछ के दानी (३३०२)
छिण्णालो	३।२६	छिनाल, जार । चोरी रही छिनारी अब भयो (सूर, ७७३)
झंखो	३।५३	झख, झंखत यशोदा जननी तीर (१०।१६१)
झडो	३।५३	निरन्तरवृष्टि , (सूर० को० ६४८) व्रजपर गई नेक न झारि (९७३)
झाड	३।५७	लतागहनम् (सूर० को० ६५१)
झिल्लिरिआ	३।६२	झिल्ली (सूर को० ६६१)
झोलिआ	३।५६	झोली, वटुआ झोरी दोऊ अवारा (३२८४)
ढल्लो	४।५	निर्धन , वेकार, ऐसी को ढाली वैसी है तौ सौ मूड चटावै (३२८७)
डोला	४।११	शिविका, (सूर को० ७२४)
दोरो	५।३८	सूत्रम्, डोरा । तोरि लयौ कटिहू को डोरो (सूर २।३०)
पप्पीओ	६।१३	वहुत दिन जीओ पपीहा प्यारे (सूर)
फग्गु	६।८२	फाग, हरि सग खेलन फागु चली (सूर० २१८३)
वप्पो	६।८८	वाप, वावा । वावा मो को दुहुन सिखायो (सूर १२८५)
वाउल्लो	७।५६	वावरी, वावरी वावरे नैन, वावरी कहाँ वाँ अब बाँसुरी सौं तू लरै (सूर १९०८)

§ ५० इस प्रसग में हेमचन्द्र के व्याकरण में प्रयुक्त देशी धातुओं का भी विचार होना चाहिए। अपभ्रश में कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण देशी क्रियाओं का इस्तेमाल हुआ है, जो

व्रजभाषा में भी दिखाई पडती हैं, इनमें से कुछ क्रियाएँ तो इतनी रूपान्तरित हो चुकी हैं कि उनका ठीक मूल रूप जानना भी कठिन है, कुछ क्रियाओ के हम सस्कृत मूल ढूँढने का प्रयत्न भी करने लगते है और प्राचीन भाषा में ठीक कोई शब्द न पाकर किसी सभावित (हाइपोथेटिकल) रूप की कल्पना भी करने लगते हैं। किन्तु व्रज में प्रयुक्त बहुत-सी देशी क्रियाएँ शौरसेनी अपभ्रश की रचनाओ में प्राप्त होती हैं, हम इसके आधार पर इन प्रयोगो की प्राचीनता तो देख ही सकते हैं। नीचे हेम व्याकरण में प्रयुक्त कुछ क्रियाओ के प्रयोग और उनके व्रज समानान्तर रूप उपस्थित किये जाते हैं

अग्घाइ	(पूर)	४।१६९	अघाना
अच्छ	(आस्ते)	४।४०६	आछे
घल्लइ	(क्षिपति)	४।३३४	घालना
चडइ	(आरोहित)	४।४४५	चढना
चुक्कइ	(भ्रश्यते)	४।१७७	चूकना
छड्डइ	(मुञ्चति)	४।४२२	छाडना
छड्डइ	(विलपति)	४।४२२	झखना
झल्लकियउ	(सतप्तम्)	४।३९६	झार लगना, जलना
तड्‌फडइ	(स्पन्दते)	४।३६६	तडफडाना
थक्कइ	(तिष्ठति)	४।३७०	थकना
पहुच्चइ	(प्रभवति)	४।३००	पहुँचना
विरमालइ	(मुच्यते)	४।१९३	विरमना
विसूरइ	(खिद्यति)	४।४२२	विसूरना

पद-विन्यास—

§ ७१ अपभ्रश का पदविन्यास प्राचीन और मध्यकालीन दो स्तरो की प्राकृत भाषा से पूर्णत भिन्न दिखाई पडता है। इस काल तक आते-आते सश्लिष्टता-प्रधान भारतीय आर्य भाषा पुन प्राचीन वैदिक भाषा की तरह और कई दृष्टियो से उससे भी बढ कर अश्लिष्ट होने लगी। परसर्गो का प्रयोग, सर्वनामो के अत्यन्त विकसित और परिवर्तित रूप, क्रियापदो में सयुक्तकाल और कृदन्तज रूपो के बाहुल्य ने इस भाषा को एकदम नवीन रूपाकार में प्रस्तुत किया। अपभ्रश ने नये सुबन्तो, तिङन्तो की भी सृष्टि की और ऐसी सृष्टि की है जिससे वह हिन्दी से अभिन्न हो गयी है और सस्कृत, प्राकृत, पाली से अत्यन्त भिन्न।[1]

१—अपभ्रश मे कारक विभक्तियो की स्वच्छन्दता का पीछे परिचय दिया जा चुका है, इस काल में निर्विभक्तिक प्रयोग भी होने लगे। हेमचन्द्र ने अपभ्रश के निर्विभक्तिक प्रयोगो को स्पष्ट नहीं किया क्योकि परिनिष्ठित या साहित्यिक अपभ्रश के तात्कालिक ढाँचे मे निर्विभक्तिक प्रयोग बहुत नहीं मिलते, बाद की अपभ्रश मे तो इनका अत्यन्त आधिक्य दिखाई पडता है। व्रज में निर्विभक्तिक प्रयोग की बहुलता द्रष्टव्य है। हेमव्याकरण के इन दोहो की भाषा मे भी निर्विभक्तिक प्रयोग मिलते है किन्तु विरल।

एत्तहे मेह पियन्ति जल, एत्तहे वडवानल आवट्टइ ४।४१९

[1] राहुल सांकृत्यायन, काव्यधारा की अवतरणिका, पृ० ९

इस पंक्ति में मेह और वडवानल दोनों का प्रथमा मे निर्विभक्तिक प्रयोग हुआ है। नीचे कुछ सतुलनात्मक प्रयोग उपस्थित किये जाते हैं :

प्रथमा—

(१) कायर एम्व भणन्ति (४।३७७)
(२) धण मेल्लइ नीसासु (४।४३०)
(३) मोहन जा दिन वनहि न जात (सूर० ३२०२)
(४) लोचन करमरात हैं मेरे (कुभन० २१८)

द्वितीया—

(१) सन्ता भोग जु परिहरइ (४।३८९)
(२) जइ पुच्छइ घर वड्डाइ (४।३६४)
(३) फल लिहिआ भुजन्ति (४।३३५)
(४) निरखि कोमल चारु मूरति (सूर० ३०३९)
(५) काहे वाधति नाहिन छूटे केस (कुभन० ३०४)

अपभ्रंश में करण, अधिकरण और अपादान के निर्विभक्तिक प्रयोगों का एकदम अभाव है। सम्बन्ध में इस तरह के निर्विभक्तिक प्रयोग बहुत मिलते हैं। किन्तु वहाँ समस्तपद की तरह ही प्रयुक्त हुए हैं। अपभ्रंश में अधिकरण मे इकारान्त प्रयोग मिलते हैं। जैसे तलि, यडि, घरि आदि ये रूप उच्चारण-सौकर्य के लिए बाद में या तो अकारान्त रह गये या उनमें ए विभक्ति का प्रयोग होने लगा। इस तरह व्रजभाषा में कुछ रूप निर्विभक्तिक दिखाई पडते हैं। कुछ रूपों में ऐ लगाकर घरै, द्वारै आदि रूपान्तर बन जाते हैं। व्रजभाषा में प्राय प्रत्येक कारक मे निर्विभक्तिक प्रयोग प्राप्त होते हैं।

२—विभक्तियों के प्रयोग के नियमों की शिथिलता की बात पहले कही जा चुकी है। इस शिथिलता के कारण कुछ विशिष्ट प्रकार के कारक प्रयोग भी दिखाई पडते हैं। अपभ्रंश में इस प्रकार के विभक्ति-व्यत्यय के उदाहरण पर्याप्त मात्रा मे मिलते हैं। हेमचन्द्र ने प्राकृत में इस प्रकार के व्यत्यय को लक्षित किया था। षष्ठी विभक्ति का प्रयोग एकाधिक कारकों का भाव व्यक्त करने के लिए किया जाता था, इस विषय में उन्होंने स्पष्ट संकेत किया है। चतुर्थ्याः स्थाने षष्ठी भवति। मुणिस्स, मुणीण देइ, नमो देवस्स।[1] यही नही द्वितीया के लिए भी षष्ठी प्रयोग होता था। द्वितीया और तृतीया तथा पञ्चमी में सप्तमी (अधिकरण) का प्रयोग भी प्रचलित था। अधिकरण अर्थ में द्वितीया का प्रयोग भी चलता था।[2] प्राकृत (शौरसेनी) की यह प्रवृत्ति शौरसेनी अपभ्रंश को भी प्राप्त हुई। विभक्ति व्यत्यय के उदाहरण हेमव्याकरण के अपभ्रंश दोहों में कम नहीं मिलते। इसी प्रवृत्ति का विकास व्रजभाषा में भी हुआ। अपभ्रंश में कम्प, नम आदि क्रियाओं के साथ कर्म हमेशा द्वितीया में ही होता था, किन्तु अपभ्रंश में

१ चतुर्थ्याः षष्ठी हेमव्याकरण ८।३।१३१
२ षष्ठी क्वचिद् द्वितीयादेः ३।१३४ द्वितीयातृतीययोः सप्तमी ३।१३५
पञ्चम्यास्तृतीया च ३।१३६ सप्तम्या द्वितीया ३।१३७

यह कर्म पष्ठी में दिखाई पडता है, सन्देशरासक में इसके कुछ उल्लेखनीय उदाहरण मिलते हैं।[1]

भणइ पहिस्स अइ अरुण दुक्खिन्निया (स० रा० ८५)

पियह कहिव हिव इक्क (स० रा० ११०)

कुमारपाल-प्रतिबोध के अपभ्रंश दोहो में भी कई उदाहरण मिलते हैं—

मुणियि नन्दु वुत्तत्र यह सयडालस्स

यह स्स रूप ही सो या से के रूप में विकसित हुआ। ब्रज में कथ या भण के साथ कर्म का प्रयोग तृतीया में होता है।

अलि कासो कहत वनाइ (सूर० ३६१७)

हेम व्याकरण में अपभ्रंश का एक करण कारक का रूप महत्त्वपूर्ण है—

तुह जलि महु पुणु वल्लहइ विहिव न पूरिअ आस (४।३८३)

तेरी जल से मेरी प्रिय से दोनो की आसा पूरी न हुई। यहाँ करण कारक के अर्थ में सप्तमी का प्रयोग द्रष्टव्य है। ब्रजभाषा में अधिकरण का परसर्ग 'पै' तृतीयार्थ में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है।

(१) मो पै कही न जाइ (सूर० १८६८) मोसो, मेरे द्वारा

(२) हम उन पै वन गाइ चराई (सूर० ३१६२)

(३) जा पै सुख चाहत जियो (विहारी)

यही नही, अधिकरण का अपादान के अर्थ में भी प्रयोग होता है।

कौन पै लेहि उधारे (सूर० ३५०४)

३—क्रिया रूपो में कर्मवाच्य के कृदन्तज रूप अपभ्रंश की परवर्ती अवस्था में कर्तृवाच्य की तरह प्रयोग में आने लगे—

'ढोल्ला मइ तुहुँ वारियो' या 'विट्टीए मइँ भणिय तुहुँ' में कर्म वाच्य का रूप स्पष्ट दिखाई पडता है, किन्तु बहुत से रूपो में यह अवस्था समाप्त होने लगी थी।

मइँ जाणिउ पिय ४।३७७ मैं जान्यो (मेरे द्वारा जाना गया) साथ ही 'तो हउं जाणउ एहो हरि ४।३९७ हौं जान्यो का विभेद मुश्किल हो जाता है। सज्ञा के प्रथमा रूप के साथ कृदतन्ज क्रियाओ के प्रयोग इस भाषा को व्रज के अत्यन्त नजदीक पहुँचाते हैं।

(१) आवासिउ सिसिरु (४।३५५)

(२) सासानल जाल झलक्कियउ (४।९९५) झलक्यो

(३) वद्दलि लुक्कु मयक ४।४०१ (लुक्यो)

(४) महु खण्डिउ माणु ४।४१८ मेरो मान खण्ड्यो

४—क्रियार्थक रूपों के साथ निपेधात्मक ण या न तथा क्रिया की पूर्णता में असमर्थता सूचक 'जाइ' प्रयोग अपभ्रंश की निजी विशेषता है। इस तरह के प्रयोग हेमचन्द्र के अपभ्रंश

---

१ सन्देश रासक, भूमिका पृ० ८३

दोहो, जोइन्दु के परमात्मप्रकाश और सन्देशरासक में दिखाई पडते हैं। यह प्रवृत्ति परवर्ती भाषा में भी दिखाई पडती है।[1]

(१) पर भुजणहिं न जाइ (४।४४१ हेम०)
(२) त अक्खणह न जाइ (४।३५० हेम०)
(३) न वरणउ जाइ (स० रा० ७१ क)
(४) कहणु न जाइ (स० रा० ८१ क)

इस प्रकार के रूप व्रजभाषा में किञ्चित् परिवर्तन के साथ प्राप्त होते हैं।

(१) मो पै कही न जाइ (सूर० १८६८)
(२) कछु समुझि न जाइ (सूर० २३२३)
(३) सोभा वरनि न जाइ (कुम्भन० २३)

५—वाक्य-गठन की दृष्टि से अपभ्रंश के इन दोहो की भाषा व्रज के और भी नजदीक मालूम होती है। मार्दव, सक्षेप, लोच और शब्दो के अत्यन्त विकसित रूपो के कारण इस भाषा का स्वरूप प्राय पुरानी व्रज-जैसा ही है। नीचे कुछ चुने हुए वाक्य उद्धृत किये जाते हैं

अपभ्रंश	व्रज
(१) अगहि अग न मिलिउ ४।३३२	(१) अगहि अग न मिल्यो
(२) हउ किन जुत्यउ दुहु दिसिहि ४।३४०	(२) हौ किन जुत्यो दुहुँ दिसहिं
(३) वप्पीहा पिउ-पिउ भणवि कित्तिउ रुवहि हयास ४।३८२	(३) पपीहा पिउ-पिउ भनि कित्ती रुवै हतास
(४) जइ ससणेही तो मुवइ जइ जीवइ विन्नेह ४।३६७	(४) जो ससनेही तो मुवै जो जीवै विनु नेह
(५) वप्पीहा कइ वोल्लिएण निग्घिण वारइ वार सायरि भरिया विमल जल लहइ न एक्कइ धार ४।३८२	(५) पपीहा कै वोलिए निर्घृण वारहि वार सागर भरियो विमल जल लहै न एको धार
(६) साव सलोणी गोरडी नवखी कवि विस गण्ठि ४।४२०	(६) साव सलोनो गोरी नोखी विसकै गांठि

इस प्रकार की अनेक अर्द्धालियाँ, पक्तियाँ, दोहे व्रजभाषा से मिलते-जुलते हैं। कुछ दोहो में राजस्थानी प्रभाव के कारण ण, उ, ड आदि के प्रयोग अधिक है, भूत क्रिया के

1 The use of the infinitive with ण (or and introgative particle) and जाइ to denote impossibility of performing an action because of its extreme nature is peculiarity of Apabhramsa We find this construction in Hemchandra's illustrative stenzas and in the Parmatma Prakasa of Jundu. The idom is current in Modern Languages

Sandesa Rasaka, study pp. 44-45.

आकारान्त रूप भी मिलते हैं किन्तु अधिकाश दोहे ब्रजभाषा के निकटतम प्राचीन रूप ही कहे जायेंगे। डॉ० चाटुर्ज्या के इस कथन के साथ यह अध्याय समाप्त होता है कि ब्रजभाषा पुरानी शौरसेनी भाषा की सबसे महत्वपूर्ण और शुद्ध प्रतिनिधि है, हेम व्याकरण के अपभ्रंश दोहों की भाषा इसी की पूर्व पीठिका है।[1]

---

1 The dialect of Braj is most important and in the sense most faithful representative of Saurseni Speech The Apabhramsa verses quoted in the Prakrit Grammar of Hc (1018-1117 AC) are in a Saurseni speech which represents the pre-modern stage of Western Hindi

Origin and Development of the Bengali Language § 11

संक्रान्तिकालीन ब्रजभाषा

विक्रमी संवत् १२०० से १४०० तक

§ ७२ आचार्य हेमचन्द्र के समय में ही शौरसेनी अपभ्रंश जनता की भाषा के सामान्य आसन से उतर चुका था। प्राचीन परम्परा के पालन करने वाले बहुत से कवि-आचार्य अब भी साहित्यिक अपभ्रंश में रचनाएँ करते थे। रचनाओं का यह क्रम १७वी शताब्दी तक चलता रहा। हेमचन्द्र के समय में शौरसेनी अपभ्रंश कुछ थोड़े-से विशिष्टजन की भाषा रह गया था, यह मत कई भाषाविदों ने व्यक्त किया है। प्राकृत पैंगलम् की भाषा पर विचार करते हुए डॉ० एल० पी० तेसीतोरी ने लिखा है हेमचन्द्र १२वी शताब्दी ईस्वी (सं० ११४४-१२२८) में हुए थे और स्पष्ट है कि उन्होंने जिस अपभ्रंश का परिचय दिया है वह उनसे पहले का है इसलिए इस प्रमाण पर हम शौरसेन अपभ्रंश की अन्तिम सीमा कम-से-कम १०वी शताब्दी ईस्वी रख सकते हैं।[1] डॉ० तेसीतोरी की इस मान्यता के पीछे जो तर्क है, वह बहुत पुष्ट नहीं मालूम होता। हेमचन्द्र व्याकरण में जीवित या प्रचलित अपभ्रंश की भी चर्चा कर सकते थे, केवल इस आधार पर कि व्याकरण ग्रन्थ लिखनेवाले पूर्ववर्ती भाषा को ही स्वीकार करते हैं, हम ऊपर की मान्यता को ठीक नहीं समझते। डॉ० तेसीतोरी का दूसरा तर्क अवश्य ही विचारणीय है। वे आगे लिखते हैं—"जिस भाषा में पिंगल सूत्र के उदाहरण लिखे गये हैं वह हेमचन्द्र के अपभ्रंश से अधिक विकसित भाषा की अवस्था का पता देती है, इस परवर्ती अवस्था की केवल एक, किन्तु सबसे महत्वपूर्ण विशेषता के उल्लेख तक ही अपने को सीमित रखते हुए मैं वर्तमान कर्मवाच्य का रूप उद्धृत कर सकता

---

1. तेसीतोरी, पुरानी राजस्थानी, हिन्दी अनुवाद, ना० प्र० सभा, १९५६ ई०, पृ० ५

हूं जिसके अन्त मे समान्यत ईजे<इज्जइ[1] आता है। अपभ्रंश की तुलना में आधुनिक भाषाओं की यह मुख्य ध्वन्यात्मक विशेषता है और इसका आरम्भ चौदहवी शताब्दी से बहुत पहले ही हो चुका था।[2] प्राकृत पैंगलम् की भाषा निश्चित ही परवर्ती है और हेमचन्द्र की अपभ्रंश से आगे बढी हुई भाषा की सूचना देती है।

§ ७३ श्री एन० बी० दिवेतिया ने हेमचन्द्र-द्वारा स्वीकृत शौरसेनी या परिनिष्ठित अपभ्रंश को लोक-व्यवहार से च्युत भाषा प्रमाणित करने के लिए प्राकृत व्याकरण से कुछ मनोरंजक अन्तर्साक्ष्य ढूँढे हैं। श्री दिवेतिया के तीन प्रमाण इस प्रकार है[3]

१—हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के अन्त साक्ष्य पर कहा जा सकता है कि अपभ्रंश प्रचलित भाषा नही थी, हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण के द्वितीय अध्याय के १७४वें सूत्र पर जो वार्तिक लिखा है उससे इस बात की पुष्टि होती है।

> भाषा शब्दाश्च। आहित्थ, लल्लक्क, विड्डिर, पच्चड्डिअ, उप्पेहड, मडप्फर पड्डिच्छिर – – – इत्यादयो महाराष्ट्रविदर्भादिदेशप्रसिद्धा लोकतोवन्तव्या.। क्रिया शब्दाश्च। अवयासइ फुप्फुल्लइ, उप्फालेइ इत्यादय.। अतएव च कृष्टघृष्टवाक्य-विद्वस्वाचस्पति—विष्टरश्रवस्-प्रचेतस् प्रोक्तप्रोतादीनां क्विवादि-प्रत्ययान्तानां च अग्निचित्सोमत्सुग्लसुम्लेत्यादीना पूर्वै कविभिरप्रयुक्ताना प्रतीतिवैषम्यपर प्रयोगो न कर्तव्य. शब्दान्तरैरेव तु तदर्थोभिधेय.।[4]

भाषा शब्द से यहाँ हेमचन्द्र का तात्पर्य प्राकृत शब्द नही बल्कि भिन्न-भिन्न प्रान्तो में प्रयुक्त होनेवाली देश भाषाओ से है। शब्द 'प्रतीतिवैषम्यपर' इस बात का सकेत करता है कि हेमचन्द्र के काल में प्राकृतें जनभाषा नही रह गयी थी।

२—दूसरा प्रमाण हेम व्याकरण के ८।१।२३१ सूत्र के वार्तिक में उपलब्ध होता है। वार्तिक का वह अश इस प्रकार है—

> प्राय इत्येव। कई। रिऊ।। एतेन पकारस्य प्राप्तयोर्लोपवकारयोर्यस्मिन् कृते श्रुतिसुखमुत्पद्यते स तत्र कार्यं ।।

पूर्व-कवि-प्रयोग, प्रतीति-वैषम्य और श्रुति-सुख का प्रयोग निःसदेह प्राकृत भाषाओ के विवरण में आया है अत. इसका सीधा सम्बन्ध अपभ्रंश से नही माना जा सकता इस आपत्ति का विरोध करते हुए श्री दिवेतिया का कहना है कि हेमचन्द्र के अनुसार प्राकृत के अन्तर्गत आठवें अध्याय की सभी भाषाएँ आती हैं जो एक के बाद एक दूसरे की प्राकृत मानी जाती हैं इसलिए इस पूरे प्रमाण को प्राकृतो के साथ अपभ्रश के लिए मान सकते हैं। दूसरे हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में कही भी अपभ्रंश को भाषा नही कहा है और न तो उसे वे लोक-भाषा ही कहते है। अत 'भाषा' शब्द और 'लोकतोवगन्तव्या' आदि का अर्थ दूसरा हो है यह तत्कालीन अपभ्रशेतर देशभाषाओ की ओर सकेत हैं।

३—तीसरे प्रमाण के लिये श्री दिवेतिया ने प्राकृत द्व्याश्रयकाव्य (कुमारपाल चरित) के आधार पर यह तर्क दिया है कि इस ग्रन्थ में प्रकारान्तर से प्राकृत व्याकरण के सूत्रों के उदाहरण मिलते हैं, यदि वस्तुत अपभ्रश लोकभाषा थी तो इसके व्याकरणिक नियमो के उदाहरण इस तरीके से बनाने की कोई जरूरत नही थी।

हेमचन्द्र के समय में अपभ्रश जन-प्रचलित भाषा नहीं थी, इसे सिद्ध करने के लिए ऊपर दिए गए प्रमाणो की पुष्टि पर बहुत जोर नही दिया जा सकता। पहले और दूसरे तर्कों से यद्यपि लोक-प्रमाण की ओर सकेत मिलता है, यह भी ज्ञात होता है कि प्राकृतो के समय में भी लोक-भाषाओ को एक स्थिति थी जो साहित्यिक या शिष्टजन की प्राकृतो के कुछ विवादास्पद व्याकरणिक समस्याओ के सुलझाव के लिए महत्त्वपूर्ण समझी जाती थी। यहाँ अपभ्रश को प्राकृतो के साथ एक करके 'लोकभाषा' की तीसरी स्थिति का अनुमान करना उचित नही मालूम होता क्योकि प्राकृतो के साथ जिसे हेमचन्द्र ने लोकभाषा कहा वे संभवत अपभ्रशें ही थी। दिवेतिया का तीसरा तर्क अवश्य ही जोरदार मालूम होता है। हालाँकि इसका उत्तर गुलेरीजी बहुत पहले दे चुके हैं। 'जिन श्वेताम्बर जैन साधुओ के लिए या सर्वसाधारण के लिए उसने व्याकरण लिखा वे संस्कृत प्राकृत के नियमो को, उनके सूत्रों की सगति को पदो या वाक्य खण्डो में समझ लेते। उसके दिये उदाहरणो को न समझते तो सस्कृत और किताबी प्राकृत का वाङ्मय उनके सामने था, नये उदाहरण ढूँढ़ लेते। किन्तु अपभ्रंश के नियम यो समझ में न आते। यदि हेमचन्द्र पूरे उदाहरण न देता तो पढ़ने वाले जिनकी सस्कृत और प्राकृत आकर ग्रन्थो तक तो पहुँच थी किन्तु जो भाषा साहित्य से स्वभावत नाक-भौं चढ़ाते थे उनके नियमो को न समझते।'[1] गुलेरीजी के इस स्पष्टीकरण में कुछ तथ्य अवश्य है किन्तु उन्होने यह निष्कर्ष समवत. अपने समय में उपलब्ध अपभ्रश की सामग्री को देखते हुए निकाला था। अपभ्रश के भी पचीसो आकर ग्रन्थ श्वेताम्बर जैन साधुओ की अपनी परम्परा में ही प्राप्त थे। गुलेरीजी के इस निष्कर्ष का एक दूसरा पहलू भी है। गुलेरी-जी प्राकृत के अन्तर्गत पूर्ववर्ती रूढ अपभ्रश की भी गणना करते हैं, हेमचन्द्र की अपभ्रंश को तो वे अपभ्रश नहीं पुरानी हिन्दी मानते हैं। वे स्पष्टतया कहते हैं 'विक्रम की सातवी शताब्दी से ग्यारहवी तक अपभ्रश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गई।'[2] इस प्रकार गुलेरीजी के मत से भी अपभ्रश पुराने अर्थ में हेमचन्द्र के समय तक

१. पुरानी हिन्दी, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, प्र० स० २००५, पृ० २९-३०
२. वही, पृ० ८।

जीवित भाषा नहीं थी। दिवेतिया के तर्क की यहाँ पुष्टि होती है क्योंकि हेमचन्द्र ने उदाहरणों के लिए न केवल कुछ प्राचीन आकर ग्रन्थों या लोकविश्रुत साहित्य से उदाहरण लिए बल्कि कुछ स्वयं भी गढ़े।

§ ७४ ऊपर के विवेचन से दो प्रकार के निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। तेसीतोरी और अन्य भाषाविद् प्राकृतपैंगलम् की भाषा को हेमचन्द्रकालीन शौरसेनी अपभ्रंश का विकसित रूप मानते हैं। दूसरी ओर परिनिष्ठित अपभ्रंश की तुलना में देशी या लोक भाषाओं के विकास का भी संकेत मिलता है। स्वयं हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में ग्राम्य अपभ्रंश का जिक्र किया है। हेमचन्द्र के इस 'ग्राम्य' शब्द पर ध्यान देना चाहिए। परिनिष्ठित अपभ्रंश को पढ़े लिखे लोगों की भाषा होने के कारण नागर अपभ्रंश कहा जाता था, इसकी तुलना में हेमचन्द्र ने लोक अपभ्रंश को ग्राम्य या शिष्ट जन की तुलना में अशिष्ट अपभ्रंश कहा। यह लोक अपभ्रंश चूँकि लोकभाषा थी इसलिए इसमें स्थान भेद की सम्भावना भी अधिक थी। १२वीं शती में काशी के दामोदर पंडित ने 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' नामक औक्तिक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रंथ में लेखक ने उक्ति यानी बोली को संस्कृत व्याकरण के तरीके से समझाने या व्याप्त करने का प्रयत्न किया है। मध्यदेश की उक्ति या बोली की सूचना देने वाला यह पहला ग्रन्थ है। लेखक ने उक्ति व्यक्ति शब्द की व्याख्या करते हुए पहली कारिका की टीका में लिखा है—

> 'उक्तावपभ्रंशभाषिते व्यक्तीकृत संस्कृत नत्वा तदेव करिष्याम इत्यर्थं अथवा नानाप्रकारा प्रतिदेशश विभिन्ना येयमपभ्रंशवाग्रचना पामराणां भाषितभेदास्तद् व-क्ष्यकृत ततोऽन्यादृशम्। तद्धि मूर्खप्रलपित प्रतिदेश नाना।'

राजस्थानी चारणों की पिंगल कृतियाँ आदि शामिल हैं, दूसरी शैली का पता देनेवाली कोई महत्त्वपूर्ण कृति इस निर्धारित समय में नहीं उपलब्ध होती, किन्तु औक्तिक ग्रन्थो, उक्तिव्यक्ति, बालावबोध, उक्तिरत्नाकर और अन्य स्रोतो से इस भाषा के स्वरूप का अनुमान किया जा सकता है। पहली शैली रूढ होकर १८वी तक चलती रही। जब कि दूसरी शैली १४वी शताब्दी से आरम्भ होकर ब्रजभाषा के भक्ति और रीतिकाल के अद्वितीय वैभवपूर्ण साहित्य के निर्माण का श्रेय पाकर परिनिष्ठित ब्रजभाषा के रूप में सम्पूर्ण उत्तर भारत में फैल गयी। आगे इन दोनो शैलियो का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

§ ७६ शौरसेनी अपभ्रंश का परवर्ती रूप अवहट्ठ के नाम से अभिहित होता है। अवहट्ठ शब्द में स्वय कोई ऐसा सकेत नही जिसके आधार पर हम इसे शौरसेनी का परवर्ती रूप मानें। क्योंकि सस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश के वाङ्मय में जहाँ भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है इसका अर्थ अपभ्रश ही है। ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्णरत्नाकर[1] (१३२५ ईस्वी) विद्यापति की कीर्तिलता[2] (१४०६ ईस्वी) के प्रयोगो के और पहले इस शब्द का उल्लेख मिलता है। १२वी शती के अद्दहमाण ने अपने सन्देशरासक में भाषात्रयी और उसके लेखको को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए कहा है—

अवहट्टय सक्कय पाइयमि पेसायमि भासाए
लक्खण छन्दाहरेण सुकइत्तं भूसियं जेहि
ताण उणु कईण अम्हारिसाण सुइसद्दसत्थ रहियाण
लक्खछन्द पमुक्क कुकवित्तं को पससेइ
(स० रा० ६–४७)

अद्दहमाण ने भी सस्कृत प्राकृत के साथ अवहट्ठ का नाम लिया है। ज्योतिरीश्वर और विद्यापति ने सस्कृत प्राकृत के बाद ही इस शब्द का उल्लेख किया है। संस्कृत, प्राकृत के बाद अपभ्रश शब्द का प्रयोग सस्कृत आलकारिको ने एकाधिक बार किया है। षट्भाषा प्रसग में सस्कृत प्राकृत के बाद अपभ्रश की गणना का नियम था। मंख कवि के श्रीकंठ चरित की टीका से पता चलता है कि छ भाषाओ में सस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी (अपभ्रंश), मागधी, पैशाची की गणना होती थी।

सस्कृत प्राकृत चैव शूरसेनी तदुद्भवा।
ततोऽपि मागधी प्राग्वत् पैशाची देशजापि च॥

---

१ पुनु कइसन भाट सस्कृत प्राकृत, अवहट्ठ पैशाची, शौरसेनी मागधी छहु भाषा क तत्त्वज्ञ, शाकारी, आभिरी, चाडाली, सावली, द्राविली, ओतकली विजातिया सातहु उपभाषाक कुशलह। वर्णरत्नाकर ५५ ख
डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या और बबुआ मिश्र द्वारा संपादित, कलकत्ता १९४० ई०

२ सक्कय वाणी बुहजन भावइ, पाउअ रस को मम्म न पावइ
देसिल बअना सबजन मिट्ठा, त तैसन जम्पयो अवहट्ठा
(कीर्तिलता १।१९–२२)
कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा, प्रयाग, १९५५ ई०

नवीं शती के संस्कृत आचार्य रुद्रट ने काव्यालंकार में छ भाषाओं के प्रसंग में अपभ्रंश का नाम लिया है।

प्राकृत संस्कृत मागध-पिशाचभाषाश्च शौरसेनी च
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंश ॥
(काव्यालंकार २।१)

ऊपर के श्लोक की छ भाषाएँ वही हैं जो ज्योतिरीश्वर ने वर्णरत्नाकर में गिनाई है। इनसे स्पष्ट है कि अपभ्रंश और अवहट्ठ दोनों का सर्वत्र समानार्थी प्रयोग हुआ है। अद्दहमाण और विद्यापति ने भी अवहट्ठ का प्रयोग अपभ्रंश के लिए ही किया है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की यह भाषात्रयी भी वैयाकरणों और अलंकारिकों द्वारा बहुचर्चित रही है।

इन तीनों प्रयोगों से भिन्न प्राकृत पैंगलम् के टीकाकार वंशीधर ने अवहट्ठ को प्राकृत पैंगलम् की भाषा कहा है। प्राकृत पैंगलम् में प्राकृत शब्द से, इस ग्रन्थ का संकलनकर्ता या लेखक १२वीं शती के आरम्भ में इस पिंगल शास्त्रग्रन्थ के सम्पादन के समय, सम्भवत. 'अवहट्ठ' का अर्थ-बोध कराना नहीं चाहता था। उसके लिए इस ग्रन्थ की भाषा 'प्राकृत' थी। किन्तु परवर्ती काल में इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का टीकाकार वंशीधर इसकी भाषा को प्राकृत न कहकर अवहट्ठ कहता है। प्राकृत पैंगलम् की पहली गाथा की टीका में टीकाकार लिखता है—

पढम भास तरंडो
णाओ सो पिंगलो जअइ (१ गाहा)

टीका—प्रथमा भाषा तरड प्रथम आद्यभाषा अवहट्ठ भाषा यया भाषया अय ग्रन्थो रचित. सा अवहट्ठ भाषा तस्या इत्यर्थ त प्प पार पाप्नोति तथा पिंगलप्रणीत छन्दशास्त्र प्राययावहट्टभाषारचितै तद्ग्रन्थपार प्राप्नोतीति भाव सो पिङ्गल

वशीधर ने इस वाक्य-द्वारा अवहट्ठ भाषा में निर्विभक्तिक प्रयोगो की बहुलता देखकर यह चेतावनी दी है। निर्विभक्तिक पदो का प्रयोग शौरसेनी अपभ्रंश यहाँ तक कि हेमचन्द्र के दोहो में भी कम-से-कम हुआ है, किन्तु नव्य आर्यभाषाओ मे इस प्रकार की प्रवृत्ति अत्यन्त प्रवल दिखाई पडती है। सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश के वाक्य-विन्यास की सविभक्तिक प्रयोग वाली विशिष्टता नई भाषाओ में समाप्त हो गई। इस अनियमितता के कारण परसर्गों की सृष्टि करनी पडी और वाक्य-गठन में स्थानवैशिष्ट्य (कर्त्ता, कर्म, क्रिया की निश्चित तरतीब) को स्वीकार करना पडा। यह प्रवृत्ति जैसा वशीधर के सकेत से स्पष्ट है, अवहट्ठ भाषा में वर्तमान थी, इस प्रकार वशीधर का अवहट्ठ भाषाशास्त्रीय विवेचन के आधार पर अपभ्रश के बाद की स्थिति का सकेत करता है।

इस स्थान पर एक और पहलू से विचार हो सकता है। अवहट्ठ, जैसा कि अपभ्रष्ट शब्द का विकसित रूप है, वयो १२वी शती के बाद ही प्रयुक्त हुआ। पहले के लेखक, आचार्य इस भाषा को अपभ्रश कहते थे। अपभ्रश में निहित 'च्युति' को सलक्ष्य करके इस भाषा के प्रेमी लेखक इसे देशी भाषा, लोक भाषा आदि नामो से अभिहित करते थे। स्वयभू,[1] पुष्पदन्त,[2] जैसे गौरवास्पद कवि इस भाषा को देशी कहना ही पसन्द करते थे। उन्होने अपभ्रश नाम का कम-से-कम प्रयोग किया। सस्कृत आलकारिको ने तिरस्कार से यह नाम इस 'पामरजन' की बोली को दिया, उसी का वे प्रयोग भी करते रहे, अपभ्रश उनका ही दिया नाम था। वाद में यह अपभ्रश अवहट्ठ हो गया, प्रयोग में आते-आते इसके भीतर निहित तिरस्कार की भावना समाप्त हो गयी। अपभ्रश विकसित होकर राष्ट्रव्यापी हुई और उसका निरन्तर विकासमान रूप वाद में अवहट्ठ कहा जाने लगा। परवर्ती अपभ्रश प्राकृत प्रभाव से विजडित एक रूढ भाषा थी, परवर्ती कवियो अद्दहमाण, विद्यापति या प्राकृतपैगलम् के लेखक ने इसे 'देसिलवयना' के स्तर पर उतार कर लोकप्रवाह से अभिषिक्त करके नया रूप दे दिया। इस नये और विकसित रूप की भाषा को इन कवियो ने अपभ्रश नही अवहट्ठ यानी एक सीढ़ी और वाद की भाषा कहा।[3]

§ ७७ शौरसेनी अपभ्रश का अग्रसरीभूत रूप यानी अवहट्ठ राजस्थान में पिंगल नाम से प्रसिद्ध था। अवहट्ठ ही पिंगल था इस वात का कोई प्रामाणिक सकेत उपलब्ध नही होता, किन्तु परवर्ती पश्चिमी अपभ्रश (अवहट्ठ) और पिंगल के भाषा तत्वो की एकरूपता देखकर भाषाविदो ने यह स्वीकार किया कि अवहट्ठ ही पिंगल है। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है कि 'शौरसेनी अपभ्रश का कनिष्ठ रूप, जो भाषिक गठन और साधारण आकार-प्रकार की दृष्टि से परिनिष्ठित अपभ्रश १००० ईस्वी और व्रजभाषा १५०० ई० के बीच की

---

१. दोह समास पवाहा वकिय, सक्कय पायय पुलिणा लकिय
देसी भाषा उभय तडुज्जल कविदुक्कर घण सद्द सिलायल (पउमचरिउ)

२ वायरणु देस सदत्य गाढ (पासणाहचरिउ)
ण वियाणमि देसी (महापुराण)

३ अवहट्ठ सवधी विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य लेखक की पुस्तक 'कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा', प्रथम सस्करण, प्रयाग, १९५५ ई०

गडी या, अवहट्ठ के नाम से अभिहित होता था, प्राकृतपैंगलम् में इस भाषा में लिखी कवि-ताओं का सकलन हुआ था। राजपूताना मे अवहट्ठ पिंगल नाम से ख्यात था और स्थानीय चारण कवि इसे सुगठित और सामान्य साहित्यिक भाषा मानते हुए इसमें भी काव्य-रचना करते थे साथ ही डिंगल और राजस्थानी बोलियो में भी।[१] डॉ० चाटुर्ज्या ने इस मान्यता के लिए कि अवहट्ठ ही राजस्थान में पिंगल कहा जाता था, कोई प्रमाण नही दिया। डॉ० तेसीतोरी हेमचन्द्र के बाद के अग्रसरीभूत अपभ्रंश को दो मुख्य श्रेणियो में बाँटते हैं। गुजरात और राजस्थान के पश्चिमी भाग की भाषा जिसे वे पुरानी पश्चिमी राजस्थानी कहते हैं और दूसरी शूरसेन और राजस्थान के पूर्वी भाग की भाषा जिसे वे पिंगल अपभ्रंश नाम देना चाहते हैं। 'विकासक्रम से इस भाषा (अपभ्रंश) की वह अवस्था आती है जिसे मैंने प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी कहा है। यह ध्यान देने की बात है कि पिंगल अपभ्रंश उस भाषा समूह की शुद्ध प्रतिनिधि नही है जिससे प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी उत्पन्न हुई बल्कि इसमें ऐसे तत्व हैं जिनका आदि स्थान पूर्वी राजपूताना मालूम होता है और जो अब मेवाती, जयपुरी, मालवी आदि पूर्वी राजस्थानी बोलियो तथा पश्चिमी हिन्दी (ब्रजभाषा) में विकसित हो गये हैं।'[२] डॉ० तेसीतोरी के पिंगल अपभ्रंश नाम के पीछे राजस्थान की पिंगल भाषा की परम्परा और प्राकृत पिंगल सूत्र में सयुक्त 'पिंगल' शब्द का आधार प्रतीत होता है। राजस्थानी साहित्य में डिंगल की तुलना में प्राय: पिंगल का नाम आता है। एक ओर यह पिंगल नाम और दूसरी ओर पिंगल सूत्र की भाषा में प्राचीन पश्चिमी हिन्दी या ब्रजभाषा के तत्वो को देखते हुए डॉ० तेसीतोरी ने इस भाषा का नाम पिंगल अपभ्रंश रखना उचित समझा।

§ ७८ **पिंगल** को प्राय सभी विद्वान् ब्रजभाषा से किसी-न-किसी रूप में सम्बद्ध मानते हैं। हालांकि डिंगल सम्बन्धी वाद-विवाद के कारण इस शब्द की भी काफी विवेचना हुई और कई प्रकार के मोह और न्यस्त अभिप्रायो के कारण जिस प्रकार डिंगल शब्द के अर्थ, इतिहास और परम्परा को वितण्डावाद के चक्र में पडना पडा, वैसे ही पिंगल शब्द को भी। पिंगल के महत्व और उसके सांस्कृतिक दाय को समझने के लिए आवश्यक है कि हम स्पष्ट और निष्पक्ष भाव से इन शब्द के इतिहास को ढूँढ़ें। केवल डिंगल के तुक पर पिंगल और पिंगल के तुक पर डिंगल की उत्पत्ति का अनुमान लगा लेना और अपने मत को सर्वाधिक महत्वपूर्ण बताना न तो तथ्य जानने का सही तरीका कहा जा सकता है और न तो इससे किसी प्रकार विवाद के समाधान का प्रयत्न ही कह सकते हैं।

शास्त्र ही है और न तो उसमें रचित काव्य छन्द-शास्त्र के नियमो के निरूपण के लिए ही हैं, अतएव पिंगल शब्द व्रजभापा काव्य के लिए एक प्रकार से अनुपयुक्त ही माना जाना चाहिए ।'[1] ऊपर का निर्णय कतिपय उन विद्वानो के मतो के विरोध में दिया गया है जो पिंगल को व्रजभापा का पुराना रूप कहते हैं और उसे डिंगल से प्राचीन मानते हैं । श्री हरप्रसाद शास्त्री ने डिंगल-पिंगल के नामकरण पर प्रकाश डालते हुए लिखा कि डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति 'डगल' शब्द से सम्भव है । बाद में तुक मिलाने के लिए पिंगल की तरह इसे डिंगल कर दिया गया । डिंगल किसी भाषा का नाम नही है, कविता शैली का नाम है ।[2] श्री मोतीलाल मेनारिया शास्त्रीजी के मत को एकदम निराधार मानते हैं । क्योकि शास्त्रीजी ने अल्लूजी चारण के जिस छन्द से इस शब्द को पकडा उसमें भाषा की कोई बात नही है ।[3] किन्तु शास्त्री जी ने भी भापा की बात नही की, उन्होने स्पष्ट कहा कि डगल शब्द मरुभूमि का समानार्थी है, सम्भवत इसी आधार पर मरुभूमि की भाषा डागल कही जाती रही होगी, बाद में पिंगल से तुक मिलाने के लिए इसे डिंगल कर दिया गया। शास्त्रीजी के इस 'डगल' शब्द को ही लक्ष्य करते हुए सम्भवत तेसीतोरी ने कहा कि डिंगल का न तो डगल से कोई सम्बन्ध है न तो राजस्थानी चारणो और लेखको के गढे हुए किसी अद्भुत शब्द-रूप से । डिंगल एक ऐसा शब्द है जिसका अर्थ है 'अनियमित' अर्थात् जो छन्द के नियमो का अनुसरण नही करता । व्रजभापा परिमार्जित थी और छन्दशास्त्र के नियमो का अनुसरण करती थी, इसलिए उसे पिंगल कहा गया और इसे डिंगल ।[4] ढोला मारू रा दूहा के सम्पादकगण पिंगल और डिंगल के सम्बन्धो पर विचार करते हुए लिखते हैं डिंगल नाम बहुत पुराना नही है, जब व्रजभापा साहित्य-सम्पन्न होने लगी और सूरदासादि ने उसको ऊँचा उठाकर हिन्दी क्षेत्र में सर्वोच्च आसन पर बिठा दिया तो उसकी मोहिनी राजस्थान पर भी पडी, इस प्रकार व्रज या व्रजमिश्रित भापा में जो रचना हुई वह पिंगल कहलायी । आगे चलकर उसके नाम-साम्य पर पिंगल से भिन्न रचना डिंगल कहलाने लगी ।[5] इस प्रकार के और भी अनेक मत उद्धृत किये जा सकते हैं जिसमें डिंगल और पिंगल के तुकसाम्य पर जोर दिया गया है और पिंगल को डिंगल का पूर्ववर्ती बताया गया है ।

§ ७९ डॉ० वर्मा के निष्कर्ष और ऊपर उद्धृत कुछ मतो की परस्पर विरोधी विचार-शृखला में साम्य की कोई गुंजाइश नही मालूम होती । वर्माजी का मत अति शीघ्रता-जन्य और प्रमाणहीन मालूम होता है । यदि डिंगल काव्य व्रजभापा से प्राचीन है और बाद में व्रजभापा की उत्पत्ति हुई तो दोनों में एकाएक कौन-सी उलझन पैदा हो गयी जिसके लिए डिंगल और पिंगल जैसे नाम चुनने की जरूरत आ गयी । 'व्रजभापा में काव्य रचना होने के

---

१ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, सशोधित स० १९५४, पृ० १३९-४०

२ पिलीमिनेरी रिपोर्ट ऑन द ऑपरेशन इन सर्च ऑव मैन्युस्क्रिप्ट्स ऑव वॉर्डिक क्रोनक्लि्स, पृ० १५

३. राजस्थानी भापा और साहित्य, पृ० १७

४ जर्नल ऑव द एशियाटिक सोसाइटी ऑव बेंगाल, भाग १०, १९१४, पृ० ३७६ ।

५ ढोला मारु रा दूहा, काशी संवत् १९९१, पृ० १६०

पर तो राजस्थान मे काव्य-रचना होती थी' यह कोई तर्क नही है। राजस्थान में काव्य-रचना होती थी, इसका अर्थ यह तो नही कि डिंगल मे ही काव्य-रचना होती थी, राजस्थान में संस्कृत और प्राकृत मे भी काव्य-रचना हो सकती है। जो भी हो यह तर्क कोई बहुत प्रमाणित नहीं प्रतीत होता। पिंगल छन्द-शास्त्र को कहते हैं फिर ब्रजभाषा का पिंगल नाम क्यो पडा ?

§ ३० पिंगल और डिंगल दोनो शब्दो के प्रयोगो पर भी थोडा विचार होना चाहिए। पिंगल शब्द का सबसे प्राचीन प्रयोग जो अब तक ज्ञात हो सका है, गुरु गोविन्द सिंह के दसम ग्रन्थ मे दिखायी पडता है। सिक्ख सम्प्रदाय के प्रसिद्ध गुरु गोविन्द सिंह ब्रजभाषा के बहुत बडे कवि भी थे। उन्होने अपने 'विचित्र नाटक' (१७२३ के आस-पास) में पिंगल भाषा का जिक्र किया है।[१] जब कि डिंगल शब्द का सबसे पहला प्रयोग सम्भवत जोधपुर के कवि राजा बांकीदास के 'कुकविबत्तीसो' नामक ग्रन्थ में १८७२ सवत् मे हुआ।[२]

डींगलिया मिलिया करैं पिंगल तणौ प्रकाश
सस्कृत ह्वै कपट सज पिंगल पढ़ियो पास।

बांकीदास के पश्चात् उनके भाई या भतीजे बुधाजी ने अपने 'दुवावेत' मे दो-तीन स्थानो पर इस शब्द का प्रयोग किया है।

सब ग्रथ समेत गीता कू पिछाणै
डींगल का तो क्या सस्कृत भी जाणै। १५५
और भी आसीऊ कवि वङ्क
डींगल, पींगल सस्कृत फारसी मे निसक ॥ १५६

अपभ्रंश मे भी। किन्तु प्राकृत से गाहा और गाहा से प्राकृत का अभेद्य संबंध है, परिणाम यह हुआ कि 'गाहा' का अर्थ ही प्राकृत भाषा हो गया। केवल गाहा कह देने से प्राकृत का बोध होने लगा। अपभ्रंश काल में उसी प्रकार दूहा या दोहा सर्वश्रेष्ठ छन्द था। परिणाम यह हुआ कि अपभ्रंश में काव्य रचना का नाम दोहा-विद्या ही पड गया। अपभ्रंश का नाम 'दूहा' इसी छन्द के कारण कल्पित हुआ।

'दव्वसहावपयास' यानी 'द्रव्यस्वभाव प्रकाश' के कर्ता माइल्लधवल ने किसी शुभंकर नामक व्यक्ति की आपत्ति पर दोहाबन्ध यानी अपभ्रंश में लिखे हुए पद्य को गाथाबन्ध में किया था

दव्वसहायपयास दोहयबंधेन आसिज दिट्ठ
त गाहाबन्धेण च रइयं माइल्लधवलेण।
सुणियउ दोहरत्थ सिग्घ हसिउण सुहकरो भणइ
एत्थ ण सोहइ अत्थो साहावधेण त भणह॥

प्राकृत को आर्ष या धर्म वाणी समझने वाले शुभङ्कर का दोहाबन्ध या अपभ्रंश पर नाक-भौं चढ़ाना उचित ही था। भला कौन कट्टर धर्म-प्रेमी बर्दाश्त करेगा कि कोई पवित्र धर्म ग्रन्थ गँवारू बोली में लिखा जाय। यहाँ गाथा से प्राकृत और दूहा से अपभ्रंश की ओर संकेत स्पष्ट है। प्रबन्धचिन्तामणि के एक प्रसंग में दो भाषा-अपभ्रंश कवि आपस में होडा-होडी करते हैं जिसे लेखक ने 'दोहाविद्यया स्पर्धमानौ' कहा है। उनकी कविताओं में एक-एक दोहा है एक-एक सोरठा किन्तु इसे 'दोहा विद्या' ही कहा गया है।[1] परवर्ती काल में 'रेखता' छन्द में लिखी जानेवाली आरम्भिक हिन्दी को 'रेखता' भाषा कहा गया। 'रेखते के तुम्ही उस्ताद नहीं हो गालिब' कहनेवाले शायर ने पुराने मीर को भी रेखता का पहुँचा हुआ उस्ताद स्वीकार किया है। इस प्रकार एक छन्द के आधार पर भाषाओं के नाम-परिवर्तन के उदाहरण मिलते हैं।

§ ८२ व्रजभाषा सदैव से ही काव्य की भाषा मानी जाती रही है। यह झगडा केवल भारतेन्दु युग में ही नहीं खडा हुआ कि गद्य और पद्य की भाषा जुदा-जुदा हो। जुदा-जुदा इस अर्थ में नहीं कि दोनों का कोई साम्य हो ही नहीं—गद्य और पद्य की भाषा के प्राचीन भारतेन्दुकालीन नमूने सहज रूप से यह बताते हैं कि गद्य में व्रज मिश्रित (पँछाहीं) खड़ी हिन्दी का प्रयोग होता था किन्तु कविता तो खडी बोली में हो ही नहीं सकती थी, ऐसी मान्यता थी उस काल के लेखकों की। बहुत पहले मध्ययुग में भी व्रजभाषा के घर में यही झगडा हुआ था। उस समय व्रजभाषा की दादी शौरसेनी प्राकृत केवल गद्य (अधिकांशत) की भाषा थी जब कि उसी का किञ्चित् परवर्ती मँजा हुआ रूप परवर्ती शौरसेनी प्राकृत या महाराष्ट्री केवल पद्य की भाषा मानी जाती थी। शौरसेनी और महाराष्ट्री के इस संबंध पर हम पीछे विस्तृत विचार कर चुके हैं। मध्यकाल के अन्तिम स्तर पर प्राचीन शौरसेनी अपभ्रंश का विकसित साहित्यिक भाषा के रूप में सारे पश्चिमी उत्तर भारत में छा गया था। बंगाल के सिद्धों के दोहे इस भाषा की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। इस काल में यही भाषा छन्द

---

1 प्रबन्धचिन्तामणि, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, पृष्ठ १५७।

या कविता के लिए एकमात्र उपयुक्त भाषा मानी जाती थी। १४वीं शती की इस कविता-भाषा का नाम पिंगल-भाषा या छन्दों की भाषा पड़ गया। जाहिर है कि उस समय गद्य भी लिखा जाता रहा होगा। किन्तु यह गद्य या तो संस्कृत या प्राकृत में लिखा जाता था या तो जनपदीय लोकभाषाओं में जो तब तक अत्यन्त अविकसित अवस्था में पड़ी हुई थी। जनपदीय भाषाएँ पद्य के लिए भी अनुपयुक्त थीं। *इस प्रकार शौरसेनी का परवर्ती रूप यानी प्राचीन ब्रजभाषा* कविता के लिए सर्वश्रेष्ठ भाषा के रूप में मान्य होकर पिंगल कही जाने लगी। पिंगल नामकरण के पीछे एक और प्रमाण भी दिया जा सकता है। मध्यकाल में राजपूत दरबारों की संगीतप्रियता तथा देशी संगीत और जनभाषा के प्रेम के कारण बहुत से संगीतज्ञ आचार्य कवियों ने संगीत शास्त्रों की रचना की, उन्होंने देशी भाषा यानी ब्रज में कविताएँ भी कीं। संगीतज्ञ ब्रजभाषा कवियों की एक बहुत गौरवपूर्ण परम्परा आदिकाल से रीतिकाल तक फैली हुई दिखाई पड़ती है। बीकानेर के संगीत आचार्य भावभट्ट जिन्होंने 'अनूपसंगीत रत्नाकर' नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना १७५० संवत् में की, ध्रुपद के आचार्य और प्रशंसक थे। इसका लक्षण लिखते हुए उन्होंने 'मध्यदेशीय भाषा' का जिक्र किया है जिसमें ध्रुपद सुशोभित होता था

> गीर्वाणमध्यदेशीयभाषासाहित्यराजितम्।
> द्विचतुर्वाक्यसम्पन्न नरनारी कथाश्रयम्।
> शृंगाररसभावार्थं रागालापपदात्मकम्।
> पादान्तानुप्रासयुक्त पादान्तयमक च वा॥
>
> (अनूप० १६५–६६)

नागवानी क्या थी, पिंगलाचार्य कब हुए और उन्होंने पिंगल शास्त्र का कब प्रणयन किया ? ये सब सवाल अद्यावधि अनुत्तर हैं क्योकि इनके उत्तर के लिए कोई निश्चित आधार नही मिलता। नाग लोग पाताल के रहनेवाले कहे जाते हैं, इसलिए नागवानी को पतालवानी भी कहा गया। मध्यकाल के कथाख्यानो में नाग जाति के पुरुषो और विशेषकर नाग-कन्याओ के साथ असख्य निजन्धरी कथाएँ लिपटी हुई हैं। नागजाति के मूल स्थान के बारे में काफ़ी विवाद है। पाताल सम्भवत कश्मीर के पाददेश का नाम था।[1] वेदो में इस जाति का नाम नही आता। मध्यकाल में उत्तर-पश्चिम से मध्यदेश की ओर आनेवाली कई जातियो में एक नाग भी थे। महाभारत के निर्माण तक उनका अधिकार और आक्रमण हस्तिनापुर तक होने लगा था। जातक कथाओ में भी नाग जाति के सन्दर्भ भरे पडे हैं। गौतम बुद्ध के बोधि-सम्प्राप्ति के समय उत्थित तूफान में नागराज मुचिलिन्द ने उनकी रक्षा की। पश्चिमी और दक्षिण भारत के बहुत-से छोटे-छोटे राजे अपने को नागो का वशज बताते हैं।[2] इस प्रकार लगता है कि नागो की एक अर्घ कबीला-जीवन बितानेवाली घुमन्तू जाति थी, आभीर, गुर्जर आदि की तरह इनका भी बहुत बडा सास्कृतिक महत्व है। ब्रजभाषा में मिश्रित होनेवाले अन्य भाषिक तत्वो की चर्चा करते हुए भिखारीदास काव्य-निर्णय में नाग-भाषा का भी उल्लेख करते हैं

ब्रजभाषा भाषा रुचिर कहै सुमति सब कोइ
मिलै सस्कृत पारसिहु पै अति प्रगट जु होइ
ब्रज मागधी मिलै अमर नाग जबन भाखानि
सहज फारसी हू मिलै षट् विधि कहत बखानि।

काव्यनिर्णय १।१५

जवन भाषाओ के साथ नाग-भाषा को रखकर लेखक ने विदेशी या बाहर से आयी हुई जाति की भाषा का सकेत किया है। पर यह नाग-भाषा क्या थी, इसका आगे कोई पता नही चलता। मिर्जा खाँ ने ईस्वी सन् १६७६ में ब्रजभाषा का एक व्याकरण लिखा। यह अलग ग्रन्थ नही है बल्कि उनके मशहूर, तुहफत-उल-हिन्द[3] का एक भाग है। इस ग्रन्थ में विषय की दृष्टि से ब्रजभाषा व्याकरण, छन्द, काव्य-शास्त्र, नायक-नायिका-भेद, सगीत, कामशास्त्र, सामुद्रिक तथा फारसी-ब्रजभाषा शब्द आदि विभाग हैं। प्राकृत को मिर्जा खाँ ने पाताल या नाग वानी कहा है। यह प्राकृत क्या है ? प्राकृत का यहाँ अर्थ वही नही है जो

---

1. Mythological Nagas are the sons of Kadru and Kasyapa born to people Patala or Kashmir valley
Standard Dictionary of Folklore, Mythology and Legends, Newyork, 1950, pp. 730
2. ibd, pp 780
३ यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। इसका सबसे पहला परिचय सर विलियम जोन्स ने अपने लेख 'ऑन द म्यूजिकल मोड्स ऑव द हिन्दूज' में १७८४ में उपस्थित किया। बाद में इस ग्रन्थ का व्याकरण भाग शान्तिनिकेतन के मौलवी जियाउद्दीन ने

हम समझते हैं। संस्कृत, प्राकृत और 'भाखा' के बारे में वे कहते हैं 'पहली यानी सहसकिर्त में विभिन्न विज्ञान कला आदि विषयों पर लिखी हुई पुस्तकें मिलती हैं। हिन्दुओं का विश्वास है कि यह परलोक की भाषा है। इसे वे आकाशवाणी या देववाणी कहते हैं। दूसरी 'पराकिर्त' है। इस भाषा का प्रयोग राजाओं, मन्त्रियों आदि की प्रशंसा के लिए होता है और इसे पाताल लोक की भाषा कहते हैं, इसीलिए इसे पातालवानी या नागवानी भी कहा जाता है।[1] प्राकृत राजस्तुति और वंशवन्दना के लिए कभी बदनाम नहीं थी, यह कार्य तो चारण-भाषा या पिंगल का ही माना जाता है। यह प्राकृत संस्कृत और ब्रज के बीच की भाषा है, ऐसा मिर्जा खाँ का विश्वास है। मिर्जा खाँ की नागवानी जो राजस्तुति की भाषा थी और ब्रज में मिश्रित होनेवाली नागभाषा, जिसका उल्लेख भिखारीदास ने किया है, संभवत एक ही हैं और मेरी राय में ये नाम शिथिल ढंग से पिंगल भाषा के लिए प्रयुक्त हुए हैं। मध्यकाल में संगीत के उत्थान में नाग-जाति का योगदान अत्यन्त महत्व का रहा होगा क्योंकि यह पूरा कबीला संगीत और नृत्य-प्रेमी माना जाता है, आदि पिंगल का नागवानी नाम अवश्य ही कुछ अर्थ रखता है और मध्ययुग के सांस्कृतिक संमिश्रण को समझने में बहुत कुछ सहायक हो सकता है।

§ ८५ नं० ३ यानी अवहट्ठ भाषा का कुछ परिचय पहले दिया जा चुका है। सदेशरासक सभवत सबसे पहला ग्रन्थ है जिसमें इस शब्द का प्रयोग हुआ। कवि अद्दहमाण रचित इस महत्वपूर्ण काव्य-ग्रन्थ का प्रकाशन ईस्वी सन् १९४५ में सिंघी जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत मुनिजिनविजय और डॉ० हरिवल्लभ भायाणी के सम्पादकत्व में हुआ। सम्पादक को इस ग्रन्थ की तीन पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई थी जो पाटण, पूना (भडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट) और हिसार (पजाब) में लिखी गयी थी। तीनो प्रतियो के लिपिकार जैन थे। इनमें से पूना और पजाब की प्रति में सस्कृत छाया या अवचूरिका भी सलग्न है। किन्तु पूना प्रति के वार्तिककार नयसमुद्र और पजाब प्रति का टिप्पणकार लक्ष्मीचन्द्र दोनो ही सस्कृत के जानकार नही मालूम होते इसलिए ये टीकाएँ व्याकरण की दृष्टि से भ्रष्ट और अर्थ की दृष्टि से महज कामचलाऊ कही जा सकती हैं। पूना प्रति का टीकाकार अर्थ को भी अपनी चीज नही मानता और इसका सारा श्रेय किसी गाहड क्षत्रिय को अर्पित करता है, जिससे उसने अर्थ सीखा था। इन दो प्रतियो के अलावा बीकानेर से भी एक खडित प्रति प्राप्त हुई है। जयपुर के आमेर भाडार में भी अद्दहमाण के सदेशरासक की एक प्रति उपलब्ध है जो संभवत उपर्युक्त प्रतियो से कम महत्वपूर्ण नही कही जा सकती। क्योकि केवल पजाब की प्रति को छोडकर यह अन्य प्रतियो से प्राचीन है जिसे जैन माणिक्यराज ने सलीम के शासनकाल में १६०८ सवत् में लिखी। सस्कृत टीका भी दी हुई है जो काफी स्पष्ट है। दिगम्बर जैन मदिर (तेरह पंथियो का) जयपुर के शास्त्रभाडार में उक्त प्रति (वे० न० १८२८) सरक्षित है। इस प्रति का उपयोग नही किया गया।

अद्दहमाण को टीकाकारो की अवचूरिका के आधार पर अब्दल रहमान कहा गया है जो पश्चिम दिशा में स्थित पूर्वकाल से प्रसिद्ध म्लेच्छ देश में उत्पन्न मीरसेन के पुत्र थे।

पच्चाएसि पहूओ पुव्व पसिद्धो य मिच्छदेसोत्थि
तह विसए सम्भूओ आरद्दो मीरसेणस्स ॥ ३ ॥
तह तणओ कुलकमलो पाइय कव्वेसु गीयविसयेसु
अद्दहमाण पसिद्धो सनेह रासय रइय ॥ ४ ॥

उसी मीरसेण के पुत्र कुलकमल अद्दहमाण ने जो प्राकृत काव्य और गीति विषय में प्रसिद्ध था, सदेशरासक की रचना की।

ऊपर की गाथाओ से अद्दहमाण का अर्थ अब्दल रहमान और मिच्छदेश का म्लेच्छदेश केवल इसीलिए सम्भव है कि सस्कृत अवचूरिका में ऐसा लिखा है। आरद्द का अर्थ जुलाहा दिया है जिसका तन्वान अन्यत्र कठिनाई से प्राप्त होगा। इस अद्दहमाण के रचनाकाल के विषय में भी कोई निश्चित मत नही है। ग्रन्थ के सम्पादक श्री मुनिजिनविजय ने अद्दहमाण को मुल्तान महमूद के किञ्चित् पहले का अनुमानित किया है। महमूद के आक्रमण के बाद मुल्तान एकदम विध्वस्त हो गया था, उसकी समृद्धि और सुन्दरता नष्ट हो गयी थी। सदेश-रासक में मुल्तान (मूलस्थान) का अत्यन्त भव्य चित्रण किया गया है अत यह आक्रमण के पहले के मुल्तान का ही चित्रण हो सकता है, इसलिए मुनिजी के मत से अद्दहमाण सुल्तान महमूद के पहले का प्रमाणित होता है। स्तम्भतीर्थ या खम्भात का भी नाम आता है। सदेश-रासक विजयनगर की किसी विरहिणी का भी सदेश लिये है जिसका पति धनलोभ से खम्भात

मे पडा हुआ है। इस प्रकार खम्भात एक मशहूर व्यापारिक केन्द्र मालूम होता है, जहाँ आगे [illegible] पंजाब, सिन्ध आदि के व्यापारी भी आकृष्ट होकर आने लगे थे। खम्भात की ऐसी उन्नति सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल के पहले नही थी, इस आधार पर भी हम कह सकते हैं कि अद्दहमाण सिद्धराज का समकालीन मालूम होता है। मुनिजिनविजयजी के ये दोनो ही तर्क पूर्णत अनुमान मात्र हैं, महमूद के आक्रमण के बाद भी, इन नगरो के प्राचीन गौरव और वैभव को लक्ष्य करके ऐसे चित्रण किये जा सकते हैं, इसके लिए समसामयिक होना बहुत आवश्यक नही है। राहुल साकृत्यायन भी मुनिजी की मान्यता को स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि कवि की जन्मभूमि मुलतान के महमूद के हाथ में जाने के पहले कवि मौजूद थे। राहुलजी ने कवि के मुसलमान होने के प्रमाण में यह भी कहा है कि अब्दुर्रहमान ने ग्रन्थारम्भ मे मगलाचरण करते हुए अपने को मुसलमान भक्त बताया है। वे आगे लिखते हैं 'तेरहवी और बाद की भी दो तीन सदियो में हमें यदि खुसरो को छोडकर कोई मुस्लिम कवि दिखाई नही पडता तो इसका तो यह मतलब नही कि करोडो भारतीय मुसलमान बनते ही कवि-हृदय से वचित हो गये। हिन्दुस्तान की खाक से पैदा हुए सभी मुसलमानो के लिए अरबी-फारसी का पंडित होना सभव न था, अब्दुर्रहमान-जैसे कितने ही कवियो ने अपनी भाषा मे मानव समाज की भिन्न-भिन्न अन्तर्वेदनाओ को लेकर कविता की होगी।'[२] राहुलजी के विचारो मे एक नयी बात मालूम होती है। वे अद्दहमाण को मूलत भारतीय मानते हैं जिसने धर्म परिवर्तन करके इस्लाम ग्रहण किया। सस्कृत, प्राकृत के इतने बडे जानकार को विदेशी मानना शायद ठीक होता भी नही। अस्तु हम इन तर्क-वितर्को के बाद अनुमान कर सकते हैं कि अद्दहमाण १२वीं-१३वीं के बीच कभी वर्तमान थे जो प्राकृत के बहुत बडे कवि थे और जिन्होने प्राकृत-अपभ्रंश मे सदेशरासक की रचना की।

कर्तव्य मानते थे। संदेशरासक की तरह अन्य भी बहुत से ग्रन्थो में यह प्रवृत्ति संलक्षित होती है।

संदेशरासक की भाषा, लेखक की अतिसाहित्यिक और पाडित्य-पूर्ण रुचि के कारण, अत्यन्त परिनिष्ठित, प्राकृत-प्रभावापन्न और रूढ़ है। हालाँकि उसने ग्रन्थारम्भ में यह स्वीकार किया है कि इस ग्रन्थ की भाषा न अत्यन्त कठिन है और न तो अत्यन्त सरल, जो न तो बहुत पण्डित है न तो बहुत मूर्ख, उन सामान्यजनो के लिए काव्य करता हूँ

णहु रहइ बुहा कुकवित्त रेसि
अवुहत्तणि अवुहह णहु पवेसि
जिण मुक्ख ण पडिय मज्झयार
तिह पुरउ पढिव्वउ सव्ववार
(स० रा० २१)

किन्तु इस सामान्य जन के लिए लिखी कृति में प्राकृत भाषा का मूल रूप ही ज्यादा प्रधान हो गया है। हाँ, एक बात अवश्य बहुत महत्त्व की है। वह है प्राकृत के साथ ही साथ अग्रसरीभूत अपभ्रंश या अवहट्ठ के दोहो का प्रयोग। वैसे तो लेखक की परिनिष्ठित अपभ्रंश वाले छन्दो की भाषा में भी तत्कालीन विकसनशील लोक-भाषा के कुछ तत्त्व गृहीत हुए हैं किन्तु दोहो की भाषा तो एकदम ही नवीन और लोक-भाषा की ओर अतीव उन्मुख दिखाई पडती है। इस ग्रन्थ की भूमिका में डॉ० हरिवल्लभ भायाणी भाषा का विश्लेषण करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुचे जैसा स्थान-स्थान पर संकेत किया गया है संदेशरासक के दोहो की भाषा कई बातो में ग्रन्थ के मूल हिस्सो की भाषा से भिन्न प्रतीत होती है। यह भाषा एक ओर हेमचन्द्र के दोहो की भाषा के अति निकट और समान तथा साथ ही उससे कही ज्यादा विकसित और बढ़ी हुई मालूम होती है।[1] दोहो की भाषा ग्रन्थ की मूल भाषा से विकसित और अग्रसरीभूत क्या है?

§ ८७ प्रेम या विरह काव्यो में लोकगीतो के प्रयोग की पद्धति बिल्कुल नयी नही है। लोकगीतो में प्रेम की एक सहज व्यञ्जना, स्मृतियो की अनलकृत विवृत्ति और वेदना की जितनी गहरी अभिव्यक्ति सम्भव है, उतनी अभिजात भाषा में नही हो सकती, इसीलिए परिनिष्ठित भाषाओ में लिखे काव्यो में भी लोकगीतो के प्रयोग का कम-से-कम उनके अनुकरण पर उनकी ध्वनि या आत्मा को बाँधने का प्रयत्न किया जाता है। विक्रमोर्वशीय में राजा की कातरता और विरह-पीडा की व्यञ्जना को व्यक्त करने के लिए तत्कालीन लोक-भाषा का प्रयोग किया गया था, और वह दोहा अपभ्रंश का सबसे पुराना दोहा माना जाता है। संदेशरासक में प्राय लेखक दोहो का प्रयोग अत्यन्त तीव्र भावाकुल सवेदना की अभिव्यक्ति के लिए ही

---

1 As suggested at relevent places that the language of the dohas of S. R. differs in several points from that of the main portion of the text and is closely allied to, though more advanced than, the language of the dohas of Hemacandra

Sandesa Rasaka, introduction P 87.

चिरगय (१८१ क<चिरगय<चिरगत), सब्भय (२०८ <सभय), परव्वस (२१० ग<परवस<परवश) दलव्वहल (११ क<दलवहल) तम्माल (५६ ग <तमाल), तुस्सार (१८८ घ <तुसार <तुपार) आदि ।

§ ८६ **स्वरसकोचन** (Vowel Contraction) आधुनिक भाषाओं में स्वर-सकोच का अत्यन्त मनोरजक इतिहास है । सस्कृत के तत्सम शब्द जो प्राकृत काल में तद्भव हुए, उनमें क्षयिष्णुता की प्रवृत्ति बढने लगी, स्वरो के बीच की विवृत्ति तो हटी ही, सधि-प्रक्रिया से उन्हें सध्यक्षर बना लिया गया, इस प्रक्रिया में शब्दो का रूप-आकार एकदम ही बदल गया और वे नये चेहरे लेकर सामने आये ।

अँआ > ओं = सुन्नार (१०८ क<*सुन्नआर < स्वर्णकार), साहार (१३४ घ < सहयार<सहकार), अधार (१३९ ग<अधआर<अधकार) ।

अँउँ > ओं = तो (१८ घ<तउ<तत) सामोर (४२ क<सम्मउर<शाम्बपुर) मोर (२१२ ख < मऊर < मयूर) आसोय (१७२ क < आसउय <अश्वयुज), इदोअ (१८३ घ>इन्दाआप<इन्दाओप<इन्द्रगोप) आदि ।

स्वर-सकोच इसी अवस्था में कृदन्त से बने निष्ठा रूपो के चडिय<चढी १६१ घ तुट्टिय<तुटी १८ ख, आदि रूप बन जाते हैं । अपभ्रश में कृदन्तज विशेषणो मे लिंग-भेद का उतना विचार न था किन्तु ब्रजभापा में स्त्रीलिंग कर्ता के कृदन्तज भूत के नये रूप भी स्त्रीलिंग ही होते हैं और चढ़ी, टूटी आदि उसी अवस्था के सकेत हैं ।

§ ९० म् > व् के रूपान्तर को हमने हेमचन्द्रीय अपभ्रश की विशेषता कहा था । रासक में कहीं-कहीं यह व् भी लुप्त हो जाता है । मध्यम 'व' के लोप की यह प्रवृत्ति ब्रजभापा की खास विशेषता है । चाटुर्ज्या ने इसे ब्रज खडी बोली की विशेषता बताते हुए प्रारभिक मैथिली से इसकी तुलना की है । (देखिए वर्णरत्नाकर § १८) सदेशरासक मे मध्यग व् लोप के प्रचुर उदाहरण मिलते है । मनाएवि (७४ अ<मनावेवि) भाइयइ (५२ क<भाविपइ<भाव्यते) भाइण (६५ ग < भाविण<भावेण), सताउ (७६ ग <सतावु<सताप) जीउ (१५४ ग < जीवु < जीव) ।

§ ९१ ल का महाप्राणीकरण । ल > ल्ह । ल्ह, म्ह, आदि ध्वनियाँ ब्रज में बहुतायत से मिलती हैं । मिल्हउ (४६ ग<मेल्ल=छोडना) ।

§ ९२ द्वित्व या संयुक्त व्यंजनों में केवल एक व्यंजन को सुरक्षित रखने तथा इसकी क्षति पूर्ति के लिए पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर देने की प्रवृत्ति, जो आधुनिक आर्यभाषाओं में आकर पूर्णतया विकसित हुई सन्देशरासक की भाषा में आरम्भ हो गयी थी ।

वैसा ही रूप लेता जैसा ब्रज का चितेरा, लुटेरा आदि। अपभ्रंश की उ विभक्ति के साथ संयुक्त होकर यह प्रत्यय यँरँ>रो° (यरउ<एरो) का रूप ग्रहण करता है जो चितेरो, लुटेरो के निर्माण में सहायक है।

§ ९४ उपसर्गों में 'स' उपसर्ग का प्रयोग विचारणीय है। सलज्जिर २८ क, सगग्गिर २९ ग, सविलक्ख (२८ क< सविलक्षण) सलोल, सकोमल आदि में यह उपसर्ग देखा जा सकता है। ब्रज का सकुशल, सकोमल, सघन आदि रूप इस प्रकार निर्मित होते हैं।

§ ९५ सदेशरासक की भाषा ब्रज के कितनी निकट है इसका पता तो कारक विभक्तियो को देखने से चलता है जिनमे ब्रजभाषा की तरह ही निर्विभक्तिक या मात्र प्रातिपदिक रूपो का ही प्रयोग हुआ है।

विरह सबसे य कय (१०३-ख विरहेण वशीकृता) विरहग्गि धूम लोयणसवणु (१०९ घ-विरहाग्नि धूमेन लोचनस्रवणम्) णेवर चरण विलग्गिवि (२७ घ, नूपुरचरणे विलग्य) पिय वियोय विसुण्ठल्य (११५ क प्रिय वियोगविसस्थल) इसी प्रकार सम्बन्ध कारक में पवसत ७४ क, समरत ४६ क, गिरत १७५ ख आदि में प्रातिपदिक मात्र प्रयुक्त हुए हैं (देखिए सदेशरासक § ५१)

§ ९६ विभक्ति-व्यत्यय के उदाहरण भी सदेशरासक में विरल नही हैं। ब्रजभाषा मे विभक्तिव्यत्यय की प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल है। सो, पै, आदि परसर्ग तो एकाधिक कारको में व्यवहृत होते हैं। 'मो पै कही न जाइ' आदि कुछ उदाहरण हेमचन्द्र के दोहो की भाषा के प्रसग में दिये जा चुके हैं। सदेशरासक के उदाहरण इस प्रकार हैं—

षष्ठी का प्रयोग द्वितीयार्थ में—

(१) तुअ हियय ट्ठियह छड्डिवि ७५ ख=त्वाम् हृदयस्थितम् मुक्त्वा (कर्म)

(२) बिलवतियह् नासासिहसि १९१ ड = विलपन्ती मा नाश्वासयति (कर्म)

(३) दिन्ती पहिय पियासु ७० ख = प्रियाय

§ ९७ सर्वनाम प्राय वही हैं जो हेम व्याकरण में अपभ्रंश दोहो में मिलते हैं। इन सर्वनामो से ब्रजभाषा के सर्वनामो का क्या सम्बन्ध है, यह उसी प्रसग में दिखाया जा चुका है।

§ ९८ क्रिया रूपो की दृष्टि से अपभ्रंश से भिन्न और ब्रजभाषा के निकट पहुँचनेवाली कुछ विशेषताएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

(क) वर्तमान कालिक कृदन्त का प्रयोग ते रूप प्राय 'अन्त' से ही अन्त होते हैं। इसका रूपान्तर ब्रज मे (अन्त>अत) कहत, जात, सुनत आदि में दिखाई पडता है। अन्त के भी कुछ रूप मिलते हैं।

(१) सुहय तपइ राजो उग्गिलन्तो सिणेहे (१०० ख)

(२) मोह वसिण वोलन्त (९५ ग)

(३) त्यो-त्यो काल हसन्त (कवीर)

(ख) भूत कृदन्तज रूप का भूलकाल मे स्त्रीलिग में प्रयोग द्रष्टव्य है। Preterite Participle के इय या इयड प्रत्यय के योग से वनाये हुए रूप जैसे हुइय (ब्रज हुई) तुटी, चडी (चढ़ी ब्रज) आदि।

§ ९९ असमापिका क्रिया में इ प्रत्ययवाले रूपो का बाहुल्य तो है ही। इसी का विकास व्रजभाषा में भी हुआ। व्रज में 'इ' प्रत्ययवाले पूर्वकालिक रूप बहुत मिलते हैं। किन्तु व्रज में पूर्वकालिक युग्म का प्रयोग एक नयी विशिष्टता है। उदाहरण के लिए भई जुरि कै खरी, हसि के, लै कै आदि रूप मे पूर्वकालिक के मूल रूपो जुरि, हसि या लइ के साथ कृ का असमापिका रूप भी जुडा हुआ है। इस प्रकार का प्रयोग सदेशरासक में भी प्राप्त होता है।

विरह हुयासि दहेवि करि आसा सिंचेइ (१०८ ख)

§ १०० भूतकाल के कृदन्तज प्रयोगो में कर्मवाच्य के स्थान पर कर्तृ-वाच्य का प्रयोग नही दिखाई पडता है, जो व्रज की विशेषता है। किन्तु कर्तृवाच्य की ओर प्रवृत्ति होने लगी थी। कल्लोलिहि गज्जिउ १४२ ख, सिंहिडउ रडिउ १४४ ख, सालूरिहि रसिउ ११४ ग, कुसुमिहि सोहिउ २१५ ख, इन रूपो में तृतीया कारक के साथ कर्म वाच्य दिखाई पडता है। हसिहि चडिउ मे हस द्वारा चढा गया—अर्थ धीरे-धीरे बदलने लगा। हसि चडिउ से हस चडिउ>हस चड्यो।

§ १०१. सयुक्त-क्रिया का प्रयोग अवहट्ठ की अपनी विशेषता है। इस प्रकार के प्रयोगो ने नव्य आर्यभाषा की क्रियाओं को नया मोड दिया है। सदेशरासक के कुछ उदाहरण देखिए—

(१) को णिसुणे विणु रहइ (१८ ग) कौन सुने विना रहता है

(२) तक्करु वक्खरु हरि गउ (९५ च) तश्कर ने सामान हर लिये

(३) असेस तरुय पडि करि गय (१९२ घ) सभी पेडो के पत्ते गिर गये

इस प्रकार के हिन्दी और व्रजरूपो के लिए द्रष्टव्य (कैलाग हिन्दी ग्रामर § ४८२,७५८)

§ १०२ क्रियार्थक सज्ञाओ के साथ नकारात्मक 'ण' के बाद सामर्थ्य सूचक जाइ (गम्) का प्रयोग किया जाता है। इससे क्रिया के सम्पादन में असमर्थता का बोध होता है—

(१) न धरणउ जाइ ७१ क, धरा नही जाता

(२) कहण न जाइ ८१ क, कहा नहीं जाता

(३) किम सहणु न जाए २१८ ख, सहा नहीं जाता

ये प्रयोग प्राय सदेशरासक के दोहो में ही हुए है जो भाषा के विकास की परवर्ती अवस्था के सूचक है। इस तरह के बहुत से प्रयोग छिताईवार्ता में हुए हैं। उदाहरण के लिए एक पक्ति देखी जा सकती है।

चतुर्थी में लगि या लग रूप मिलता है जो व्रजभाषा में नही मिलता।

सप्तमी में महि, मह, मज्झ आदि रूप प्राप्त होते हैं। जिनका व्रज में विकास दिखाई पडता है।

इस प्रकार सदेशरासक की भाषा हेम व्याकरण के अपभ्रश-आदर्श को सुरक्षित रखते हुए भी विकास के तत्वो को समाहित करने में सफल हुई है। सदेशरासक में लोक भाषा-प्रभावापन्न दोहो में कही ज्यादा विकसनशील तत्त्व दिखाई पडते हैं। वैसे पूरे ग्रन्थ की भाषा संक्रान्तिकालीन अर्धभाषा के अध्ययन में सहायक हैं, व्रज के तो और भी।

§ १०४ शौरसेनी या पश्चिमी अपभ्रश का कनिष्ठ रूप अवहट्ठ पूर्वी प्रदेशो में भी साहित्य रचना का माध्यम हो गया था। पूर्वी प्रदेशो में जो कि मागधी श्रेणी की भाषाओ का क्षेत्र है, अवहट्ठ क्यो और कैसे प्रचलित हुआ, यह प्रश्न अत्यन्त विचारणीय है। मागधी प्राकृत या अपभ्रश का कोई साहित्य प्राप्त नही होता। मागधी प्राकृत सस्कृत नाटको में केवल नीच पात्रो की भाषा के रूप में व्यवहृत हुई है जिसके थोडे बहुत अश मिलते हैं। इसके दो ही कारण हो सकते हैं जैसा कि डॉ० चाटुर्ज्या लिखते हैं—'या तो यह कि इस भाषा का सारा साहित्य नष्ट हो गया या इसका कोई साहित्य था ही नहीं—या यह कि शौरसेनी अपभ्रश को ही साहित्य की भाषा स्वीकार कर लिया गया था[1]। मुसलमानो के आक्रमण से जितनी क्षति पूर्वी हिस्सो को हुई उतनी पश्चिमी भाग को नही। मध्यदेश और भारत के पूर्वी हिस्से इस ध्वसकारी आक्रमण की चोट में सीधे आये और परिणामत इनके सास्कृतिक और साहित्य पीठस्थल बिलकुल ही ध्वस्त हो गये। ईस्वी सन् का ११९७ शायद पूर्वी प्रदेशो के लिए सबसे बडा अनिष्टकारी वर्ष था जब बख्तार का बेटा मुहम्मद खिलजी बिहार को चीरता चला गया। इस भीषण नाश और अग्निकाण्ड का किंचित् परिचय सुलतान नासिरुद्दीन के प्रधान काजी मिनहाज़-ए-सिराज़ के इतिहास ग्रन्थ तवक़त-ए-नासिरी से मिलता है। हत्या और अन्य घटनाओ ने पूरे प्रान्त की सस्कृति का नाश कर दिया। विद्वानो की या तो हत्या कर दी गयी या तो वे भाग कर नैपाल की ओर चले गये। वे अपने साथ बहुत से हस्तलिखित ग्रन्थो की पाडुलिपियाँ भी लेते गये। इस प्रकार एक गौरवशाली साहित्य-परम्परा का अन्त हो गया। मगध जिसे पूर्वी भारत का युद्ध-स्थल कहा गया है, अनवरत तुर्क-पठान और मुगलो के युद्धो का केन्द्र बना रहा, बगाल भी इसी हमले से नष्ट-भ्रष्ट हो गया।[2] इस प्रकार के सास्कृतिक विनिपात के दिनो में अवशिष्ट राजदरबारो में पश्चिमी अपभ्रश या अवहट्ठ की रचनाओ का प्रभाव नि सदिग्ध है। जातीय युद्ध के इस काल में अवहट्ठ या पिंगल की वीरतापूर्ण रचनाओ ने सारे उत्तर भारत को एक जीवनशक्ति प्रदान की। विकसित मागधी अपभ्रश के अभाव, जो कुछ था भी उसके विनाश, के बाद पश्चिमी अपभ्रश का प्रभाव स्थापित होना स्वाभाविक ही था।

§ १०५ पूर्वी प्रान्तो में लिखी गयी रचनाओ में कवि विद्यापति की कीर्तिलता और कुछ फुटकल प्रशस्तियाँ तथा बगाल-बिहार में फैले हुए सिद्धो के गान और दोहे प्राप्त होते हैं।

---

१ ओ० वै० लै० पृ० ८७।

२ डॉ० चाटुर्ज्या द्वारा ओ० वै० लै० में उद्धृत पृ० १०१।

शौरसेनी अपभ्रश या अवहट्ठ में लिखा हुआ कोई और काव्य उपलब्ध नही होता। इस प्रदेश में लिखी गयी अवहट्ठ रचनाओ की भाषा में पूर्वी-प्रयोग मिलते हैं। परिनिष्ठित या साहित्यिक भाषाओ में मुख्य क्षेत्र के बाहर लोग जब साहित्य-रचना करते हैं तो उनकी भाषा के कुछ-न-कुछ प्रयोग, मुहावरे आदि तो सम्मिलित हो ही जाते हैं। किन्तु इन क्षेत्रीय प्रयोगो के आधार पर भाषा के मूल ढाँचे को अन्यथा मान लेना ठीक नही होता। पूर्वी प्रयोगो को देखते हुए विद्यापति की कीर्तिलता को पुरानी मैथिली और बौद्धो की रचनाओ को पुरानी बँगला कहना बहुत उचित नही है। यह सही है कि मैथिली भाषा के निर्माण मे सहायक या उसके ढाँचे को समझने के लिए उपयोगी सकेत-चिह्न कीर्तिलता मे प्राप्त होते है, किन्तु कीर्तिलता की भाषा की मूलभूत आतमा में उसकी अनुलेखन पद्धति, लिपि की पूर्वी शैलियो से प्रभावित वर्ण-विन्यास और कुछ मागधी प्रकार के 'ल' क्रिया रूपो के आवरण के नीचे अवहट्ठ या पश्चिमी अपभ्रश की प्रवृत्तियाँ दिखाई पडती हैं। कीर्तिलता का कवि जब जनता के मनोभावो को समझते हुए प्रेम-शृगार या भक्ति के गीत लिखता है तब तो अपनी लोकभाषा यानी मैथिली का प्रयोग करता है, किन्तु जब राजस्तुति के प्रयोजन से काव्य लिखता है तब व्रजभाषा की चारण शैली और उसके तत्कालीन अवहट्ठ रूप को ही स्वीकार करता है, क्योकि वह उस काल की सर्वमान्य पद्धति थी। नीचे कीर्तिलता का एक युद्ध-प्रसग देखिए, भाषा बिलकुल प्राकृतपैंगलम् के हम्मीर सम्बन्धी पदो की तरह या रासो के युद्ध-प्रसगो की भाषा की तरह मालूम होती है।

हसि दाहिन हथ्थ समथ्थ मइ, रणरत्त पलट्टिय खग्ग लइ
तह एक्कहि एक्क पहार परे, जह खग्गहि खग्गहि धार धरे
हय लग्गिय चग्गिय चारुकला, तरवारि चमक्कइ विज्जु झला
हरि टोप्परि टुट्टि सरीर रहे, तनु शोणित धारहिं धार वहे
तनु रग तुरग तरंग वसे, तनु छड्डइ लग्गइ रोस रसे
सव्वउ जन पेक्खहिं जुज्झ कहा, महभारइ अज्जुन कन्न जहा
न आहव माहव मत्तु करें, वाणासुर जुज्झह वुत्त मरे
महराअन्हि मलिकें चप्पिलउ, असलान निजानहु पिट्ठ दिउ
न रणे पम्मिअ राय सो अरु सुरखेअ करेओ
जे कुरं मारिअ वप्प मडु सो कर कवन हरेओं

(कीर्तिलता ४।२२६-४३)

इस भाषा में पूर्वी प्रयोगो का नामोनिशान तक नही मिलेगा। अन्तिम दोहो में तो करेओ>करयो, हरेओ>हरयो के व्रज रूप भी स्पष्ट दिखाई पडते हैं। अपभ्रश के अ+उ का व्रज मे सीधे ओ, होता है। बहुत से रूपों में 'यो' जैसे कह्यो, मरयो आदि का प्रयोग मिलता है। दूसरे प्रकार के रूप ही व्रज की प्रवृत्ति के अनुकूल हैं। अउ>औ, यौ के विकास की एक अवस्था एओ रही होगी जो कीर्तिलता में बहुत दिखाई पडती है।

कैसे मिथिला के सिंहासन को हस्तगत किया, इस पद में वर्णित है। भाषा पूर्वी प्रदेश के कवि ने लिखी है, किन्तु यह एकदम पश्चिमी पिंगल है।

अनलरन्ध्र कर लक्खन नरवए। सक समुद्द कर अगिनि ससी।
चैत कारि छठि जेठा मिलिओ। बार वेहप्पर जाउलसी॥
देवसिंहे ज पुहवी छड्डिअ। अद्धासन सुरराए सरू।
दुहु सुरुतान नीन्दे अव सोअउ। तपन हीन जग तिमिरे भरू॥
देखहु ओ पृथिमी के राजा। पौरुस मॉझ पुन्न बलियो।
सतबले गगा मिलित कलेवर। देवसिंह सुरपुर चलिओ॥
एक दिन सकल जवन बल चलियो। औका दिस सों जम राए चरू।
दुअओ दलटि मनोरथ पूरेओ। गरुअ दाप सिवसिंह करू॥
सुरतरु कुसुम घालि दिस पुरेओ। दुन्दुहिं सुन्दर धादु धरू।
वीरछत्र, देखन को कारन। सुरजन सते गगन भरू॥
आरम्भिय अन्तेष्टि महामख। राजसूय असमेध जहॉ।
पण्डित घर आचार बखानिअ। जाचक कों घर दान कहॉ॥
बिज्जावइ कविवर एहु गावए। मानव मन आनन्द भएओ।
सिंहासन सिवसिंह बइट्ठो। उच्छवै वैरस विसरि गएओ॥

सो, कारन, को आदि परसर्ग, जहाँ-तहाँ आदि क्रिया विशेषण पुरेओ, बइट्ठो, बिसरि गएओ, भएओ आदि भूतकृदन्त से बने क्रिया रूपो के कारण इस भाषा की आत्मा पश्चिमी ही मालूम होती है। मैं यह नही कहता कि इस पर पूर्वी प्रभाव नही है विशेषकर कर्ता में ए-कारान्त रूप आदि किन्तु वह प्रधान नही है, आरोपित है।

§ १०७ कीर्तिलता वैसे अपभ्रंश, जिसे कहीं-कही भ्रम से मिथिलापभ्रंश कहा गया है, का ग्रन्थ है। फिर भी उसमें पश्चिमी भाषातत्त्वो की बात लोगो को खटकती है, किन्तु इसकी भाषा के वास्तविक विश्लेषण करने के इच्छुक और तथ्य के अनुसंधित्सु के लिए इस कथन से कोई आश्चर्य न होगा कि कीर्तिलता में बहुत से, अत्यन्त महत्वपूर्ण और विरल, अन्यत्र प्राय एकदम अप्राप्य ऐसे प्रयोग मिलते हैं जो पश्चिमी हिन्दी के न जाने कितने उलझे हुए रूप तत्त्व (Morphology) की गुत्थियो को सुलझाने में समर्थ है। ब्रजभाषा की दृष्टि से कुछ थोडी-सी विशेषताएँ नीचे उद्धृत की जाती हैं।[1]

१—अत्यन्त महत्वपूर्ण परसर्ग—

(क) सञो>सो (ब्रज)

तुरय राउत सञो टुट्टइ (४।१८४) मान सञो (१।२४)

(ख) कारण>कारन, (ब्रज, चतुर्थी)

वीर जुज्झ देक्खह कारण (४।१९०) पुन्दकारि कारण रस (४।१७५)

माखन कारन आरि करत जो (सूर)

---

१. कीर्तिलता की भाषा के लिए द्रष्टव्य कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा, पृ० ७६-१२६।

(ग) कइ>कै (व्रज, सम्बन्ध)

पूज आस असवार कइ उत्थि सिरनवइ सव्व कइ (२।२३४) जाकै घर निसि बसे कन्हाई (सूर)

(घ) को—

दान खग्ग को मामन न जानइ २।३८ (षष्ठी) व्रज मे बहुत प्रचलित है।

(ङ) केरि, केरि को

त दिस केरी राय घर तरुणी (४।८९)

आय लपेटे सुतहु नद केरे (सूर २५।९०)

ने का प्रयोग हिन्दी में केवल व्रज और खडी बोली में ही होता है। १४वी-१५वी की कोई भी ऐसी पुस्तक नही है जिसमें ने के प्रयोग के कोई चिन्ह सकेत आदि प्राप्त हो। ने के प्रयोग के आदि रूप केवल कीर्तिलता में ही मिलते हैं। जेन्ने जाचक जन रजिउ (१।६३), जेन्ने णिय कुल उद्धरिअउ (१।६४) आदि। इसमें जेण का विकसित जेन्ने—जिससे व्रज जानै जिन्ने रूप बनता है। पूर्वी अपभ्रश की शुद्ध रचनाओ में इस प्रकार 'ने' वाले रूपो का मिलना असभव है।

२—सर्वनामो के महत्त्वपूर्ण रूप—

मेरहु>मेरौ, व्रज

मेरहु जेट्ठ गरिट्ठ अछ (२।४२)

मेरो मन अनत कहाँ रचुपावै (सूर)

मेरहु के साथ मोरहु रूप भी मिलता है दोनो का व्रज रूप मोरो मेरौ होता है। हौ के हउ या हओ पूर्वरूप तो कीर्तिलता में बहुत मिलते हैं। (देखिए कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा; सर्वनाम प्रकरण)

पूर्ववर्ती निश्चय का 'ओ' रूप अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ओ के साथ ओहु का प्रयोग निश्चित रूप से हिन्दी 'वह' के विकास की सूचना देता है। ओहु का प्रयोग १४वी शती के किसी अन्य ग्रन्थ में शायद ही मिले।

ओहु जास दरबार (कीर्ति) ओ परमेसर हर सिर सोहइ (कीर्ति०)

वह सुधि आवत तोहि सुदामा (सूर)

देखे तुम अन ओऊ (सूर)

सूर के 'ओऊ' का ओऽपि>ओ भी अर्थ है। निकटवर्ती के एहु और 'एही' रूप का भी महत्त्व है।

राय चरित रसाउ एहु (कीर्ति०)

ध्यान सो यह है परेखो जावे (सूर)

सिरचन्ना एहि राय छत्र (कीर्ति०)

एहि घर बसो मोटा गज मोचन (सूर)

निजवाचक अपभ्रश अप्पाउ कीर्तिलता में विविध रूपों में आता है।

अप्पने देस नरक (कीर्ति)

अपनेहु साठे सम्पलहु (कीर्ति०)

अपने स्वारथ के सब कोऊ (सूर)

३—क्रियापदो के अत्यन्त विकसित और ब्रज के निकटतम प्रयोग नीचे दिये जाते हैं।

पक्ख न पालै पउवा अग न राखै राउ (कीर्ति०)

मेरो मन धीर धरै (सूर)

यहाँ अइ की विवृत्ति सुरक्षित न रखकर इसे ऐ रूप में बदल लिया गया है। वर्तमान कृदन्त के रूपो का सामान्य वर्तमान में प्रयोग अपभ्रश में नही होता था। किन्तु कीर्तिलता की भाषा इस मानी में ब्रजभाषा की एकदम पूर्वरूपिका है।

कइसे लागत आँचर बतास (कीर्ति०)

काहु होत अइसनो आसु (कीर्ति०)

भुज फरकत अगिया तरकति (सूर)

भूत कृदन्त से बने रूपो में अपभ्रश के "अउ" वाले और विकसित एओ वाले रूप मिलते हैं। पीछे इनके बारे में कहा जा चुका है। पूर्वकालिक द्वित्व का प्रयोग भी विचारणीय है।

पीछे पयादा ले ले भमु, आपहिं रहि रहि अवन्ता (कीर्ति०)

यहाँ केवल 'ले'—लेकर से काम चलता, किन्तु सख्या और क्रिया की अनवरतता देखते हुए दो पूर्वकालिक के प्रयोग हुए हैं।

गहि गहि बाह सवन कर ठाढ़ी (सूर)

विरह तपाइ तपाइ (कबीर)

सयुक्तकाल की क्रियाएँ वर्तमान कृदन्त और सहायक क्रिया के सयोग से बनती हैं। ये रूप ब्रज के बहुपरिचित हैं।

खिसियाय खाण है (कीर्ति०) खान खिसियाता है

स्याम करत है मन की चोरी, राजत हैं अतिसय रग भीने (सूर)

इस प्रकार परसर्ग, विभक्ति, सर्वनामो के विविधरूपो, क्रियापदो के कई प्रयोगो के विकास को समझने के लिए कीर्तिलता की भाषा का सहयोग अनिवार्यत अपेक्षित है। वाक्य-विन्यास, निर्विभक्तिक प्रयोगो, विभक्ति-व्यत्यय, क्रिया-विशेषण और रचनात्मक प्रत्यय की दृष्टि से भी समानताएँ दिखाई पडती हैं। विस्तार-भय से यहाँ सबको उपस्थित करना ज़रूरी नही मालूम होता।

§ १०८. अवहट्ठ या पिंगल अपभ्रश मे लिखी सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक प्राकृतपैंगलम् है, जिसमें १२वी से १४वी तक की बहुत सी प्राचीन ब्रज-रचनाएँ सकलित की गयी हैं।

प्राकृतपैंगलम् के कुछ हिस्से को श्री जीगफ्रीड गोल्डस्मित ने एकत्र किया था जिसका उपयोग पिशेल ने अपने प्राकृत व्याकरण में किया। इस ग्रथ का प्रकाशन रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की ओर से १९०१ ई० में श्री मनमोहन घोष के सम्पादकत्व में हुआ। उसके पहले यह ग्रथ १८९४ ई० में निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से 'प्राकृत पिंगल सूत्राणि' के नाम से प्रकाशित हुआ था। प्राकृतपैंगलम् में मूलग्रथ के साथ सस्कृत भाषा की तीन टीकाएँ भी हैं जो इस ग्रथ की लोकप्रियता और प्रसिद्धि का द्योतक है। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने इसका रचना काल ९००–१४०० ई० के बीच में मना है। प्राकृतपैंगलम् में लेखक ने छन्दो के

उदाहरण विभिन्न काल की रचनाओ से उद्धृत किये हैं। दो पद्य राजशेखर की कर्पूरमंजरी (९०० ई०) से भी लिये गये हैं। डॉ० चाटुर्ज्या के मत से अधिकाश पद्य कृत्रिम साहित्यिक शौरसेनी अपभ्रश या अवहट्ठ के हैं। २९४, ३७५, ४१२, ४३५, ४६३, ४९०, ५१६ और ५४१ सख्याक पद्य निश्चित रूप से प्राचीन पश्चिमी हिन्दी के कहे जा सकते है।[1] इसी सिलसिले में उन्होंने वी० सी० मजूमदार के इस कथन को भी अप्रामाणिक बताया है कि पृ० १२, २२७, २३४, ४०३, ४६५ के पद्य बगाली भाषा के हैं। उन्होंने क्रिया सर्वनाम आदि के उदाहरण देकर उन्हें प्राचीन हिन्दी के रूप सिद्ध किया है। डॉ० तेसीतोरी इस भाषा का काल १२वी शती से पीछे खीचने के पक्ष में नही हैं। तेसीतोरी के मत से यद्यपि इस सग्रह की कुछ रचनाएँ १४वी शताब्दी से प्राचीन नही ठहरती, किन्तु यही सब पद्यो के बारे में नही कहा जा सकता और फिर पिगल अपभ्रश १४वी शताब्दी की जीवित भाषा नही थी बल्कि साहित्यिक और पुरानी भाषा थी। फिर भी व्यावहारिक रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राकृतपैंगलम् हेमचन्द्र के दोहो और नव्य भाषाओ के प्राचीनतम रूप के बीच की कडी का प्रतिनिधित्व करता है। इस तरह की भाषा १०वी से १२वी शती की भाषा का आदर्श मानी जा सकती हैं।[2] प्राकृतपैंगलम् में पश्चिमी हिन्दी या प्राचीन व्रज के जो पद प्राप्त होते हैं, उनमें से करीब ९ हम्मीर से सबद्ध हैं। पृ० १५७, १८०, २४९, २५५, ३०४, ३२७, ५२० के छन्दो में हम्मीर का नाम आता है। हम्मीर के सबधी एक पद मे 'जज्जल भणइ' यह वाक्यार्थ भी दिखाई पडता है—

> हम्मीर कज्जु जज्जल भणइ कोहाणल मुह महं जलउं।
> सुरताण सीस करवाल दइ तेज्जि कलेवर दिय चलउ॥

श्री राहुल साकृत्यायन ने हम्मीर सबंधी कविताओ को जज्जल-कृत बताया है,[3] हालांकि उन्होंने स्पष्ट कहा कि जिन कविताओ में जज्जल का नाम नही है, उनके बारे में सदेह है कि ये इसी कवि की कृतियाँ हैं। जो हो जज्जल-भणिता युक्त पदो को तो राहुलजी जज्जल की कृति मानते ही हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, राहुलजी का मत प्राकृत-पैंगलम् में प्रकाशित टीकाओ के 'जज्जलस्य उक्तिरियम्' अर्थात् यह जज्जल की उक्ति है—पर आधारित जान पडता है। टीकाकारो के इस वाक्य का अर्थ भी हो सकता है कि यह जज्जल की कविता है और यह भी हो सकता है कि यह किसी अन्य कवि-द्वारा निबद्ध मात्र जज्जल की उक्ति है, अर्थात् कवि निबद्ध वक्तृ-प्रोढोक्ति है। यदि दूसरा अर्थ लिया जाय तो रचना जज्जल की नही किसी और कवि की होगी किन्तु यह कवि शार्ङ्गधर ही है इसका कोई सबूत नही।[4] मेरा ख्याल है कि यह काफी स्पष्ट मत है और तब तक इस कथन की प्रामाणिकता असन्दिग्ध है जब तक शार्ङ्गधर[5] का हम्मीर रासो प्राप्त नही होता, और प्राप्त

---

१. चाटुर्ज्या, ओ० डे० व० लै० ६० ।

२ तेसीतोरी, इडियन ऐंटिक्वेरी, १९१४, पृ० २२।

३ हिन्दी काव्यधारा, पृ० ४५२, पाद-टिप्पणी।

४ हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पटना, १९५२, पृ० १५।

५. प० रामचन्द्र शुक्ल ने प्राकृतपैंगलम् के इन पदो को शार्ङ्गधर का अनुमान किया है। हिन्दी साहित्य का इतिहास।

होने पर यह सिद्ध नही हो जाता कि प्राकृतपैंगलम् के हम्मीर सबधी पद्य उक्त शार्ङ्गधर के ही लिखे हुए हैं। इस विवाद को व्यर्थ का तूल देना न केवल असामयिक है बल्कि निराधार वितडा-मात्र भी है।

§ १०९ जज्जल की तरह कुछ पदो में विज्जाहर या विद्याधर का नाम आता है। विद्याधर कान्यकुब्ज नरेश जयचन्द्र के मत्री थे।[१] प्रबन्धचिन्तामणि में विद्याधर जयचन्द्र का मत्री और 'सर्वाधिकारभारधुरधर' तथा 'चतुर्दश विद्याधर' कहा गया है।[२] विद्याधर काव्य प्रेमी था इसका पता पुरातन प्रबध सग्रह के 'जयचन्द्रनृपवृत्तम्' से भलीभांति चलता है। परमर्दिन् ने कोप कालाग्नि रुद्र, अवध्यकोपप्रसाद, रायद्रहबोल आदि विरुद धारण की, इससे कुपित होकर जयचन्द ने उसकी कल्याण कटक नाम की राजधानी को घेर लिया। परमर्दि के अमात्य उमापतिधर ने भयाकुल राजा के आग्रह पर विद्याधर को एक सुभाषित सुनाया जिससे अत्यन्त प्रसन्न होकर विद्याधर ने सुसुप्त राजा को पलग सहित उठवाकर पाँच कोश दूर हटा दिया।[३] लगता है विद्याधर स्वय भी कवि था और उसने देशी भाषा मे कविताएँ की थी जिनमे से कुछ प्राकृतपैंगलम् मे सकलित हैं। इन रचनाओ का सग्रह राहुल साकृत्यायन ने काव्यधारा में प्रस्तुत किया है।[४]

§ ११० प्रसिद्ध सस्कृत कवि जयदेव के गीतगोविन्दम् के बारे मे बहुत पहले विद्वानो ने यह धारणा व्यक्त की थी कि यह अपने मूल में किसी प्राकृत या देशी भाषा मे रहा होगा। पिशेल ने इन छन्दो को भाषावृत्त मे देखकर ऐसा अनुमान किया था। (ग्रेमेटिक § ३२) जयदेव के नाम से सबद्ध दो पद गुरुग्रन्थ साहब में भी मिलते हैं। राग गूजरी और राग मारू मे लिखे ये दोनो गीत भाषा और साहित्य दोनो ही दृष्टियो से उत्तम नही कहे जा सकते। किन्तु इनमें पश्चिमी हिन्दी का रूप स्पष्ट है। इन पदो को दृष्टि में रखकर डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा है कि यह बहुत सभव है कि ये पद मूलत पश्चिमी अपभ्रंश मे लिखे गये हो जो उस काल मे बगाल मे बहुत प्रचलित था। पश्चिमी अपभ्रंश की कुछ विशेषताएँ, खास तौर से 'उ'कारान्त प्रथमा प्रातिपादिक की, इन छन्दो मे दिखाई पडती हैं, यही नही उन पर सस्कृत का भी घोर प्रभाव है।[५]

प्राकृतपैंगलम् के दो छन्द गीतगोविन्द के श्लोको के बिलकुल रूपान्तर मालूम होते हैं। मै बहुत विश्वास से तो नही कह सकता किन्तु लगता है, ये छन्द जयदेव के स्वत रचित है, गुरुग्रन्थ साहब के दो पदो की ही तरह ये भी उनके पश्चिमी अपभ्रंश या पुरानी ब्रजभाषा की कविताओं के प्रमाण हैं। सभव है पूरा गीतगोविन्द परवर्ती पश्चिमी अपभ्रंश या अवहट्ठ

---

१ अल्तेकर—दी हिस्ट्री ऑव राष्ट्रकूटस, पृ० १२८।

२ चिन्तामणि, मेरुतुगाचार्य, ११३–११८।

३ पुरातन प्रबन्ध सग्रह, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, पृ० ९०।

४ हिन्दी काव्यधारा, पृ० ३९६–९८।

5 It seems very likely they (Poems in Guru Granth) were originally in western Apabhramsa as written in Bengal Western characteristics are noticable in them e g the-u-affix for nominative There is straight influence of Sanskrit as well —Origin and Development of the Bengali Language, P 126

में लिया गया था जिसे लेखक ने स्वय सस्कृत में रूपान्तरित कर दिया। पहला छन्द इस प्रकार है—

जिण वेअ धरिज्जे महियल लिज्जे पिट्ठिहिं दतहि ठाउ धरा
रिउ वच्छ विआरे, छल तणु धारे, वधिय सत्तु सुरज्ज हरा
कुल खत्तिय तप्पे, दहमुह कप्पे, कसअ केसि विणास करा
करुणा पअले मेच्छह विअले सो देउ णरायण तुम्ह वरा

(पृ० ५७०।२७०)

गीत गोविन्द[1] का श्लोक

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते।
दैत्यान्दारयते बलिं छलयते क्षत्र क्षय कुर्वते॥
पौलस्त्य जयते हल कलयते कारुण्यमातन्वते।
म्लेच्छान्मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्य नम ॥

(अष्टपदी १, श्लोक १२, पृ० १७)

वसन्तागम के समय की शीतल राते विरही लोग अत्यन्त कष्ट से बिताते है, साथ ही फूलो की गन्ध, भौंरो की गुजार और कोकिल की काकली उनके हृदय को प्रिया समागम की स्मृतियो के उल्लास से भर देती है—

जिण कस विणासिअ किंत्ति पआसिय
मुट्ठि अरिट्ठ विणास करे, गिरि हत्थ धरै,
जमलज्जुण भंजिय, पअभर गंजिय,
कालिय कुल संहार करे जस भुवन भरे,
चाणूर विहंडिय, णिमि कुल मंडिय
राहा मुह महु पान करे जिमि भमर वरे,
सो तुम्ह णरायण, विप्प परायण
चित्तह चिंतिय देउ वरा, भयभीय हरा,
(पृ० ३३४।२०७)

गीत गोविन्द पृ० ७५ के १३वें श्लोक और कृष्णलीला सम्बन्धी प्रारम्भिक वन्दना से ऊपर के पद का भाव-साम्य स्पष्ट मालूम होता है।

§ १११ कुछ ऐसे पद भी मिलते हैं जिसमें वब्बर का नाम आता है। राहुल साकृत्यायन ने इस वब्बर को कलचुरि नरेश कर्ण का मंत्री बताया है। वब्बर नाम से हिन्दी काव्यधारा में संकलित रचनाओं में से बहुत-सी किसी अन्य कवि की भी हो सकती हैं, उन्हें वब्बर का ही मानने का कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। राहुलजी ने इस प्रकार की वब्बर की अनुमानित रचनाओं का संकलन काव्यधारा में किया है।

प्राकृतपैंगलम् की भाषा में प्राचीन ब्रज के तत्त्व :

§ ११२ नव्य भारतीय आर्यभाषा काल के पहले प्राकृत-ध्वनितत्त्व में कोई विकास या गतिमयता नहीं दिखाई पड़ती। ध्वनि-तत्त्व के ह्रास के इस काल में कृत्रिम शब्दों का प्रचार बढ़ने लगा। नव्य भारतीय आर्यभाषाओं की सबसे बड़ी ध्वन्यात्मक विशेषता यही है कि उन्होंने इस लक्ष्य स्थिति को समाप्त कर दिया और ध्वनितत्त्व का परिवर्तन या विकास होने लगा। हृदय प्राकृत काल में हिअअ रह सकता था और रहा किन्तु नव्य भाषा काल में उसे हिय या हिंग बन जाना ही पड़ा। उसी प्रकार मध्यकालीन ध्वनियों में व्यंजन द्वित्व की परुषता को भी नव्य भाषा काल में आसान होना पड़ा। कम्म>काम हुआ और सच्चु>साच। खड़ी बोली में पंजाबी के प्रभाव के कारण इस प्रकार व्यंजन द्वित्व अब भी मिल सकते हैं। डॉ० चाटुर्ज्या ने लिखा है कि 'हिन्दी में हमें काम, हाथ, कल, सच, कुछ, नथ, रत्ती, चद्दर, उम्मेद आदि रूप मिलते हैं जब कि इन्हें भाषा-नियम के अनुसार काल, साच, कूछ, नाथ, राती, चादर तथा उमेद होना चाहिए था, किन्तु अन्तिम शब्दों में व्यंजन द्वित्व-सुरक्षा का मूल कारण पंजाबी का प्रभाव ही है।[१] ब्रजभाषा में इस प्रकार के द्वित्वों का एकान्त अभाव है। सम्भवतः हिन्दी की बोलियों में ब्रज ही ऐसी है जिसमें इस प्रकार की परुषता से बचने की पूर्ण कोशिश हुई।[२] प्राकृतपैंगलम् की भाषा में इस प्रवृत्ति का आरम्भ दिखाई पड़ता

---

१ चाटुर्ज्या भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० १२४।

२. ग्रियर्सन ने ध्वनि तत्त्व की इस मूल प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हुए कहा था कि पश्चिमी हिन्दी का सच्चे रूप में प्रतिनिधित्व ब्रजभाषा करती है, खड़ी बोली नहीं।

—लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इण्डिया।

है। आछे (४६२।२ <अच्छइ <अक्षति*), करीजे (४०२।२<करिज्जइ<क्रियते), कहीजे (८०२।२<कहिज्जइ<कथ्यते) चउवीस (१५५।२<चतुर्विंशति), चाम (४३६।२<चर्म्म), जासु (१४३।१<जस्स>यस्य) णीसक (१२८।४<निःशक), णीसास (४५३।२<निःश्वास), तासु (३०।९<तस्य), दीसइ (३१५।५<दृश्यते) आदि। मध्यम व्यजन-द्वित्वो के सहजीकरण की इस प्रवृत्ति (Simplification of Interv calic) के कारण इस भाषा मे नयी शक्ति और रवानी दिखाई पड़ती है।

§ ११३ व्रजभाषा की दूसरी विशेषता अनुस्वार के ह्रस्वीकरण की है। इस प्रवृत्ति में भी ध्वन्यात्मक विकास की उपर्युक्त परिस्थिति ही कारण मानी जा सकती है। किसी व्यजन के पहले आया हुआ पूर्ण अनुस्वार सकुचित होकर निकटस्थ स्वर का नासिक्य रह जाता है। ऐसी अवस्था मे कभी तो क्षतिपूर्ति के लिए पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर लेते है, कभी नही भी करते। व्रजभाषा में वशी का बाँसुरी, पक्ति का पाँत, पण्डित का पांडे, पच का पाँच आदि रूप अक्सर मिलते है। प्राकृतपैंगलम् की भाषा में इस तरह के रूप दिखाई नही पड़ते किन्तु अनुनासिक के ह्रस्वीकरण के उदाहरण पूर्ववर्ती स्वर को क्षतिपूर्ति के दीर्घ किये बिना ही दिखाई पड़ते है। इस तरह के उदाहरण व्रजभाषा में भी विरल नही है।

सँदेसनि<सदेश, गोविंद<गोविन्द, रँग<रग, नँदनन्दन<नन्दनन्दन।

प्राकृतपैंगलम् में भी इस तरह के रूप मिलते है।

सँधया (१२९।४<स्कधक), सँजुते (१५७।४<सयुक्त) चँडेसर (१८४।८ < चण्डेश्वर) पँचतालीस (२०२।४<पचचत्वारिंशत्) इस प्रकार का ह्रस्वीकरण छन्दानुरोध के कारण और बलाघात के कारण उपस्थित होता है।

§ ११४ प्राकृतकाल में शब्दो के बीच से व्यजनो का प्राय लोप हो जाता था। मध्यम क ग ज त द प य व आदि के लोप होने पर एक विवृत्ति (Hiatus) उत्पन्न हो जाती थी। इस विवृत्ति को नव्य भाषा काल में कई प्रकार से दूर करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। या तो सधि नियमो के अनुसार वे सह-स्वर सयुक्त कर दिये जाते हैं, या उनमे य या व या ह श्रुति का समावेश करते है। इस प्रकार चरनि का चरइ या चलइ का, चले या चल हो जाता है। कहउ का कहो, आयउ का आयो रूप इसी प्रकार विकास पाते है। व्रजभाषा में प्राय औ और ऐ दिखाई पड़ते है। कन्नौजी में औ के स्थान पर ओ और ऐ मिलते है। प्राकृतपैंगलम् की भाषा में विवृत्ति को सुरक्षित न रखने की प्रवृत्ति आरभ हो गयी थी।

व के लोप के बाद कई तरह के परिवर्तन दिखाई पडते हैं। कभी इसके स्थान में ए या इ रह जाता है कभी उ। प्राकृतपैंगलम् में व के स्थान पर 'उ' का प्रयोग दिखाई पडता है।

भेउ (२२०।२<भेव<भेद), आउ (५५२।४<आव ३९७।३<आयाति),
ठाउ (२३५।५ ठाव<ठाम<स्थान), णेउर (२९।२<णेवुर<नूपुर),
देउ (३४४।२<देव), पसाउ (२५७।६<पसाव<प्रसाद), पाउस
(३००।४<प्रावृट्), घाउ (५०४।२<घाव<घात),

सदेशरासक में भी इस तरह के बहुत से प्रयोग मिलते हैं—
सताउ (७६।ब सदे०<सतावु<सताप), जीउ (१५४।स, सदे०<जीवु< जिव),
पाउ (२०६ द, सदे०<पापम्)

डॉ० हरिवल्लभ भायाणी का विचार है कि मध्यग 'व' लोप ब्रजभाषा की एक मुख्य विशेषता है (सदेशरासक भूमिका § ३३) मध्यदेशीय भाषाओ, खडी बोली इत्यादि मे भी यह प्रवृत्ति दिखाई पडती है। पुरानी मैथिली के विषय में वर्णरत्नाकर मे विचार किया गया है (वर्णरत्नाकर § १८)।

§ १५६. साधारणत विद्वानो का मत है कि ब्रजभाषा के पद ओकारान्त या औकारान्त होते हैं जब कि खडी बोली के पद आकारान्त। इस सिद्धान्त को इतना सबल माना गया कि पश्चिमी हिन्दी को इन दो बोलियो को सर्वथा भिन्न सिद्ध करने में इसको मूल आधार बताया गया। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने खडी बोली और ब्रजभाषा का मुख्य अतर बताते हुए कहा कि सबसे महत्त्वपूर्ण फर्क है कि ब्रजभाषा के साधारण पुलिंग सज्ञा शब्द औ या ओकारान्त होते है जैसे मेरौ बेटौ आयौ, या मेरो बेटो आयो, वाने मेरो कह्यो न मान्यो आदि जब कि खडी बोली के शब्द आकारान्त होते हैं।[1] किन्तु आधुनिक ब्रजभाषा तथा प्राचीन ब्रजभाषा दोनो में ही इस नियम के अपवाद मिलते हैं। प्राकृतपैंगलम् में आकारान्त और ओकारान्त दोनो तरह के रूप मिलते हैं। एक ही शब्द कभी ओकारान्त है कभी आकारान्त।

भमरो (१६३।४<भ्रमर), मोरो (१६३।४<मयूर), कामो (१२२।८<काम), णाओ (१।८<नाग) आदि पुलिंग सज्ञा शब्दो का प्रयोग ओकारान्त दिखाई पडता है, किन्तु वुड्ढा (५४५।२<वृद्ध), साथ ही (वुड्ढो ५१२।२), बपुडा, (४०१।३<वापुरा) बेचारा के अर्थ में तथा विशेषण (वका ५६७।३<वक्र) खडी बोली का बाका, दीहरा (३०९।८< दीर्घ) आदि रूप पाये जाते हैं जो आकारान्त हैं।

ऊपर के उदाहरणो से दो विशेषताएँ स्पष्टतया परिलक्षित होती हैं (१) प्राचीन ब्रजभाषा में आकारान्त और ओकारान्त दोनो तरह के पद प्रचलित थे। इन प्रयोगो के आधार पर प्राकृतपैंगलम् में खडी बोली के बीज भी ढूँढे जा सकते है और सभव है लोग इन्हें खडी बोली के प्रयोग कहें, परन्तु मिर्जा खाँ की साक्षी के आधार पर कहा जा सकता है कि ब्रजभाषा में आकारान्त और ओकारान्त दोनो तरह के प्रयोग होते थे। मिर्जा खाँ लिखते है—[2]

---

१ चाटुर्ज्या, भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० १८८।
२ ए ग्रामर ऑव द ब्रजभाषा, शातिनिकेतन, १९३६, पृ० ८७।

पुल्लिग शब्दो मे वे प्राय अन्त मे 'ओ' जोडते हैं जैसे कलूटो। किन्तु बोल-चाल में 'ओ' के स्थान पर 'आ' का प्रयोग करते हैं जैसे कलूटा। केलाग ने भी इस प्रकार की प्रवृत्ति पर ध्यान दिया था। व्रजभाषा की ध्वन्यात्मक विशेषताओ के बारे मे केलाग ने लिखा है

'व्रजभाषा मे पदान्त का 'आ' विशेषणो और क्रियाओ में प्राय 'ओ' दिखाई पडता है किन्तु सज्ञा शब्दो मे प्राकृत का 'ओ' आ ही रह जाता है।'[1] जो हो, ओकारान्त और आकारान्त दोनो तरह के प्रयोग व्रज मे चलते हैं।

§ ११७ दूसरी विशेषता है ओकारान्त प्रयोग। प्राचीन व्रज में अभी तक ओकारान्त पदो का विकास नही हुआ था। सूर और सूर के बाद की व्रजभाषा में प्राय औकारान्त रूप मिलते है। मिर्जा खाँ ने भी सर्वत्र ओकारान्त ही रूप दिये हैं इस पर जियाउद्दीन ने एक टिप्पणी भी दी है, जिसमें इस ओ-कारान्त को बोल-चाल की भाषा की विशेषता बताया है।[2]

§ ११८ व्रजभाषा के सर्वनामो मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वे साधित रूप हैं जो इसे अन्य भाषाओ से भिन्न करते है। खडी बोली के सर्वनामो के तिर्यक रूप जिस, तिस, किस, उस आदि के आधार पर बनते है जैसे जिसने, उसने, जिसको, तिसको आदि। किन्तु व्रजभाषा के तिर्यक् रूप या, वा, जा, ता आदि साधित है अर्थात् व्रजभाषा मे ये रूप वानें, वाको, जाको, ताको आदि बनते है। इस प्रकार खडी बोली मे जब कि साधित-रूप में जिस, तिस, किस, उस का महत्व है व्रज में ता, का, वा, या, जा का। प्राकृतपैगलम् मे इन रूपो के बीज-बिन्दु दिखाई पडते हैं।

(१) कैसे जिविआ ताका पिअला (४०८।४)
(२) ताका जणणि किण थक्कउ वज्झउ (४७०।४)
(३) काहु पअर गेह मज्झणि (५२३।४)
(४) जा अद्धगे पव्वई सीसे गगा जासु

इन सर्वनामो के अलावा जो, सो, तासु, जासु आदि व्रजभाषा के बहुप्रचलित रूपो के प्रयोग भरे पडे है। नीचे कुछ विशिष्ट प्रयोग दिये जाते हैं

(१) हम्मारो दुरिन्ता सहारो (३६१।४ प्रा० पै०)
(२) हमारें हरि हारिल की लकरी (सूर)
(३) गई भवित्ती किल का हमारी (४३५।४ प्रा० पै०)
(४) हमरी बात सुनो व्रजराय (सूर)
(५) उप्पाय होणा हउँ एक्क नारी (४३५।२ प्रा० पै०)

उपमपुण्ण के सर्वनामो के भी बहुत ही विकसित रूप दिखाई पड़ते हैं

(१) किवि तुअ हरिवअ भण (१८४।८)
(२) मोहर तोहर सकट सहर (३११।२)

(३) तुहंइ धुव हम्मीरो (१२७।४)
(४) तुमहि मधुप गोपाल दुहाई (सूर)
(५) तुहुं जाहि सुन्दरि (प्रा० पैं० ४०१.१)
(६) तुव ध्यानहि में हिलि मिलि (दास २६-२६)

तुअ>तुव का प्रयोग ब्रज में बहुत प्रचलित है। इन सभी रूपो की तुलना के लिए देखिए (ब्रजभाषा §§ १६४-१६७)।

निकटवर्ती निश्चयवाचक सर्वनामो के निम्नलिखित रूप महत्वपूर्ण हैं—

(१) ते एन्हि मलयाणिला (प्रा० पैं० ५२८।४)
(२) वारक इनि वीथिन्ह ह्वै निकसे (सूर)
(३) एहु जाण चउमत्ता (३६।४ प्रा०)
(४) इहै सोच अक्रूर पर्‍यो (सूर)
(५) कव देख्यो इति भाँति कन्हाई (सूर)

§ ११९ परसर्गों का प्रयोग नव्य भारतीय आर्यभाषाओ की अपनी विशेषता है। परसर्गो का प्रयोग यद्यपि अपभ्रंश काल में ही आरम्भ हो गया था किन्तु बाद में इनका बहुत विकास हुआ। प्राकृतपैंगलम् में परसर्गो का प्रयोग अपेक्षाकृत कम दिखाई पडता है।

करण कारण-सउँ>सौं

सभुहि **संउ** भण भिंग गण (१९२।२ प्रा०)
नन्दनदन **सौं** इतनी कहिओ (सूर)

अधिकरण—मध्य>मज्झ>मह

आइकल उक्कच्छ **मंह्** लोहगिणि किउ सार (१५०।१ प्रा०)
ज्यो जल **माह्** तेल की गागरि (सूर)

§ १२० ब्रजभाषा में सम्भाव्य वर्तमान का रूप वास्तव में अपभ्रंश के वर्तमान काल का तिङन्त रूप ही है। इन रूपो मे अन्तिम स्वर विवृत्ति (Hiatus) सन्धि प्रक्रिया के अनुसार संयुक्त स्वर मे वदल जाती है। उदाहरण के लिए मारउ का मारौ, मारइ का मारै आदि रूप। ब्रजभाषा में यह रूप वर्तमान काल के इस मूल भाव को प्रकट करता है, किन्तु जब उसे निश्चित वर्तमान का रूप देना होता है तब ब्रजभाषा मे इस तिङन्त रूप के साथ वर्तमान काल की सहायक क्रिया को भी जोड देते हैं। इस प्रकार की प्रक्रिया ब्रजभाषा की अपनी विशेषता है। उदाहरण के लिए हौ मारौ हो, तू मारै है, वह जावै है आदि रूप वर्तमान कृदन्त में सहायक क्रिया लगाकर नही, तिङन्त के रूप में सहायक क्रिया लगाकर बने है। प्राकृतपैंगलम् का एक उदाहरण लीजिए

जह जह वलया **वडइ हइ** तह तह णाय कुणेह (१६२।१)

यहाँ वर्तमान निश्चयार्थ की क्रिया 'वडइ हइ' पर गौर करें। यह रूप ब्रजभाषा में 'वढै है' हो जायेगा। इस तरह के रूप परवर्ती ब्रजभाषा में बहुत प्रचलित दिखाई पडते हैं। प्राचीन खडी बोली और दक्खिनी मे भी ऐसे प्रयोग विरल नही।

'पत्ता-पत्ता बूटा-बूटा हाल हमारा **जाने है**' (मीर)

८—व्रजभाषा की असमापिका क्रियाएँ अपना निजी महत्त्व रखती है। इनकी सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है सयुक्त पूर्वकालिक क्रिया प्रयोग। व्रजभाषा में इस तरह की क्रियाएँ सर्वत्र दिखाई पडती हैं। पूर्वकालिक क्रिया के साथ √कृ का पूर्वकालिक रूप।

भई जुरि कै खरी (सूर)

कछुक दिवस औरो व्रज बसि कै (सूर)

खडी बोली हिन्दी में इसका थोडा भिन्न रूप पहनकर, खाकर आदि में दिखाई पडता है। प्राकृतपैंगलम् के रूप इस प्रकार है

जइ राय विपत्तिउ अणुसर खत्तिउ कट्टि कए वहि छन्द भणौ (३३०।३, ४) 'कट्टिकइ' काट कर का पूर्व-रूप है। व्रजभाषा में 'काटि कौं' हो जायेगा। कै का पूर्वरूप कए भी महत्त्वपूर्ण है। दूसरा उदाहरण देखें—

हय गय अप पसरत धरा गुरु सज्जिकरा (३३०।६)

धरा के तुक पर अतिम शब्द 'कर' का करा हो गया है। 'सज्जिकर' में पूर्वकालिक युग्म का प्रयोग देखा जा मकता है, इसमे 'कर' खडी बोली में आज भी प्रचलित है। इसी तरह 'छक्कलु मुंह सणावि कर' (२५६।४) में भी वही प्रवृत्ति दिखाई पडती है। सदेश-रासक में 'दहेवि करि' रूप से भी इसी प्रवृत्ति का पता चलता है।

व्रजभाषा मे भूतकाल की सामान्य क्रिया में लोगो ने औकारान्त या ओकारान्त की प्रवृत्ति को लक्ष्य किया है। इस तरह के रूप पहले कर्मवाच्य में थे और बाद में ये कर्तृवाच्य मे बदल गये। प्राकृतपैंगलम् में इस प्रकार के कर्मवाच्य रूप मिलते हैं—

(१) लोइहि जाणीओ (५४७।३)

(२) फणिएँ भणीओ (३४८।१)

(३) पिगलें कहिओ (३२३।३)

कर्मवाच्य के ये रूप व्रज में कर्तृवाच्य में बदल गये। प्राकृतपैंगलम् मे कर्मवाच्य रूपो के साथ-साथ कर्तृवाच्य के भी रूप दिखाई पडते हैं

(१) मिहर कपिओ (२६०।१)

(२) नअण झपिओ (२६०।२)

(३) सो सम्माणीओ (५०६।२)

(४) [illegible]

(१) मुहअण मण सुहइ जु जिमि ससि रयणि सोहइ (२६३।३)
(२) विद्यमान विरह-सूल उरमें जु समाति (सूर)
(३) गेंद उछारि जु ताको (सूर)

जु<यत् से विकसित पादपूरक अव्यय प्रतीत होता है।

प्राकृतपैंगलम् की भाषा में ध्वनि और रूप दोनो ही दृष्टियो से प्राचीन ब्रज के प्रयोगो का वाहुल्य है। वाक्य-विन्यास की दृष्टि से तो यह भाषा ब्रज के और निकट दिखाई पडती है। निर्विभक्तिक प्रयोग वर्तमान कृदन्तो का सामान्य वर्तमान मे प्रयोग, सर्वनामो के अत्यत विकसित रूप इसे ब्रजभाषा का पूर्वरूप सिद्ध करते हैं। क्रिया के भविष्य रूप में यद्यपि इस काल तक 'गा' वाले रूप नही दिखाई पडते किन्तु आविह, करिह आदि में 'ह' प्रकार के रूपो का प्रयोग हुआ है। ब्रजभाषा में 'गा' प्रकार के रूप भी मिलते हैं परन्तु 'ह' प्रकार के चलि हैं, करि हैं आदि रूप भी वहुत मिलते हैं।

§ १२२ अवहट्ठ मे लिखे ग्रथो की भाषा का विश्लेषण करते हुए गुजरात के दो प्रसिद्ध कवियो का परिचय दिये बिना यह विवरण अधूरा ही रहेगा। इन रचनाओ में गुजराती के कुछ तत्व भी प्राप्त होते हैं किन्तु मूल ढाँचा शौरसेनी का ही है। १३९० सवत् के आस-पास जिनपद्मसूरि ने थूलिभद्द फागु नामक काव्य लिखा। जिनपद्मसूरि के इस काव्य का कोई निश्चित रचना-सवत् नही मिलता। राहुल साकृत्यायन ने हिन्दी काव्यधारा में इस ग्रन्थ का रचनाकाल १२०० ई० अर्थात् १२५७ सवत् अनुमानित किया है, किन्तु यह अनुमान ठीक नही प्रतीत होता। 'जैन गुर्जर कवियो' के प्रसिद्ध लेखक श्री मोहनलाल दलीचद देसाई ने जिनपद्मसूरि का जन्मकाल १३८२ सवत्, आचार्य–पदवी–प्राप्तिकाल १३९० और मृत्यु १४०० सवत् लिखा है। जो बिलकुल गलत लगता है। सभवत. जन्म सवत् १३८२ में न कहकर वे १२८२ कहना चाहते है। मुनि श्री सारमूर्ति ने सवत् १३९० मे जिनपद्मसूरिरास की रचना की थी। इस रास ग्रथ की रचना उसी वर्ष हुई जिस वर्ष जिनपद्मसूरि का पट्टाभिषेक हुआ।

अमिय सरिस जिनपद्मसूरि पट ठवणह रासू।
सवण जल तुम्हि पियउ भाविय लहु सिद्धिहिं तासू ॥ १ ॥
विक्कम निज सवच्छरिण तेरह सइ नउ एहि
जिट्ठि मास सिय छट्ठि तहि सुह दिण ससि वारेहि
आदि जिणेसर वर भुवणि ठविय नन्दि सुविसाल
धय पडाग तोरण कलिय चउ दिसि वदर वाल ॥ १६ ॥

(जिनपद्मसूरि रास)

इन जिनपद्मसूरि के विषय में 'ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह' में लिखा गया है कि 'प्रसिद्ध सोनडकुल के लक्ष्मीधर के पुत्र अवाशाह की पत्नी की कुक्षि-सरोवर से उत्पन्न राजहस के सदृश पद्मसूरिजी को स० १३८९ ज्येष्ठ शुक्ला षष्ठी सोमवार को ध्वजा पताका तोरण वदन मालादि से अलकृत आदीश्वर जिनालय में नान्दिस्थापन विधि साथ श्री सरस्वती-कठाभरण [illegible]भाचार्य (षडावश्यक बालावबोधकर्ता) ने जिन कुशलसूरिजी के पद पर स्थापित कर

जिनपद्मसूरि नाम प्रसिद्ध किया।[1] इससे मालूम होता है कि श्री जिनपद्मसूरि १३८९ के आस-पास विद्यमान थे, अत थूलिभद्द फागु का रचनाकाल इसी सवत् के आस-पास मानना ज्यादा उचित होगा। थूलिभद्द काव्य श्री मुनि जिनविजयजी द्वारा सम्पादित प्राचीन गुर्जर काव्य सग्रह मे सकलित है। परवर्ती अपभ्रश मे लिखी इस रचना की भाषा में गुजराती प्रभाव अवश्यभावी है, किन्तु सामान्यत इसमे व्रजभाषा की प्रवृत्तियाँ भी स्पष्ट दिखाई पडती हैं। मुनि स्थूलिभद्र पाटलिपुत्र में चातुर्मास व्यतीत करने के लिए रुकते हैं, वहाँ एक वेश्या उन्हें लुब्ध करने के लिए नाना प्रकार के प्रयत्न करती है। लेखक ने वेश्या के साज-शृङ्गार और सौंदर्य का वर्णन इस भाषा मे किया है

> काजलि अजिवि नयन जुय सिरि सथउ फाडेइ
> बोरियाडिडि काचुलिय उर मडलि ताडेइ ॥१३॥
> कन्नु जुयल जसु लहलहत किर मयण हिंडोला
> चन्चल चपल तरग चग जसु नयण कचोला
> सोहइ जासु कपोल पालि जणु गालि मसूरा
> कोमल विमल सुकठ जासु वाजइ संखतूरा ॥ १४ ॥
> लवणिम रसभरि कूवडीय जसु नाहिय रेहइ
> मयणराइ किर विजयखंभ जसु उरू सोहइ
> जसु नव पल्ला कामदेव अकुस जिम राजइ
> रिमझिम रिमझिम पाय कमलि घाघरिय सुवाजइ ॥ १५ ॥
> नव जोवन विहसति देह नव नेह गहिल्ली
> परिमल लहरिहि मडमयत रइ केलि पहिल्ली
> अहर बिंब परवाल खण्ड वर चपा वन्नी
> नयन सलूणिय हाव भाव बहुगुण सम्पुन्नी ॥ १६ ॥
> इणि सिणगारि करेवि वर जव आइ मुणि पासि
> जो एवा कउतिग मिलिय सुर किंनर आकासि ॥१७॥

भाषा की दृष्टि से सरलीकृत काजलि<कज्जल, काचुलिय<कच्चुलिय, वाजइ<वज्जइ, घाघरिय<घग्घर (देशीनाम माला) आदि शब्द, निर्विभक्तिक कारक प्रयोग, जस, जासु, जो आदि सर्वनाम जिम तिम क्रिया विशेषण, अति विकसित अपभ्रश के तिङन्त रूप तथा लहलहत, विहसति आदि कृदन्त का सामान्य वर्तमान में प्रयोग, और भूत कृदन्तों के स्त्रीलिंगी सम्पुन्नी, वन्नी, गहिल्ली, आदि रूप भूतकाल के कृदन्त निष्ठा का स्त्रीलिंग 'आई' रूप, तत्सम शब्दो की अति बहुलता आदि विशिष्टताएँ इस भाषा को पूर्ववर्ती अपभ्रश से काफी दूर और व्रज के निकट पहुँचाती है।

हिंडोला, कचोला, मसूरा, संखतूरा, आदि प्रयोगों को देखने से यद्यपि खडी बोली का भी आभास होता है पर ये प्रयोग व्रज में भी चलते हैं।

---

[1] ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, अगरचन्द नाहटा और भंवरलाल नाहटा, कलकत्ता संवत् १९९४, पृ० १८-१९।

§ १२३ दूसरे कवि है श्री विनयचन्द्र सूरि जिन्होने **नेमिनाथ चौपई** का निर्माण नवत् १३२५ के आस-पास किया। श्री राहुल साकृत्यायन ने इनका काल अनुमानत १२०० ईस्वी रखा है।[1] श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई १४वी शती मानते हैं। क्योकि इनका विक्रमी १३२५ का लिखा 'पयूषणा कल्प सूत्र' का निरुक्त प्राप्त होता है। इनका काव्य नेमिनाथ चतुष्पदिका भी मुनि जिनविजय-सम्पादित प्राचीन गुर्जर काव्य-सग्रह मे सपूर्ण सकलित है। भाषा के परिचय के लिए नीचे एक अश उद्धृत किया जाता है

पोसि रोसि सवि छोड़यि नाह, राखि राखि मइ मयणह पाह
पडइ सीव नवि रयनि विहाइ, लहिय छिइ सखि दुक्ख अमाइ ॥ १७ ॥
नेमि नेमि तू करती मुद्धि, जुव्वण जाइ न जाणसि सुद्धि
पुरिस रयण भरियउ ससारु, परणु अनेरस कुइ भत्तारु ॥ १८ ॥
भोली तउ सखि खरी गमारि, वारि अछतइ नेमि कुमारि
अन्नु पुरिस कुइ अप्पणु नढइ, गइवरु लहइ कुरासमि चढइ ॥ १९ ॥
माह मासि माचइ हिम रासि, देवि भणइ मइ प्रिय हइ पासि
तणु विणु सामिय दहइ तुसारु, नव नव मारहिं मारइ मारु ॥ २० ॥
इहु ससि रोइसि सहू अरन्नि, हत्थि कि जामइ धरणउ कन्नि
तऊ न पतीजसि माहरि माइ, सिद्धि रमणि रत्तउ नमि जाइ ॥ २१ ॥
कति वसतइ हियड़ा माहि, वाति पहीजउ किमहि लसाइ
सिद्ध जाइ तउ कोइ त वीह, सरसी जोउत उगर्सेण धीय ॥ २२ ॥

छोडवि<छड्डवि, राखि<रक्ख, गमारि<गम्मारि, माहि<मज्झि, वाति<वत्ति< वृत्त, उगर्सेण<उग्गसेण<उग्रसेण आदि सरलीकृत प्रयोगो के साथ ही तणु, रत्तउ ससारु, अनेरसु, मारु आदि—उ—प्रधान रूप, मइ, तू, अप्पणु>अपनो (ब्रज) तथा भूत निष्ठा के भरियउ>भर्यो (ब्रज) कृदन्त वर्तमान करती>करति (ब्रज) तथा अनेक तिङन्त तद्भव रूप खरी, भोली गमारि>गवारि (ब्रज) भतारु, सुद्धि>सूधि (ब्रज) आदि शब्द तथा क्रिया रूप अमाइ, पतीजसि, विहाइ, तथा क्रिया विशेषण तउ>तो (ब्रज) विणु आदि इस भाषा को प्रत्यक्ष प्राचीन ब्रज सिद्ध करने लिए पर्याप्त हैं।

परवर्ती अपभ्रश की ओर भी अनेक रचनाएँ ब्रजभाषा के विकास के विश्लेषण मे सहायक हो सकती है। पूर्वी प्रदेश में लिखी गयी रचनाओ मे 'बौद्धगान ओ दोहा' का महत्त्व निर्विवाद है। सिद्धो की रचनाओ में दोहा कोश तो नि सन्देह पश्चिमी अपभ्रश में है।

---

१ हिन्दी काव्यधारा, प्रयाग, १९४५, पृ० ४२८-३२।

२ आचार्यहता। तेणणो स० १३२५ मा पर्यूषणा कल्पसूत्र पर निरुक्त रचेन छे। तेमना गुरु रतनसिंह सूरि अे तपगच्छमा थयेला सैद्धान्तिक श्री मुनिचन्द्र सूरिना शिष्य हता जे विक्रम तेरहमी सदी मा विद्यमान हता। तेमणे टीका पुद्गल-षट्त्रिंशिका निगोद षट्त्रिंशिका आदि ग्रथो रचेना छे।

—जैन गुर्जर कवियो, पाद टिप्पणी, पृ० ५।

किन्तु चर्यागीत की भाषा अन्त प्रवृत्ति की दृष्टि से अवहट्ठ या परवर्ती अपभ्रंश से साम्य रखते हुए भी पूर्वी प्रयोगों से अत्यन्त रगी हुई है।

१२वीं से १४वीं काल की भाषा की विवरण-तालिका में मैंने पश्चिमी राजस्थानी का जिक्र किया है। इस भाषा की पुष्कल सामग्री प्रकाशित हो चुकी है। और बहुत-सी अप्रकाशित अवस्था में जैन भाडारों में सुरक्षित हैं। इस भाषा का अत्यत वैज्ञानिक परिचय डॉ० तेस्सीतोरी ने अपने निबन्ध प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में प्रस्तुत किया जो सन् १९१४–१६ के बीच इण्डियन ऐंटिक्वेरी में प्रकाशित हुआ। इस भाषा में भी हम प्राचीन ब्रजभाषा के कुछ समता-सूचक तत्त्व प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु इसे प्रमुख ढाँचे के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

पिंगळ या ब्रजभाषा की चारण शैली—

§ १२४ पिंगल भाषा का किंचित् रूपादर्श प्राकृतपैंगलम् के फुटकल पदों में दिखलाई पड़ता है किन्तु इसका सबसे महत्त्वपूर्ण और गौरव-ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो है। ईस्वी सन् १८७६ में जब डॉ० बूलर को पृथ्वीराज की विजय की प्रति उपलब्ध हुई और उसे अधिक ऐतिहासिक मानकर उन्होंने रॉयल एशियाटिक सोसाइटी को पत्र लिखकर रासो का प्रकाशन स्थगित करा दिया, तब से आज तक किसी-न-किसी रूप में कई विद्वानों ने ऐतिहासिक, भाषा-शास्त्रीय, सांस्कृतिक आदि आधारों पर इस ग्रंथ की प्रामाणिकता पर ऊहापोह की, बहस की और खडन-मडन की अजस्र धारा में इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को मात्र जाली कहकर तिलाजलि दे देने का संदेश भी दिया। कर्नल टाड[१], डॉ० बूलर[२], डॉ० मारिसन[३], डॉ० ओझा[४] तथा डॉ० दशरथ शर्मा[५] जैसे कुछ विद्याव्यसनी व्यक्तियों के प्रयत्नों से इस ग्रन्थ का सही विवेचन भी हुआ और इसके विवादास्पद प्रसगों की क्रमिक जाँच भी होती रही। डॉ० बूलर ने पृथ्वीराज विजय की घटनाओं को ऐतिहासिक माना क्योंकि वे सन् ९१३ ईस्वी से ११६८ ईस्वी तक की प्रशस्तियों में सूचित घटनाओं से मिलती थी। पृथ्वीराज विजय में पृथ्वीराज को सोमेश्वर और कर्पूर देवी का पुत्र कहा गया है, ये कर्पूर देवी चेदिदेश के राजा की कन्या बतायी गयी हैं जब कि पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज को अनगपाल की पुत्री से उत्पन्न कहा गया है। पृथ्वीराज विजय की बातें पृथ्वीराज के लेखों से साम्य रखती हैं। इन्हीं सब ऐतिहासिक विषमताओं को देखते

हुए डॉ० बूलर ने पृथ्वीराज रासो को परवर्ती कहकर इसका प्रकाशन रोक दिया था। पृथ्वीराज रासो को एकदम परवर्ती सिद्ध करते हुए प० मोतीलाल मेनारिया ने इसे सवत् १७०० के आस-पास का जाली ग्रथ बताया है।[1] मेनारिया के इस तर्क का सबसे बडा आधार राणा राजसिंह (स० १७०९–३७) की 'राजप्रशस्ति' में रासो का उल्लेख है जिसमे इस ग्रथ की सर्वप्रथम सूचना मिलती है। राजप्रशस्ति का उक्त श्लोक इस प्रकार है

दिल्लीश्वरस्य चोहाननाथस्यास्य सहायकृत्
स द्वादशसहस्रै स्ववीराणां सहितो रणे
बध्वा गोरिपतिं दैवात् स्वर्यात सूर्यबिम्बमित्
भाषा रासा पुस्तकेऽस्य युद्धस्योक्तोऽस्ति विस्तर.

(तृतीय सर्ग २६।२७)

इस श्लोक से ऐसा तो नही प्रतीत होता कि रासो इसी समय लिखा गया जैसा मेनारियाजी का मत है। 'राजप्रशस्ति के लिए इतिहास-सामग्री एकत्र करवाने में महाराणा राजसिंह ने बहुत व्यय किया था। इसी समय चन्द्र का कोई वशज अथवा उसकी जाति का कोई दूसरा व्यक्ति रासो लिखकर सामने लाया प्रतीत होता है। यदि वह व्यक्ति रासो को अपने नाम से प्रचारित करता तो लोग उसे प्राचीन इतिहास के लिए अनुपयोगी समझते और उसमें वर्णित बातें उसे सप्रमाण सिद्ध भी करनी पडती अत चन्दरचित बताकर उसने सारे झगडे का अन्त कर दिया।'[2]

श्री मेनारिया का यह कथन न केवल निराधार और असगत है बल्कि ऊपर के श्लोक का सही अभिप्राय समझने में बाधक भी है। इतिहास-सामग्री की खोज करनेवाले इतने असावधान तो नही होते कि किसी मामूली जाली काव्य बनानेवाले की बात स्वीकार कर लेते। इस श्लोक से तो स्पष्ट मालूम होता है कि स० १७०० तक भी रासो काव्य का यश धूमिल नही पडा था और पृथ्वीराज-गोरी के युद्ध सम्बन्धी विवरण के लिए वह प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता था। राजप्रशस्ति प्रस्तर की शिलाओ पर लिखी गयी जिसमें 'भाषा रासा' का नाम अमिट रह गया, बाकी जो इतना दृढ और सबल न था, इतिहास की बलवती धारा में बह गया। केवल इस आधार पर कि रासो का पहला उल्लेख १७०० में मिलता है, इसलिए यह १७०० का काव्य है, बिलकुल अनुचित और शीघ्रताजन्य निष्कर्ष है। इतने उच्च स्तर का काव्य लिखनेवाला केवल ग्रन्थ को राजप्रशस्ति में इतिहास-प्रमाण-योग्य समझे जाने के लिए अपना नाम छोडकर किसी प्राचीन चन्द का नाम क्यो जोडेगा, वह भी १७वी शताब्दी में।

डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने १९२८ में 'पृथ्वीराज रासो का निर्माण काल शीर्षक' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गवेषणात्मक निबन्ध लिखा। इसमे डॉ० बूलर के ऐतिहासिक पत्र, जो १८९३ ईस्वी में रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की 'प्रोसीडिंग्ज' में प्रकाशित हुआ, तथा उसके बाद के अनेक पक्ष-विपक्ष में लिखे गये रासो सम्बन्धी विचारो को दृष्टि में रखकर ओझा-जी ने बडे परिश्रम के साथ इस विशाल ग्रन्थ का परीक्षण किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे

१ प० मोतीलाल मेनारिया—राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ९०–९६।
२ वही, पृ० ९६।

कि "पृथ्वीराज रासो वि० स० १६०० के आस-पास लिखा गया। वि० स० १५-१७ की प्रशस्ति में रासो की घटनाओं का उल्लेख नहीं है। रासो की सबसे पुरानी प्रति १६४२ की मिली है, जिसके बाद यह ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हो गया, यहाँ तक कि विक्रमी सवत् १७३८ की राजप्रशस्ति में रासो का स्पष्ट उल्लेख है, यह भी नहीं कहा जा सकता कि पहले पृथ्वीराज रासो का मूल ग्रन्थ वर्तमान परिमाण से बहुत छोटा था क्योंकि आज से १८५ वर्ष पहले उसी के वशज कवि यदुनाथ ने उसका १०५,००० श्लोकों का होना लिखा है, पृथ्वीराज रासो को प्राचीन सिद्ध करने की जो युक्तियाँ दी जाती हैं वे निराधार है।"[1] ओझाजी का यह निष्कर्ष तत्कालीन प्राप्त सामग्री के आधार पर पूर्णत सगत और युक्तिपूर्ण था किन्तु ओझा निबन्ध सग्रह के सम्पादक डॉ० दशरथ शर्मा के मत से कई तरह के तथ्यों का समुचित रूप से उल्लेख उस निबन्ध की विशेषता है, किन्तु जिस समय यह लेख प्रकाशित हुआ, रासो का केवल एक रूपान्तर ज्ञात था। अब पाँच रूपान्तर प्राप्त हैं। पुरातन प्रबन्ध सग्रह में उद्धृत अपभ्रंश के उद्धरणों से यह भी ज्ञात होता है कि रासो किसी समय अपभ्रंश काव्य के रूप में वर्तमान रहा होगा। रासो का उस समय समुचित अध्ययन भी न हुआ था। उसका अर्थ अनर्थ करने के लिए केवल रासो सार ही प्राप्त था, उन्हीं कारणों से ओझाजी की सब उक्तियाँ अब सर्वमान्य न रहीं।[2]

पुरातन प्रबन्ध सग्रह के चार छप्पयों ने रासो की भाषा को परवर्ती या नयी प्रमाणित करनेवालों की अटकलबाजियों को निर्मूल तो सिद्ध कर ही दिया, साथ ही इस ग्रन्थ के किसी-न-किसी रूप में प्राचीनतर होने की स्थापना को बल दिया। सवत् १५२८ की प्रति के आधार पर मुनि जिनविजय-द्वारा सम्पादित इस सग्रह के पृथ्वीराज प्रबन्ध में तीन ऐसे छन्द आते हैं जो विकृत अवस्था में रासो के तीन छन्दों से पूर्ण साम्य रखते हैं। इस साम्य को देखते हुए मुनि जिनविजयजी ने लिखा कि 'कुछ पुराविद् विद्वानों का यह मत है कि वह ग्रन्थ समूचा ही बनावटी है और सत्रहवीं सदी के आस-पास बना हुआ है। यह मत सर्वथा सत्य नहीं है। इस सग्रह के उक्त प्रकरणों में जो ३-४ प्राकृत भाषा पद्य पृ० ८६, ८८-८९ पर उद्धृत किये हुए मिलते हैं उनका पता हमने उक्त रासो में लगाया है। और इन चार पद्यों में से तीन पद्य, यद्यपि विकृत रूप में लेकिन शब्दश उसमें हमें मिल गये है। इससे यह प्रमाणित होता है कि चन्द कवि निश्चिततया एक ऐतिहासिक पुरुष था और दिल्लीश्वर हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज का समकालीन और उसका सम्मानित और राज कवि था। उसने पृथ्वीराज के कीर्तिकलाप का वर्णन करने के लिए देश्य प्राकृतभाषा में एक काव्य की रचना की थी जो पृथ्वीराज रासो के नाम से प्रसिद्ध हुई जिस तरह अनुभवी परीक्षक परिश्रम करके, ढेर पड़े मोतियों में से मुट्ठी-भर सच्चे मोतियों को अलग छाँट सकता है, उसी तरह भाषा के मर्मज्ञ विद्वान् इन लाख बनावटी श्लोकों में से उन अल्पसंख्यक सच्चे पद्यों को भी अलग निकाल सकता है।[3]

मुनिजी के इस सद्प्रयत्न के कारण लोगो को रासो के किसी-न-किसी रूप की प्राचीनता मे विश्वास करने का आधार मिला। मूल रासो अपभ्रंश के परवर्ती रूप में लिखा काव्य रहा होगा, उसकी लोकप्रियता उसकी वस्तु और भाषा दोनो के विकास का कारण हुई। इधर लघु और बृहद् दो रूपो की बात होने लगी है। अब तक इस प्रकार के रूपान्तरो की चार परम्पराएँ निश्चित की गयी हैं। बृहद् रूपान्तर की ३३ प्रतियाँ, मध्यम की ११, लघु की ५ और लघुतम की २ प्राप्त हुई हैं। इन प्रतियो का सम्यक् विश्लेषण करने के बाद पाठ-विशेषज्ञ डॉ० माताप्रसाद गुप्त इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि बृहद् तथा मध्यम मे ४९ स्थानो में से केवल १६ स्थानो पर बलाबल सम्बन्धी समानता है। शेष स्थानो पर विषमता है। वृहद् और लघु में ४६ स्थानो में केवल ५ स्थानो पर समानता है, शेष स्थानो पर विषमता है। और मध्यम तथा लघु में ५१ स्थानो में से केवल २४ स्थानो पर विषमता है। यदि वृहद् से मध्यम या बृहद् से लघु या मध्यम से लघु का सक्षेप हुआ होता तो तीन मे से किन्ही भी दो पाठो में इस प्रकार की विषमता न होती। इसलिए यह अनुमान निराधार है कि लघु और मध्यम वृहद् का अथवा लघु मध्यम का सक्षिप्त रूपान्तर है।[1] लघुतम प्रतियाँ स्वतत्र हैं, यह विचार पुष्ट होता है, यदि इनमे से कोई प्राचीन प्रति मिले तो उसके विषय में कुछ विश्वस्त भी हुआ जा सकता है। किन्तु जब तक कोई प्रामाणिक सस्करण प्राप्त नही होता तब तक रासो की भाषा का सामान्य अध्ययन भी कम महत्व की वस्तु नही। इधर हाल में कविराज मोहन सिह के सम्पादकत्व में साहित्य सस्थान उदयपुर से पृथ्वीराजरासो का प्रकाशन आरम्भ हुआ है।[2] इस ग्रन्थ के सम्पादक ने देवलिया तथा बीकानेर की लघु प्रति के 'पचसहस्स' शब्द से रासो की सख्या को पाँच सहस्र मानकर असली रासो का पता लगाने के लिए एक तरीका निकाला है। रासोकार ने स्वरचित छन्दो के विषय में लिखा है

छद प्रबन्ध कवित्त जति साटक गाह दुहत्थ
लघु गुरु मडित खडि यहि पिंगल अमरभरत्थ

अर्थात् इसमे कवित्त, साटक, गाह (गाथा), दुहत्थ (दोहा) छन्दो का प्रयोग हुआ है। सम्पादक ने इस प्रमाण के आधार पर 'पच रहस्स' सख्या को सीमा मानकर वास्तविक रासो का निर्णय करने का प्रयत्न किया है। जाहिर है कि यह रास्ता अत्यन्त खतरनाक और अनुमान को उचित से अधिक सही मानने के कारण लक्ष्यभ्रष्ट करने वाला है। पच सहस्र से ज्यादा पद यदि इन्ही छन्दो में मिले तो फिर ऐतिहासिक घटनाओ का वही ऊहापोह, वही विवाद।

रासो की भाषा—

§ १२५ रासो की भाषा प्राचीन व्रज या पिंगल कही जाती है। हिन्दी के सर्वप्रथम इतिहासकार गार्सां द तासी ने रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के हस्तलिखित प्रति के फारसी

---

१ पृथ्वीराजरासो के तीन पाठो का आकार सम्बन्ध, हिन्दी अनुशीलन वर्ष ७, अक ४, १९५४ ई०।

२ अब तक रासो के दो भाग प्रकाशित हो चुके है। प्रकाशक साहित्य सस्थान उदयपुर, १९५५ ई०।

शीर्षक को उद्धृत करते हुए लिखा है कि इस शीर्षक 'तारीख पृथुराज वजवान पिंगल तसनीफ कर्ता कवि चन्द वरदाई' का आशय है, पृथुराज का इतिहास पिंगल जवान में, रचयिता चन्द वरदाई।[1] गार्सा द तासी १२वी से आजतक के हिन्दी साहित्य को 'हिन्दुई साहित्य' कहते हैं और प्राचीन हिन्दुई को व्रज के सबसे निकट बताते हैं। 'व्रजप्रदेश की खास बोली व्रजभाषा उन आधुनिक बोलियों में से है जो पुरानी हिन्दुई के सबसे अधिक निकट है। हिन्दुई के महत्त्व का अनुमान १२वीं शताब्दी में लिखित चन्द के रासो काव्य से किया जा सकता है जिससे कर्नल टाड ने एनल्स ऑव राजस्थान की सामग्री ली।[2] तासी जब व्रजभाषा बोली की चर्चा करते हैं तो उनका मतलब व्रजप्रदेश की बोल-चाल की भाषा से नही बल्कि सूरदास आदि की कविता की भाषा से है। इस भाषा को वह पुरानी हिन्दुई यानी १२वी शती के रासो की भाषा के सबसे निकट मानते हैं। डॉ० तेसीतोरी पिंगल अपभ्रंश के परिचय के सिलसिले में कहते हैं कि उसकी भाषा (प्राकृतपैंगलम् की) उस भाषा-समूह का शुद्ध प्रतिनिधि नही है जिससे पश्चिमी राजस्थानी उत्पन्न हुई। प्राकृतपैंगलम् की भाषा की पहली सन्तान पश्चिमी राजस्थानी नही बल्कि भाषा का वह विशिष्ट रूप है जिसका प्रमाण चन्द की कविता में मिलता है जो भलीभाँति प्राचीन पश्चिमी हिन्दी कही जा सकती है।'[3] जॉर्ज ग्रियर्सन चन्द के रासो को व्रजभाषा की आदि रचना बताते हैं और चार सौ वर्ष बाद होनेवाले सूरदास को व्रज का दूसरा कवि।[4] यह। ग्रियर्सन भी रासो की भाषा को व्रजभाषा का प्रारंभिक रूप ही स्वीकार करते हैं। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या पृथ्वीराज रासो की भाषा को पश्चिमी हिन्दी (व्रजभाषा) का आरंभिक रूप मानते हैं, किन्तु इस भाषा को रूढ और साहित्य शैली की भाषा स्वीकार करते हैं। रासो के बारे में वे लिखते हैं 'इसके मुख्य उपादान तो पश्चिमी अपभ्रंश के हैं साथ-ही-साथ आद्य पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी और पंजाबी बोलियों का पुट मिला दिया गया है। यह जनभाषा नही थी।' डॉ० धीरेन्द्र वर्मा रासो की भाषा को प्रधानतया व्रज कहते हैं, 'यद्यपि ओजपूर्ण शैली को सुसज्जित करने के लिए प्राकृत अथवा प्राकृताभास स्वतंत्रता के साथ मिश्रित कर दिये गये हैं। पृथ्वीराजरासो मध्यकालीन व्रजभाषा में ही लिखा गया है, पुरानी राजस्थानी में नही जैसा कि साधारणतया इस विषय में माना जाता है।'

पर यह तो नही कहा जा सकता कि रासो की भाषा एकदम नयी है या उसमें पुरानी भाषा के तत्व नही हैं। रासो की भाषा में नवीनता लाने का 'सद्प्रयत्न' प्रक्षेपको ने अवश्य किया है, किन्तु उसमें प्राचीन भाषिक तत्व भी प्रचुर हैं।

§ १२७ रासो की प्राचीन भाषा कैसे नवीन रूप लेती रही है इसका किंचित् आभास 'पुरातन प्रबन्ध सग्रह' के तीन छप्पयो और नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित रासो के उन्ही छप्पयो की भाषा के परस्पर तारतम्य से मिल सकता है। नीचे इन छप्पयो की भाषा का तुलनात्मक ध्वनि-विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है

पुरातन प्रबन्ध सग्रह का पहला छप्पय—

इक्कु बाणु पुहुवीसु जु पइ कइंबासह मुक्कओ
उर भिंतरि खडहडिउ धीर कक्खतरि चुक्कउ।
बीअं करि संधीउ भमइ सूमेसरनंदण।
एहु सु गडि दाहिमओ खणइ खुद्दइ सइंभरि वणु।
फुड छंडि न जाइ इहु लुब्भिउ वारइ फलकउ खल गुलह
न जाणउ चंद बलद्दिउ किं न वि छुट्टइ फलह॥

(पृ० ८६, पद्यांक २७५)

रासो का छप्पय—

एक बान पहुमी नरेश कैमासह मुक्यौ
उर उप्पर थरहर्यो वीर कष्पतर चुक्यौ
बियौ बान संधान हन्यौ सोमेसर नन्दन
गाढौ करि निग्रह्यौ षनिव गाड्यौ संभरिधन
थल छोरि न जाइ अभागरो गाड्यौ गुन गहि अग्गरो
इम जंपै चंद वरद्दिया कहा निघट्टै इह प्रलौ॥

(रासो पृ० १४६६, पद्य २३६)

पुरातन प्रबन्ध का दूसरा छप्पय—

अगहु म गहि दाहिमओ रिपुराय खयंकरु
कूडु मंत्रु मम ठवओ एहु जंबूय मिलि जग्गरु
सह नामा सिक्खवउ जइ सिक्खविउ बुज्झइ
जंपइ चंदबलिद्दु मज्झ परमक्खर सुज्झइ
पहु पहुविराय सइंभरिधणी सयंभरि सउणइ संभरिसि
कइंबास विआस विसिट्ठ विणु मच्छिबंधि बद्धओ मरिसि

(वही पृ० पद्यांक २७६)

रासो का छप्पय—

अगह मगह दाहिमौ देव रिपराइ खयंकरु
कूरमत जिन करौ मिले जबूवै जगर
मो सह नामा सुनौ एह परमारथ सुज्झै
अक्खै चद बिरद्द बियौ कोइ एहु न बुज्झै
प्रथिराज सुनवि समरि धनी इह समलि
कैमास वलिष्ट वसीठ विन म्लेच्छ वध वधो मरिस

(रासो पृ० २१८२, पद्य ४७६)

पुरातन प्रवन्ध का तीसरा छप्पय—

त्रिन्हि लक्ष तुषार सवल पाखरी अइ जसु हय
चउदसय मयमत्त दति गज्जति महामय
वीस लक्ख पायक्क सफर फारक्क धणुद्धर
ल्हूसडू अरु वलु यान सक कुजाणइ ताह पर
छत्तीस लक्ष नराहिवइ विहि विनडियो हो किम भयऊ
जइ चंद न जाणउ जल्हुकइ गयउ कि मूअ कि घरि गयउ ॥

(पृ० ८८, पद्याक २८७)

रासो का छप्पय—

असिय लक्ख तोषार सजउ पक्खर सायद्दल
सहस हस्ति चौसट्ठि गरुअ गज्जत महामय
पच कोटि पाइक्क सुफर फारक्क धनुद्धर
जुध जुधान वर वीर तोर वधन सद्धनभर
छत्तीस सहस रन नाइवौ विहि त्रिम्मान ऐसो कियौ
जे चन्द राइ कवि चन्द कह उदधि बुड्डि कै धर लियौ ॥

(रासो पृ० २५०२, पद्य २१६)

तीसरे पद से स्पष्ट है कि केवल सेना की सख्या ही 'त्रिण्हि' यानी तीन लक्ष से 'असी लक्ख' नहीं हो गयी बल्कि भाषा भी कम-से-कम सौ वर्ष का व्यवधान मिटा कर नये रूप में सामने आयी।

§ १२८ प्राचीन छप्पयों की भाषा में सर्वत्र उद्वृत्त स्वरों को सुरक्षित रखा गया है जब कि रासो के छप्पयों में विवृत्ति मिटाकर संयुक्त स्वर कर दिये गये हैं। यथा—

गहगहिउं > गहगयौ (पाठान्तर), चुक्कउ > चुक्यौ, कइवासह

ब्रजभाषा के वर्तमान तिङन्त और भूतनिष्ठा के ऐ-कारान्त और औ-कारान्त रूपो के निर्माण में दिखाई पड़ता है।

§ १२९ प्राचीन छपदो मे उद्वृत्त स्वर सर्वत्र सुरक्षित है। कही-कही उन्हें संयुक्त स्वर मे परिवर्तित भी किया गया है, किन्तु यह परिवर्तन अउ>औ के बीच की स्थिति 'अओ' की सूचना देती है।

मुक्कओ (अप० मुक्कउ) = मुक्यौ

दाहिमओ (अप० दाहिनउ) = दाहिमौ

ठवओ (अ० ठवियउ) = ठयौ

वद्धओ (अप० वद्धउ) = वधौ

विनिडओ (अप० विनिडउ) = विनडयौ

यहाँ प्राचीन छपदो की भाषा में ओ-कारान्त (भूतनिष्ठा) की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। प्राकृतपैंगलम् की भाषा में सर्वत्र प्राय ओ-कारान्त ही रूप मिलते हैं या तो अपभ्रंश की तरह विवृत्तिवाले 'अउ' के रूप। प्राकृतपैंगलम् के उदाहरण पीछे टिप्पणी में देखे जा सकते हैं। लगता है १२वीं-१४वी तक औकारान्त रूपो का विकास नही हुआ था, यह अवस्था सदेशरासक की भाषा में भी देखी जा सकती है।

§ १३० पिंगल में नव्य भारतीय आर्यभाषाओ की प्रमुख प्रवृत्ति यानी सरलीकरण का भी प्रभाव पड़ा है। प्राचीन छपदो की भाषा मे बहुत से रूप अपभ्रंश की तुलना में सरलीकृत कहे जा सकते हैं, किन्तु बहुत से रूपो मे व्यंजन द्वित्व सुरक्षित हैं जो बाद की छपदो की भाषा में सरल कर लिया गया है।

इक्कु (अप० एक्कु)>एक
विसट्ठ (अप० वसिट्ठ)>वसीठ
परमक्खर (अप०) परमां (रय)

प्राचीन पद मे पाखरो सरलीकृत रूप है जब कि नये में पक्खर कर लिया गया है।

§ १३१ व्यजन द्वित्व (Simplyfication of Inter Vocalic Scunds) के प्रयोग भी मिलते हैं। चारण कवि का उद्देश्य युद्धोन्माद या शस्त्र ग्रहण की उत्तेजना का सचार होता था इसीलिए वह शब्दो के अर्थ की अपेक्षा उसके उच्चारणगत ध्वनि या गूंज की ओर अधिक ध्यान देता था। इसके लिए वह अनावश्यक द्वित्व का प्रयोग निर्विकार भाव से करता था। वस्तुत उसका यह एक कौशल हो गया था। अमृतध्वनि और छप्पय छन्दो तथा त्रोटक आदि वर्णवृत्तो मे वह इस कौशल का पूरा उपयोग करता था।

(१) पायक्क (<पादक<पदानिक)
(२) फारक्क (फारक)
(३) अग्गरो<आगर<आकर

नये पदो में पायद्दल<पयदल, त्रिम्मान<विमान या विमान आदि रूप मिलते हैं। [illegible] में तो [illegible] थी।

§ १३२ व>म

व का म परिवर्तन द्रष्टव्य है—

पुहुवीम>पुहुमीस (पृथ्वीश)

कइवासह>कइमासह (कदम्बवास)

ग्रियर्सन ने अलीगढ़ की, व्रजभाषा में व>म परिवर्तन लक्ष्य किया था। मनामन<मनावन (हिन्दी) बामन<बावन (हिन्दी) रोमति<रोवति।[1] अपभ्रंश में ऐसे प्रतिरूप मिलते थे।

मन्मथ>वम्मह

प्राचीन छपदों में प्रयुक्त ण ध्वनि नवीन छपदो मे सर्वत्र 'न' कर दी गयी है। बाण>बान, नदण>नदन, सइभरिघणु>सभरिधन आदि। व्रजभाषा में ण का न हो जाता है। वस्तुत व्रज में ण ध्वनि पूर्णत लोप हो चुकी है (देखिए, व्रजभाषा § १०५)।

इस प्रकार ध्वनि विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हैं कि रासो के पुराने पदो की भाषा १३वीं-१४वीं की भाषा है। जो लोग इसे एकदम अपभ्रंश कहते हैं वे इसके रूप तत्व की नवीन अग्रसरीभूत भाषा-प्रवृत्तियो पर ध्यान नही देते जो परसर्ग, विभक्ति, क्रियारूपो और सर्वनामो की दृष्टि से काफी विकसित मालूम होती है। दूसरी ओर रासो का जो वर्तमान रूप प्राप्त है उसकी भाषा से पुराने छपदो की भाषा का सीधा सबध है। परवर्ती भाषा इसी का विकास है जो सूर आदि की भाषा से पुरानी है और उसमें १३वी-१४वी के भी बहुत से रूपो को सुरक्षित किये हुए हैं।

पृथ्वीराज रासो की भाषा की मुख्य विशेषताओ का उल्लेख आवश्यक है।[2]

ध्वनि सम्बन्धी विशेषताएँ—ध्वनि सम्बन्धी कुछ विशेषताओ का पुरातन प्रबन्ध के छपदों की भाषा के सिलसिले में उल्लेख हो चुका है। कुछ अन्य नीचे दी जाती हैं।

§ १३३ रासो की भाषा तत्सम-प्रयोगो के अलावा अन्य शब्दो में प्रयुक्त ऋ का परिवर्तन अ, इ, ए आदि में होता है अमृत>अमिय, कृत>किय, हृदय>हिय, मृत्यु>मीचु आदि। यह प्रवृत्ति अपभ्रंश से भी पहले शुरू हो गयी थी और बाद में व्रजभाषा में भी दिखाई पड़ती है।

---

1 लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इण्डिया, खण्ड ९, भाग १, पृ० ७१।

2 रासो की भाषा के लिए द्रष्टव्य—

(क) जान बीम्स, स्टडीज इन ग्रामर ऑव चदबरदाई, जे० ए० एस० बी० खण्ड ४२, भाग १, पृ० १६५–१९१।

(ख) हार्नले, गौडियन ग्रामर में यत्र-तत्र।

(ग) [illegible] स्वामी, पृथ्वीराजरासो की भाषा, राजस्थान भारती भाग, १ अंक ४, पृ० [illegible]।

(घ) डा० नामवर सिंह, पृथ्वीराजरासो की भाषा, काशी, १९५६।

(ङ) डा० [illegible] त्रिवेदी—चन्दबरदाई और उनका काव्य, इलाहाबाद, पृ० [illegible]।

§ १३४ उपधा या अन्त्य स्वरका लोप या ह्रस्वीकरण अपभ्रंश मे भी था, रासो मे भी है और यही बाद में ब्रजभाषा के रमनि, रेख, आस आदि में दिखाई पडती है। रासो की भाषा मे धारा>धार, भाषा>भाष, रजनी>रयणि, शोभा>सोभ, लज्जा>लाज, भुजा>भुज आदि में यह प्रवृत्ति लक्षित होती है।

§ १३५ स्वर सकोच या (Vowel Contraction) की प्रवृत्ति परवर्ती अपभ्रश या अवहट्ठ को सभी रचनाओ मे पायी जाती है। सदेशरासक, प्राकृतपैंगलम् आदि की भाषा के विश्लेषण के सिलसिले मे हम इस पर विचार कर चुके हैं।

पदातिक >पाइक, ज्वालापुर >जलउर >जालौर, साकभरि >सायभरि >सभरि, तृतीय>तीज, मयूर>मोर आदि इसके उदाहरण हैं।

§ १३६ मध्यग म>वँ—यह ब्रजभाषा की अत्यन्त परिचित प्रवृत्ति है। कुमारी >कुँवारी, तोमर>तोवँर, परमार>पवाँर, भ्रमर>भवँर, सामत>सावँत आदि।

§ १३७ रेफवाले शब्दो मे कई स्थितियाँ होती हैं। सयुक्त पूर्ववर्ती र् मध्यस्वरागम द्वारा पूर्ण र हो जाता है तथा रेफवाले वर्ण द्वित्त्व (Gemination) हो जाता है। दुर्ग>दुरग्ग, वर्ष>वरम्स, अर्क>अरक्क, स्वर्ग>सुरग्ग, पर्वत>परव्वत, अर्द्ध>अरद्ध।

दूसरी प्रक्रिया में रेफ का पूर्ण र हो जाता है किन्तु आदि स्वरहीन (light) होकर उसमें मिल जाता है। बाद में क्षति पूर्ति के लिए समीकरण के आधार पर अन्त्य व्यंजन का द्वित्त्व हो जाता है। जैसे—

गर्व>ग्रव्व, वर्ण>व्रन्न, सर्प>स्रप्प, गर्भिणी>ग्रम्भनिय
पर्व>प्रव्व, धर्म>ध्रम्म आदि।

§ १३८ र का विकल्प से लोप भी होता है यथा समुद्र>समुद, प्रहर>पहर, प्रमाण >पमान। ब्रज में इस तरह के शब्द बहुत मिलते हैं।

§ १३९ द्वित्त्व वर्ण सरलीकृत होकर एक वर्ण रह जाता है और इसकी क्षतिपूर्ति के लिए पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर लेते हैं। यह नव्य आर्यभाषाओ की बहुत प्रचलित प्रवृत्ति है। कार्य>कज्ज>काज, दर्दुर>दद्दुर>दाद्दुर, वल्गा>वग्ग>वाग या वाघ, क्रियते> किज्जइ>कीजइ आदि।

§ १४० स्वरभक्ति-उच्चारण सौकर्य के लिए सयुक्त व्यजनो के टूटने के बाद उनमें स्वर का आगम होता है, यह प्रवृत्ति न केवल रासो की भाषा में है बल्कि मध्यकाल की ब्रज, अवधी आदि सभी में समान रूप से दिखाई पडती है। यत्न>जतन, दुर्दैव>दुरदेव, पूर्ण> पूरन, वर्ण>वरन, वर्ष>वरस, स्वप्न>सपना, शब्द>सबद, स्पर्श>परस, द्वार>दुवार, दर्शन>दरसन आदि।

§ १४२. रासो में ने परसर्ग नही मिलता। व्रज मे 'ने' या 'नै' परसर्ग मिलता है। बीम्स ने रासो का एक पद उद्धृत किया है जिसमे उन्हें ने का प्रयोग मिला था, बालप्पन पृथीराज ने, इस प्रयोग का भी उन्हे ने कर्ता-करण को ओर नही बल्कि सम्प्रदान की ओर लगाव देखा। इस प्रकार रासो की भाषा मे ने का पूर्णत अभाव है। कीर्तिलता के दो-चार सर्वनामिक प्रयोगों को छोडकर ने का प्रयोग १२वी-१४वी के पिंगल अपभ्रंश साहित्य मे कही नही मिलता। किन्तु रासो मे अन्य कारको में विविध परसर्गों का प्रयोग हुआ है। करण में सू, सो यथा लक्ख सो भिरे, राज सूं कहइ। करण मे ते का भी प्रयोग हुआ है। यह ते व्रज में 'तैं' के रूप में दिखाई पडता है, पानि ते मेरु ढिल्ले। सम्प्रदान में लागि या लग्गि तथा अपभ्रंश तणउ का विकृत तण रूप प्रयुक्त हुए हैं (१) जीव लगि छंडिय (२) गुनियन तन चाह्यो। व्रज में आरम्भिक रचनाओ मे तन या तणा (ओर के अर्थ में) का प्रयोग मिलता है लगि का प्रयोग परवर्ती व्रज में अत्यन्त विरल है, किन्तु आरम्भिक व्रज (१८००-१६००) में इसका बहुत प्रयोग हुआ है। सम्बन्ध के 'को' कउ' और के तीनो रूपा के बहुत से उदाहरण मिलते हैं।

१—कवि को मन स्तउ २—पृथीराज कउ ३—रोस कै दरिया आदि। अधिकरण का प्रसिद्ध परसर्ग मज्झ>माज्झ>माझ, मह माझारि आरि कई रूपो में मिलता है।

§ १४३ सर्वनामो की दृष्टि से रासो की भाषा बहुत धनी है अर्थात् उसमें नाना प्रकार के सर्वनाम दिखाई पडते हैं

हौं, मैं—तो हौं छडो देहि, मैं सुन्या साहिबिन अप कोन

मो, मोहि—कह्यो मोहनि वर मोहि, मो सरण हिन्दू तुरक

मेरे, मेरो—मेरे कछु राय न आवहु, मेरी अरदासि

हम, हमारो—हम मरन दिवस हैं मगलोक, आल्हा सुनो हमारी वानीय

इसी प्रकार तुम, तुम्ह, तुम्हइ, तै, तोहि आदि के भी उदाहरण मिलते हैं। व्रजभाषा की दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण वे सावित रूप हैं जिनमें परसर्गो के प्रयोग से कारको का निर्माण होता है। जाको देहन होई, में जाको सावित रूप है। इसी तरह ता को, ता सो, ता पै आदि रूप उपलब्ध होते हैं। सर्वनामो की दृष्टि से रासो की भाषा बिलकुल व्रज कही

(१) करिग देव दक्खिन नगर
(२) गढ्ढि छोरि दक्खिन फिरिग
(३) उभय सहस हय गय परिग

सयुक्त क्रिया के प्रयोग भी मिलते हैं जो प्राय ब्रजभाषा जैसे ही हैं। प्राचीन शौरसेनी के प्रभाव से (कथित>कधिदो) आदि की तरह–ध–प्रधान कुछ रूप दिखाई पडते हैं। कीधौ (किया) लीधौ (लिया) आदि। न, ध, त कृतप्रत्ययान्त रूप हैं जो सस्कृत में भी किसी-न-किसी रूप मे है—दीन, हीन, जीर्ण, शीर्ण, दुग्ध, मुग्ध, दग्ध, लब्ध, कृत, हृत, कथित।

(१) वर दीधौ ढुढा नरिंद
(२) प्रथिराज ताहि दो देस दिद्ध
(३) पुत्री पुत्र उछाह दान मान धन दिद्धिय
(४) अहि वन मनि लिद्धिय

इस प्रकार के रूप प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में बहुत प्रचलित हैं, बाद में प्राचीन गुजराती में भी इनका प्रचलन रहा, ब्रज की आरभिक प्रद्युम्नचरित, हरिचन्द्र पुराण (१४००-१५००) आदि रचनाओ में इनका प्रयोग मिलता है। ये रूप कबीर, नरहरि तथा केशव की रचनाओ में भी मिलते हैं। बीम्स लिद्ध की उत्पत्ति √लभ् से करते हैं। जिसका रूपान्तर लब्ध बनता है, इसी लब्ध से लिद्ध तथा इसी के तुक पर अन्य क्रियाओ के भी ऐसे ही रूप बन गये।

§ १४६ क्रिया विशेषण के रूपो में ओर, कह, कोद (एक कोद करि नेहु-सूर) किधु, किधा, के (विभाजक) आदि ऐसे रूप, जो १४वी शताब्दी के किसी अपभ्रश ग्रथ में नही दिखाई देते और जो ब्रजभाषा के अत्यत प्रचलित अव्यय रूप हैं, बहुत अधिक मिलते हैं।

§ १४७ सख्यावाचक विशेषण, न केवल विधि रूपो के बल्कि भाषा के विकास के कई स्तरो से गृहीत नाना प्रकार के दिखाई पडते हैं। अष्ट, अट्ठ, अट्ट, आठ, आठ के ये चार रूप प्राप्त होते हैं इसी प्रकार प्राय सभी पूर्ण सख्याएँ कई रूपान्तरो के साथ प्रयुक्त हुई हैं। अन्य सख्यावाचक विशेषणो के कुछ विचित्र सकेत भी मिलते हैं जैसे दस + दोह=१२, दस + तीन=१३, दहतीय=१३, तेरहतीन=१६, दस आठ=१८, चौअग्गानो वीस=२४, तीस पर पाँच=३५, तेतीसे नौ=४२, तीसह विय=६०, पचास वीस दो दून घटि=६४, आदि।

शब्दों में भी परिवर्तन हुए हैं।[1] चारण शैली का प्रभाव विदेशी शब्दों पर भी घनिष्ठ रूप से पड़ा है।

§ १४९ पृथ्वीराज रासो के अलावा कई अन्य रासो काव्य भी पिंगल भाषा में लिखे गये। इनमें नल्लसिंह का विजयपाल रासो और नरपति नाल्ह का बीसलदेव रासो दो अत्यन्त प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ हैं। नल्लसिंह का कोई निश्चित परिचय प्राप्त नहीं होता। विजयपाल रासो के ही एक अश से यह सूचित होता है कि ये सिरोहिया शाखा के भाट थे। विजयगढ़ के यादव नरेश विजयपाल के आश्रित सभा-कवि के रूप में इन्हें राजा से एक नगर, सात सौ गांव, हाथी, घोड़े और रत्न-जड़ित कञ्चन के आभूषण पुरस्कार में मिले थे।

> भये भट्ट प्रथु यज्ञ ते है सिरोहिया अल्ल।
> वृसेश्वर यदुवंस के नल्ल पल्ल दल सल्ल ॥
> बीसा सो गजराज वाजि सोलह सो माते।
> दिये सात सौ ग्राम सहर हिंडोन सुदाते ॥
> सुतर दिये द्वै सहस रकम गिलमे भरि अवर।
> कन्चन रत्न जडाव वहुत दीने जु अडम्बर ॥
> कुल पूजित राव सिरोहिया यादव पति निज सम कियव।
> नृप विजयपाल जू विजयगढ़ साह ये जू सम्मपियव ॥

११वीं शताब्दी में करौली में विजयपाल नामक एक प्रतापी राजा अवश्य हुए थे जिन्होंने अलवर, भरतपुर, धौलपुर आदि राज्यों के कुछ भागों पर भी अधिकार कर लिया था।[2] प० मोतीलाल मेनारिया ने इस ग्रंथ को १९०० का बताया है।[3] जबकि मिश्रबधु इसका रचनाकाल १३५० का अनुमानित करते हैं। इस ग्रथ को अत्यन्त परवर्ती मानने के कारणों का जिक्र करते हुए मेनारियाजी लिखते हैं कि 'गजनी ईरान, काबुल, दिल्ली, ढूंढाड आदि पर विजयपाल का एक छत्र राज्य होने की जो बात नल्लसिंह ने अपने ग्रथ में लिखी है वह इतिहास विरुद्ध और अतिरजन है। दूसरे यह कि इस ग्रन्थ पर पृथ्वीराजरासो (१८वीं शताब्दी) और वंशभास्कर (१८९७) दोनों का प्रभाव साफ झलकता है।[4] मेनारियाजी का यह तर्क बहुत प्रबल नहीं है। जैसा कि पहले ही कहा गया पिंगल शैली का निर्माण १८वीं शताब्दी में ही हो चुका था जिसका निर्वाह वंशभास्कर जैसे परवर्ती ग्रथ में यानी १८वीं श० के अन्त तक होता रहा। रही बात इतिहास विरुद्ध बातों के उल्लेख की तो ऊपर जिस इतिहास विरुद्ध घटना का कहा गया है वह मात्र अतिरजन और आश्रयदाता की प्रशस्ति में

---

१ फारसी अरबी शब्दों की एक विस्तृत सूची, मूल के साथ डॉ० विपिनविहारी त्रिवेदी ने प्रस्तुत की है, चन्दबरदाई और उनका काव्य, पृ० ३१३-४३।

२ द रूलिंग प्रिंसेज चीफ्स ऐंड लीडिंग पर्सोनेजेज इन राजपूताना, छठां सस्करण,

अतिशयोक्ति का अनिवार्य प्रयोग है। इसे शैली की सामान्य त्रुटि या विशेषता जो चाहें कह सकते हैं।

विजयपाल रासो की भाषा पिंगल या प्राचीन व्रज है। मेनारियाजी ने लिखा है कि इस ग्रंथ में सब ५२ छन्द, ८ छप्पय, १८ मोतीदाम, ८ पद्धरि, ६ दोहे और २ चौपाइयाँ मिलती हैं। नीचे कुछ (छन्द—मोतीदाम) अंश उद्धृत किये जाते हैं—

जुरे जुध यादव पंग मरद्द मही कर तेग चढ़यो रण मद्द
हकारिय जुद्ध दुहू दल सूर मनो गिरि सीस जल्लथरि पूर
हलौं हिल हाक वजी दल मद्धि, भई दिन ऊगत कूक प्रसिद्धि
परस्पर तोप वहै विकराल, गजै सुर भुम्मि सरग्ग पताल
लगै वर यत्रिय छत्तिय शुद्ध गिरे भुव भार अपार विरुद्ध
वहै भुववान ढक्यौ असमान, खमजर खेचर पाव न जान।

नरपति नाल्ह का वीसलदेव रासो हिन्दी साहित्य का बहुचर्चित ग्रंथ रहा है। इसके रचनाकाल के विषय में बहुत विस्तृत विवाद[1] हो चुका है। नाहटा और मेनारिया इस ग्रंथ को १६वीं शताब्दी से पहले का निर्मित मानने को तैयार नहीं है। डॉ० ओझा इसका रचना-काल १२७२ संवत् को प्रमाणित बताते हैं। यद्यपि इस विवाद का कोई सर्वमान्य निष्कर्ष नहीं निकल सका है पर विभिन्न प्रतियों के आधार पर डॉ० गुप्त द्वारा सम्पादित ग्रन्थ १६वीं से पहले की भाषा की सूचना अवश्य ही देता है। ग्रन्थ की भाषा पिंगल के कम राजस्थानी के ज्यादा निकट है।

§ १५० पिंगल की दृष्टि से श्रीधर व्यास के रणमल्लछन्द का महत्व असंदिग्ध है। श्रीधर ईडर के राठौर नरेश रणमल्ल के दरबारी कवि थे। इन्होंने संवत् १४५७ में रणमल्ल छन्द की रचना की[2] जिसमें ईडर नरेश रणमल्ल और पाटण के सूबेदार जफरखाँ के संवत् १४५४ के युद्ध का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रंथ का सम्पादन 'प्राचीन गुर्जर काव्य' में रायबहादुर केशवलाल हर्षदराय ध्रुव बी० ए० ने १९२७ में किया जो गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी, अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ।[3] यह बहुत संतोषप्रद संस्करण नहीं है। इधर पुरातत्व मंदिर, जयपुर से मुनि जिनविजयजी के निरीक्षण में इस ग्रंथ का पुन सम्पादन हो रहा है। के० ह० ध्रुव ने इस ग्रन्थ का सम्पादन पूना, डेकन कॉलेज के सरकारी संग्रह की प्रति के आधार

पर किया था जिसमे लिपिकाल १६६२ दिया हुआ है ।[1] रणमल्ल छन्द का एक अंश नीचे उद्धृत किया जाता है—

जिम जिम लस्कर लोह रसि लोड्‌डइ सासन लक्कि
ईडरवइ चउसइ चउद्द तिम तिम समर कडक्कि ॥ ४४ ॥

पंच चामर

कडक्कि मूछ मोछ मेछ मल्ल मोलि मुग्गरि
चमक्कि चलि रणमल्ल मल्ल फेरि सग्गरि
चमक्कि वार छोडि थान छण्डि थाडि धग्गड़ा
पडक्कि पाट पक्कडन्त मारि मारि मग्गडा ॥ ४५ ॥

चुप्पई

हय खुर तल रेणुइ रवि छाहिउ, समुहरि मरि ईडरवइ आइउ
खान खवास खेलि चल धायु, ईडर अडर दुग्ग तल गाह्यु ॥ ४६ ॥
दम दम कार ददाम दमक्कइ, ढमढम ढमढम ढोल ढमक्कइ
तरवर तरवर वेस पहट्टइ, तर तर तुरक पडइ लरु टुट्टइ ॥ ४७ ॥

श्रीधर व्यास की भाषा चारणशैली से घोर रूप में रंगी हुई है। भाषा प्राय पृथ्वीराज-रासो की तरह ही है। कहीं-कहीं तो भाषा बिलकुल सूदन की भाषा की तरह है जिसके बारे में शुक्लजी ने लिखा है "भाषा मनोहर है पर शब्दो की तडातड, पडापड से जी ऊबने लगता है।[2] तुलसीदास ने भी वीर प्रसगों में इस कौशल का प्रयोग किया है।

§ १५२ चारण शैली की ब्रजभाषा के इस विवेचन से हम ब्रजभाषा के प्राचीन रूप का निश्चित आभास पाते है। इस भाषा में कृत्रिमता बहुत है, शब्दो के विकार भी स्वाभाविक नहीं है, प्रयासजन्य कर्ण-कटुता से ओज पैदा करने के उद्देश्य के कारण इसमें भयंकर विकृति दिखाई पडती है। इस काल की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्द भी प्रयोग में आने लगे थे हालाँकि उनके रूप भी शुद्ध नहीं थे, उनमें भी चारण शैली की विकृति का भद्दा प्रभाव पडे बिना न रह सका। यह सब होते हुए भी इस भाषा की आत्मा ब्रज की ही है। भाषा के बाहरी ढाँचे के भीतर ब्रजभाषा के सामान्य प्रचलित रूप की एकसूत्रता अन्तर्निहित है। यद्यपि हम इस भाषा को बोली जानेवाली ब्रज से भिन्न मानते हैं, क्योंकि यह कृत्रिम और दरबारी थी साहित्यिक भाषा थी, फिर भी इसका भाषागत और साहित्यिक महत्त्व निर्विवाद और सुन्दर है।

जन-बोली की आत्मा का आभास मिलता है। किन्तु इसका शुद्ध रूप इससे कुछ भिन्न अवश्य था जो १६वी शताब्दी में विकसित होकर भक्ति-आन्दोलन के साथ ही एक प्रौढ भाषा के रूप मे दिखाई पडा। १२वी से १४वी तक के विभिन्न प्रादेशिक बोलियो का परिचय देनेवाले कुछ औक्तिक ग्रन्थ प्राप्त हुए है यद्यपि इनमें से कोई भी सीधे रूप से ब्रज प्रदेश की बोली से सबद्ध नही है, फिर भी मध्यदेश और राजस्थान की बोलियो का विवरण प्रस्तुत करनेवाले औक्तिक ग्रन्थो की भाषा के आधार पर ब्रजभाषा के आरम्भिक रूप का अनुमान सहज सभव है। उक्ति ग्रन्थो का जो साहित्य प्राप्त हुआ है उसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प० दामोदर का उक्ति-व्यक्तिप्रकरण है जिसकी रचना काशी में १२वी शताब्दी में हुई थी। इस ग्रन्थ के अलावा कुछ प्रमुख उक्ति रचनाओ का पता चला है[1]

(१) मुग्धावबोध औक्तिक, कर्ता, कुल मडन सूरि, रचनाकाल सवत् १४५० वि०
(२) बालशिक्षा " सग्राम सिह, रचनाकाल विक्रमी स० १३३६
(३) उक्ति रत्नाकर " श्री साधुसुन्दर गणि, रचनाकाल १६वी शती।
(४) अज्ञात विद्वत्कर्तृक उक्तीयक, रचनाकाल १६वी शती।
(५) अविज्ञात विद्वत्सगृहीतानि औक्तिक पदानि, १६वी शती।

उक्ति-व्यक्तिप्रकरण को छोडकर बाकी सभी रचनाएँ राजस्थान-गुजरात में लिखी गयी हैं इसलिए यह स्वाभाविक है कि उनमें पश्चिमी भाषाओं की बोलियो का ही मुख्यतया प्रतिनिधित्व हुआ है।

§ १५३ उक्ति का अर्थ सामान्य या पामरजन की भाषा है। जैसा मुनिजी ने लिखा है कि 'उक्ति शब्द का अर्थ है लोकोक्ति अर्थात् लोकव्यवहार मे प्रचलित भाषा-पद्धति जिसे हम हिन्दी मे बोली कह सकते हैं। लोक भाषात्मक उक्ति की जो व्यक्ति अर्थात् व्यक्तता 'स्पष्टीकरण' करे—वह है उक्ति व्यक्ति-शास्त्र।[2] किन्तु इस उक्ति का अर्थ बहुत सीमित बोली के अर्थ में मानना ठीक नही होगा, क्योकि बोली शब्द तो एक अत्यन्त सीमित घेरे के सामान्य अशिक्षित जन की भाषा के लिए अभिहित होता है जब कि इन ग्रन्थो के रचयिता इस शब्द से साहित्यिक अपभ्रश से भिन्न जन-व्यवहार की अपभ्रश की ओर सकेत करना चाहते हैं।[3] इन

---

1 इन छहो उक्ति ग्रन्थो का सपादन मुनि जिनविजयजी ने किया है। उक्ति व्यक्ति प्रकरण, सिंघी जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुआ है। मुग्धावबोध औक्तिक का अश प्राचीन गुजराती गद्य सदर्भ (अहमदाबाद) में सकलित है। उक्ति रत्नाकर, जिनमें न० ४ और ५ भी सगृहीत हैं, तथा बालशिक्षा शीघ्र ही राजस्थान पुरातत्त्व मदिर जयपुर से प्रकाशित होनेवाले हैं। पिछले दोनो ग्रन्थो का मूल-पाठ मुझे मुनिजी के सौजन्य से प्राप्त हुआ है।

2 उक्ति-व्यक्तिप्रकरण, प्रास्ताविक वक्तव्य, पृ० ७।

3 देशे देशे लोकैर्वक्ति गिरा अपभ्रष्टा यया किंचित्।
[illegible] संस्कृतरचिता [illegible] ॥ ६ ॥
[illegible] दिव्यत्व प्राप्नोति। पतिता
[illegible] उक्ति व्यक्ति प्रकरण, व्याख्या, पृ० ३।

लेखकों के अनुसार यह भाषा भ्रष्ट संस्कृत का रूप ही है किन्तु जिस प्रकार से भ्रष्ट ब्राह्मणी [illegible] करके ब्राह्मणी ही कहलाती है, वैसे ही यह भी दिव्य ही कही जायेगी। उक्ति-व्यक्तिप्रकरण की भाषा को लक्ष्य करके मुनि जिनविजयजी लिखते हैं कि इतने प्राचीन समय की यह रचना [illegible] कोशली अर्थात् अवधी उपनाम पूर्वीया हिन्दी की दृष्टि से ही नहीं अपितु समग्र नूतन भारतीय आर्यकुली। भाषाओं के विकास-क्रम के अध्ययन की दृष्टि से भी बहुत महत्त्व का स्थान रखती है। वस्तुतः राजस्थान-गुजरात के उक्ति ग्रंथों की भाषा तो ब्रजभाषा के अध्ययन की दृष्टि से और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उनमें पश्चिमी अपभ्रंश के क्षेत्र की बोलियों का विकास ब्रजभाषा के अत्यंत निकट पड़ता है। औक्तिक ब्रजभाषा (१२ से १४वीं शती तक) का व्याकरणिक स्वरूप तो करीब-करीब वैसा ही था जैसा प्राकृतपैंगलम् की विकसित भाषा का या पिंगल संबंधी अन्य रचनाओं की भाषा का, किंतु यह भाषा पहली की तरह कृत्रिमता और तद्भव शब्दों के कृत्रिम रूपों से पूर्णतः मुक्त थी, जनता जिन तद्भव शब्दों का (व्यंजन लोप के बाद) ठीक से उच्चारण नहीं कर सकी वे या तो संधि या संकोच प्रक्रिया के आधार पर बदल दिए गए या उसके स्थान पर तत्सम रूपों का प्रयोग होने लगा। उक्ति ग्रंथों में इस प्रकार के हज़ारों शब्द या पद मिलते हैं जो नयी भाषा के विकास की सूचना देते हैं। नीचे हम उक्ति-व्यक्तिप्रकरण, उक्ति रत्नाकर और अन्य उक्ति ग्रंथों से कुछ विशिष्ट शब्द और पद उद्धृत कर रहे हैं। इनमें बहुत से पूर्ण वाक्य रूप भी हैं जिनमें भाषा की नयी प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। कई महत्वपूर्ण व्याकरणिक विशेषताएँ भी लक्षित होती हैं।

उक्ति-व्यक्तिप्रकरण से

§ १५४ (१) दूजेण सउ (सौं) सब काहू तूट (त्रुट कलह कर्मणि) उक्ति व्यक्ति ३७।६२

(२) हो करओ (मैं करता हूँ) उक्तिव्यक्ति १६।७

(३) जेम जेम (जिमि जिमि) पूतुहिं दुलाल (इ) तेम तेम (तिमि तिमि) दूजण कर हिय साल (इ) उक्तिव्यक्ति (३८।१७)

(४) चोर (चोरो) घन मूस (इ) मूसे ४७।५

(५) सूओ (सूआ<शुक) माणुस जेउ (ज्यो) बोल (इ) ५०।२९

उक्ति-व्यक्तिप्रकरण के अन्तिम पत्र त्रुटित हैं इसलिए भूतकाल के रूपों का पूर्ण परिचय नहीं मिलता। भाषा कोशली है, परन्तु ब्रज के कई प्रभाव 'उ'कारान्त प्रातिपदिक (प्रथमा में[1]) हउ सर्वनाम का बहुल प्रयोग, परसर्गों की दृष्टि से ब्रज के प्रयोग साथ ही 'हिं' विभक्ति का भिन्न कारकों में प्रयोग (जिसे चाटुर्ज्या प्राचीन ब्रज का प्रभाव बताते हैं।[2]) स्पष्टतया परिलक्षित होते हैं। उक्ति-व्यक्ति में तत्सम शब्दों का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में हुआ

---

1. I am inclined to look upon—u—as a form taken from Western Apabhramsa later strengthened by the similar affix from old Braj

Ukti vyakti Prakarana, Study, pp. 40.

2. This-h-is a sort of made-of-all-work-so to say, it would appear to be an imposition from literary Apabhramsa and form old Braj.

Ukti vyakti Prakarana, Study, pp. 37.

है। यह लोकभाषा की एकदम नयी और महत्वपूर्ण प्रवृत्ति थी जिसका प्रभाव अन्य औक्तिक तत्वों की भाषा मे भी समान रूप से दिखाई पडता है।

§ १५५ पितर तर्प (उक्ति ४२।८) आपणु काज विशेष (४२।६) परा वस्तु (४२।१६) गोरवे मान (४२।२०) ऋण शेप (४२।५) आदि शब्द पहले के अपभ्रंश में इस तरह तत्सम रूप मे प्रयुक्त नही हो सकते थे। नीचे तद्भव देशी आदि कई तरह के प्रयोग एकत्र उद्धृत किये जाते हैं—

ओझउ (उक्ति रत्नाकर पु० ५<उपाध्याय) सनीचर (उक्ति० रत्नाकर ५ <शनैश्चर) बाजउ (उ० र० <वाद्यम्), चोज (उ० र० ६<चौद्यम्), आसू (उ० र० ६<अश्रु) रीसालू (उ० र० ७ <ईर्ष्यालु), काजी (उ० र० ७=काजी (आपणी घायउ (उ० र० ७<आत्मीय घात), जूआरय (उ० र० ७<द्यूतकारक), वहिनि (उ० र० ८<भगिनी), राग (उ० र० १०<रक्षा), करवत (उ० र०<करपत्रकम्), मसाण (उ० र० ११ < श्मशानम्) बुहारी (उ० र० ११<बहुकरी), चूल्ही (उ० र० ११=चूल्हा), बीछू (उ० र० १३<वृश्चिक), घोडउ (उ० र०<घोटक), अम्ह केरो (उ० र० १५=हमारो), तुम्ह करेउ (उ० र० १५ = तुम्हारो), छाह (उ० र० १५ < छाया), झीणउ (उ० र०=झीनो)।

इस तरह के करीब डेढ़ हजार शब्द उक्ति रत्नाकर में एकत्र किये गये हैं। इन शब्दो के अलावा सख्याओ, क्रियाविशेषणो एव क्रिया रूपो के प्रयोग अलग से दिये गये हैं। इन क्रियारूपो में से कुछ अत्यन्त महत्व के प्रयोग उल्लेखनीय हैं

गिणइ (३७<गिणयति), हिंडोलइ (३७<हिंदोलयति),
माजइ (३७<मार्जति), बूडइ (३८=बूडता है), सूझइ
(३८ = सूझता है), ताकइ (४१ = ताकता है),
पतीजइ (४३<प्रतीयने), समेटइ (४३=समेटता है),
उद्वेगाइ (४३<उद्वेगयति)।

१—प्राचीन ब्रज मे सभवत तीन लिंग होते थे। ग्रियर्सन ने नपुसक लिंग के प्रयोग लक्षित किये थे। उनके मतानुसार क्रियार्थ बोधक सज्ञा (Infinitive) का लिंग मूलत नपुसक था। सोना का नपुसक रूप उन्होने 'सोनो' वताया। 'अपनो धन' मे अपनो को भी उन्होने नपुसक ही माना।[१] सग्रामसिह बालशिक्षा के प्रथम प्रक्रम में लिंग-विचार करते हुए लिखते हैं—

> लिंगु तीन। पुलिंगु, स्त्री लिंगु, नपुसक लिंगु। भलु पुलिंगु, भली
> स्त्रीलिंग, भलु नपुसक लिंगु।[२]

यहाँ भी नपुसक लिंग की सूचना अनुस्वार से ही मिलती है जैसा उपर्युक्त रूप सोनो या अपनो में। उक्ति-व्यक्ति के लेखक भी तीन लिंग का होना मानते है। लगता है कि यह नियम बाद में अत्यन्त अनावश्यक होने के कारण छोड दिया गया।

२—१४वी शती तक के किसी पिंगल या अपभ्रश के ग्रथ में निम्नलिखित क्रिया विशेषणो का पता नही चलता जो ब्रजभापा मे पर्याप्त सख्या में प्राप्त होते है और जिनका सकेत औक्तिक ग्रथो में पहली बार मिलता है लू>लो

> उपरि लू=ऊपर तक, उक्ति रत्नाकर पृ० ५६
> हेठि लू=नीचे तक ,, ,, ,,
> तउ>तौ तौ तहिं उक्ति रत्नाकर पृ० ५६

३—रचनात्मक कृदादि प्रत्ययो का सक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है

(१) करतउ, लेतउ, देतउ इत्यादौ कर्तरि वर्तमाने शवतृडानशौ
(२) कीतजउ, लीजतउ, लीजतउ इत्यादौ कर्मण्यानश्
(३) करणहार, लेणहार, देणहार इत्यादौ वर्तमाने वुण तृचौ
(४) कीधउ, दीधउ, लीधउ इत्यादौ अतीते निष्ठा क्वसुकानौ च
(५) करीउ, लेउ, देउ इत्यादौ क्त्वा
(६) करिवा, लेवा, देवा इत्यादौ तुम्
(७) करिवउ, लेवउ, देवउ इत्यादौ कर्मणि तत्पानीयौ
(८) करणहार, लेणहार इत्यादौ भविष्यति काले तुमुन्

ऊपर के सभी प्रत्ययो से बने रूप ब्रजभापा में किंचित् ध्वनि परिवर्तन के साथ प्रयुक्त होते हैं। करतौ, लेतौ आदि (कर्त्तरि वर्तमान के) कीजो, लीजो, दीजो (कर्मणि प्रयोग में) करनहार, देनहार, भूतनिष्ठा के रूप कीधो दीधो के स्थान पर कीयो दियो वाले रूप, क्त्वा के करि, ले, दे, क्रियार्थक सज्ञा में करिवा, लेवा के स्थान पर करिवो, लेवो, देवो आदि तथा तव्यत् के करिवो, लेवो, देवो रूप ब्रज मे अत्यन्त प्रचलित हैं।

---

१ लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इडिया, खण्ड ९, भाग १, पृ० ७७।
२ बालशिक्षा सज्ञा प्रक्रम, प्राचीन गुजराती गद्य सदर्भ, पृ० २०५।

४—नीचे उक्ति रत्नाकर से कुछ ऐसे वाक्य उद्धृत किये जाते हैं जिनके व्याकरणिक रूप का ब्रजभाषा से साम्य देखा जा सकता है :

(१) श्री वासुदेव दैत्य मारइ (पृष्ठ ७२)

(२) ब्राह्मण शिष्य पाहि (ब्रज, पै) पोथउ लिखावइ (पृष्ठ ७३)

(३) जु कर्ता प्रथम पुरुष हुइ तु क्रिया प्रथम पुरुष हुइ। जु कर्ता मध्यम पुरुष हुइ तु क्रिया मध्यम पुरुष हुइ। (पृष्ठ ६६)

(४) कुँभार हाँडो घडइ (पृष्ठ १९)

(५) वाछडउ गाइ धायउ (पृष्ठ १८) वछरो गाइ धायो

वस्तुत औक्तिक ग्रथो की भाषा लोक भाषा की आरभिक अवस्था का अत्यत स्पष्ट भारत करती है। इस भाषा मे वे सभी नये तत्व, तत्सम-प्रयोग, देशी क्रियाएँ, नये क्रिया-विशेषण, सयुक्तकालादि के क्रियारूप अपने सहज ढग से विकसित होते दिखाई पड़ते हैं। यह भाषा १४वी शती के आस-पास मुसलमानो के आक्रमण और ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के द्विधा कारणो से, नयी शक्ति, और सघर्ष से उत्पन्न प्राणवत्ता लेकर बडी तेजी से विकसित हो रही थी, १४वीं के आस-पास इसका रूप स्थिर हो चुका था।

ब्रजभाषा का निर्माण

औक्तिक से परिनिष्ठित तक

[वि० स० १४००–१६००]

§ १५७ अष्टछाप के कवियो की व्रजभाषा के माधुर्य सौष्ठव और अभिव्यक्ति-कौशल को देखकर इस भाषा-साहित्य के विद्वानो ने प्राय आश्चर्य प्रकट किया है। इस आश्चर्य के मूल में यह धारणा रही है कि इतनी सुव्यवस्थित भाषा का प्रादुर्भाव इतने आकस्मिक रूप से कैसे हुआ। सूर के साहित्य को आकस्मिक माननेवाले विद्वानो के विचारो की ओर हम 'वास्तविक' में ही सकेत कर चुके हैं। यह सत्य है कि हिन्दी साहित्य के सपूर्ण इतिहास पर विचार करते समय सूर और उनकी पृष्ठभूमि की समस्या को उतना महत्व नही दिया जा सकता था, इसलिए केवल कुतूहल व्यक्त करके ही सतोप कर लिया गया क्योकि अव्वल तो इस कुतूहल को शान्त करने के लिए कोई समुचित आधार न था, सूर के पहले की व्रजभाषा-काव्य परपरा अत्यत विशृङ्खलित और भग्नप्राय थी, दूसरे १४०० से १६०० विक्रमी का जो भी साहित्य प्राप्त था, उसकी भाषा पर सुव्यस्थित तरीके से विचार भी नही किया गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में विभिन्न धाराओ का साहित्यिक और सैद्धान्तिक दृष्टि से जितना सूक्ष्म विश्लेपण किया, उतना ही भिन्न-भिन्न धाराओ के कवियो द्वारा स्वीकृत भाषा का विश्लेपण भी उनका उद्देश्य रहा। यह बात दूसरी है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनके पास ज्यादा अवकाश और स्थल न था, किन्तु १४०० से १६०० तक के हिन्दी साहित्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट निर्गुण सन्त धारा के साहित्य के प्रति, उनके हृदय में स्पष्टत बहुत उत्साह नही था, वैसे ही उसकी भाषा के प्रति भी बहुत आकर्षण नही दिखाया गया। सन्तो की भाषा को 'सधुक्कडी' नाम देकर शुक्लजी आगे

भारत में छा गयी थी, इसमें वहुत वाद तक काव्य रचना होती रही। १८वी शती में भी 'वंश भास्कर' जैसे ग्रन्थ इसमें लिखे गये, किन्तु यह सर्वमान्य साहित्य-भापा का स्थान खो चुकी थी। इस प्रकार विचारणीय केवल तीन भापाएँ वच जाती हैं, तथाकथित सधुक्कडी, पूरवी और व्रज।

§ १५९ 'पूरवी' शब्द को लेकर कुछ विद्वानो ने वहुत खीच-तान की है। पूरवी का अर्थ भोजपुरी था या अवधी या कुछ और, इस पर निर्णायक ढग से विचार नही हो सका है। कुछ लोग 'पूरवी' का आध्यात्मिक अर्थ करते हैं। श्री परशुराम चतुर्वेदी 'पूरवी' के बारे मे लिखते है कि 'पूरव दिशा द्वारा उस मौलिक स्थिति (?) की ओर सकेत किया गया है जिसमें जीवात्मा और परमात्मा के वीच किसी प्रकार के अन्तर की अनुभूति नही रहती। अतएव कवीर साहव की ऊपर उद्धृत साखी का अर्थ आध्यामित्क दृष्टिकोण के अनुसार ही लगाना समीचीन होगा।'[१] कवीर के शब्द हैं—वोली हमारी पूर्व की। 'पूर्व की वोली' का आध्यात्मिक अर्थ सगत हो सकता है, अर्थात् पूर्वकाल के लोगो ऋषियो या स्वय परमात्मा की। टीकाकारो ने भी ऐसा अर्थ किया है। हालाँकि इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हुए भी चतुर्वेदीजी ने कवीर की भाषा में अवधी-तत्त्वो के खोज-वीन का प्रयत्न किया है। मुझे लगता है कि 'पूरवी' शब्द कवीर ने जान-वूझ कर 'पछाँही' या 'पश्चिमी' से अपनी भाषा की भिन्नता सूचित करने के लिए प्रयुक्त किया। 'पूरवी' शब्द 'पश्चिमी' का सापेक्ष्य है, जो इस वात की सूचना देता है कि हिन्दी प्रदेश में दोनो प्रकार की भापाएँ प्रचलित थी। पूरवी का अर्थ साधारणत वही है जो पूर्वी हिन्दी का है। कवीरदास भापा के सूक्ष्म भेदो के प्रति अधिक सचेत भले ही न रहे हो किन्तु तत्कालीन सन्तो द्वारा प्रयुक्त व्रजभापा और खडी वोली से अपनी निजी वोली का भेद तो वे पहचानते ही रहे होगे। सम्भवत कवीर ने सर्व-

स्थानगत संबंध नहीं मालूम हो पाया है लेकिन संभवतः इनका निर्माण राजस्थान और ब्रज के उत्तरी भाग में पंजाब के पासवाले प्रदेश में हुआ होगा। खड़ी बोली की आकारान्त-प्रवृत्ति का मूल कारण पंजाबी प्रभाव ही है। इस अनुमान का कारण पंजाबी भाषा की आ-कारान्त प्रवृत्ति कही जा सकती है। डॉ० चाटुर्ज्या ने लिखा है कि किसी कारणवश दिल्ली में विकसित नयी भाषा (खड़ी बोली) पर पंजाबी-बांगरू जनपद हिन्दुस्तानी का सम्मिलित प्रभाव पड़ा प्रतीत होता है।[1] चाटुर्ज्या ने खड़ी बोली में द्वित्व व्यंजन-सुरक्षा को भी पंजाबी प्रभाव ही माना है। यही नहीं खड़ी बोली के उच्चारण पर भी पंजाबी का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है। ब्रजभाषा अपनी परंपरा को सुरक्षित रखकर स्वाभाविक ढंग से विकसित हुई, शौरसेनी अपभ्रंश की कई प्रवृत्तियाँ सामान्य वर्तमान के तिङन्त रूप सविभक्तिक पद (खड़ी बोली में केवल परसर्ग युक्त होते हैं) यथा घरहिं, द्वारे, मधुपुरिहिं आदि, व्यंजन द्वित्व की सरलता की ओर झुकाव, उकारान्त क्रिया और संज्ञा तथा विशेषण रूप को ब्रजभाषा ने ज्यों-का-त्यों ग्रहण किया इसके विपरीत पंजाबी के प्रभाव के कारण खड़ी बोली में क्रिया रूपों, विभक्तियों तथा उच्चारण में कई तरह के नवीन परिवर्तन उपस्थित हुए।

§ १६२ खड़ी बोली के इसी प्रारम्भिक रूप को जिसमें अपभ्रंश के बीज-बिन्दु भी वर्तमान थे और जो राजस्थानी और पंजाबी प्रभावों को भी समेटे हुई थी, और दिल्ली के आस-पास की बोली होने के कारण जिसे मुसलमानी काल में बहुत प्रचार और प्रोत्साहन मिला, संतों ने अपनाया था ताकि वे इस बहु-प्रचारित भाषा के माध्यम से अपने संदेशों को दूर तक पहुँचा सकें।

खड़ी बोली के इस आकस्मिक उदय की पृष्ठभूमि में भाषा का स्वाभाविक विकास तथा जनता के सांस्कृतिक उद्देश्यों की पूर्ति की आकांक्षा नहीं थी। बल्कि इसके विकास के पीछे कई प्रकार के राजनैतिक और सामयिक कारण थे। खड़ी बोली हिन्दी १६वीं शताब्दी तक गँवारों की ही भाषा समझी जाती थी। खुसरो ने एक स्थान पर हिन्दी भाषा की बड़ी प्रशंसा की है। अपनी 'आशिका' नामक कृति में खुसरो ने लिखा है यह मेरी गलती थी क्योंकि यदि इस पर ठीक तरीके से विचार किया जाये तो मालूम होगा कि हिन्दी फ़ारसी से किसी प्रकार हीन नहीं है, वह भाषाओं की मलका अरबी से थोड़ी हीन लग सकती है पर राय और रूम में जो जबान चलती है वह हिन्दी से हीन है।[2] जाहिर है कि खुसरो की हिन्दी सधुक्कड़ी खड़ी बोली नहीं थी। उसका स्पष्ट मतलब ब्रजभाषा या अपभ्रंश से था क्योंकि कि भारतीय संस्कृति परंपरा का विकास इसी भाषा में हो रहा था। खुसरो के इस कथन को दृष्टि में रखकर डॉ० सैयद महीउद्दीन कादरी ने लिखा कि "यह वह जमाना है जब कि हिन्दोस्तान के हर हिस्से में अजीमुश्शान लासानी इन्किलाबात हो रहे थे और नयी जबानें आलमें वुजूद में आ रही थीं। चुनांचे खुसरो ने भी इन तब्दीलियों की तरफ इशारा किया है और पंजाब में और देहली के अतराफ व अकनाफ जो बोलियाँ उस वक्त मुरव्वज थीं उनके मुख्तलिफ नाम गिनाये हैं। इनकी जबान (खुसरो की) ब्रजभाषा से मिलती जुलती है। यह यकीन के साथ

---

१ भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० १८५।

2. The History of India as told by its own Historians by Henery Illiot Vol 3, P.P 556.

को तथा परवर्ती को मीर इसी रेखते का उस्ताद कहा है। रेखता का ही एक रूप दक्षिण में दक्खिनी हिन्दी के नाम से मशहूर हुआ। दक्खिनी के पुराने कवि ख्वाजा बन्दानवाज गेसूदराज़ मुहम्मद हुसेनी हैं (१३१८–१४२२ ई०) जिन्होंने कई रचनाएँ लिखी जिनमें उनकी गद्य-रचना 'मीराजुल अशरीन' बहुत महत्वपूर्ण है। इसके बाद बहुत-सी कवियों की रचनाएँ मिलती हैं जिनमें मुहम्मदकुली कुतुबशा, इब्ननिशाती, शेखसादी आदि काफी प्रसिद्ध हैं।[1]

§ १६३. उत्तर भारत में खड़ी बोली या शुक्लजी के शब्दों में 'सधुक्कड़ी' के पुराने लेखकों में गोरखनाथ के कुछ पद उद्धृत किये जाते हैं। गोरखनाथ के ये पद किस समय की रचनाएँ माने जायँ, यह तय नहीं हो पाया है। वैसे गोरख का समय ७वीं शती बताया जाता है। कुछ लोग उन्हें १२वीं शताब्दी का बताते हैं। तिब्बत में लोग इन्हें बौद्ध ऐन्द्रजालिक मानते हैं। कहा जाता है कि ये पहले बौद्ध थे किन्तु १२वीं शताब्दी के अन्त में सेन वंश के विनाश के समय शैव हो गये थे।[2] गोरख के एक शिष्य का नाम धर्मनाथ था जिन्होंने १४वीं शताब्दी में कनफटे नाथ सम्प्रदाय का प्रचार कच्छ में किया।[3] यदि धर्मदास को गोरखनाथ का साक्षात् शिष्य माना जाय तो उनका भी काल १४वीं या १३वीं का पूर्वार्द्ध मानना चाहिए। गोरखनाथ को सिद्धों की परपरा में मानते हुए राहुल सांकृत्यायन उनका काल पालवंशीय राजा देवपाल के शासन-काल ८०९-४९ ईस्वी में निर्धारित करते हैं।[4] इस प्रकार गोरखनाथ को वे ९वीं शती का मानते हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी गोरखनाथ का आविर्भाव विक्रम की १०वीं शताब्दी में मानते हैं।[5] डॉ० बड़थ्वाल ने गोरखनाथ का समय संवत् १०५० माना है और डॉ० फर्कुहर उन्हें १२५७ संवत् का बताते हैं। वस्तुतः गोरखनाथ के जीवन का सही विवरण जानने के लिए कोई भी ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त नहीं है। जो भी हो गोरखनाथ का समय यदि ९वीं शताब्दी का माना जाय तो भी उनके नाम की कही जानेवाली रचनाओं का समय १३वीं शताब्दी से पहले नहीं माना जा सकता क्योंकि ये भाषा की दृष्टि से उतनी पुरानी नहीं मालूम होतीं। इन्हें यदि १३वीं शताब्दी का मानें तो भी इनका महत्त्व कम नहीं होता और खड़ी बोली के उद्गम और विकास के अनुसन्धित्सु विद्यार्थी के लिए तो इनका और भी अधिक महत्त्व हो जाता है।

§ १६४ गोरखनाथ की प्रामाणिक मानी जानेवाली रचनाओं में से जिन १३ को डॉ० बड़थ्वाल ने गोरखबानी (जोगेसुरी बानी, भाग १) में प्रकाशित किया है, उनकी भाषा भी एक तरह की नहीं है। अधिकांश की भाषा खड़ी बोली है अवश्य किन्तु उसमें 'पूर्वी' प्रभाव भी कम नहीं है। यह प्रभाव कहीं-कहीं तो इतना प्रबल है कि इसे लिपिकर्ता का दोष कहकर ही नहीं टाल सकते।

---

१ देखिए—दक्खिनी हिन्दी का गद्य और पद्य, लेखक श्री रामशर्मा, हैदराबाद।

२ इनसाइक्लोपीडिया ऑव रेलीजन ऐण्ड इथिक्स, भाग ६, पृष्ठ ३२४।

३. इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, पृ० ३२४–३३०।

४ हिन्दी काव्यधारा, पृ० १५६।

५. नाथ सम्प्रदाय, पृ० ९६।

नही था। गोरखनाथ के ब्रजभाषा पद इस बात का सकेत करते हैं कि पदो के लिए ब्रजभाषा का ही प्रयोग होता था। सतो की वाणियो की भाषा का अध्ययन करने पर मालूम होता है कि ये कवि क्रान्तिकारी ओजस्वी उपदेशो, रूढि-खडन, पाखड-विरोध या उसी प्रकार के अन्य परपरा-प्रथित विचारो का विच्छेद करने के लिए जिस भाषा का प्रयोग करते थे वह नवोदित खडी बोली थी, किन्तु अपने साधना के सहज विचारो, रागात्मक उपदेशो तथा निजी अनुभूतियों की बात पद शैली की ब्रजभाषा मे करते थे। रेखता या खडी बोली शैली में बाद में कुछ पद भी लिखे गये, किन्तु पदो की मूलभाषा ब्रज ही रही।

§ १६५. गोरखनाथ की ही तरह उनके गुरु कहे जानेवाले मत्स्येन्द्रनाथजी का भी समय विवाद का ही विषय है। उनकी रचनाओ का भी कुछ पता नही चलता। तिब्बती स्रोतो से प्राप्त सिद्धो की नामावली में गुरुओ के नाम दिये हुए हैं। मत्स्येन्द्रनाथ को लुईपा और मीननाथ भी कहा गया है। डॉ० कल्याणी मल्लिक इन तीनो नामों को एक व्यक्ति से रूबद्ध बताती हैं।[1] मत्स्येन्द्रनाथ का समय १०वी शताब्दी के पूर्व ही माना जाता है किन्तु उनकी प्राप्त रचनाओ की भाषा को १३वी-१४वी के पहले की नही माना जा सकता। डॉ० बागची ने मत्स्येन्द्र के कौल ज्ञान निरजन नामक ग्रथ का सम्पादन किया है जिसका रचनाकाल ११वी शताब्दी बताया गया है। 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' में डॉ० मल्लिक ने मत्स्येन्द्रनाथ के दो पुराने पद उद्धृत किये हैं। जो उन्होने जोधपुर की किसी प्रति में प्राप्त किये थे। इन दो पदो में तो एक पूर्णत ब्रजभाषा का है।

राग धनाक्षरी

पखेरू ऊडिसी आय लीयो वीसराम
ज्यों ज्यों नर स्वारथ करै कोई न सजायो काम ॥ टेक ॥
जल कू चाहे माछली घण कू चाहे मोर
सेवन चाहे राम कू ज्यौ चितवत चन्द चकोर ॥ १ ॥
यो स्वारथ को सेवडो स्वारथ छोडि न जाय
जब गोविन्द किरपा करी म्हारो मन वो समायो आय ॥ २ ॥
जोगी सोई जाणीये जग तैं रहे उदास
तत निरजण पाइय कहै मछन्दर नाथ ॥ ३ ॥

मत्स्येन्द्रनाथ के साथ ही इस पुस्तक में चर्पटी नाथ तथा भरथरी के हिन्दी पद भी दिये हुए हैं, किन्तु इनकी भाषा वही मिश्रित पचमेल यानी रेखता है। डॉ० मल्लिक ने इस ग्रथ में गोरखनाथ के नाम से सबद्ध एक गोरख उपनिषद् प्रकाशित कराया है जिसकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा और काफी पुष्ट और परिमार्जित ब्रजभाषा कही जा सकती है। गोरख उपनिषद् की प्रतिलिपि जोधपुर की ही किसी प्रति से की गयी। जिस प्रति से यह अश लिया गया है वह सवत् २००२ की है जिसे किसी श्री बालराम साधु ने तैयार की थी। मूल प्रति का कुछ पता नही चलता। लेखिका ने गोरख उपनिषद् की भाषा को राजस्थानी और

---

१. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति, कल्याणी मल्लिक, पूना, १९५४, पृ० १५-१६।

और भाषा के विषय मे प्रचलित सभी स्थापनाओ को किसी स्वतन्त्र चिन्तन का परिणाम मानकर सदा ही सही निष्कर्ष पर नही पहुँचा जा सकता।' और तब अपने चिन्तन से निकाले हुए सही निष्कर्ष को इस तरह रखते हैं 'इसका (गलत निष्कर्ष का) सबसे बडा उदाहरण है हिन्दी की मध्यकालीन काव्य भाषा का व्रजभाषा नामकरण और १६वी-१७वी शताब्दी के पहले के काव्य-ग्रन्थो में किसी काल्पनिक व्रजभाषा की खोज।'[1] 'मध्यदेशीय भाषा' नामक पुस्तक में लेखक ने और भी कई निष्कर्ष निकाले हैं जिन पर आगे विचार करेंगे। यहाँ हमारा निवेदन इतना ही है कि खडी बोली और व्रज के विकास पर ढंग से विचार होना चाहिए। व्रजभाषा खडी बोली के आरम्भकाल से उसके कुछ पहले से ही एक अटूट शृंखला में विकसित होती आ रही है। इस भाषा के बहुत से पद सन्तो की वाणियो के रूप में सकलित हैं, जो इसकी शक्ति और विकासावस्था के सूचक हैं। व्रजभाषा कोई काल्पनिक वस्तु नही है, वह शौरसेनी भाषाओ की परम्परा की उत्तराधिकारिणी और ११वी शती से १८वी शती तक के काल की सर्वश्रेष्ठ काव्यभाषा के रूप मे स्वीकृत तथा सास्कृतिक विचारो का प्रबल माध्यम रही है।

§ १६७ व्रजभाषा में पद-रचना का आरम्भ कब से हुआ, यह कहना कठिन है। पद-शैली का प्रयोग निर्गुणिये सन्तो ने तो किया ही, बाद के वैष्णव भक्त कवियो की रचनाओ में तो यह प्रमुख काव्य-प्रकार ही हो गया। वस्तुत व्रजभाषा के गेय पदो का प्रचलन १२वी-१३वी शताब्दी में ही हो गया था, यद्यपि इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नही मिलता किन्तु प्राकृतपैंगलम् की रचनाओ, १३वी शती के खुसरो, गोपाल नायक आदि सगीतज्ञ कवियो के गेय पदो के आधार पर यह धारणा पुष्ट होती है। लोक-भाषाओ में आरम्भिक साहित्य प्राय लोक-गीतो के ढग का होता है। देशी भाषा के सगीत की चर्चा तो बृहद्देशी के लेखक ने ७वी शती में ही की थी।

अबलाबालगोपालै क्षितिपालर्निजेच्छया
गीयते सानुरागेण स्वदेशे देशि रूच्यते

१२वी शती में सामन्ती दरबारो में सगीत का बडा मान था और राजपूत रजवाडो का देशी भाषा प्रेम भी विख्यात है ही, फिर देशी भाषा के माध्यम से सगीत के आनन्दोपभोग के गेयपदो की रचना अवश्य हुई होगी। खुसरो की पूरी रचनाएँ प्राप्त नही होती, वही हाल गोपाल नायक की रचनाओ का है किन्तु इनके छिट-पुट जो पद मिलते हैं वे इस बात के प्रमाण हैं कि व्रजभाषा में १३वी शताब्दी में पद लिखे जाते थे। नाथो की वाणियों में भी इस तरह के गेय पद मिलते हैं। गोरखवाणी में बहुत-से ऐसे पद दिये हुए हैं, जो गेय हैं, राग-रागिनी सम्मिलित। नाथो के बाद सन्तो ने इस प्रकार के बहुत से श्रेष्ठ कोटि के पद लिखे। १४९२ विक्रमी में ग्वालियर के विष्णुदास के पद व्रजभाषा के अमूल्य निधि हैं। व्रजभाषा के गेय पदो का, जादू सुदूर पूरब में असम के शकरदेव (ई० १४९३-४८) से लेकर पश्चिम गुजरात के कवियो पर छा गया था।

---

१ हरिहर निवास द्विवेदी, मध्यदेशीय भाषा, पृ० ४०।

द्विवेदीजी ने अपनी इस थीसिस के मडन में वल्लभ सप्रदाय से मुग़लों के साँट-गाँठ का जो जिक्र किया है, वह तो और भी निराधार प्रतीत होता है। मुगलो के अनुराग या वल्लभ सप्रदाय के प्रति उनकी निष्ठा-श्रद्धा की बात तो समझ में आती है, किन्तु इसके कारण ग्वालियरी नाम के स्थान पर ब्रजभाषा नाम प्रचलित करने में वल्लभ सप्रदाय को मुग़लों ने सहायता दी—यह बात बिलकुल व्यर्थ लगती है। भाषाओं के नाम इस तरह नही पड़ा करते। शूरसेन के आधार पर शौरसेनी नाम मध्यदेशीय भाषा का बहुत पहले से रहता आया है। शूरसेन प्रदेश बाद में ब्रज प्रदेश के रूप मे विख्यात हुआ, इसलिए यहाँ की भाषा ब्रजभाषा कही जाने लगी और इस भाषा का प्रभाव सदा से एक व्यापक भू-भाग पर रहता आया है, वही उत्तराधिकार ब्रजभाषा को भी प्राप्त हुआ। वैष्णव आन्दोलन ने इस भाषा के प्रभाव-क्षेत्र को और विस्तृत बनाया। ग्वालियर सदा से ब्रजभाषा क्षेत्र के अन्तर्गत माना जाता है।

§ १६९ ईस्वी १६७६ में मिर्जा खाँ ने ब्रजभाषा का जो व्याकरण लिखा, उसमें ब्रज-क्षेत्र का विवरण इस प्रकार दिया गया—

'मथुरा से ८४ कोश के घेरे में पड़नेवाले हिस्से को ब्रज कहते हैं। ब्रज प्रदेश की भाषा सभी भाषाओं से पुष्ट है।' इस कथन के बाद पत्र-सख्या १९५ ख पर मिर्जा खाँ इस क्षेत्र में ग्वालियर को भी सम्मिलित करते हैं। जार्ज ग्रियर्सन ने ब्रजभाषा के क्षेत्र में ग्वालियर को सम्मिलित किया है साथ ही ब्रज के भेदोपभेदो मे ग्वालियर की बोली को परिनिष्ठित ब्रज का एक रूप स्वीकार किया है। जॉर्ज ग्रियर्सन ने ब्रजभाषा के निम्नलिखित भेद बताये है—

(१) परिनिष्ठित ब्रज—चल्यो
मथुरा, अलीगढ़, पश्चिमी आगरा
(२) परिनिष्ठित ब्रज नम्बर २—चल्यो
बुलन्दशहर
(३) परिनिष्ठित ब्रज न० ३—चलो
पूर्वी आगरा, धौलपुर ग्वालियर
(४) कन्नौजी—चलो
एटा, मैनपुरी, बदायूँ, बरेली
(५) बुन्देलखण्डी ब्रज—चलो
सिकरवारी, ग्वालियर का उत्तर पश्चिमी भाग
(६) राजस्थानी ब्रज, जैपुरी—चल्यो
भरतपुर, डाँग बोलियाँ
(७) राजस्थानी ब्रज न० २ मेवाती—चल्यो
गुड़गाँव
(८) नैनीताल के तराई को मिश्रित ब्रजभाषा

श्री हरिहर निवास द्विवेदी ने लिखा है कि 'हिन्दी में ब्रजमण्डल को केन्द्र मानकर चलनेवाली ब्रजभाषा का कभी अस्तित्व नही रहा, न उसकी कल्पना ही कभी मध्यदेश में

अप्रकाशित सामग्री का परिचय-परीक्षण

●

प्रद्युम्न चरित (विक्रमी १४११)

§ १७१. व्रजभाषा के अद्यावधि प्राप्त ग्रथो में सबसे प्राचीन अग्रवाल कवि का प्रद्युम्न चरित है जिसका निर्माण विक्रमी १४११ अर्थात् १३५४ ईस्वी में व्रजक्षेत्र के केन्द्र नगर आगरा में हुआ। सर्वप्रथम नागरी प्रचारिणी सभा-सचालित हिन्दी ग्रथो की खोज के सिलसिले में इस ग्रन्थ का पता चला जिसका विवरण १९२३-२५ की खोज रिपोर्ट (सर्वे ऑव द हिन्दी मैन्युस्क्रिप्ट्स) में प्रस्तुत किया गया। स्व० डॉ० हीरालाल ने इस ग्रन्थ का परिचय देते हुए लिखा "यह ग्रन्थ भाषा और साहित्य दोनो दृष्टियो से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विभिन्न जैन लेखकों ने इसी नाम से इसी विषय पर कई रचनाएँ लिखी, परन्तु जैन विद्वानो को भी इस लेखक का पता नही है। बबई की जैन श्वेताम्बर सभा द्वारा प्रस्तुत जैन ग्रन्थावली में भी इस ग्रन्थ का कही उल्लेख नही है, यद्यपि वहाँ पाँच प्रद्युम्नचरितो का विवरण दिया हुआ है जिसमें एक १२०७ विक्रमी सवत् की रचना है[1]। उक्त खोज रिपोर्ट में इस हस्तलिखित प्रति का लिपिकाल १७६५ दर्ज किया गया है जिसे ऋषभरमा नामक किसी व्यक्ति ने दिल्ली में लिखा था। इसकी प्रति बाराबकी के जैन मदिर में सुरक्षित बतायी गयी है, किन्तु बहुत प्रयत्न के बाद भी मुझे उक्त मदिर से कोई विवरण प्राप्त न हुआ। अक्तूबर १९५५ में जयपुर में श्री बधीचदजी के जैन मदिर के अव्यवस्थित भाडार में, जिसका अब तक 'कैटलॉग' भी नही बन सका है, उक्त ग्रन्थ

---

१ सर्च रिपोर्ट, १९२३-२५, पृ० १७।

रविवार व्रत कथा से—

दीन्ही दृष्टि मैं रच्यो पुराण, हीण बुद्धि हौं कियो वखाड
हीण अधिक अक्षर जो होय, बहुरि सवारे गुणियर लोय

प्रद्युम्न चरित से—

हौं मति हीण बुद्धि अयाण, मइ सामि को कियो वखाण
मन उछाह मइ कियउ विचित्त, पडित जण मोहइ ते चित्त
पडित जण विनवउ कर जोरि, हउ मति हीण म लावहु खोरि।

§ १७२. इसी प्रकार सरस्वती वदना, नगर वर्णन आदि प्रसग कुछ साम्य रखते हैं किन्तु इन्हें रूढ़िगत साम्य भी कह सकते हैं। जो भी हो, दोनो अगवाल कवियो को एक सिद्ध करने का कोई पुष्ट आधार प्राप्त नही होता है। इधर श्री अगरचद नाहटा ने '१४११ के प्रद्युम्न चरित का कर्ता' शीर्षक एक निवध जनवरी १९५७ के हिन्दी अनुशीलन में प्रकाशित कराया है। श्री नाहटा ने कुछ अन्य प्रतियो के उपलब्ध होने की सूचना दी है। दो प्रतियो की सूचना हम आरंभ में ही दे चुके हैं। तीसरी प्रति श्री नाहटा ने दिल्ली से प्राप्त की है जिसमें लिपिकाल संवत् १६९८ दिया हुआ है। चौथी प्रति उज्जैन के सीधिया ओरियटल इन्स्टीट्यूट में सुरक्षित है जिसका प्रति नवर ७४१ है, जिसमें इस ग्रथ का रचनाकाल सवत् १५११ दिया हुआ है। लिपिकाल आसोय वदी ११ आदित्यवार सवत् १६३४ है।

सम्वत् पचसइ हुइ गया
ग्यारहोत्तरा अरुतह (?) भया
भादव वदि पचमी ति, सारू
स्वाति नक्षत्र शनीचर वारू ।१९।

१८ मई १९५६ की 'वीर वाणी' में आमेर भाडार के कार्यकर्ता श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल ने 'राजस्थान के जैन ग्रंथ भाडार में उपलब्ध हिन्दी साहित्य' शीर्षक एक लेख छपाया है जिसमें उन्होंने जयपुर की प्रति के अतिरिक्त कामा के जैन भाडार में प्राप्त एक दूसरी प्रति का भी उल्लेख किया है। इन पाँच प्रतियो में से जयपुर, कामा, वाराबकी और दिल्ली की चार प्रतियो मे रचनाकाल सवत् १४११ ही दिया हुआ है। श्री अगरचन्द नाहटा ने लिखा है कि 'तिथि का निर्णय करने के लिए प्राचीन सवतो की जत्रो को देखा गया पर वदी पचमी, सुदी पंचमी और नवमी तीनो दिनो मे शनिवार और स्वाति नक्षत्र नही पडता'[1] किन्तु सर्च रिपोर्ट के निरीक्षक डॉ० हीरालाल ने लिखा है कि गणना करने पर ईस्वी सन् १३५४ के ९ अगस्त में शनिवार को उपर्युक्त तिथि और नक्षत्र का पूरा मेल दिखाई पडता है।[2] श्री नाहटा ने सम्भवत. उपर्युक्त निर्णय देते समय डॉ० हीरालाल के इस कथन का ध्यान नहीं

---

१. हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ६, अंक १-४, पृ० १६।
2. He wrote his work in Samvat 1411 on Saturday, the 5th of the dark of Bhadra month which on calculation regularly corresponds to Saturday the 9th August, 1354 A D Search Report, 1923-25, page 17.

पुत्र-वियोग से व्याकुल रुक्मिणी को नारद ने समझाया-बुझाया और वे प्रद्युम्न का पता पूछने के लिए 'पुण्डरीकपुर' मे जिनेन्द्र पद्मनाभ के पास पहुँचे। मुनि ने बताया कि प्रद्युम्न ने पूर्व जन्म में अवध नरेश मधु के रूप में जन्म लिया था, उसने वटपुर के राजा हेमरथ की रानी चन्द्रावति का अपहरण किया। रानी के विरह में हेमरथ पागल होकर मर गया जो इस जन्म में उस दैत्य के रूप में पैदा हुआ है। मुनि ने बताया कि प्रद्युम्न सोलह वर्ष की अवस्था में सोलह प्रकार के लाभ और दो प्रकार की विद्याओ सहित पुन' अपने माँ-बाप से मिलेगा।

वडा होने पर प्रद्युम्न ने कालसवर के तमाम शत्रुओ को पराजित किया। राजा की अन्य रानियो से उत्पन्न पुत्रो ने ईर्ष्यावश उसके विनाश के लिए नाना प्रयत्न किये। विजयार्ध शिखर से नीचे गिराया, नाग गुफा में भेजा, कुएँ में गिराया, वन में छोडा, किन्तु सभी स्थानो से प्रद्युम्न न केवल सकुशल वापस ही लौटा वल्कि अपने साथ प्रत्येक भयप्रद स्थान से अगणित आश्चर्यमय वस्तुओ को भी साथ लाया। विपुल वन में उसने एक सर्वांग सुन्दरी तपस्विनी से व्याह किया। सवर-पत्नी कनकमाला प्रद्युम्न पर मोहित हो गयी, उसने कामेच्छा से प्रद्युम्न को झुकाना चाहा, किन्तु प्रद्युम्न का चरित्र कुदन की तरह निर्दोष ही रहा।

नारद के साथ प्रद्युम्न द्वारका लौटा, उसने न केवल अपने मायावी घोडो से सत्यभामा के बाग को नष्ट करा डाला बल्कि नकली ब्राह्मण वेश में सत्यभामा का आतिथ्य ग्रहण करके खाद्य सामग्री का दिवाला भी निकाल दिया। तरह-तरह से सत्यभामा को परेशान कर वह माँ के कक्ष में पहुँचा। सत्यभामा ने बलदेव के पास शिकायत की, यादवो की सेना ब्राह्मण वेशधारी प्रद्युम्न को पकडने आयी, किन्तु उसके मायास्त्र से मोहित होकर गिर पडी। नाराज़ बलराम स्वय पकडने आये और मत्र प्रभाव से सिंह बनते-बनते बचे। प्रद्युम्न ने अपनी माँ को असली रूप में प्रणाम किया, सत्यभामा से दिल्लगी की बात सुनायी और पिता से मिलने के लिए नया स्वाग रचाया। माँ को अपने साथ लेकर उसने यादवो की सभा में जाकर कृष्ण को ललकारा 'ओ यादवो और वीर पाडवो से सुसज्जित कृष्ण, मैं तुम्हारी प्राण-वल्लभा को अपहृत करके ले जाता हूँ, मैं दुर्गुनी नही हूँ केवल वल-पारखी हूँ, ताकत हो तो उन्हें छुडाओ', यादवो की सेना आगे बढ़ी किन्तु मायास्त्रो से पराजित हुई। विवश कृष्ण युद्ध करने के लिए उठे। कृष्ण के सभी अस्त्र-शस्त्र बेकार गये, हर बार वे नया अस्त्र उठाते, हर बार प्रद्युम्न उन्हें विफल कर देता। दाहिने अंगो के बार-बार फडकने से कृष्ण को किसी रक्त-सबधी से मिलने की सूचना हुई। कृष्ण ने लडके से रुक्मिणी लौटा देने की प्रार्थना की। अन्त में मल्ल-युद्ध की तैयारी हो रही थी कि नारद ने आकर सारे रहस्य का भडाभोड किया। कृष्ण ने व्यग्यपूर्वक प्रद्युम्न से रुक्मिणी को ले जाने को कहा। प्रद्युम्न ने गर्दन झुका ली। नारद ने प्रद्युम्न के विवाह का समाचार भी बताया, कि कैसे उसने रास्ते में कौरवो को पराजित कर दुर्योधन की पुत्री से विवाह किया। द्वारका में वधू के साथ प्रद्युम्न का स्वागत हुआ। बधाइयाँ बजी।

प्रद्युम्न के दो-एक विवाह और हुए। दो-एक बार सत्यभामा को उसने और परेशान किया। अन्त में बहुत वर्षो के बाद जिनके मुख से कृष्ण के मारे जाने और यादव-विनाश, द्वारका-ध्वस का समाचार सुनकर प्रद्युम्न ने जिनेन्द्र से दीक्षा ली और कठिन तपस्या के बाद कैवल्य पद प्राप्त किया। अन्त में कवि ने अपनी दीनता प्रकट करते हुए ग्रन्थ के श्रवण, मनन, पठन आदि के फलो का विवरण दिया है।

आँचली

सूरिज वस राज सपवित्त, धन हरिचन्द न मेल्हा चित्त
सुणो भाव धरि जापू कहै, नासै पाप न पीडौ रहै ॥८॥

§ १७५ हरिचद पुराण की कथा राजा हरिचद की पौराणिक कथा पर ही आवृत है किन्तु कवि ने अपनी मौलिक उद्भावना के बल पर कई प्रसगो को काफी भावपूर्ण और मार्मिक बनाने का प्रयास किया है। हरिचद पुराण के कई अश परिशिष्ट में दिये गये हैं, इनमें भाषा की सफाई और जन-काव्य की झलक देखी जा सकती है। जापू की भाषा में ब्रजभाषा के औक्तिक प्रयोगो के साथ ही अपभ्रश के अवशिष्ट रूप भी दिखाई पडते हैं। हॅणीज्जइ, थूणीज्जइ, सुणन्तु, आपणँह (पष्ठी) फाडइ, दीयउ, तोडइ आदि बहुत से रूप अपभ्रश प्रभाव की सूचना देते हैं, किन्तु भाषा मे जन-सुलभ सहजता और सफाई भी दिखाई पडती है। रोहिताश्व की मृत्यु पर शैब्या के विलाप का वर्णन करते हुए कवि की भाषा सारे रूढ़ प्रयोगो को छोडकर स्वाभाविक गति में उतर आती है—

विप्र पुछि वन भीतर जाइ, रानी अकली परी चिलखाइ।
सुत सुत कहै वयण ऊचरइ, नयण नीर जिमि पाउस झरइ ॥
हा ध्रिग हा ध्रिग करै ससार, फाटइ हियो अति करै पुकार।
तोडइ लट अरु फाडइ चीर, देषै मुख अरु चोवै नीर ॥
धरि उछग मुष चूमा देइ, अरे बच्छ किम थान न पेइ।
दीपउ करि दीणेउ अँधियार, चन्द विहुण निसि घोर अधार ॥
वछ विण गो जिमि कान्यो आहि, रोहितास विणु जीवों काहि।
तोहिं विणु मों जग पालट भयो, तोहिं विणु जिवतहँ मारउ गयो ॥
तोहि विणु मै दुष दीठ अपार, रोहितास लायो अँकवार।
तोहि विणु नयन ढलै कौ नीर, तेहि विणु सास ज्यों मुके सरीर ॥
तोहि विणु बात न श्रवण सुणेइ, तोहि विणु जीव पयाणो देइ ॥

विष्णुदास (संवत् १४९२)

§ १७६ विष्णुदास ब्रजभाषा के गौरवास्पद कवि थे। सूरदास के जन्म से अर्ध-शताब्दी पहले, जिन दिनो ब्रजभाषा में न तो वह शक्ति थी न वह अर्थवत्ता, जिसका विकास अष्टछाप के कवियो की रचनाओ मे दिखाई पडा, विष्णुदास ने एक ऐसे साहित्य की सृष्टि की जिसने कृष्णभक्ति के अत्यन्त मार्मिक और मधुर काव्य की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। विष्णुदास ने एक ऐसी भाषा का निर्माण किया जिसे १७वी शताब्दी में भारत की सर्वश्रेष्ठ साहित्य भाषा होने का गौरव मिला।

विष्णुदास की रचनाओ की सूचना आज से पचास वर्ष पूर्व, १९०६–८ की खोज-रिपोर्ट में प्रकाशित हुई थी। १९०६ की खोज-रिपोर्ट के निरीक्षक डॉ० श्यामसुन्दरदास ने यद्यपि इस कवि के बारे में कुछ विशेष नही लिखा, क्योंकि उस समय विन्ध्यप्रदेश की खोज का जो विवरण प्रस्तुत किया गया उसमें विष्णुदास की दो रचनाओ, महाभारत कथा और स्वर्गारोहण की सामान्य सूचना मात्र दी गयी। ये दोनो पुस्तकें दतिया राज पुस्तकालय में सुरक्षित बतायी गयीं।

घट घट व्यापक अन्तर जामी त्रिभुवन स्वामी सब सुखरास ।
विष्णुदास रूकमन अपनाई जनम जनम की दास ॥[1]

दो समान पदो में लिपी के कारण कितना बड़ा अन्तर उपस्थित हो जाता है। पहले पद की पक्तियाँ भ्रष्ट और त्रुटिपूर्ण हैं। रुक्मिणी मगल कृष्ण और रुक्मिणी के विवाह का मंगल-काव्य है जिसमें विष्णुदास ने भक्ति और शृगार का अनोखा समन्वय किया है।

§ १७७. ब्रजभाषा में सगुण कृष्णभक्ति का आरम्भ वल्लभाचार्य के वृन्दावन पधारने के ८०, ९० साल पहले ही कवि विष्णुदास-द्वारा किया जा चुका था। यह एक नया ऐतिहासिक सत्य है। १९२६-२८ की रिपोर्ट में ही विष्णुदास की दूसरी कृति सनेहलीला का भी विवरण दिया हुआ है।[2] सनेहलीला भ्रमरगीत का पूर्व रूप है। कृष्ण को एक दिन अचानक ब्रज की स्मृति आती है। स्नेह-विह्वल कृष्ण उद्धव को गोपियो के लिए ज्ञान का सदेश देकर गोकुल भेजते हैं। ज्ञान-गम्भीर उद्धव ब्रज की धूलि में सारी निर्गुण-गरिमा को लटाकर वापस आते हैं। विष्णुदास के शब्दो में ही उद्धव का उत्तर सुनिए—

तब ऊधो आये यहाँ श्री कृष्ण चन्द्र के धाम
पाय लागि वन्दन किय बोलन् ले ले नाम १०९
ग्वाल बाल सब गोपिका ब्रज के जीव अनन्य
तुमही पाय लागन कह्यो सुनो देव ब्रह्मन्य ११०
नन्द जसोदा हेत की कहिये कहा बनाय
वे जानै कै तुम भले मो पै कह्यो न जाय १११
वे चित टारत नही स्याम राम की जोर
मध नामक पुरती ग्रहै मूरति मधुर किशोर ११२
अस गोपिन के प्रेम की महिमा कछू अनन्त
मैं पूछी षट् मास लों तऊ न पायो अन्त ११३
देह गेह सब छाणि के करत रूप को ध्यान
वन को भजन विचारिये सो सब फीको मान ११४
सन्त भक्ति भूतल विषै वे सब ब्रज की नार
चरण सरण रहीं सदा मिथ्या लोग विसार ११५
उनके गुण नित गाइये करि करि उत्तम प्रीति
मैं नाहिन देखूँ कहुँ बृज वासिन की रीत ११६
तब हरि ऊधो सो कह्यो हूँ जानत सब अग
हौं कहूँ छाड्यो नहीं ब्रज वासिन्ह को सग ११७
ब्रज तजि अनत न जायहो मेरे तो या टेक
भूतल भार उतारहौ धरिहौ रूप अनेक ॥ ११८ ॥

---

१ खोज रिपोर्ट, १९२६–२८, पृ० ७५९, सख्या ४९८ ए।
२ वही, पृ० ७६०, सख्या ४९९ ।

सन् १९२९–३१ की सर्च रिपोर्ट मे विष्णुदास की महाभारत कथा, स्वर्गारोहण पर्व और स्वर्गारोहण इन रचनाओ की चौथी बार सूचना प्रकाशित हुई। अतिम दोनो पुस्तकें सभवत एक ही हैं। किन्तु इनके जिन अशो के उद्धरण दिये गये हैं, वे भिन्न-भिन्न हैं और विवरण में इससे अधिक कुछ पता भी नहीं चलता। सभव है दोनो ग्रन्थ हो मूल ग्रन्थ के हिस्से हो। पांचो पाडवो के स्वर्गारोहण की कहानी को बडे मार्मिक ढग से प्रस्तुत किया गया है। महाभारत कथा और स्वर्गारोहण के कुछ अश परिशिष्ट में सलग्न हैं।

§ १७८ इस प्रकार विष्णुदास के बारे मे अब तक खोज रिपोर्ट में चार बार सूचनाएँ प्रकाशित हो चुकी, इनके ग्रन्थो का परिचय भी दिया गया, किन्तु अभाग्यवश ब्रजभाषा के इस सस्थापक कवि का हिन्दी साहित्य के इतिहास मे शायद ही कहीं उल्लेख हुआ हो।[1] विष्णुदास ग्वालियर नरेश डूगरेन्द्र सिंह के राज्यकाल मे वर्तमान थे। १४२४ ईस्वी मे डूगरेन्द्र सिंह ग्वालियर के राजा हुए। डूगरेन्द्र सिंह स्वय साहित्य और कला के प्रोत्साहक नरेश थे। विष्णुदास की रचनाएँ

(१) महाभारत कथा
(२) रुक्मिणी मगल
(३) स्वर्गारोहण
(४) स्वर्गारोहण पर्व
(५) सनेहलीला।

विष्णुदास की भाषा १५वी शती की ब्रजभाषा का आदर्श रूप है। इस भाषा मे ब्रज के सुनिश्चित और पूर्ण विकसित रूप का आभास मिलता है जो १६वी शती तक एक परिनिष्ठित भाषा के रूप में दिखाई पडा। कूँ (को) हे (हो), सूँ (सो) लू या लो (लौं) आदि पुरानी भाषा के चिन्ह हैं। विष्णुदास की भाषा में भूत कृदन्त के निष्ठा रूप में 'आ' अन्त वाले रूप भी मिलते हैं। स्वर्गारोहण पर्व में धरिया, खरखरिया, कहिया, रहिया आदि अवहट्ठ की परपरा के निश्चित अवशेष हैं। खडी बोली में केवल आकारान्त रूप ही दिखाई पडते हैं, किन्तु ब्रज में और खास तौर से प्राचीन ब्रज मे दोनो प्रकार के रूपो का प्राधान्य था। तिडन्त के वर्तमान काल का रूप करई (महा० २) मनई (स्वर्ग०) सुनइ, (स्वर्ग) धरइ (स्व०) आदि रूप भी अपभ्रंश का लगाव व्यक्त करते हैं। भाषा की अर्धविकसित अवस्था की सूचना इन रूपो से चलती है। विष्णुदास की भाषा का विवेचन इस काल के अन्य कवियो की भाषा के साथ ही आगे हुआ है।

कवि दामो की लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा (विक्रमी १५१६)

§ १७९ ईस्वी सन् १९०० के, नागरी प्रचारिणी सभा-द्वारा सचालित हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थो की खोज में कवि दामो की लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा का पता चला। खोज

---

1. मिश्रबन्धु विनोद में सूचना मात्र मिलती है।

रिपोर्ट में इस प्रति का लिपिकाल संवत् १६६९ दिया हुआ है।[1] अन्त की पुष्पिका इस प्रकार है।

'इति श्री वीरकथा लपमसेन पद्मावती सम्पूर्ण समाप्ता, संवत् १६६९ वर्षे भाद्र सुदि सप्तमी लिखित फूलपेडा मध्ये।' पोथी के विवरण में १० पत्र, ६½"×८" २६ पंक्तियाँ और ४८८ पद्य का हवाला दिया हुआ है। अभी हाल में एक दूसरी प्रति का पता चला है जो श्री अगरचन्द नाहटा के पास सुरक्षित है। श्री उदयशंकर शास्त्री ने इस प्रति का परिचय देते हुए एक लेख 'त्रिपथगा' में प्रकाशित कराया है।[2] नाहटाजी के पास सुरक्षित प्रति की अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार है 'इति श्री वीरकथा लपमसेन पद्मावती सम्पूर्ण समाप्ता संवत् १६६९ वर्ष भाद्र सुदि सप्तमी लिखित फूलपेडा मध्ये।' वही २६ पंक्ति, वही ९½"×८" के १० पत्र। एक ही स्थान एक ही लिपिकाल, वार, नक्षत्र, वर्ष सब एक। उदयशंकर शास्त्री इसे दूसरी प्रति बताते हैं किन्तु खोज रिपोर्ट मे सूचित, विद्याप्रचारिणी जैन सभा, जयपुर की प्रति से इसमें कोई भिन्नता नही। न तो आज जयपुर मे उस सभा का कोई पता है और न तो प्रति का। मुझे लगता है कि उक्त दोनो प्रतियाँ वस्तुत एक ही हैं। जैसा कि उनके विवरण से स्पष्ट है। किन्तु दोनो प्रतियो की भाषा में कुछ अंतर अवश्य दिखाई पडता है। नाहटाजी के प्रति के उद्धरण परिशिष्ट में दिये हुए हैं, सर्च रिपोर्ट में सूचित प्रति का अंश इस प्रकार है

सुणो कथा रस लील विलास, योगी मरण राय वनवास
मेलो करि कवि दामो कहइ, पद्मावती बहुत दु.ख सहइ ॥१॥
काशमीर हुँत नीसरइ, पचन सत अमृतरस भरइ
सुकवि दामउ लागइ पाय, हम वर दीयो सारद माय ॥२॥
नमूँ गणेश कुञ्जर शेष, मूसा वाहन हाथ फरेस
लाडू लावन जस भरि थाल, विघन हरण समरु दु दाल ॥३॥

केवल तीन चौपाइयो मे ही भाषा-भेद देखें। सुणउ (ना०) सुणो (सर्च०) मेलउ (ना) मेलो (सर्च) दामउ (ना) दामो (स) वाहण (ना०) वाहन (स०) लावण (ना०) लावन (स०)। सर्च रिपोर्ट में अन्तिम अंश भी दिया हुआ है। भाषा की दृष्टि से यह पूर्णत व्रजभाषा है। किन्तु नाहटावाली प्रति मे उद्वृत्त स्वर ज्यो-के-त्यो हैं उनमें पुरानापन दिखाई पडता है, जब कि सर्च रिपोर्टवाली प्रति में सूचना लेखक ने उद्वृत्त की संधि करके अउ> औ कर लिया है। ण के स्थान पर प्राय न लिखा हुआ है। इस प्रकार कुछ मामूली अन्तर व्यक्त होता है बस। प्रतियाँ प्राय एक ही मालूम होती है।

दामो कवि के बारे में कुछ विशेष पता नही चलता। इस आख्यान की रचना के विषय में कवि की निम्न पंक्तियाँ महत्वपूर्ण हैं—

संवतु पनरइ सोलोत्तरा मझारि
जेठ वदी नवमी बुधवार
सप्ततारिका नक्षत्र दृढ़ जान
वीर कथा रस करूँ बखान ॥४॥

---

१ खोज रिपोर्ट, सन् १९००, नम्बर ८८, पृ० ७५।
२. त्रिपथगा अंक १०, जुलाई, १९५६ पृ० ५३–५८।

सरस विलास काम रस भाव
जाहु दुरीय मनि हूअ उछाह
कह इति कीरत दामो कवेस
पदमावती कथा चहुँ देस ।।५।।

ऊपर की चौपाई से मालूम होता है कि कवि ने १५१६ संवत् अर्थात् १४५९ ईस्वी में इस आख्यानक काव्य की रचना की । दूसरी चौपाई की दूसरी अर्धाली से लगता है कि कवि का पूरा नाम कीर्तिदाम था, जिसके संक्षिप्त दामो नाम से कवि प्रसिद्ध था जैसा कि ग्रन्थ में कवि ने कई स्थानों पर अपने को दामो ही लिखा है । यह अपभ्रंश कथा शैली में लिखा प्रेमाख्यानक है जिसकी कहानी चिरपरिचित मध्यकालीन कथाभिप्रायों (Motif) से पूरित है ।

§ १८० कथा का सारांश नीचे दिया जाता है—

सिद्धनाथ नामक प्रतापी योगी हाथ में खप्पर और दंड लेकर नव-खण्ड पृथ्वी पर घूमता रहता था । एक बार योगी हसराय के गढ़ सामोर में पहुँचा । वहाँ उसने राजकन्या पद्मावती को देखा । वह बातें करती तो मानो चन्द्रमुख से अमृत की वर्षा होती । सौन्दर्यमुग्ध-योगी ने बाला से पूछा कि तुम किसी की परिणीता हो या कुमारी ? नरपति कन्या बोली : मैं सौ राजाओं का वध करनेवाले को अपना पति वरूँगी । कामदग्ध योगी तब—संयम से भ्रष्ट होकर सुन्दरी राजकन्या को देखता ही रह गया, किसी तरह वापस आया । एक सौ एक राजाओं के वध का उपाय सोचने लगा । उसने एक कुएँ से सुरंग का निर्माण किया जो सामौर गढ़ से मिली हुई थी । योगी राजाओं को पकड-पकड कर लाता और उसी कुएँ में डालता जाता । इस तरह उसने चण्डपाल, चण्डसेन, अजयपाल, धरसेन, हमीर, हरपाल, दण्डपाल, सहस्रपाल, सामन्तसिंह, विजयचन्द्र, वैरिशाल, भिण्डवाल, आदि निन्यानवे राजाओं को पकड कर कुएँ में बन्द कर दिया । दो अन्य राजाओं को पकडने के उद्देश्य से उसने फिर यात्रा की । हाथ में बिजौरी नीबू लेकर वह लखनौती के राजा लक्ष्मण के महल के द्वार पर पहुँचा और जोर की हाँक लगाकर आकाश में उड गया । इस सिद्ध करामाती योगी को देखकर आश्चर्यचकित द्वारपालों ने राजा को खबर दी, राजा ने योगी को ढूँढ़ लाने का आदेश दिया किन्तु योगी ने जाना अस्वीकार किया । लाचार राजा स्वयं योगी के पास पहुँचा । योगी ने लखनौती छोडकर वहाँ जाने का कारण पूछा । प्यासे राजा ने पानी माँगा । योगी ने कहा कि तालाब आदि सूख गये हैं, कुएँ के पास चलो । राजा ने पानी निकाल कर पहले योगी को पिलाया । अपने पीने के लिए दुबारा पानी लाने कुएँ पर पहुँचा तो योगी ने उसे कुएँ में ढकेल दिया, जहाँ उसने बहुत से राजाओं को देखा । पूछने पर राजाओं ने बताया कि यह सिद्धनाथ योगी एक सौ एक राजाओं का वध कर पद्मावती से विवाह करना चाहता है । लक्ष्मणसेन ने उन कैद राजाओं को मुक्त करके बाहर निकाल दिया और सुरंग के रास्ते एक स्वच्छ जल के सरोवर के किनारे पहुँचा । पानी पीकर प्यास बुझायी और एक ब्राह्मण के घर जाकर अपने को लखनौती का राजपुरोहित बताकर शरण ली । ब्राह्मणों ने उसे सामोर के राजपुरोहित का पद दिला दिया ।

राजकुमारी पद्मावती के स्वयंवर में लक्ष्मणसेन ब्राह्मण युवक के वेश में पहुँचा, राजकुमारी ने उसके रूप से आकृष्ट होकर वरमाला पहना दी । इस पर स्वयंवर में आये राजा क्रुद्ध हुए, किन्तु उनकी एक न चली । लक्ष्मणसेन ने सबको पराजित किया और अपना
१. नि

असली परिचय देकर पद्मावती से शादी की। एक रात को सिद्धनाथ योगी आकर राजा से बोला—मुझे पानी पिला, नही तुझे शाप दूँगा। भय के कारण राजा ने वह उसकी खोजबीन की। योगी ने तब तक जल पीने से इन्कार किया जब तक राजा वचनवद्ध नहीं हो गया कि वह पद्मावती से उत्पन्न पहली सन्तान को योगी के पास लायेगा। समय बीतने पर पद्मावती के आग्रह और योगी के भय से राजा जब सद्य उत्पन्न बच्चे को लेकर योगी के पास पहुँचा तो उसने उसे चार टुकडो में काटने को कहा। राजा ने वैसा ही किया। वे टुकडे खंग, धनुषबाण, वस्त्र और कन्या के रूप में परिणत हो गये। राजा इससे बडा दुःखी हुआ और राजपाट छोडकर वन में चला गया। इधर-उधर घूमते-भटकते राजा कर्पूरधारा नगर में पहुँचा जहाँ हरिया नामक एक धनकुबेर सेठ निवास करता था। राजा ने उसके डूबते हुए लडके की रक्षा की। नगर में रहते हुए राजा ने वहाँ की राजकन्या को देखा और दोनो में प्रेम हो गया। धारा नरेश लक्ष्मणसेन के इस कार्य पर बडा क्रुद्ध हुआ और लक्ष्मणसेन के वध की आज्ञा दी, किन्तु सारी कथा सुनकर उसे लक्ष्मणसेन पर बडी दया आयी। उसने न केवल मुक्त ही किया बल्कि अपनी कन्या भी व्याह दी। राजा नयी रानी के साथ लौटा और दोनो पत्नियो के साथ सुखपूर्वक लखनौती आकर रहने लगा।

§ १८१. दामो की भाषा प्राचीन व्रजभाषा है, इसमें सन्देह नही किन्तु राजस्थानी का प्रभाव भी प्रत्यक्ष दिखाई पडता है। प्रतिलिपि बहुत शुद्ध नही है। राजस्थानी लिपिकार की स्वभाषाप्रियता भी राजस्थानी प्रभाव में सहायक हो सकती है। नीचे एक अंश उद्धृत किया जाता है। आदि और अन्त के कुछ अंश परिशिष्ट में संलग्न हैं

घरि चाल्यउ लखणउती राय, अति अणंद हरख्यउ मन माय
कह वधावउ आयउ राइ, तब तिण लाधउ बहुत पसाइ ॥ ६२ ॥
लखन सेन लखनौती गयउ, राज माँहि वधावउ भयउ
वंमण भाट करइ कइ वार, मिलियो वेग सहू परिवार ॥ ६३ ॥
मिल्यौ महाजण राजा तणा, नयर देस भय उछाह घणा
माय पूत अरु धीय कुमारि, लखन सेन भेट्यो तिणि वार ॥ ६३ ॥
भणइ प्रधान स्वामि अवधारि, काइ देव रहियो इणवार
योगी सरिसउँ भइ दुःख सहयउँ, चालयउँ कुँआ कष्ट भोगेयउँ ॥ ६४ ॥
गढ सामउर रहइ छइ राय, तासु धीय परणी रग माहि
पछइ कपूर धार हूँ गयउँ, चन्द्रावती विहाहण लियउँ ॥ ६४ ॥

काव्य प्रायः विवरणात्मक है इसलिए भाषा में बहुत सौन्दर्य नही दिखायी पडता, किन्तु आरम्भिक भाषा के अध्ययन के लिए इस ग्रन्थ का महत्व निर्विवाद है, काव्यरूप की दृष्टि से तो यह अनुपेक्षणीय ग्रन्थ है ही।

डूंगर बावनी (विक्रमी संवत् १५३८)

§ १८२. बावन छप्पयो की इस रचना के लेखक कवि प्रसिद्ध जैन श्रावक और कवि थे। डूंगर बावनी की रचना

१८८१ ईस्वी सन् में सम्पूर्ण की। तिथिकाल का जो सकेत कवि करता है, उसका अर्थ १५४८ भी हो सकता है।

> सवत पनरह चाल तीनि अठ गल उदयवता
> सम्वत्सर आणंदि माघ तिहि मास बसन्ता
> सकुल पक्ष द्वादसी वार रवि सुमिर सुमिल्हउ
> पूरव पाढा नखत जोग हरषिणि तिहि खिल्लउ
> सुभ लगन महूरत सुभ घड़ी पदूमनाभ इम उच्चरइ
> बावनी किन्न डूंगरतणी ए महियल बहु विस्थरइ ॥ ५० ॥

डूंगर कवि की बावनी की प्रति श्री अगरचन्द नाहटा के अभय जैन ग्रन्थागार में सुरक्षित है। कवि ने ग्रन्थ के आरम्भ मे अपने पूर्व-पुरुषो का परिचय दिया है। श्रीमालि कुल की फोफल्या शाखा में श्री पुन्नपाल हुए, जिनके पुत्र श्री रामदेव को धर्मपत्नी वारू देवी के गर्भ से दो पुत्र-रत्न उत्पन्न हुए--डूंगर और दीपागर।

ग्रन्थ को देखने से यह स्पष्ट नही हो पाता कि पद्मनाभ ने डूंगर कथित उपदेशो को बावनी रूप में लिखा या डूंगर पद्मनाभ एक ही व्यक्ति थे जिन्होंने इन नीति, विषय, बावन छप्पयो का निर्माण किया। क्योंकि कही 'सघपति डूगर कहइ' या 'नृपति डूंगर कहइ' इस प्रकार की भणिता का प्रयोग है।

> धर्म होइ धन रिद्धि भरइ भण्डार नवइ निधि
> धर्मंहि धवल आवास तुङ्ग तोरण विविह परि
> धर्मंहिं छद्दा इति नारि पदमिणी पीन स्तनि
> धर्मंहिं पुत्र विचित्र पेखि सन्तोष हुवइ मनि
> धरमहि पसार निरवाण फल एह वयन निज मन धरहु
> सघपति राय डूंगर कहइ धर्म एक अहनिस करहु ॥ ५ ॥

दूसरे स्थान पर कवि 'पद्मनाथ उचरइ' कहता है जैसा पचासवें छप्पय में आता है, जिसे रचनाकाल के सिलसिले में पहले उद्धृत किया गया है। जो भी हो, दो-एक पदो को छोड़कर अधिकाश मे 'डूगर कहइ' ही आता है और ग्रन्थ का नाम भी डूंगर बावनी है जो छीहल कवि की छीहल बावनी की तरह कवि के नाम को पुष्टि करती है।

§ १८३ डूंगर कवि की रचनाएँ अपभ्रंश प्रभावित दिखाई पड़ती हैं किन्तु यह छप्पय शैली का परिणाम है। १६वी १७वी तक को छप्पय रचनाओ में भी अपभ्रंश-प्रभाव को सुरक्षित रखा गया है। नरहरिभट्ट के छप्पय और छीहल (१५८० सवत्) की बावनी के छप्पय इस तथ्य के प्रमाण है। डूंगर के छप्पय प्राय नीति विषयक ही हैं। किन्तु नीति में उपदेश के साथ ही कविता का गुण भी समन्वित किया गया है। तीन छप्पय नीचे उद्धृत किये जाते हैं।

> [illegible] तिलु समन्न उत्तरणी विविहि वणराय फलह सहु
> [illegible] नयर विकट सरीर पन्न पिक्खत किपि नहु
> [illegible] सबल वारि वरसत घोर घन
> [illegible] चातक रइ न पडइ इक्कु कन
> [illegible]

जिस कालि जिसउ दीन्हउ, तिसउ तिन काल पावत जन
सघ पति राय डूंगर कहइ अलिय दोष दिज्जइ कवन ॥ २० ॥
इन्द अहल्या रम्यउ जानि तसु अइति उपन्नी
कान्ह रम्यउ ग्वालिनी पेखि करि रूप रवन्नी
दस कधर दस सीस सीय कारनि सिर खण्डयउ
कीचक अरु द्रुपदी कज्ज देउल गिरि भड्येउ
रक्खिय न अप्पइ इमि जानि सो नर जवमहि दुक्यउ
तिनि मयन नृपति डूंगर कहइ को को को न विडूल्यउ ॥ ९ ॥
औषधि मूल मत्री सर्प नहि मानइ दुर्जन
सर्प डसी वेदना एहि विद्धइ हुई सजन
लागइ दोष अनन्त कियइ ससर्ग पनि परि
तवडी जल हरइ घड़ी पीटियइ सुफल्लरि
वइरी वेसास कीजइ नही, नींद न आवइ सुक्ख करि
परिहरउ सदा डूंगर कहइ मल्उ न वल्इ पिसुन नर ॥ १० ॥

डूंगर के कुछ छप्पय अत्यन्त उच्चकोटि के हैं। भाषा अत्यन्त पुष्ट, गठी हुई और शक्तिपूर्ण है। छप्पयो की यह परम्परा बाद में और भी विकसित हुई। साहित्य और भाषा दोनो ही दृष्टियो से इनका महत्त्व स्वीकार किया जायेगा।[1]

मानिक-कवि ने किसी संघई खेमल का नाम लिया है। राजा ने कवि के लिए जो ताम्बूल-वोटिका प्रदान की, उसे प्रथम सघई खेमल ने लिया और मानिक कवि को प्रदान किया। लगता है सघई खेमल कोई राजकर्मचारी तथा राजा का निकटवर्ती था। मानिक कवि को राज-दरबार में पहुँचने में इसने सहायता की। मध्यकालीन कवियो को राजकवि का अथवा विशेष सभाकवि का सम्मान प्रदान करने के लिए राजा कवि को ताम्बूल प्रदान करता था इसका उल्लेख कई कवियो ने बडी गर्वोक्ति के साथ किया है।

मानिक कवि का निवास-स्थान अयोध्या था। ये जाति के कायस्थ थे। मानिक के पूर्व-पुरुष भी कवि थे।

§ १८५ वैतालपचीसी[1] प्राचीन 'वैतालपञ्चविंशति' का अनुवाद प्रतीत होता है, वैसे भाषाकार ने कई प्रसगो को अपने ढग पर कहा है जिसमें मौलिक उद्भावना भी दिखाई पडती है। आरम्भ का अश नीचे उद्धृत किया जाता है

सिर सिंदूर वरन मैमत, विकट दन्त कर फरसु गहन्त
गज अनन्त नेवर झकार, मुकुट चन्द अहि सोहै हार
नाचत जाहि धरनि धसमसे, तो सुमरिन्त कवितु हुलसे
सुर तैंतीस मनावैं तोहि, मानिक भने बुद्धि दे मोहि
पुनि सारदा चरन अनुसरों, जा प्रसाद कवित्त उच्चरों
हस रूप ग्रथ जा पानि, ता कौ रूप न सकौं बखानि
ताकी महिमा जाइ न कही, फुरि फुरि माइ कन्द मा रही
तो पसाइ यह कवितु सिराइ, जा सुवरनों विक्रम राइ

मानिक की भाषा शुद्ध व्रज है। अयोध्या का कवि मानसिंह तोवर की सभा में जाकर व्रजभाषा काव्य करने लगता है। जिस दिन 'सघई खेमल' ने मानिक कवि का राजा मानसिंह से परिचय कराया और वैतालपचीसी लिखने की आज्ञा मिली, उसी दिन काव्य आरम्भ हो गया—भाषा व्रज है जो इस बात की सूचना देती है कि उस समय भी अवध में उत्पन्न किसी कवि के लिए व्रजभाषा में काव्य लिखना सहज व्यापार था। यह स्थिति व्रजभाषा की सर्वप्रियता और व्यापक मान्यता की पुष्टि करती है।

कवि ठक्कुरसी (विक्रमी १५५०)

§ १८६ कवि ठक्कुरसी की सूचना पहली बार प्रकाशित की जा रही है। आमेर भण्डार के हस्तलिखित ग्रन्थो की सूची में इस कवि का नामोल्लेख मात्र हुआ है।[2] इनकी तीन रचनाओं का पता चला है जो (१५५०–७८) के बीच लिखी गयी हैं। ठक्कुरसी

---

१ प्रति कोसीकला, मथुरा के प० रामनारायण के पास सुरक्षित।

२ राजस्थान के जैन शास्त्र भाण्डारो की ग्रन्थ-सूची—

(१) पारसनाथ सकुन सत्तावीसी, पृ० ८७।

(२) पूर्वोक्त ६८।

(३) नेमिराजमतिवेलि ३५२।

जैन लेखक थे। कवि के बारे में इससे ज्यादा कुछ मालूम न हो सका। विक्रमी सवत् १५५० में उन्होंने पचेन्द्रियवेलि या गुण-वेलि नामक रचना लिखी जो भाषा और भाव दोनो ही दृष्टियो से अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति है। पचेन्द्रियवेलि की अतिम पक्तियो में लेखक और उसके रचनाकाल के विषय में निम्न सूचना प्राप्त होती है—

कवि घेल्ह सुजण गुण गावो, जग प्रगट ठकुरसी नावो।
ते वेलि सरस गुन गायो, चित चतुर मुरस समुझायो॥ ३५
सवत् पन्द्रह सौ पचासो, तेरस सुदि कातिग मासो।
इ पाँचो इन्द्रिय वस राखे, सो हरन घरन फल चाखै॥ ३६

'इति श्री पञ्चेन्द्रिय वेलि समाप्त। सवत् १६८८ आसोज वदि दूज, सुकुर वार लिखितम् जोतावरणी आगरा मध्ये।'

घेल्ह सम्भवत ठक्कुरसी के पिता का नाम था। पार्श्वनाथ शकुन सत्तावीसी के अन्त में 'घेल्ह नदणु ठक्कुर सी नाँव' यह पक्ति आती है। किन्तु गुणवेलि से इस प्रकार का कोई सकेत नही मिलता। ठकुरसी ने पञ्चेन्द्रिय वेलि में इन्द्रियो के अनियमित व्यापार और तज्जन्य पतन का वर्णन करके इन्हें सयमित रखने की चेतावनी दी है। लेखक की भाषा प्राय. व्रज है। किञ्चित् राजस्थानी प्रभाव भी वर्तमान है। नीचे एक अश उद्धृत किया जाता है, पूरी रचना परिशिष्ट में दी हुई है।

केलि करन्तो जन्म जलि गाल्यो लोभ दिपालि।
मीनि मुनिय ससार सर मों काढयो धीवर कालि॥
सो काढ्यो धीवर कालि, हिगाल्यो लोभ दिपालि।
मछि नीर गहीर पईठै, दिठि जाइ नहीं तहँ दीठै॥
इहि रसना रस के घाले, थल आइ मुवै दुख साले।
इहि रसना रस के लीयो, नर कौन कुकर्म न कीयो॥
इहि रसना रस के ताईं, नर मुसै बाप गुरु भाई।
घर फोडे मारै बाटा, नित करै कपट धन बाटा॥
मुखि झूठ साच बहु बोले, घरि छाड़ि देसाउर डोलै।
इहि सरना विषय अकारौ, वसि होई ओगनि गारो॥
जिन जहर विषै वस कीते, तिन्ह मानुष जनम बिगूते।
कवंलिय पइट्ठो भँवर दल, घ्राण गन्ध रस रूढ़ि॥
रैनि पड़ी सो सकुयौ नीसरि सक्यो न मूढ़ि।

ठक्कुरसी ने नेमि राज-मति के प्रेम-प्रसग पर भी एक वेलि की रचना की है। इनकी तीसरी कृति पार्श्वनाथसकुन सत्तावीसी है।

छिताई-वार्ता

§ १८७ छिताई चरित नामक ग्रन्थ की पहली सूचना हस्तलिखित ... खोज की १९४१-४२ की रिपोर्ट में प्रस्तुत की गयी। उक्त प्रति प्र... क्षित है जिसका लिपिकाल १६८२ विक्रमी उल्लिखित है। खोज

के लेखक श्री रतनरङ्ग बताये गये है, रचनाकाल का कोई उल्लेख नही है। १९४२ ईस्वी मे विशालभारत के मई अङ्क में नाहटा-बन्धु श्री अगरचन्द और भँवरमल ने 'छिताई-वार्ता' की सूचना प्रकाशित की और बताया कि उक्त रचना के लेखक कवि नारायणदास हैं। प्रति का लिपिकाल १६४७ विक्रमी है। ईस्वी सन् १९४६ में नागरी प्रचारिणी के खोज विभाग के कार्यकर्ता श्री बटेकृष्ण ने 'छिताई चरित' पर एक निबन्ध प्रकाशित कराया जिसमें इस ग्रन्थ के ऐतिहासिक महत्व पर विचार किया गया।[1]

यह छिताई वार्ता और चरित मूलत एक ही ग्रन्थ के दो भिन्न नाम हैं, जैसा कि श्री बटेकृष्ण ने अपने निबन्ध में स्वीकार किया। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने इस ग्रन्थ की उपलब्ध दोनो प्रतियो का निरीक्षण करके इसके रचनाकाल और रचयिता के बारे में अपना विचार 'छिताई वार्ता रचयिता और रचनाकाल' शीर्षक निबन्ध में प्रकाशित कराया।[2] नाहटा बन्धुओ द्वारा सङ्कलित प्रति उन्ही के अभय जैन पुस्तकालय, बीकानेर में सुरक्षित है जिसके आरम्भिक पाँच पत्र त्रुटित हैं। पुस्तक के अन्त मे यह पुष्पिका दी हुई है

'छिताई वारता समाप्त श्री सवत् १६४७ वर्षे माघ बदी ९ दिने लिखित बेला कस्य सी, साहराय जी पठनार्थ। शुभम् भवतु।' इस प्रति मे कई स्थानो पर नरायनदास-भणिता से युक्त पक्तियाँ मिलती हैं। 'कवियन कहै नरायन दास' यह अर्धाली कई बार प्रयुक्त हुई है। इसी प्रकार कई पक्तियो में कवि नाम की तरह रतनरग शब्द का प्रयोग भी हुआ है। दोनो ही प्रतियो में छन्द १२८, १४३, ५४२, ६६० आदि में नारायनदास का नाम दिया हुआ है, साथ ही छन्द १६०, ३६९ में ग्रन्थकर्ता के रूप में रतनरग का नाम आता है। इस प्रकार एक ही गन्थ में दो भिन्न-भिन्न ग्रन्थकर्ताओ के नाम एक नयी समस्या उत्पन्न करते हैं। पाठ विशेषज्ञ डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने अपने निबन्ध में इस समस्या का समाधान उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। 'छिताई वार्ता' की उक्त सवत् १६४७ की प्रति (जो प्राचीनतर है) नारायणदास अथवा रतनरग में से किसी के भी हस्तलेख मे नही हैं, अत यह तो मानना ही पडेगा कि ग्रन्थ की रचना-तिथि स० १६४७ के पूर्व होगी। फिर दोनो प्रतियो का मिलान, करने पर ज्ञात होता है कि किसी एक को सारी भूलें और पाठ-विकृतियाँ दूसरी में नही हैं, इसीलिए यह भी प्रकट है कि दोनो मे से कोई भी दूसरे की प्रतिलिपि नही है। फिर भी दोनो में कुछ सामान्य भूलें और पाठ-विकृतियाँ है, जिससे यह ज्ञात होता है कि दोनो की कोई, भले ही वह ऊपर की किसी पोढ़ी में हो, सामान्य (उभयनिष्ठ) पूर्वज प्रति थी, जिसमें वे भूलें या पाठ-विकृतियाँ हो गयी थीं, और इसीलिए वे भूलें या पाठ विकृतियाँ इन दोनो प्रतियो मे भी सामान्य रूप से आ गयी हैं। किन्तु ये भूलें और पाठ विकृतियाँ इस प्रकार की हैं जो उल्लिखित ग्रन्थकारो नारायणदास अथवा रतनरग से होना सम्भव न थीं, अत यह भी मानना पडेगा कि इन प्रतियो की यह सामान्य पूर्वज प्रति इनमे से किसी के हस्तलेख में नही थी। फिर दोनो प्रतियो के प्रथम लगभग ६८५ छन्दो में नारायणदास की रचना के साथ-साथ उसमें किये हुए रतनरग

२ [illegible]

(१) पार्श्वनाथ पत्रिका, स० २००३, वैशाख पृ० ११८-१२१, माघ, पृ० १३७-१४७।
(२) [illegible] अङ्क १३, नवम्बर १९५५, पृ० ६७-७३।
(३) [illegible]

के सुधार भी समानरूप से मिलते हैं।[1] इसलिए दोनों कवियों की उक्त सामान्य पूर्वज प्रति भी रतनरग के पाठानुवाद के बाद ही लिखी गयी होगी। नारायणदास की मूल रचना तो रतनरग की प्रति से भी पूर्व की होगी।

इस प्रकार नारायणदास की रचना की रतनरग ने पाठानुवादयुक्त प्रतिलिपि की। जिसकी कोई परवर्ती प्रतिलिपि प्राप्त प्रतियों की पूर्वज प्रति थी। सवत् १६४७ की प्रतिलिपि और उसकी विकास-परम्परा से स्रोतों के उपर्युक्त विवेचन के बाद यह सहज अनुमान हो सकता है कि छिताई वार्ता मूल रूप में काफी पुरानी रचना रही होगी। डॉ० गुप्त ने इस विवेचन के आधार पर छिताई वार्ता के रचनाकाल का अनुमान करते हुए लिखा कि '१६४७ की प्रति और नारायणदास की रचना के बीच पाठ की तीन स्थितियाँ निश्चित रूप से पड़ती हैं और यदि हम प्रत्येक स्थिति परिवर्तन के लिए ५० वर्षों का समय मानें जो कि मेरी समझ में अधिक नहीं है—तो रतनरग के पाठ का समय १५८० के लगभग और नारायणदास की रचना का समय १५०० सवत् ठहरता है, वैसे मेरा अपना अनुमान है कि भावी खोज में कुछ और प्रतियाँ प्राप्त होने पर एकाध स्थिति बीच में और निकल सकती है, और तब रतनरग के पाठ का समय १५०० के लगभग और नारायणदास की रचना का समय सवत् १४५० के लगभग प्रमाणित हो तो आश्चर्य नहीं।'[2]

पाठ शोध के आधार पर रचनाकाल का यह अनुमान बहुत सन्तोषप्रद तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु किसी अन्य ऐतिहासिक प्रमाण की उपलब्धि के अभाव में इसी से काम लेना पड़ेगा। वैसे लिपिकाल १६४७ को देखते हुए इतना तो अनुमेय है कि रचना १६वीं शताब्दी की अवश्य है।

§ १८८. छिताई वार्ता ब्रजभाषा की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गौरवास्पद रचना है। इसकी कथा अत्यन्त रोमानी और मर्मस्पर्शी है। अलाउद्दीन खिलजी ने अपने सेनापति निसुरत खाँ को देवगिरि के प्रतापी राजा रामदेव को पराजित करने के लिए भेजा। मुसलमानी सेना के

भगवान् नारायण के पुत्र सुरसी से हो गया। एक दिन मृगया के समय सुरसी भर्तृहरि के तपोभूमि में जा पहुँचा और उसने हिंसा से विरत करने का उपदेश देनेवाले मुनि की प्रमाद-वश उपेक्षा की जिससे नारी-वियोग का शाप मिला। चित्रकार ने देवगिरि से लौटकर अलाउद्दीन से छिताई के रूप की प्रशंसा की, चित्र देखकर बादशाह ने ससैन्य देवगिरि को प्रस्थान किया। देवगिरि में देवी-पूजन के अवसर पर छलपूर्वक छिताई को पकड़ लिया गया और बाद में शाह दिल्ली लौट आया। सुरसी पत्नी-वियोग में सन्यासी हो गया और चन्द्रगिरि पर योगी चन्द्रनाथ से दीक्षा लेकर गोपीचन्द की भाँति हाथ में वीणा लेकर भिक्षा माँगते इधर से उधर घूमता रहा। दिल्ली में उसके वीणा-वादन से अलाउद्दीन बहुत प्रसन्न हुआ और उसने रनिवास में छिताई को भी वीणा सुनाने की आज्ञा दी। वीणा-वादन के समय व्यथित छिताई के आँसू बादशाह के कन्धे पर गिरे, जिससे उसे शोक हुआ, छान-बीन करके सारा हाल मालूम किया और सुरसी को छिताई लौटा दी।

कथा की यह मामूली रूपरेखा है। लम्बी कथा नाना प्रकार की मार्मिक उद्भावनाओं, प्रेम-प्रसंगों और सौन्दर्य-चित्रणों से भरी हुई है।

§ १८९ छिताई वार्ता की भाषा पूर्णतः ब्रजभाषा है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने टीका ग्रन्थ पद्मावत में इसे अवधी पुस्तकों की सूची में रखा है।[1] डॉ० हरिकान्त श्रीवास्तव छिताई वार्ता की भाषा पर लिखते हैं 'इसकी भाषा राजस्थानी है पर कहीं-कहीं डिंगल का पुट भी मिलता है, यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि नाहटाजी से प्राप्त प्रतिलिपि उतनी ही अशुद्ध है जितनी इलाहाबाद म्यूजियम की। शब्दों का तोड़-मरोड़ भी कुछ ऐसा है कि वास्तविक भाषा सम्बन्धी निष्कर्ष देना दुस्तर कार्य है।'[2] डॉ० अग्रवाल ने सम्भवतः सर्च रिपोर्ट की सूचना के आधार पर ही छिताई वार्ता को प्रेमाख्यानक की परंपरा में देखते हुए इसे अवधी भाषा का काव्य स्वीकार कर लिया। डॉ० हरिकान्त श्रीवास्तव ने ज़रूर दोनों प्रतिलिपियाँ देखी थीं, जैसा वे कहते हैं, किन्तु उनका भाषा-विषयक निर्णय तो इसका प्रतिवाद ही करता है। राजस्थानी और डिंगल का भेद भी वे अभी नहीं निश्चित कर पाए हैं। छिताई वार्ता की भाषा कहीं-कहीं प्रतिलिपि के दोष के कारण अशुद्ध हो सकती है किन्तु ऐसी तोड़-मरोड़ तो बिलकुल ही नहीं है कि वास्तविक भाषा-सम्बन्धी निर्णय देना दुस्तर कार्य हो। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने इस रचना के महत्त्व की अभ्यर्थना करते हुए ठीक ही लिखा है कि यह एक ऐसी रचना है जो हमारी भाषा और साहित्य को महत्त्व प्रदान करती है क्योंकि चन्द और हितहरिवंश-सूरदास के समय में भी ब्रजभाषा और उसके साहित्य के अनुपेक्षणीय अस्तित्व की सूचना देती है। 'छिताई वार्ता' का एक अंश नाहटा की प्रति से उद्धार कर मैंने परिशिष्ट में दिया है, भाषा का नमूना उस अंश में देखा जा सकता है। एक दूसरे अंश से पाँच पद नीचे दिये जाते हैं। छिताई में नख-शिख वर्णन देखिए—

> त पुने सन्तानु गुण हन्यो, न्याय वियोग विधाता कन्यौ।
> ते सिर गुथी जु वेनी माल, लाजनि गये भुयंग पयाल ॥५४४॥

1. पद्मावत, वासुदेवशरण अग्रवाल, झाँसी, २०१२ विक्रमी, पृ० २१।
2. भारतीय प्रेमाख्यान काव्य, काशी १९५५, पृ० २१७।

वदनि जोति वैं ससि कर हरीं, तूं सुख क्यों पावहि सुन्दरी।
हरे हरिण लोचन तें नारि, ते मृग सेवैं अजौं ऊजारि ॥५४५॥
जे गज कुम्भ तोहिं कुच भए, ते गज देस दिसन्तर गए।
तैं केहरि मंझ स्थुल हन्यौ, तो हरि ग्रेह कदल नीसन्यौ ॥५४६॥
दसन ज्योति ते दारिउँ भए, उदर फूटि तें दारिउँ गए।
कमल वास लइ अग छिडाइ, सजल नीर ते रहे लुकाई ॥५४७॥
जइ तैं हरी हस की चाल, मलिन मान सर गए मराल।
होइ सन्त माननी मान, तजै देस कै छंडे जान ॥५४८॥

क्रिया, सर्वनाम, परसर्ग सभी रूपों से छिताई वार्ता[1] को भाषा १५वी शताब्दी की व्रजभाषा की प्रतिनिधि कही जा सकती है।

थेघनाथ

§ १६० मानसिंह के शासन-काल मे ग्वालियर व्रजभाषा कवियो का केन्द्र हो गया था। थेघनाथ मानसिंह के दरबार से सीधे रूप से सम्बद्ध नही मालूम होते किन्तु उनके किसी राज-पुरुष भानुकुँवर से इनका सम्बन्ध था। थेघनाथ के विषय में सर्वप्रथम सूचना खोज रिपोर्ट (१९४४-४६) मे प्रकाशित हुई।[2] इस ग्रन्थ को प्रतिलिपि आर्यभाषा पुस्तकालय के याज्ञिक सग्रह मे सुरक्षित है। इस प्रति का लिपिकाल सवत् १७२७ ही मानना चाहिए क्योकि यह प्रति सवत् १७२७ की चतुरदास कृत भागवत् एकादश स्कन्ध को प्रति के साथ ही लिखी हुई थी जो बाद मे जिल्द टूटने से अलग-अलग हो गयी। स्व० याज्ञिकजी ने लिखा है 'थेघनाथ कृत गीता अनुवाद का लिपिकाल १७२७ विक्रमी मानना चाहिए कारण की चतुरदास कृत एकादश स्कन्ध की प्रति जो इसी जिल्द में थी, उसका लिपिकाल १७२७ है। दोनो के लिपिकार एक ही व्यक्ति हैं। देखिए, प्रति नम्बर २७८।५०। जिल्द टूट जाने से दोनो पुस्तकें अलग-अलग हो गयी हैं।'[3]

श्री थेघनाथ ने अपनी 'गीता भाषा' में रचनाकाल और आश्रयदाता के बारे मे कुछ संकेत किया है। विक्रमी १५५७ अर्थात् ईस्वी १५०० में यह ग्रन्थ लिखा गया—

पन्द्रह सौ सत्तावन आनु, गढ गोपाचल उत्तम थानु।
मानसीह तिहि दुग्ग नरिन्दु, जसु अमरावति सोहै इन्दु ॥४॥
नीत पुॅन्न सौ गुन आगरौ, वसुधा राखन को अवतारो।
जाहि होइ सारदा बुद्धि, कै ब्रह्मा जाके हिय शुद्धि ॥५॥
जीभ अनेक सेस ज्यूॅ धरै, सो थुत मान स्यध की करै।
जाकै राजधर्म की जीति, चलै लोक कुल मारग रीति ॥६॥

---

१ पुस्तक प्रकाशित होते-होते सूचना मिली है कि डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित छिताई वार्ता नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हो गयी है।

२ १९४४-४६ की रिपोर्ट अभी तक प्रकाशित है।

३ याज्ञिक सग्रह, नागरी प्रचारिणी सभा की प्रति के अन्त की टिप्पणी।

§ १९१. मानसिंह की प्रजापरायणता, उदारता और विद्वत्ता की प्रशंसा करने के बाद कवि अपने आश्रयदाता भानुकुँवर की चर्चा करता है। कवि के वर्णनो से मालूम होता है कि भानुकुँवर कीरतसिंह के पुत्र और राजा मानसिंह के विश्वासपात्र राजपुरुष थे। कीर्त्तिसिंह को थेघनाथ राजपुत्र बताते हैं, इससे संभव है कि भानुसिंह भी राजघराने के व्यक्ति थे। थेघनाथ भानुसिंह के विषय में लिखते हैं—

सबही विद्या आहि बहूत, कीरतिसिंह नृपति कै पूत।
षट दर्शन कै जाने भेव, मानै गुरु अरु ब्रह्मनु देव॥
समुद समान गहरु ता हिये, इक वत पुत्र बहुत तिह किये।
भले बुरे को जाने मर्म, भानुकुँवर जनु दूजौ धर्म॥
भानुकुँवर गुन लागहिं जिते, मोपे बनैं जाहिं न तिते।
कै आइर्बल होइव बने, बरनै गुन सो भानुहि तनै॥
अगनित गुन ता लहै न पारू, कल्प वृक्ष कलि भानुकुमारू।
तिहि तबोर थेघू कहु दयो, अतिहित करि सो पूछन ठयो॥

इस कलि कल्पवृक्ष भानुसिंह ने एक दिन अत्यन्त प्रेमपूर्वक कवि थेघनाथ को ताम्बूल-बीटिका प्रदान की और कहा कि इस संसार में कोई भी वस्तु नित्य नहीं, सारा विश्व माया-जाल है। ऐसे विश्व में गीता के ज्ञान-बिना मनुष्य शाला में बँधे हुए पशु की तरह निष्फल है। इसलिए गीताकथा को छन्दोबद्ध करके लिखो। इस आज्ञा को सुनकर एक क्षण के लिए कवि मौन बैठा रहा, उसने सोचा शायद मेरे कार्य का लोग उपहास करें किन्तु

सायर को बेरा करि तरै, कोऊ जिन उपहासहिं करै
जो मेरे चित्त गुरु के पाय, अरु जो हियें बसे जदुराय
तो यह मोपै ह्वैहै तैसे, कह्यो कृश्न अर्जुन को जैसे

चतुर्भुजदास की मधुमालती कथा (१५५० विक्रमी के लगभग)

§ १६२. जनवरी सन् १६३६ को 'हिन्दुस्तानी' में श्री अगरचन्द नाहटा ने मधुमालती नामक दो अन्य रचनाएँ शीर्षक लेख प्रकाशित कराया। मझन की प्रसिद्ध मधुमालती से भिन्न दो अन्य रचनाओं का परिचय उक्त लेख में दिया गया। सितम्बर १६५४ को 'कल्पना' में डा० माताप्रसाद गुप्त ने चतुर्भुजदास की मधुमालती का रचना-काल शीर्षक लेख प्रकाशित कराया। डॉ० गुप्त ने अपने लेख में मधुमालती का रचना काल संवत् १५५० विक्रमी से प्राचीन प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। डा० गुप्त ने बताया है कि ग्रन्थ के अन्त के पद्यों से इस पुस्तक की रचना-प्रक्रिया तथा तिथि आदि के विषय में कुछ संकेत मिलते हैं। अन्तिम अंश इस प्रकार है

मधुमालती बात यह गाई, दोय जणा मिलि सनेह बनाई।
एक साथ ब्राह्मन सोई, दूजौ कायथ कुल में होई
एक नाव माधव बड़ होई, मनोहरपुरी जानत सब कोई
कायथ नाम चतुर्भुज जाको, मारू देस भयो गृह ताको
पहली कायथ कही जब बानी, पाछे माधव उचरी बानी
कछु क यामें चरित मुरारी, श्री वृन्दावन कौ सुखकारी
माधव ता तैं गाइयौ यों रस पूरन सोय
कौन काम रस स्यों हु तौ जानत है सब कोय
काइथि गाई जानि कै रसक निरसि की बात
नाम चत्रभुज ही भयौ मारू मांहि विख्यात।

डॉ० गुप्त लिखते हैं कि 'हिन्दी संसार को माधव का उपकृत होना चाहिए कि उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया कि पहली काइथ कही जब बानी पाछे माधव उचरी बानी यही नहीं अन्तिम दोहे में यह संकेत भी कर दिया कि मधुमालती के उत्तरार्द्ध का यह रूपान्तर उन्होंने तब किया जब चतुर्भुज का नाम मारूदेश में विख्यात हो चुका था।'[1] डॉ० गुप्त का कहना है कि माधवानल कामकन्दला नामक रचना के लेखक माधव वही माधव हैं जिन्होंने मधुमालती के उत्तरार्द्ध का रूपान्तर किया और चूँकि माधवानल कामकन्दला का निर्माण संवत् १६०० में हुआ जो निम्न पद से स्पष्ट है—

संवत् सोरै सै वरसि जैसलमेर मझारि।
फागुन मास सुहावने करी बात विस्तार॥

इससे यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि माधव संवत् १६०० में न केवल वर्तमान थे, वे प्रेम-कथाओ की रचना भी कर रहे थे, अत यह अनुमान सहज ही में किया जा सकता है कि मधुमालती में उनके हस्तक्षेप का समय संवत् १६०० था उसके अत्यन्त निकट होगा। उस समय तक, जैसा माधव ने कहा है चतुर्भुजदास विख्यात कवि हो चुके थे, उनका रचनाकाल १५५० विक्रमी के आस-पास माना जा सकता है। डॉ० गुप्त इस ग्रंथ को इससे भी अधिक प्राचीन मानने के पक्ष में हैं।

---

१ चतुर्भुजदास की मधुमालती का रचनाकाल, कल्पना, सितम्बर १६५४, पृ० २०–२१।

इस अनुमान के प्रति सबसे बडी शका 'माधव' को लेकर ही की जा सकती है। डा० गुप्त ने माधवानल कामकन्दला (१६००) से रचनाकार माधव के नाम का सकेत देने-वाली पक्तियाँ उद्धृत नही की। १६०० सवत् में लिखे माधवानल कामकन्दला की एक प्रति श्री उमाशकर याज्ञिक लखनऊ के सग्रहालय में भी बतायी जाती है। किन्तु उससे रचना-कार का पता नही चलता। यदि यह ग्रन्थ माधव नामक किसी कवि का लिखा मान भी लिया जाये तो शका की गुजाइश फिर भी रह जाती है कि क्यो इस माधव को मधुमालती से सबद्ध माधव ही माना जाये। इस प्रकार की शका के निवारण के लिए डॉ० गुप्त ने शायद दोनो का प्रेमाख्यान लेखक होना बताया है, किन्तु यह बहुत सबल प्रमाण नही कहा जा सकता। प्रेमाख्यान लिखनेवाले एक नाम के दो व्यक्ति भी हो सकते हैं।

रचना ब्रजभाषा मे है जैसा कि उपर्युक्त पद्याश से पता चलता है। किन्तु जब तक इस ग्रन्थ के रचनाकाल का निश्चित पता नही लग जाता, तब तक इसकी भाषा की प्रामाणिकता आदि पर भी विचार करने मे कठिनाई रहेगी। वैसे भाषा की दृष्टि से यह रचना छिताईवार्ता की भाषा से बहुत साम्य रखती है। और यदि केवल भाषा के आधार पर इसके रचनाकाल का निर्णय देना हो तो इसे हम १६वी शती के उत्तरार्द्ध की कृति मान सकते हैं।

चतुर्भुज की मधुमालती का सबसे बडा महत्त्व उसके काव्य-रूप का है। आख्यानक काव्य की इतनी आधार स्फुट विशेषताएँ शायद ही किसी काव्य में एकत्र दिखाई पडें। इस रचना की कई प्रतियाँ ग्वालियर मे प्राप्त हुई हैं। पूरी रचना सामने आ जाने तथा तिथि-काल आदि का पूरा विवरण प्राप्त हो जाने के बाद ही इसकी भाषा और साहित्यिक विशिष्टता का अध्ययन किया जा सकता है।

चतरुमल

भादो वदि तिथि पचमी, वार सोम नपत रेवती ।
चन्द नव्य वलु पाइयौ, लगन भली सुभ उपजी मती ॥

रचना सामान्य ही है । भाषा व्रज है ।

धर्मदास

§ १९४. जैन कवि थे। इन्होने सवत् १५७८ (१५२१ ईस्वी में) मे धर्मोपदेश श्रावकाचार नामक व्रजभाषा ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ मे जैन श्रावक लोगो के लिए पालनीय आचारो का वडा सुन्दर चित्रण किया गया है। कवि ने अपने वारे मे विस्तार से लिखा है जिससे मालूम होता है कि वे वारहसेनी जाति के थे। अपने पूर्व-पुरुषो का परिचय देते हुए लेखक ने लिखा है कि मूल सघ-विख्यात श्रावक बारहसेनी जाति मे होरिल साहु नामक पुरुष हुए। उनके ज्येष्ठ पुत्र करमसी जिन के परम उपासक और परम विवेकी दयालु व्यक्ति थे। उनके पुत्र पद्म हुए जो कवि, वैद्य और कलाकार थे, उनके दो पुत्रो मे एक धर्मदास हुए जिन्होने इस श्रावकाचार का उपदेश दिया। प्रशस्ति सग्रह मे इनकी रचना के कुछ अश उद्धृत किये हुए हैं।[1] ग्रन्थ की रचना के विषय में कवि ने लिखा है

पन्द्रह सो अठहतरि वरिसु, सम्वच्छर कुशलह कन सरसु
निर्मल वैसाखी अखतीज, वुधवार गुनियहु जानीज
तादिन पूरो कियो यह ग्रन्थ, निर्मल धर्म भनौ जो पथ
मगल करु अरु विघनि हरनु, परम सुख कवियनु कहु करनु

ग्रन्थ में लेखक ने इस उपदेश सुननेवालो के प्रति अपनी मगल कामना व्यक्त की है। यह प्रसग धर्मदास की सहजता और जनमगल की सदिच्छा का परिचायक है। भाषा अत्यन्त वोधगम्य और प्रवाहयुक्त है

धन कन दूध पूत परिवार, वाढै मगल सुपक्षु अपार
मेदिनि उपजहु अन्न अनन्त, चारि मास भरि जल वरपन्त
मगल वाजहु घर घर द्वार, कामिनि गावहिं मगल चार
घर घर सीत उपजहु सुक्ख, नासे रोग आपदा दुक्ख
घर घर दान पूज अनिवार, श्रावक चलहि आप आचार
नदउ जिन सासन ससार, धर्म दयादिक चलौ अपार
नदउ जिन पडिमा जिन गेह, नदउ गुन निर्ग्रन्थ अदेह

छीहल

§ १९५ १७वी शताब्दी का हिन्दी साहित्य एक ओर जहाँ सूर और तुलसी जैसे अप्रतिम प्रतिभाशाली भक्त कवियो की गैरिक-वाणी से पवित्र होकर हमारा श्रद्धा-भाजन बना वही देव, विहारी और पद्माकर जैसे कवियो की शृङ्गारिक भावनापूर्ण रचनाओ के कारण सहृदय व्यक्तियो के गले का हार भी। वहुत से लोग रीतिकालीन शृङ्गार-भावना के साहित्य को

---

१. प्रशस्ति सग्रह, अतिशय क्षेत्र जयपुर से प्रकाशित। पाण्डुलिपि आमेर भाडार, जयपुर में सुरक्षित।

हियरा भीतर पइसि करि विरह लगाई आग ।
प्रिय पानी विनु ना बुझइ, जलइ सुलागि सुलागि ॥२७॥

दर्जी की पत्नी का सारा शरीर विरह अपनी तीखी कैंची से काट कर दुःख की बखिया देकर सी रहा है, वह भला अपने दुःख को क्या कहे ?

तन कप्पड, दुक्ख कतरनी विरहा दरजी एहु ।
पूरा ब्योंत न ब्योंतइ, दिन दिन काटइ देहु ॥३२॥
दुक्ख का तागा बीटिया सार सुइ कर लेइ ।
चीनजि वधइ काय करि नाना बखिया देइ ॥३३॥
देही मदनै यों दही देह मजीठ सुरग ।
रस लीयो अवटाइ कइ वा कस कीयो अंग ॥३४॥

कलालिन का पति तो उसके शरीर को विरह-भट्टी पर चढाकर अर्क ही बना रहा है—

मो तन भाटी ज्यूँ तपइ नयन चुवइ मदधार ।
विनही अवगुन मुझ सूँ कसकरि रहा भरतार ॥३९॥
माता योवन फाग रति परम पियारा दूरि ।
रली न पूजै जीव को मरउ विसूरि विसूरि ॥४२॥

सुनारी के विरह ने तो उसका 'रूप' (सौन्दर्य) और सोना (नींद) दोनों ही चुरा लिया। उसके शरीर को विरह के कांटे पर तौलकर जाने उसे क्या सुख मिला—

विरहै रूप चुराइया सोन हमारा जीव ।
कासु पुकारूँ जाइकै जो घर नाही पीव ॥४८॥
तन तौले कॉटउ धरी देपइ कसि रक्खाइ ।
विरहा अग सुनार जूँ धरइ फिराइ फिराइ ॥४९॥

छीहल ने पांचों सहेलियों के इस विरह-दुःख को बड़ी सहानुभूति के साथ सुना, सान्त्वना देकर वे लौट आये, दूसरी बार जब वे फिर पहुँचे तो सारा समा बदल चुका था ।

मालिन का मन फूल ज्यूँ बहुत विगास करेइ ।
प्रेम मल्लित गुञ्जार करि प्रिय मधुकर रस लेइ ॥५८॥
चोली खोलि तँबोलिनी काढा गात्र अपार ।
रग किया बहु पीव सूँ नयन मिलाये तार ॥५९॥

छीहल की पञ्च सहेली १६वीं

(१) पचसहेली री वात (नम्बर ७८, छद सख्या ६६, पत्र १६-२२ लिपि-
काल १७१८ सं०) ।

(२) पचसहेली (नम्बर १४२, पृ० ६७-७६) ।

(३) पंचसहेली री वात (नम्बर २१७) अन्त में कुछ सस्कृत श्लोक भी
दिये हुए हैं ।

(४) पचसहेलो री वात (नम्बर ७७) पत्र ६८-१०२। लिपिकाल १७४६ स० ।

इन प्रतियो में ७८ नम्वरवाली और ७७ नम्वरवाली प्रतियो की भाषा ब्रजभाषा के निकट है जब कि नम्बर २१७ और १४२ में राजस्थानी प्रभाव ज्यादा है। आमेर भाडार की प्रतिलिपि में भी राजस्थानी प्रभाव अधिक दिखाई पडता है। इसे लिपिकर्ता की विशेषता मान सकते हैं। वैसे कई प्रतियो मे राजस्थानी प्रभाव को देखते हुए यह मानना पडेगा कि पचसहेली की भाषा राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा है। राजस्थानी प्रभाव विशेष रूप से न > ण में तथा भूतकालिक क्रिया के आकारान्त रूपो मे दिखाई पडता है। चुराइया (४८) काढ्या (५६) बीटिया (३३) कुमलाइया (१६) आदि मे। किसी-किसी प्रति में ये ही क्रियाएँ ओकारान्त भी दिखाई पडती हैं। प्रथमा वहुवचन में 'या' अन्तवाले रूप भी राजस्थानी प्रभाव ही बताते हैं। सहेलियाँ (६), प्रवालियाँ (१२), यौवनबालियाँ (१३) आदि। बाकी प्रयोग पूर्णत ब्रजभाषा के ही हैं।

बावनी

§ १९८ कवि छीहल की बावनी भाषा और भाव दोनो के परिपाक का उत्तम उदाहरण है। नीति और उपदेश को मुख्यत विषय बनाते हुए भी रचनाकार कभी भी काव्य से दूर नही हुआ है। इसीलिए प्राय उसकी कविता मे नीति की एक नये ढग से तथा नये भावो के साथ अभिव्यक्ति हुई है। रचना के अश परिशिष्ट में सलग्न हैं, इसलिए केवल एक छप्पय ही यहाँ उद्धृत किया जाता है—

लीन्ह कुदाली हाथ प्रथम खोदियउ रोस करि।
करि रासभ आरूढ घरि आनियो गूण भरि ॥
देकरि लत्त प्रहार मूड गहि चक्र चढायो।
पुनरपि हार्थाहि कूट धूप धरि अधिक सुखायो ॥
दीनी अगिनि छीहल कहै कुभ कहै हउँ सह्यौ सव।
पर तरणि याइ टकराहणे ये दुखसालै मोंहि अव ॥

बावनी की रचना छप्पय छन्द मे हुई है इसी कारण इसकी भाषा मे प्राचीन प्रयोग ज्यादा मिलते हैं। हम पहले ही कह आये हैं कि छप्पयो में अपभ्रश के प्रयोगो को जान-बूझकर लाने की शैली ही बन गयी थी जो बहुत बाद तक चलती रही। भाषा ब्रज है, आगे बावनी की भाषा पर सयुक्त रूप से विचार किया गया है।

(१) पंचसहेली री बात (नम्बर ७८, छद सख्या ६६, पत्र १६-२२ लिपि-
काल १७१८ सं०) ।

(२) पचसहेली (नम्बर १४२, पृ० ६७-७६) ।

(३) पचसहेली री बात (नम्बर २१७) अन्त में कुछ सस्कृत श्लोक भी
दिये हुए हैं ।

(४) पचसहेली री बात (नम्बर ७७) पत्र ६८-१०२। लिपिकाल १७४६ स० ।

इन प्रतियो में ७८ नम्बरवाली और ७७ नम्बरवाली प्रतियो की भाषा ब्रजभाषा के निकट है जब कि नम्बर २१७ और १४२ में राजस्थानी प्रभाव ज्यादा है । आमेर भाडार की प्रतिलिपि में भी राजस्थानी प्रभाव अधिक दिखाई पडता है । इसे लिपिकर्ता की विशेषता मान सकते हैं । वैसे कई प्रतियो में राजस्थानी प्रभाव को देखते हुए यह मानना पडेगा कि पचसहेली की भाषा राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा है । राजस्थानी प्रभाव विशेष रूप से न > ण में तथा भूतकालिक क्रिया के आकारान्त रूपो में दिखाई पडता है । चुराइया (४८) काढया (५६) बीटिया (३३) कुमलाइया (१६) आदि मे । किसी-किसी प्रति में ये ही क्रियाएँ ओकारान्त भी दिखाई पडती हैं । प्रथमा वहुवचन में 'या' अन्तवाले रूप भी राजस्थानी प्रभाव ही बताते हैं । सहेलियाँ (६), प्रवालियाँ (१२), यौवनवालियाँ (१३) आदि । बाकी प्रयोग पूर्णत ब्रजभाषा के ही हैं ।

बावनी

§ १६८ कवि छीहल की बावनी भाषा और भाव दोनो के परिपाक का उत्तम उदाहरण है । नीति और उपदेश को मुख्यत विषय बनाते हुए भी रचनाकार कभी भी काव्य से दूर नही हुआ है । इसीलिए प्राय उसकी कविता में नीति की एक नये ढग से तथा नये भावो के साथ अभिव्यक्ति हुई है । रचना के अश परिशिष्ट में सलग्न हैं, इसलिए केवल एक छप्पय ही यहाँ उद्धृत किया जाता है—

लीन्ह कुदाली हाथ प्रथम खोदियउ रोस करि ।
करि रासभ आरूढ घरि आनियो गूण भरि ॥

देकरि लत्त प्रहार मूड गहि चक्क चढायो ।
पुनरपि हाथहिं कूट धूप धरि अधिक सुखायो ॥

दीनी अगिनि छीहल कहै कुभ कहै हउँ सह्यौ सब ।
पर तरणि याइ टकराहणे ये दुखसालै मोंहि अब ॥

बावनी की रचना छप्पय छन्द में हुई है इसी कारण इसकी भाषा में प्राचीन प्रयोग ज्यादा मिलते हैं । हम पहले ही कह आये है कि छप्पयो मे अपभ्रंश के प्रयोगो को जान-बूझ-कर लाने की शैली ही बन गयी थी जो वहुत बाद तक चलती रही । भाषा ब्रज है, आगे बावनी को भाषा पर सयुक्त रूप से विचार किया गया है ।

हियरा भीतर पइसि करि विरह लगाई आग ।

प्रिय पानी बिनु ना बुझइ, जलइ सुलागि सुलागि ॥२७॥

दर्जी की पत्नी का सारा शरीर विरह अपनी तीखी कैंची से काट कर दु:ख की बखिया देकर सी रहा है, वह भला अपने दु:ख को क्या कहे ?

तन कप्परु, दुक्ख कतरनी विरहा दरजी एहु ।

पूरा व्योंत न व्योंतइ, दिन दिन काटइ देहु ॥३२॥

दुक्ख का तागा बीटिया सार सुइ कर लेइ ।

चीनजि बधइ काय करि नाना बखिया देइ ॥३३॥

देही भठनै यौ दही देइ मजीठ सुरंग ।

रस लीयो अवटाइ कइ वा कस कीयो अंग ॥३४॥

कलालिन का पति तो उसके शरीर को विरह-भट्टी पर चढ़ाकर अर्क ही बना रहा है—

मो तन भाटी ज्यूँ तपइ नयन चुवइ मदधार ।

विनही अवगुन मुझ सूँ कसकरि रहा भरतार ॥३९॥

माता योवन फाग रति परम पियारा दूरि ।

रली न पूजै जीव की मरउ विसूरि विसूरि ॥४२॥

सुनारी के विरह ने तो उसका 'रूप' (सौन्दर्य) और सोना (नींद) दोनों ही चुरा लिया । उसके शरीर को विरह के काँटे पर तौलकर जाने उसे क्या सुख मिला—

विरहै रूप चुराइया सोन हमारा जीव ।

कासु पुकारूँ जाइकै जो घर नाही पीव ॥४८॥

तन तौलै काँटउ धरी देपइ कसि रक्खाइ ।

विरहा अग सुनार जूँ वरइ फिराइ फिराइ ॥४९॥

छीहल ने पाँचों सहेलियों के इस विरह-दु:ख को बड़ी सहानुभूति के साथ सुना, सान्त्वना देकर वे लौट आये, दूसरी बार जब वे फिर पहुँचे तो सारा समा बदल चुका था ।

मालिन का मन फूल ज्यूँ बहुत विगास करेइ ।

प्रेम सहित गुंजार करि प्रिय मधुकर रस लेइ ॥५८॥

चोली खोलि तँबोलिनी काढा गात्र अपार ।

गुरुग्रन्थ में व्रजकवियों की रचनाएँ

२०० गुरुग्रन्थ में १६०० स० के पूर्व के कई सन्त-कवियो की रचनाएँ सकलित हैं। सन्त-वाणी धार्मिक भारत देश के लिए अन्न-वस्त्र की तरह ही अत्यन्त आवश्यक वस्तु रही है। इसी कारण एक ओर जहाँ अनन्त जनता के कण्ठ में निवसित ये वाणियाँ पोथियो में लिखी रचनाओ की अपेक्षा ज्यादा दीर्घायुषी रही हैं, वही नित-प्रति प्रयोग में आने के कारण इनके कलेवर मे परिवर्तन और विकार भी कम नही आया है। सौभाग्यवश सवत् १६६१ में सिक्खो के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने इन वाणियो को लिपिबद्ध कराकर इन्हें *धर्म-ग्रन्थ* का एक हिस्सा बना दिया, जिसके कारण कुछ रचनाएँ जनता के 'प्रीति भाजन' के अतिवादी परिणाम से बच गयी। इन सन्तो की रचनाओ की भाषा १६६१ तक जिस स्थिति में पहुँची थी, उसपर बीच की काल-व्याप्ति का प्रभाव तो अवश्य ही पडा होगा, फिर भी इनकी प्राचीनता के प्रति कुछ आस्था तो हो ही सकती है।

गुरुग्रन्थ साहब में निश्चित काल-सीमा के अन्तर्गत आविर्भूत, जिन कवियो की रचनाएँ सगृहीत हैं, उनमें जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन, सधना, बेनी, रामानन्द, धन्ना, पीपा, सेन, कबीर, रैदास, फरीद, नानक और मीरा का नाम सम्मिलित है। इन कवियो की रचनाओ पर अब तक बहुत कुछ लिखा जा चुका है। साहित्यिक दृष्टि से इनकी कृतियों का मूल्याकन हुआ है। इनमें से कुछ प्रसिद्ध लोगो की भाषा पर भी यत्र-तत्र विचार मिलते हैं, यद्यपि बहुत विकीर्ण और न्यून। इन कवियो की भाषा आरम्भिक हिन्दी की अविकसित अवस्था को सूचना देती है, जिनमें कई प्रकार के तत्त्व मिश्रित हुए हैं, उनका सम्यक् विवेचन आवश्यक है। नीचे इन कवियो के अत्यन्त सक्षिप्त परिचय के साथ इनकी रचनाओ, विशेषत भाषा का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

वाचक सहज सुन्दर

§ १९९ ये जैन कवि थे। इन्होने सवत् १५८२ मे रतनकुमार रास[1] की रचना की। ग्रंथ का रचनाकाल कवि के शब्दो मे ही इस प्रकार है

> सम्वत् पनरै वयासीइ सवछरि ये रची तुझ रास रे।
> वाचक सहज सुन्दर इमि वोले आनु वुद्धि प्रकास रे॥

रचना वहुत ही सुन्दर और सरस है।

> सरसति हस गमन पय पणमू अविरल वाणि प्रकास रे।
> विनता नगरी श्री रिसहेसर माण्यौ सुक्ख विकास रे॥ १॥
> सगत साधु सवे नयीजइ पूरइ मनह जगीस रे।
> गुरु गुण रतन समुद्र भरउ जिमि विद्या लह रितु रग रे॥ २॥
> विनु गुरु पथ न लहीयइ गुरु जग माहि प्रछन्न रे।
> माता पिता गुरुदेव सरीखा सीख सुनो नर नाहि रे॥ ३॥
> ह पषइ जिमि मान सरोवर राज पपइ जिमि पाट रे।
> सामर को जल विण जिस लोयण गरथ पपइ जिमि हाट रे॥ ४॥
> विण परमल जिम फूल करंडी सील पपइ जिमि गोरी रे।
> चन्द्रकला पषि जिम रयणी, व्रह्म जिसिय विण वेद रे।
> मारग पुण्य पवित्र तिमि गुरु विन, कोइ न वूझे भेद रे॥ ६॥

भाषा पर किंचित अपभ्रंश और राजस्थानी प्रभाव भी है, वैसे व्रज ही है।

---

१. प्रतिलिपि, अभय पुस्तकालय, वीकानेर में श्री नाहटाजी के पास सुरक्षित।

गुरुग्रन्थ में ब्रजकवियों की रचनाएँ

२०० गुरुग्रन्थ मे १६०० स० के पूर्व के कई सन्त-कवियो की रचनाएँ सकलित हैं। सन्त-वाणी धार्मिक भारत देश के लिए अन्न-वस्त्र की तरह ही अत्यन्त आवश्यक वस्तु रही है। इसी कारण एक ओर जहाँ अनन्त जनता के कण्ठ में निवसित ये वाणियाँ पोथियो में लिखी रचनाओ की अपेक्षा ज्यादा दीर्घायुषी रही हैं, वही नित-प्रति प्रयोग में आने के कारण इनके कलेवर में परिवर्तन और विकार भी कम नही आया है। सौभाग्यवश संवत् १६६१ में सिक्खो के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने इन वाणियो को लिपिबद्ध कराकर इन्हे धर्म-ग्रन्थ का एक हिस्सा बना दिया, जिसके कारण कुछ रचनाएँ जनता के 'प्रीति भाजन' के अतिवादी परिणाम से बच गयी। इन सन्तो की रचनाओ की भाषा १६६१ तक जिस स्थिति में पहुँची थी, उसपर बीच की काल-व्याप्ति का प्रभाव तो अवश्य ही पडा होगा, फिर भी इनकी प्राचीनता के प्रति कुछ आस्था तो हो ही सकती है।

गुरुग्रन्थ साहब में निश्चित काल-सीमा के अन्तर्गत आविर्भूत, जिन कवियो की रचनाएँ सगृहीत हैं, उनमें जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन, सधना, बेनी, रामानन्द, धन्ना, पीपा, सेन, कबीर, रैदास, फरीद, नानक और मीरा का नाम सम्मिलित है। इन कवियो की रचनाओ पर अब तक बहुत कुछ लिखा जा चुका है। साहित्यिक दृष्टि से इनकी कृतियो का मूल्याकन हुआ है। इनमें से कुछ प्रसिद्ध लोगो की भाषा पर भी यत्र-तत्र विचार मिलते हैं, यद्यपि बहुत विकीर्ण और न्यून। इन कवियो की भाषा आरम्भिक हिन्दी की अविकसित अवस्था की सूचना देती है, जिनमें कई प्रकार के तत्त्व मिश्रित हुए हैं, उनका सम्यक् विवेचन आवश्यक है। नीचे इन कवियो के अत्यन्त सक्षिप्त परिचय के साथ इनकी रचनाओ, विशेषत भाषा का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

§ २०१ **नामदेव**—महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त कवि नामदेव का आविर्भाव-काल १४वी शती का पूर्वार्ध माना जाता है। डॉ० भण्डारकर के अनुसार इ.का जन्म नरसी-बमनी (सतारा) में एक दर्जी परिवार में सवत् १३२७ अर्थात् ईस्वी १२७० में हुआ।[1] नामदेव साधुओ के सत्सग मे रहनेवाले भ्रमण-प्रिय सन्त थे। ज्ञानेश्वर जैसे प्रतिष्ठित महात्मा के साथ इन्होने देश-भ्रमण किया। कहा तो यह भी जाता है कि इन्होंने जीवन के अन्तिम काल में पजाब को अपना कार्यक्षेत्र बना लिया था। ८० वर्ष की अवस्था में ईस्वी सन् १३५० में इनकी मृत्यु हुई।[2] नामदेव के जीवन के साथ कई चमत्कारिक घटनाएँ भी लिपटी हुई हैं।[3]

अत्यन्त व्यापक पर्यटन करनेवाले नामदेव की भापा में कई प्रकार के भापिक-तत्त्वो का समिश्रण अनिवार्य था। १४वी शताब्दी मे उत्तर भारत में प्रचलित भाषाओ की एक सूची हमने पिछले अध्याय में प्रस्तुत की है।[4] इसमे पिगल, अपभ्रश के कुछ परवर्ती रूप, पुरानी राजस्थानी तथा कई प्रकार की जनपदीय बोलियो की स्थिति का विवेचन हो चुका है। नामदेव की भापा पर इन भापाओ का किसी-न-किसी रूप में प्रभाव दिखाई पडता है। १४वी शती में मध्यदेशीय आरम्भिक खडी बोली, राजस्थानी, पजाबी आदि के मिश्रण से रेखता हिन्दी का निर्माण हो रहा था। जिसे बाद में दक्खिनी हिन्दी और दिल्ली के पिछले खेवे के उर्दू कवियो की हिन्दुई या हिन्दवी का अभिधान भी प्राप्त हुआ। इस रेखता में पजाबी भाषा के तत्त्व भी पूर्ण मात्रा में विद्यमान थे। नामदेव की हिन्दी रचनाओ का एक सग्रह 'शकल सन्तगाथा' नाम से पूना से प्रकाशित हुआ है,[5] किन्तु इस सकलन में सगृहीत रचनाओ की प्राचीनता सन्दिग्ध है। नामदेव की रचनाओ में जो गुरुग्रन्थ साहब में सकलित है,[6] आधी करीब इसी मिश्रित रेखता या आरम्भिक खडी बोली की रचनाएँ हैं। इस प्रकार की भाषा का एक पद नीचे दिया जाता है

> माइ न होती बाप न होता करमु त होती काइया।
> हम नहीं होते तुम नही होते कवनु कहाँ ते आइया ॥१॥
> राम न कोई न किस ही केरा, जैसे तरुवर पषि बसेरा।
> चन्द न होता सूर न होता पानी पवणु मिलाइया।
> सासतु न होता वेद न होता करमु कहाँ ले आइया ॥२॥
> षेचर भूचर तुलसी माला गुर परसादी पाइया।
> नामा प्रणवै महतम ततु है सत गुरु होइ लषाइया ॥३॥

---

१ वैष्णविज्म शैविज्म ऐण्ड माइनर रीलिजस सिस्टम्स, पृ० ९२।
२ एम० ए० मैकालिफ्–द सिख रिलीज़न, भाग ६, पृ० ३४।
३ नाभादास कृत भक्तमाल का 'नामदेव प्रतिज्ञा निर्बही' छप्पय पृ० ३०६-७।
४ देखिए § ८४।
५ नामदेव और उनकी हिन्दी कविता, श्री विनयमोहन शर्मा, विश्वभारती, खण्ड ६, अक २, मन् १९४७ ईस्वी।
६ नामदेव के ६२ पद गुरुग्रन्थ साहब में मिलते हैं।

प्राय ब्रह्म की निराकार-भावस्थिति, पाखड-खंडन, शास्त्र-वेद की असमर्थता, साधु के फक्कड जीवन की महत्ता सम्बन्धी कविताएँ इसी रेखता शैली मे चलती हैं, किन्तु भावपूर्ण सहज भक्ति की रचनाएँ ब्रजभाषा में ही दिखाई पडती हैं। नामदेव ने कई रचनाएँ शुद्ध ब्रजभाषा में लिखी। इन रचनाओ की ब्रजभाषा प्रद्युम्न चरित, हरीचदपुराण आदि की भाषा की तरह काफी पुरानी प्रतीत होती है। उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

१—वदहु किन होड़ माधउ मोसिउ
ठाकुर ते जनु जन ते ठाकुर पेल परिउ है तोसिउ
आपन देउ देहुरा आपन आप लगावै पूजा
जल ते तरंग तरग ते जलु है कहन सुनन को दूजा ॥१॥
आपहिं गावै आपहिं नाचै आप वजावै तूरा
कहत नामदेउ तूँ मेरो ठाकुर जनु ऊरा तू पूरा ॥२॥

२—मै वउरी मेरा राम भतारु रचि रचि ताकउ करउ सिंगार
भले निदउ भले निदउ भले निदउ लोग।
तन मनु राम पियारे जोगु ॥१॥
वाद-विवाद काहु सिउ न कीजै, रसना राम रसाइनु पीजै।
अब जीअ जानि ऐसी बनिआई, मिलउ गुपाल निसान वजाई ॥३॥
उस तति निन्दा करे नरु कोई, नामे श्री रगु भेटल सोई ॥४॥

§ २०२ इन पदो की भाषा पूर्णत ब्रज है। इसमें प्राचीन ब्रज के प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में दिखाई पडते हैं। माधउ>माधो, मो पिउ>मो सो, परिउ>पर्यो, तोसिउ>तो स्यो, सुनन कउ>सुवन कौ, करउ>करौ, निदउ>निदौं मे उद्वृत्त स्वरो की सुरक्षा, सिउ, कउ आदि परसर्गों के पुराने रूप इस भाषा की प्राचीनता के प्रमाण हैं। सन्देशरासक की भाषा में व > उ को परवर्ती शौरसेनी अपभ्रश की ब्रजोन्मुखी प्रवृत्ति का सूचक बताया गया है (देखिए, सन्देशरासक § ३३) नामदेव की भाषा मे वउरी < बाउल < व्याकुल, नामदेउ < नामदेव, देउ < देव, माधउ < माधव आदि इसके उदाहरण हैं।

क्रियापद, सर्वनाम (ताकउ, मोसिउ, मेरो) तथा वाक्यविन्यास सब कुछ ब्रजभाषा के वास्तविक रूप की सूचना देते हैं।

नामदेव की कृतियो में मराठी प्रभाव भी दिखाई पडता है, खासतौर से रेखता शैली की अथवा पुरानी राजस्थानी शैली की रचनाओ मे यह प्रवृत्ति झलकती है, किन्तु ब्रजभाषा-वाली रचनाओ में यह प्रभाव कम-से-कम दिखाई पडता है। यह ब्रजभाषा के विकास और उसके सुनिश्चित रूप की स्थिरता का भी द्योतक है।

§ २०३ **त्रिलोचन**—महाराष्ट्र के सन्त कवि त्रिलोचन के जीवन-वृत्त की कोई सविस्तर सूचना नही मिलती। जे० एन० फर्कुहर के मतानुसार इनका जन्म १३२४ ईस्वी में हुआ,[1] पडरपुर में रहते थे। नामदेव के समकालीन थे। त्रिलोचन और नामदेव के आध्या-

---

१ आउट लाइन आव द रीलिजस लिटरेचर इन इण्डिया, पृ० २९०–३०० ।

लिखक वार्तालाप सम्बन्धी कुछ दोहे उपलब्ध होते हैं। त्रिलोचन साधारण कोटि के रचनाकार थे, इनके केवल चार पद गुरुग्रन्थ में उपलब्ध होते हैं।[1] त्रिलोचन की रचनाओं की भाषा शुद्ध ब्रज नहीं है। इनमें रेख़ता शैली की हिन्दी का प्राधान्य है। ब्रजभाषा के कुछ रूप भी मिले हुए दिखाई पड़ते हैं। एक पद नीचे दिया जाता है जो भाषा की दृष्टि से ब्रज के ज्यादा नजदीक मालूम होता है।

अन्तकालि जो लछमी सिमरै ऐसी चिन्ता महि जे मरै।
सरप जोनि वलि वलि अउतरै ॥१॥
अरी बाई गोबिन्द नाम मति बीसरै।
अन्त कालि जो इसत्री सिमरै, ऐसी चिन्ता महि जे मरै।
बेसवा जोनि वलि वलि अउतरै ॥२॥
अन्त काल जो लड़िके सिमरै ऐसी चिन्ता महि जे मरै।
सूकर जोनि वलि वलि अउतरै—आदि

§ २०४. जयदेव—संस्कृत के प्रसिद्ध गीतकार जयदेव के दो पद गुरुग्रन्थ साहब में मिलते हैं। हालाँकि बहुत से विद्वान् यह स्वीकार नहीं करते कि गुरुग्रन्थ साहब के जयदेव और संस्कृत के गीतकार जयदेव एक ही व्यक्ति हैं। इस आशंका का सबसे बड़ा कारण यह माना जाता है कि गुरुग्रन्थ साहब के पद, भावभूमि और शैली की दृष्टि से गीतकार जयदेव की संस्कृत रचनाओं से मेल नहीं खाते। इन पदों में निर्गुण भक्ति का प्रभाव स्पष्ट है साथ ही शैली की दृष्टि से भी ये उतने सहज और श्रेष्ठ नहीं हैं। हमने प्राकृतपैंगलम् के वस्तु-विवेचन के सिलसिले में कुछ कविताएँ उद्धृत की हैं जो जयदेव के गीत गोविन्द के श्लोकों के पिंगल रूपान्तर हैं (देखिए § ११०)। इन रचनाओं में दशावतार की स्तुति, कृष्ण-राधा के प्रेम-प्रसंग चित्रित हुए हैं, साथ ही भाषा और छन्द दोनों ही दृष्टियों से ये कविताएँ जयदेव की संस्कृत उपलब्धियों की तुलना कर सकती हैं। गीत गोविन्द के आधार पर यह कहना ठीक न होगा कि जयदेव निर्गुण-भक्ति से प्रभावित काव्य नहीं कर सकते। निर्गुण और सगुण भक्ति का मध्यकालीन विरोध भी १२वीं शती के जयदेव के निकट बहुत महत्त्व नहीं रखता। इन दो पदों में से एक की भाषा और शैली तो प्राकृतपैंगलम् की भाषा और शैली से अत्यधिक साम्य रखती है। उदाहरण के लिए हम जयदेव का वह पद, साथ ही प्राकृतपैंगलम् की एक कविता नीचे उद्धृत करते हैं—

चंदसत भेदिया नादसत पूरिया सूरसत षोडसादत्तु कीया।
अबल बलु तोड़िया अचल चलु थपिया अघड़ु घड़िया तहाँ अपिउ पीया ॥१॥
मन आदि गुण आदि वखाणिया, तेरी दुविधा दृष्टि समानीया।
अरधिकउ अरधिया सरधिकउ सरधिया
सललिकउ सललि समानि आइया।
बदति जै देउ जैदेउ कउ रमिया।
ब्रह्म निरबाणु लिवलीण पाइया ॥२॥

1 सिरी राग पद १, पृ० ९१, राग गूजरी पद १–२, पृ० ५२५–५२६, राग धनासरी पद १, पृ० ६९४।

प्राकृतपैंगलम् के एक पद की भाषा देखिए—

जिण वेअ धरिज्जे महियल लिज्जे पिट्ठिहि दंतिहि ठाउ धरा।
रिउवच्छ वियारे छलतणु धारे वधिअ सत्तु सुरज्ज हरा॥
कुल खत्तिय कप्पे दहमुह तप्पे कसअ केसि विणास करा।
करुणा पअले मेछह विअले सो देउ णरायण तुम्ह वरा॥

(प्राकृतपैंगलम् २०७।५७०)

जयदेव के गीतगोविन्द के दशावतारवाले श्लोक से इस पद का अक्षरश साम्य हम पहले ही दिखा चुके हैं। जयदेव के गीतगोविन्द के परवर्ती काल में कई अनुवाद हुए, इसलिए यह कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति ने गीतगोविन्द का पिंगल अवहट्ठ में अनुवाद किया होगा किन्तु अव्वल तो प्राकृतपैंगलम् का रचना-काल १४०० के बाद नही खीचा जा सकता, दूसरे अनुवाद में यह सहजता, यह भाषा-शक्ति कम दिखाई पडती है। जो भी हो प्राकृत-पैंगलम् के कृष्ण-लीला सम्बन्धी पद, गीतगोविन्द से उनका पूर्ण साम्य, गुरुग्रन्थ साहब के जयदेव भणिता से युक्त दो पद तथा उनकी भाषा से प्राकृतपैंगलम् की भाषा का इतना सादृश्य इस बात के अनुमान के लिए कम आधार नही है कि सस्कृत के प्रसिद्ध गीतकार जयदेव ने कुछ कविताएँ प्रारम्भिक ब्रजभाषा अथवा पिंगल अपभ्रंश में भी लिखी थी।[1]

जयदेव के रचनाकाल के विषय में अब भी अनुमान का ही सहारा लेना पडता है। जयदेव का सम्बन्ध सेनवशी राजा लक्ष्मणसेन से जोडा जाता है जिनका शासनकाल ११७९–१२०५ ईस्वी माना जाता है। भागवत की (दशम स्कध ३२।८) भावार्थ-दीपिका की वैष्णवतोषिणी टीका से विदित होता है कि उक्त लक्ष्मणसेन के दरबार में जयदेव, उमापतिधर के साथ रहते थे।[2] जयदेव ने गीतगोविन्द में जिन कवियो की चर्चा की है उनमें उमापतिधर का भी नाम आता है

वाच. पल्लवत्युमापतिधर सन्दर्भशुद्धिं गिरा
जानीते जयदेव एव शरण श्लाघ्यो दुरूहद्रुत.।
श्रृगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन.
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुत श्रुतिधरो धोयी कवि· क्ष्मापति.॥

(गीत० २।४)

इस श्लोक में आये कवियो का सम्बन्ध भी सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन से जोडा जाता है।[3] कुछ लोग जयदेव को उडीसानरेश कामार्णवदेव (११९९–१२१३ ईस्वी) तथा राजा पुरुषोत्तमदेव (१२२७–३७ ईस्वी) का समसामयिक मानते हैं। इन तथ्यो के आधार पर हम जयदेव को विक्रमी १३वी शताब्दी के अन्त का कवि मान सकते हैं।

---

१ राग मारू, गुरुग्रन्थ साहब, पद १, पृ० ११०४, तरन तारन संस्करण।
२ श्री जयदेव सहचरेण महाराज लक्ष्मणसेनमन्त्रिवरेणोमापतिधरेण सह।
(दशम स्कन्ध ३२।८ की टीका)
३ रजनीकान्त गुप्त, जयदेव चरित, हिन्दी, बाँकीपुर, १८१०, पृ० १२।

जयदेव के जीवन-वृत्त से ज्ञात होता है कि उन्होंने वृन्दावन की यात्राएँ की थी, न भी की हो, तो भी १४वी शताब्दी मे पिंगल या प्राचीन ब्रज का इतना प्रचार था कि बगाल के कवियो ने भी इसमें रचनाएँ की। विद्यापति की कीर्तिलता और सिद्धो के पदो की भाषा इसका प्रमाण है। जयदेव के केवल इन दो पदो के आधार पर भाषा का निर्णय करना उचित नही मालूम होता, फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह भाषा अत्यन्त विकृत, टूटी-फूटी और अव्यवस्थित होने के बावजूद प्राचीन ब्रजभाषा के तत्त्वो पर आधारित है। पहले उद्धृत किये गये मारू रागवाले पद में क्रिया रूप प्राय आकारान्त हैं जो ब्रज की मूल प्रवृत्ति के मेल में नही हैं किन्तु उकारान्त प्रातिपदिक, कउ>की परसर्ग, आदि ब्रजभाषा के प्रभाव की सूचना देते हैं। इन पद्यो में पाये जानेवाले ब्रज प्रभावो को ही लक्ष्य करके डॉ० चाटुर्ज्या ने कहा था कि ये पद पश्चिमी शौरसेनी अपभ्रंश के मालूम होते हैं।[1]

§ २०५. बेणी—बेणी के बारे में कोई विशेष सधान नही हो सका है। सिक्खो के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने अपने एक पद में वेणी की चर्चा की है। उक्त सदर्भ में केवल बेणी कवि के विषय में इतना ही मालूम होता है कि बेणी को अपने सद्गुरु की कृपा से प्रकाश (ज्ञान) प्राप्त हुआ।[2] श्री परशुराम चतुर्वेदी इन्हें नामदेव से भी पूर्ववर्ती मानने के पक्ष में हैं क्योकि वे बेणी की भाषा को नामदेव से पुरानी कहते हैं।[3] बेणी की भाषा वस्तुत पुरानी है नही, अत्यधिक भ्रष्टता से उत्पन्न दुरूहता के कारण ही यह ऐसी लगती है। नामदेव की भाषा से कई अर्थों में यह परवर्ती लगती है। उदाहरण के लिए उनका एक पद लीलिए—

इड़ा पिंगुला अउर सुषुमना तीन वसहि एक ठांई
वेणी सगमु तह विरागु मनु मजन करे तिथाई
सतहु तहाँ निरजन राम है, गुर गमि चीन्है विरला कोइ
तहाँ निरजन रमइया होइ ॥ १ ॥
देव स्थाने कीया निसाणी, तह वाजे सबद अनाहद वाणी।
तहँ चन्द न सूरजु पउणु न पाणी, साषी जाकी गुरु मुष जाणी।
उपजै गियान दुरमति छोजै, अमृत रस गगन सरि भीजै।
एसु कला जो जाणे भेउ, भेटै तासु परम गुर देउ ॥ ३ ॥
दसम दुआरा अगम अपारा परम पुरुष की घाटी।
ऊपरि हाट हाटु परि आला, आले भीतर घाटी ॥ ४ ॥
जागतु रहै सो कबहु न सोवै, तीन तिलोक समाधि पलोवै।
वीज मन्त्र लै हिरदै रहै, मनूआ उलटि सुन महि महै ॥ ५ ॥

यह भाषा नामदेव से परवर्ती ही कही जायेगी। न तो नामदेव की भाषा की तरह इसमें उद्वृत स्वर की सुरक्षा दिखाई पडती है और न तो अपभ्रंश के उतने अधिक अवशिष्ट

---

१ ओरोजिन ऐंड डेवलेप्मेन्ट ऑव द बेंगाली लैंग्वेज़, पृ० १२६।

२ वेणी कउ गुर कीउ प्रगासु रे मन तभी होई दास।
राग महला ५ गुरुग्रन्थ, पृ० १९९२।

३ उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० १०४।

यह भाषा १५वी शती के बाद की नहीं है। भाषा व्रज ही है, रेखता-शैली की भी दिखाई पडती है।

,६ सधना—सन्त सधना के बारे में प्रचलित जनश्रुतियों के अतिरिक्त कोई न्त नही मिलता। ऐसा समझा जाता है कि इनका जन्म सेहवान (सिन्ध) में कलिफ ने लिखा है कि नामदेव और ज्ञानदेव की तीर्थयात्रा के सिलसिले में सन्त रा की कन्दरा के निकट मुलाकात हुई थी।[1] इस आधार पर अनुमान किया जा वे नामदेव के समकालीन थे अत इनका आविर्भाव काल भी १४वी शताब्दी ही ए। सधना जाति के कसाई थे, मास बेचना पुश्तैनी पेशा था, किन्तु इस निकृष्ट से उनकी आत्मा कभी कलकित न हुई। गुरुग्रन्थ में उनका एक ही पद मिलता दिया जाता है।[2]

नृप कनिया के कारने इकु भइया वेषधारी।
कामारथी सुआरथी वाकी पैज सँवारी ॥ १ ॥
तव गुन कहा जगत गुरा जउ करमु न नासै।
सिंह सरन कत जाइए जउ जबुक ग्रासै ॥ २ ॥
एक बूँद जल कारने चात्रिक दुख पावै।
प्रान गये सागर मिलै फुनि काम न आवै ॥ ३ ॥
प्रान जो थाके थिरु नही कैसे बिरमावउ।
बूँडि मुवे नउका मिलै कहु काहि चढ़ावउ ॥ ४ ॥
मैं नाही कछ हउ नही किछु आहि न मोरा।
अउसर लजा राखि लेउ सधना जनु तोरा ॥ ५ ॥

भाषा प्राचीन है। नामदेव की भाषा की तरह इसमें भी प्राचीन व्रज के कई चिह्न पडते हैं। जउ>जो, नउका>नौका, बिरमावउ>बिरमावौ, चढ़ावउ>चढावौं आदि स्पष्ट प्रमाण हैं।

§ २०७. रामानन्द—उत्तर भारत में भक्ति-आन्दोलन के संस्थापक रामानन्द का अप्रतिम है। रामानन्द के जीवन-वृत्त सम्बन्धी कोई महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध नही। परवर्ती कवियो और उनके कुछेक शिष्यो की रचनाओं में इनकी चर्चा आती है जो तिहासिक कम, प्रशसामूलक अधिक है। रामानन्द स्वामी रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में थे। डॉ० रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि प्रत्येक शिष्य के लिए यदि ७५ वर्ष का समय रित किया जाये तो रामानन्द का आविर्भाव काल १४वी शताब्दी का अन्त ठहरता है।[3] पि यह बहुत सही तरीका नही है क्योकि साधुओं की शिष्य परम्परा में एक पीढी के लिए वर्ष का समय बहुत ज्यादा मालूम होता है और इसमें अत्यधिक अनुमान की शरण लेनी ती है, फिर भी १४वी शती का अनुमान उचित ही है क्योकि कुछ और प्रमाणो से इसकी

---

1. मैकलिफ दि सिख रिलीजन भाग ६, पृ० ३२।
2. राग बिलावल, पद १, पृ० ८५८।
3. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २२१।

पुष्टि होती है। श्री परशुराम चतुर्वेदी रामानन्द को रामानुजाचार्य की पांचवी पीढी में उत्पन्न बताते हैं, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, 'रामार्चन पद्धति में रामानन्दजी ने अपनी गुरु-परम्परा दी है उसके अनुसार रामानुजाचार्यजी रामानन्दजी से चौदह पीढी ऊपर थे, अब चौदह पीढियो के लिए यदि हम ३०० वर्ष रखें तो रामानन्दजी का समय वही (१५वी का चतुर्थ चरण) आता है।[१] अगस्त्य सहिता मे रामानन्द का जन्म कलियुग के ४४००वें वर्ष मे होना लिखा है जो १३५६ विक्रमी सवत् में पडेगा। कबीर के नाम से प्रसिद्ध एक पद में रामानन्द की चर्चा आती है हालांकि श्री परशुराम चतुर्वेदी के मत से,[२] 'कबीर साहब की उपलब्ध प्रामाणिक रचनाओ में स्वामी रामानन्द का नाम कही भी नही आता, कबीर-पन्थियो के मान्य धर्मग्रन्थ बीजक में एक स्थल पर रामानन्द शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है।'[3] चतुर्वेदीजी बीजक की प्रामाणिकता मे सन्देह व्यक्त करते हैं और निम्नोद्धृत पद में रामानन्द का अर्थ स्वामी रामानन्द समझने को उचित नही मानते, किन्तु कबीर के इस प्रकार के प्रयोगो की प्रामाणिकता वही सन्दिग्ध होनी चाहिए जहाँ उनमें साक्षात् गुरु-शिष्य का सम्बन्ध जोडा जाता है, क्योकि रामानन्द कबीर के पहले एक प्रसिद्ध सन्त हो चुके थे, इसलिए उनकी रचनाओ में रामानन्द की चर्चा मिलना ही अप्रामाणिक नही हो जायेगा। रामानन्द के एक शिष्य सेन भी माने जाते हैं। सेन के एक पद में रामानन्द की चर्चा आती है।[४] सेन का समय भी विवादास्पद है। भक्तमाल सटीक में रामानन्द की जन्मतिथि सवत् १३५६ दी हुई है। इसके अनुसार स्वामी श्री १०८ रामानन्दजी दयालु प्रयागराज में कश्यपजी के समान भगवद्धर्म-युक्त बडभागी कान्यकुब्ज ब्राह्मण पुण्य सदन के गृह विक्रमीय सवत् १३५६ के माघ कृष्ण सप्तमी तिथि में सूर्य के समान सबो के सुखदाता सात दण्ड दिन चढे चित्र नक्षत्र सिद्धयोग लग्न में गुरुवार को श्री सुशीला देवी से प्रकट हुए।[५] डॉ० आर० जी० भण्डारकर भी इस तिथि को प्रामाणिक मानते हैं।[६]

§ २०८ कहा जाता है कि रामानन्दजी की हिन्दी और सस्कृत में कई रचनाएँ थी। किन्तु उनके नाम पर गिनाये जानेवाले ग्रन्थो की प्रामाणिकता पर विद्वानो ने सन्देह व्यक्त किया है। हिन्दी में इनकी बहुत कम रचनाएँ प्राप्त होती हैं। डॉ० बडथ्वाल ने योगप्रवाह में उनकी कुछ रचनाएँ दी हैं। हाल ही में काशी नागरी प्रचारिणी सभा से डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के सम्पादकत्व में 'रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ' शीर्षक एक छोटी-सी पुस्तक प्रकाशित हुई है।[७] इस पुस्तक में रामानन्द की राम रक्षा, ज्ञान लीला, हनुमानजी की आरती, योग

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ११८, संवत् २००७, काशी।

२ उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० २२५।

३ रामानन्द राम रस माते, कहहिं कबीर हम कहि कहि थाके।
—बीजक शब्द ७७।

४ रामभगति रामानन्द जानै, पूरन परमानन्द बखानै। —ग्रन्थ साहब, धनाक्षरी १।

५ भक्तमाल सटीक, पृ० २७३।

६. वैष्णविज्म, शैविज्म ऐण्ड माइनर रिलीजस सिस्टिम्स्, पृ० ९६।

७. रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संवत् २०१२।

चिन्तामणि, ज्ञान तिलक, सिद्धान्त पञ्चमात्रा, भगति जोग, रामाष्टक आदि रचनाएँ संकलित की गयी हैं। पुस्तक में स्व० डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल के लिखे हुए कुछ महत्त्वपूर्ण लेख भी सगृहीत है। 'युग प्रवर्तक रामानन्द', 'अध्यात्म्य', 'रामानन्द सम्प्रदाय', 'सस्कृत और हिन्दी रचनाओ की विचार परम्परा का समन्वय', शीर्षक इन चार निवन्धो में डॉ० वडथ्वाल ने वडी सूक्ष्मता के साथ निर्गुन-काव्य की वैचारिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते हुए रामानन्द के व्यक्तित्व और उनके सास्कृतिक योगदान का विवेचन किया है। डॉ० श्रीकृष्ण लाल ने 'स्वामी रामानन्द का जीवन चरित्र' में इन प्रसिद्ध आचार्य कवि के तिथिकाल तथा जीवन सम्वन्धी घटनाओ का सकेत देनेवाले सूत्रो का अध्ययन किया है।

इस पुस्तक में सकलित रामानन्द की उपर्युक्त रचनाओ में दो प्रकार की भाषा पायी जाती है। योग चिन्तामणि, ज्ञान तिलक आदि की भाषा मिश्रित खडी वोली के नजदीक हैं जवकि ज्ञान लीला, हनुमान् की आरती तथा पृ० ७ पर प्रकाशित एक पद आदि रचनाओ की भाषा व्रजभाषा है। नीचे हम दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं

हरि विनु जन्म वृथा खोयो रे।
कहा भयो अति मान वड़ाई धन मद अधमति सोयो रे॥
अति उतंग तरु देषि सुहायो सैंवल कुसुम सुवा सेयो रे।
सोई फल पुत्र कलत्र विषै सु अति सीस धुनि-धुनि रोयो रे॥
सुमिरन भजन साधु की सगति अंतरमन मैल न धोयो रे।
रामानन्द रतन जम त्रासै श्रीपत पद गहे न जोयो रे॥ (पृष्ठ ७)

ज्ञान लीला का आरम्भिक अश इस प्रकार है—

मूरष तन धरि कहा कमायौ, राम भजन विनु जनम गमायौ।
राम भगति गति जाँणी नाहीं, भंदूँ भूलौ धधा माँही॥
मेरी मेरी करतो फिरियो, हरि सुमिरण तो कवू न करियौ।
नारी सेती नेह लगायौ, कवहुँ हिरदै राम नहिं आयौ॥
सुष माया सूँ षरो पियारो, कवहूँ न सिंवर्ज्यो सिरजन हारौ।
स्वारथ माहि चहूँ दिसि ध्यायो, गोविंद को गुन कवहूँ न गायौ॥ (पृ० ६)

रामानन्द का निम्नलिखित पद गुरुग्रन्थ से उद्धृत किया जाता है—

राग वसत

कत जाइयै रे घर लागो रंग मेरा चितु न चलै मन भइउ पगु।
एक दिवस मन भई उमग घसि चौआ चन्दन वहु सुगध।
पूजन चाली व्रह्म ठाइ, सो व्रह्मु वताइउ गुरु मन ही मांहि॥१॥
जहाँ जाइये तँह जल पषान, तू परि रहिउ है सम समान।
वेद पुरान सब देषे जोइ उहाँ तउ जाइयों जउ इहाँ न होइ॥२॥
सतगुर मैं वलिहारी तोर जिनि सकल विकल भ्रम काटे मोर।
रामानन्द सुआमी रमत वरम, गुरु का सवद काटै कोटि करम॥३॥

रामानन्द की भाषा अत्यन्त सहज और पुष्ट है। भाषा की प्राचीनता का पता क्रिया-पदो को देखने से विदित होता है। भूत निष्ठा के रूप लागो< लाग्यौ (व्रज) ओकारान्त है।

मगव अर्थ लेकर बाबू साहब ने कबीर का भाषा में 'मैथिली' और बिहारी बोलियों का प्रभाव ढूँढ़ने की कोशिश की। यदि पूरबी का अर्थ वे 'अवधी' मानते हैं तो फिर भोजपुरी क्यों नहीं? भोजपुरी तो बिहारी भाषाओं में रखी भी जा सकती थी। वस्तुत यह भाषा-सम्बन्धी निष्कर्ष देने का बहुत उपयुक्त तरीका नहीं है, हम उनके मत से सहमत हैं कि 'कबीर की भाषा का निर्णय करना टेढ़ी खीर है क्योंकि वह खिचड़ी है।'[1] डॉ० उदयनारायण तिवारी, डॉ० श्याम सुन्दरदास के इस निष्कर्ष को अत्यन्त महत्वहीन बताते हुए कबीर की 'पचमेल' भाषा के लिए उत्तरदायी कारणों की खोज करते हैं। उनके मत से कबीर की मूल भोजपुरी में लिखी वाणी बुद्ध वचनों की तरह कई भाषाओं मे अनूदित हो गयी थी, इसीलिए उसमे इतने प्रकार की विविधता पायी जाती है।[2] कबीर को भाषा की प्रासगिक चर्चा करते हुए भोजपुरी भाषा के विवरण के सिलसिले में डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा कि 'कबीर यद्यपि भोजपुरी इलाके के निवासी थे, किन्तु तत्कालीन हिन्दुस्तानी (हिन्दी) कवियो की तरह उन्होंने प्राय ब्रजभाषा का प्रयोग किया, कभी-कभी अवधी का भी। उनकी ब्रजभाषा में भी कभी-कभी पूर्वी (भोजपुरी) रूप भी झलक आता है किन्तु जब वे अपनी बोली भोजपुरी में लिखते हैं तो ब्रजभाषा के तथा अन्य पश्चिमी भाषिक तत्त्व प्राय दिखाई पडते हैं।[3] कबीर मतावलम्बी बीजक को बहुत प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं। बीजक, उस ग्रन्थ को कहते हैं जो अंतरालस्थित परम सत्य से भक्तजन का साक्षात्कार कराये। बीजक में आदि मगल, रमैनी, शब्द, विप्रमतीसी, ककहरा, बसन्त, चाचर, बेलि, बिरहुली, हिंडोला, साखी और 'सायर बीजक को पद' आदि रचनाएँ सम्मिलित हैं। बीजक सम्बन्धी विभिन्न जनश्रुतियो और सम्प्रदाय प्रचलित कथाओ आदि का उचित विवेचन करने के बाद डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह ऐतिहासिक तथ्य जान पड़ता है कि भगवानदास के शिष्य-प्रशिष्यो ने कबीरदास की मृत्यु के दीर्घकाल के बाद उसे (बीजक को) प्रचारित किया। उसमें कुछ परवर्ती बातो का मिल जाना नितान्त असभव नहीं है।'[4] इस बीजक में कई प्रकार की भाषाएँ दिखाई पडती हैं। रचनाओ पर राजस्थानी का प्रभाव कम है जैसा कि कबीर ग्रन्थावली की रचनाओ मे मिलता है, यह सभवत बीजक के पूरब में सुरक्षित रहने अथवा लिखे जाने के कारण हुआ।

§ २१० उपर्युक्त मतो के आधार पर कोई भी पाठक यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि कबीर की भाषा वाकई 'पञ्चमेल' खिचडी है और तब यह भी सम्भव है कि इनके बीच

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६६।

२. डॉ० उदयनारायण तिवारी, भोजपुरी भाषा और साहित्य तथा हिन्दी अनुशीलन वर्ष २, अक २ में 'कबीर की भाषा' शीर्षक निबन्ध।

3 Kabir was an inhabitant of the Bhojpuria tract but following the practice of the Hindustani poets of the time he generally used Brajbhakha and occasionally Awadhi His Brajbhakha at times betrays an eastern (Bhojpuria form) form here and There and when he employes his own Bhojpuria dialect, Brajbhakha and other western forms frequently show themselves. Origin and Development of the Bengali Language p 99.

४ कबीर के मूल वचन, विश्वभारती पत्रिका, खण्ड ६, अक २, पृ० ११३।

प्राचीन व्रज के रूपो की तरह इसमें औ-कारान्त विकास नही है। भइउ>भयौ, बताइउ>बतायौ, रहिउ>रह्यौ में पुराने चिह्न स्पष्ट दिखाई पडते हैं। भाषा नामदेव के पदो की व्रजभाषा की तरह ही शुद्ध और प्राचीन है।

§ २०९ कबीर

मध्ययुग की मुमूर्ष सास्कृतिक चेतना को पुनरुज्जीवित करनेवाले सन्तो में कबीर का स्थान निर्विवाद रूप से मूर्धन्य है। उन्होने अपने अद्वितीय व्यक्तित्व और अप्रतिम प्रतिभा के बल पर एक नयी सामाजिक चेतना की सृष्टि की। द्विवेदीजी के शब्दो में, कबीर में युगप्रवर्तक का विश्वास था और लोक-नायक की हमदर्दी थी इसीलिए वे एक नया युग उत्पन्न कर सके।

कबीर के जीवन, व्यक्तित्व और उनकी रचनाओ की प्रामाणिकता आदि पर अब तक काफी लिखा जा चुका है, उसे यहाँ दोहराने की कोई आवश्यकता नही। गुरुग्रन्थ में कबीर के ढाई सौ पद तथा दो-ढाई सौ श्लोक सकलित हैं। कबीर की रचनाओ के और भी कई सकलन मिलते हैं। हम यहाँ सक्षेप मे कबीर की भाषा का विश्लेषण करना चाहते हैं। कबीर की भाषा पर अभी तक बहुत सम्यक् विचार नही हो सका है। कबीर की भाषा मे इतने विविध रूप सम्मिलित दिखाई पडते हैं कि सहसा भाषा सम्बन्धी कोई निर्णय देना आसान काम नही। हिंदी के कई विद्वानो ने कबीर की भाषा पर यत्किञ्चित् विचार दिये हैं। आचार्य शुक्ल कबीर की भाषा को दो प्रकार की बताते हुए लिखते है 'इसकी (साखी, दोहे) भाषा सधुक्कडी अर्थात् राजस्थानी पजाबी मिली खडी बोली है, पर रमैनी और सबद में गाने के पद हैं जिनमें काव्य की व्रजभाषा और कही-कही पूरबी बोली का भी व्यवहार है। खुसरो के गीतो की भाषा भी हम व्रज दिखा आये हैं इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गीतो के लिए काव्य की व्रजभाषा ही स्वीकृत थी।[1] शुक्लजी कबीर की भाषा में पदो की भाषा को अलग कर इसे व्रज नाम देना चाहते हैं। डॉ० श्यामसुन्दरदासजी इस भाषा को पचमेल खिचडी बताते हैं और अपने विश्लेषण के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं 'यद्यपि उन्होने स्वय कहा है मेरी बोली पूरबी तथापि खडी बोली, व्रज, पजाबी, राजस्थानी, अरबी फारसी आदि अनेक भाषाओ का पुट भी उनकी उक्तियो पर चढा हुआ है। पूरबी से उनका क्या तात्पर्य है यह नही कह सकते। उनका बनारस-निवास पूरबी से अवधी का अर्थ लेने के पक्ष में है। परन्तु उनकी रचना मे बिहारी का भी पर्याप्त मेल है। यहाँ तक की मृत्यु के समय मगहर में उन्होने जो पद कहा है, उसमें मैथिली का भी कुछ ससर्ग दिखाई देता है।[2] बाबूसाहब ने न केवल मगहर में मृत्यु की बात से मैथिली का सयोग ढूँढ़ा बल्कि 'पूरबी बोली' का अर्थ 'बिहारी' बताते हुए कबीर के जन्म-स्थान के विषय मे 'एक नया प्रकाश' पडने की सम्भावना भी बतायी। मगहर[3] का सम्भवत

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, काशी, २००७ विक्रमी, पृ० ८०।

२ कबीर ग्रन्थावली, सवत् २००८, चतुर्थ सस्करण, पृ० ६७।

३ मगहर बस्ती जिले में अमी नदी के किनारे एक गाँव है जहाँ पर कबीर-पथियो का बहुत बडा मठ है, जिनके दो हिस्से हैं। एक पर मुसलमान कबीर-पथियो का अधिकार है दूसरे पर हिन्दू-कबीर-पथियो का। कबीर की समाधि भी है।

सगति बैठाने के लिए यह भी कहना पडे कि कबीर को रचनाएँ मूलत भोजपुरी में थीं जिनका वाद में कई भाषाओ में अनुवाद कर दिया गया। किन्तु ये दोनो प्रकार के निष्कर्ष कबीर की भाषा की पृष्ठभूमि में वर्तमान तत्कालीन भाषिक परिस्थितियो को न समझने के कारण ही निकाले जा सकते हैं। हमारे पास कबीर की रचनाओ की मौलिकता परखने का कोई आधार नही है केवल इसलिए कि कबीर बनारस के थे इसलिए उनकी भाषा पूर्वी या बनारसी रही होगी, यह तत्कालीन स्वीकृत भाषा-पद्धतियो के सही विश्लेषण से उत्पन्न तर्क नहीं कहा जा सकता। वस्तुस्थिति यह है कि कबीर ने स्वय कई भाषाओ का प्रयोग किया, सम्भवत वे इतनी बारीकी से उस भेद को स्वीकार भी नही करते थे। कबीर के ज़माने में प्रचलित भाषा-स्थिति का हमने इस अध्याय के आरम्भ में विश्लेषण किया है। नाथ-सिद्धो द्वारा स्वीकृत रेखता या राजस्थानी पजाबी मिश्रित खडी बोली कबीर को वैसे ही उत्तराधिकार के रूप में मिली जैसे नाथ-सिद्धो से अक्खडता, रूढिविरोधिता और आडम्बर-द्रोही मस्ती। इसीलिए कबीर की वे रचनाएँ, जिनमें वे ढोगियो, धर्मध्वजो, मजहबी ठेकेदारो के खिलाफ़ बग़ावत की आवाज़ बुलन्द करते हैं, खडी बोली या रेखता शैली में दिखाई पडती हैं। ठीक इसके विपरीत कबीर जहाँ अपने सहज रूप मे आत्मनिवेदन, प्रणपत्ति या आत्मा-परमात्मा के मधुर मिलन के गीत गाते है, उनकी रचनाओ का माध्यम ब्रजभाषा हो जाती है। कबीर को अपनी आवाज़ जन-सामान्य तक पहुँचानी थी, इसलिए भाषा उनकी हमेशा जन-परिचित ही रही।

§ २११. १५वी शती का समय हिन्दी का सक्रान्तिकाल था। हिन्दी की तीनो प्रमुख बोलियाँ, ब्रज, खडी और अवधी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में थी, किन्तु तीनो की अलग-अलग रूपरेखा का निर्माण भी हो रहा था। अवधी में वस्तुवर्णन और प्रबन्धात्मक कथा की अभिव्यञ्जना की एक निराली शैली बनने लगी थी। ईश्वरदास की सत्यवती कथा (१५०१ ई०) और मुल्ला दाऊद की नूरक चदा (१३७५ ई०) लखनसेनि का हरिचरित्र विराट पर्व (१४८८ सम्वत्) आदि ग्रन्थ अवधी भाषा की विवरणात्मक रचना-शक्ति का परिचय देते हैं। दोहे चौपाई में इस प्रकार काव्य लेखन की पद्धति बहुत पुरानी है। 'सहजयान के सिद्धो में सरह-पाद और कृष्णपाद के ग्रन्थ में दो-दो चार-चार चौपाइयो के बाद दोहा लिखने की प्रथा पायी जाती है। कालिदास के विक्रमोर्वशीय में भी चौपाई-प्रकार के छद दिये हुए हैं। (देखिए विक्रमोर्वशीय ४।३२) कबीर को यह शैली प्रिय लगी और उन्होने रमैनी की रचना इसी भाषा शैली में प्रस्तुत की। यद्यपि रमैनी की भाषा शुद्ध अवधी नही है फिर भी अवधी के रूप स्पष्ट दिखाई पडते है। ब्रज का प्रभाव भी कम नही है। रमैनी से सम्वत् १४८८ के कवि लखनसेनी (लक्ष्मणसेन) के हरिचरित्र के अश से तुलना करने पर भाषा सम्बन्धी साम्य का रूप स्पष्ट हो जाता है।

कबीर रमैनी[१]

सोइ उपाय करि यहु दुख जाई, ए सब परिहरि विषै सगाई।
माया मोह जोर जग आगी, ता सगि जरसि कवन रस लागी।

---

१ कबीर ग्रन्थावली, चतुर्थ सस्करण, पृ० २२८-२९।

त्राहि त्राहि कर हरी पुकारा, साध संगति मिलि करहु विचारा।
रे रे जीवन नहि विश्रामा, सब दुख मडन राम को नामा।
राम नाम संसार में सारा, राम नाम भौ तारन हारा।
सुम्रित वेद सबै सुनैं नही आवे कृत काज
नही जैसे कुण्डिल वनिल दुख सोमित विन राज
अब गहि राम नाम अविनासी हरि तजि जनि अतइ वै जासी
जहाँ जाइ तहाँ पतंगा, अब जनि जरसि समझ विप सगा

हरि चरित से–[1]

मोंदु महथ जे लागे काना, काज, छांड़ि अकाजै जाना
कपटी लोग सब भे धरमाधी, पोट वइदि नहि चीन्हे वियाधी
कुञ्जर वाँधे भूषन मरई, आदर सो पर सेइ चराई ॥
चन्दन काटि करीले जे लावा, आँवि काटि वबूर बोआवा।
कोकिल हंस मजारहिं मारी, वहुत जतन कागहिं प्रतिपाली ॥
सारीक पंप पारि उपाले तमचुर जग ससार।
लखन सेनि ताह न वसै काढि जो खाँहि उधार ॥

कवीर की रमैनी की भाषा की अपेक्षा लखनसेनी की भाषा अधिक शुद्ध अवधी है। फिर भी कवीर के उपर्युक्त पद्यांश में जरसि, वर्तमान मध्यम पुरुष, करहु (आज्ञार्थक मध्यम पुरुष) जनि (अव्यय) लागि (परसर्ग, चतुर्थी) पुकार (सामान्य वर्तमान, अन्य पुरुष) आदि रूप स्पष्टत अवधी का संकेत देते है वैसे भी वाकी पूरा व्याकरणिक ढांचा अवधी का ही है किन्तु भौ (क्रियाभूत) में (सप्तमी परसर्ग) को (षष्ठी, पर०) व्रज प्रभाव की सूचना देते हैं। कवीर ग्रन्थावली की रमैणी पर व्रज का प्रभाव वैसे ज्यादा है भी।

§ २१२ कवीर की भापा का दूसरा रूप उनकी साखियो में दिखाई पडता है। साखियो की भापा की परम्परा भी कवीर को पूर्ववर्ती सन्तो से ही मिली। अपभ्रंश में दोहो की परम्परा पूर्ण विकसित अवस्था को पहुँच चुकी थी, परवर्ती अपभ्रंश में ये दोहे दो शैली में लिखे जाते थे। एक तो शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित शुद्ध पिंगल की शैली और दूसरी राजस्थानी की पूर्ववर्ती शैली। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के दोहो की इन दो भिन्न शैलियो का उल्लेख पहले हो चुका है। (देखिए § १६०) कवीर में राजस्थानी शैली का प्राधान्य है, किन्तु व्रजशैली के दोहे भी कम नही हैं। नीचे कुछ दोहे दिये जाते हैं।

यह तन जालौं मसि करौं लिखौ राम को नाम।
लेखणि करूं करक की लिखी लिखी राम पठाउँ ॥७९॥
कवीर पीर परावनी पजर पीर न जाइ।
एक जु पीर पिरीति की रही कलेजा छाइ ॥८०॥
हाँसी खेलौं हरि मिलै तो कोण सहै परसान।
काम क्रोध तिष्णां तजै ताहि मिले भगवान ॥९७॥

---

१ हरिचरितत्र, अप्रकाशित, देखिए सर्च रिपोर्ट १९४४–४८।

भारी कहौं तो बहु डरौं हलका कहूँ तो झूठ ।
मैं का जाणौं राम कूं नैनूं कबहुँ ना दीठ ।।१७३।।
सहज सहज सबको कहै सहज न चीन्है कोइ ।
पाचूँ राखै परसती सहज कहीजै सोइ ।।४०६।।
जीवत मृतक ह्वै रहै तजै जगत की आस ।
तब हरि सेवा आपन करै मति दुख पावै दास ।।६१९।।
झूठे सुख कौं सुख कहै मानत है मानत हैं मन मोद ।
खलक चवीणा काल का कुछ मुख मे कुछ कुछ गोद ।।६९४।।

साखियो की भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव दिखाई पडता है। यह सत्य है कि लिपिकार की कृपा के कारण न>ण के प्रयोग तथा आकारान्त क्रिया पद बहुत मिलते हैं। बीजक की साखियो मे राजस्थानी प्रभाव नही मिलता, किन्तु जैसा हमने पहले ही निवेदन किया कि बीजक पूर्वी प्रदेश मे लिखे जाने के कारण राजस्थानी प्रभाव से मुक्त है ।

कबीर की तीसरी प्रसिद्ध शैली पदो की है भाषा मे प्राय जहाँ लयपूर्ण गीत का बन्धन स्वीकार किया गया है, वहाँ ब्रज अवश्य है। उदाहरण के लिए निचले गीत देखें—

अब हरि हूँ अपनौं करि लीनौं
प्रेम भगति मेरौ मन भीनौं ।।
जरै सरीर अग नहि मोरौं प्रान जाइ तौ नेह न तोरौं ।
च्यतामणि क्यूँ पाइये ठठोली, मन दे राम लियौ निरमोली ।।
ब्रह्मा खोजत जनम गवायौ, सोइ राम घट भीतर पायौ ।
कहै कबीर छूटी सब आसा, मिल्यौ राम उपज्यौ विसवासा ।।
मेरौ हार हिरान्यो मै लजाऊँ ।
सास दुरासनि पीव डराऊँ ।।
हार गुहणे मेरौ राम ताग, विचि विचि मान्यक एक लाग ।
रतन पवाले परम जोति, ता अतर अतर लागे मोति ।।
पञ्च सखी मिली है सुजान चलहु न जइये त्रिवेणी न्हान ।
न्हाइ धोइ कै तिलक दीन्ह ना जानूँ हार किनहूँ लीन्ह ।।
हार हिरानौं जन विमल कीन्ह मेरौ आहि परोसनि हार लीन्ह ।
तीनि लोक की जानै पीर, सब देव सिरोमनि कहै कबीर ।।

इन दो पदो मे ऊपर का पद एकदम शुद्ध ब्रज का है। निचले पद का रूप ब्रज का ही है किन्तु कहीं-कहीं अवधी प्रभाव भी दिखाई पडता है। लीन्ह, कीन्ह, दीन्ह आदि क्रिया रूप अवधी मे ज्यादा प्रचलित है किन्तु ब्रज मे इनके प्रयोग कम नही मिलते कीन्ह>कीन तो बिहारी तक मे बहुत पाया जाता है।[१]

कबीर ने बहुत थोडे से छप्पय लिखे है। छप्पयो की भाषा मूलत पिंगल ही है। पिंगल

---

१ मनहु रजाफा कीन (बिहारी)।

का यह अपना छन्द है। चन्द ने रासो में इस छन्द को जो पूर्णता मिली वह अद्वितीय है। कबीर की साखियो (दोहो) के बीच दो छप्पय छन्द भी उपलब्ध होते हैं।[1]

मन नहिं छाड़ै विषै विषै न छाड़ै मन कौ।
इनकौं इहै सुभाव पूरि लागी जुग जन कौ॥
खडित मूल विनास कहौ किम विगतह कीजै।
ज्यूँ जल में प्रतिब्यंब त्यूँ सकल रामहि जाणीजै॥
सो मन सो तन सो विषै सो त्रिभुवन पति कहूँ कस।
कहै कवीर चन्दहुनरा ज्यों जल पूरया सकल रस ॥५४९॥

दूसरा छप्पय 'वैसास कौ अग' में दिया हुआ है।

जिन नरहरि जठराहँ उदकि कैं पड प्रकट कियौ।
सिरजे श्रवण कर चरन जीव जीभ मुख तास दियौ॥
उरध पॉव अरध सीस बीच पघा इम रषियौ।
अनं पान जहॉ जरै तहॉ तैं अनल न चषियौ॥
इहि भाति भयानक उद्र में उद्र न कवहूँ छंछरै।
कृसन कृपाल कवीर कहि इम प्रतिपालन क्यौं करै ॥५६०॥

छप्पय छन्द की यह विशेषता रही है कि उसमें ओजस्विता लाने के लिए पुराने शब्दो खास तौर से परवर्ती अपभ्रश के रूपो का बहुत बाद तक व्यवहार होता रहा। चन्द के छप्पयो की विचित्र शब्दमैत्री तुलसीदास को भी आकृष्ट किये विना न रही और उन्हें भी 'करक्खत बरक्खत' का प्रयोग करना ही पडा। कबीर के इन छप्पयो मे भाषा काफी पुराने तत्त्वो को सुरक्षित किये हुए है। जाणीजै < जाणिज्जइ, कीजै < किज्जइ, विगतह (हँ अपभ्रश षष्ठी) रामहि (राम को) जठराहँ (आहँ, षष्ठी) रषियो > राख्यो (रष्खउ) आदि रूप भाषा की प्राचीनता सूचित करते हैं तथा प्रतिबिंब > प्रतिब्यब, उदर > उद्र, उदकतैं > उदिकंथै, वदहु > व्यंदहु में शब्दो को तोडमरोड कर चारण शैली की नकल भी की गयी है।

कबीर की भाषा के इस सक्षिप्त विवरण के आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि पदो में अधिकाश ब्रजभाषा मे लिखे गये। कबीर ने ब्रजभाषा में नहीं लिखा ऐसा प्रमाणित करने के लिए यह कहना कि 'जिस समय कबीर साहब (मृ० स० १५७५) का आविर्भाव हुआ था उस समय ब्रजभाषा का अभी आधिपत्य नही जम सका था।[2] और साथ ही यह भी कहना कि ब्रजभाषा इन दिनो पिंगल कहला कर प्रसिद्ध थी और उसका क्षेत्र पूर्वी राजस्थान से लेकर ब्रजमडल तक था, परस्पर विरोधी बातें तो हो जाती हैं क्योकि 'जो ब्रजभाषा पिंगल कहलाकर प्रसिद्ध थी' उसका प्रभाव-क्षेत्र गुजरात से लेकर बगाल तक था। दूसरे यह भी कहना ठीक नही कि ब्रजभाषा का उन दिनो आधिपत्य या प्रभाव नही था क्योकि इसका प्रमाण नामदेव से लेकर कबीर तक के सन्तो की रचनाएँ हैं जिनका बहुत बडा अश ब्रजभाषा में लिखा गया। खुसरो से लेकर वैजू (१५वी शती) तक के संगीतकारो की राग-रागिनियाँ

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५६-५७।

२ परशुराम चतुर्वेदी, कबीर-साहित्य की परख, पृ० २१७।

इसी भाषा के बोल का सहारा लेकर व्यक्त हुआ करती थी। प्रद्युम्नचरित, हरीचन्द पुराण और विष्णुदास के अनमोल पद इस भाषा में लिखे जा चुके थे। कबीर की भाषा के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल और डॉ० चाटुर्ज्या के निरीक्षण-निष्कर्ष अत्यन्त उचित मालूम होते हैं कि गीतो की स्वीकृत भाषा ब्रजभाषा ही थी।

§ २१३ रैदास—तथाकथित नीच कही जानेवाली जाति में जन्म लेने पर भी रैदास की आत्मा अत्यन्त महान् थी। अपनी अनन्त साधना और तप पूत भक्ति के कारण रैदास भारत के सर्वश्रेष्ठ सन्तो में प्रतिष्ठित हुए। रैदास के जीवन-वृत्त और रचना-काल की निर्णायक ऐतिहासिक सामग्री का अभाव है। उन्होने अपने एक पद में कबीर का नाम लिया है जिससे माल्म होता है कि तब तक कबीर दिवगत हो चुके थे—

जाको जस गावै लोक।
नामदेव कहिए जाति कै ओछ ॥३॥
भगति हेत भगता के चले, अकमाल ले वीठल मिले ॥४॥
निरगुन का गुन देखो आई, देही सहित कबीर सिधाई ॥५॥
—रैदासजी की बानी, पृ० ३३

रैदास का सम्बन्ध एक ओर रामानन्द से और दूसरी ओर मीराबाई से जोडा जाता है। रैदास ने स्वय किसी पद में रामानन्द को गुरु के रूप मे स्मरण नही किया। धन्ना भगत के एक पद में रैदास की चर्चा अवश्य मिलती है और धन्ना को रामानन्दजी का शिष्य कहा जाता है, अत. रैदास का १५वी शती मे होना अनुमानित किया जा सकता है। धन्ना ने अपने उक्त पद में छीपी का कार्य करनेवाले नामदेव, जुलाहे कबीर, मृत पशुओ को ढोनेवाले रैदास, नाई का काम करनेवाले सेन का हवाला देते हुए कहा है कि इनकी भक्ति को देखकर मैं भी इधर आकृष्ट हुआ।[१] इस पद से लगता है कि धन्ना के पहले कबीर, रैदास आदि प्रसिद्धि पा चुके थे। श्री मैकालिफ ने धन्ना का आविर्भाव-काल १४१५ ईस्वी निश्चित किया है[२] जो कबीर के समय के पूर्व ठहरता है। कबीर का काल सवत् १४५४–१५७५ माना जाता है, ऐसी अवस्था मे मेकालिफ का अनुमान उपयुक्त नही मालूम होता। सत्य तो यह है कि रामानन्द का इन सन्तो के साथ प्रत्यक्ष गुरु-शिष्य सम्बन्ध जोडने का जो रवाज है वही बहुत आधार-पूर्ण नही मालूम होता है, क्योकि इन सन्तो की प्रामाणिक वाणियो में रामानन्द को प्रत्यक्ष गुरु के रूप मे कही भी सम्बोधित नही किया गया है।

रैदास और मीरा के सम्बन्धो पर भी काफी विवाद हुआ है। मीरा के कुछ पदो में रैदास को गुरु कहा गया है, जैसे—

गुरु रैदास मिले मोहि पूरे, धुर से कलम पडी
सतगुरु सैन दई जब आके जीत रली।[3]

---

१ गुरुग्रन्थ साहब, तरन तारन सस्करण, राग आसा, पद २, पृ० ४८७–८८।

२. मैकालिफ, द सिख रिलीजन, भाग ५, पृ० १०६।

३. सन्त बानी सग्रह, भाग २, पृ० ७७।

मीरावाई की पदावली के भी कुछ पदो मे रैदास का नाम आता है।[1]

(१) रैदास सन्त मिले मोहि सतगुरु दीन्हा सुरत सहदानी

(२) गुरु मिलिया रैदास जी दीन्ही ग्यान की गुटकी

एक तरफ मीरा-साहित्य के अन्तरग साक्ष्यो पर मालूम होता है कि रैदास मीरा के गुरु थे। दूसरी ओर प्रियादास सन्त रैदास के जीवन का जो चित्र अपने भक्तमाल की टीका में उपस्थित करते हैं, उसमें भी किसी झाली राणी का उल्लेख हुआ है।[2] कुछ लोग झाली रानी का मतलब मीरा ही समझते हैं।[3] मीरा के जन्मकाल के विषय में वैसे ही विवाद हैं। कुछ लोग उन्हें (१४३०–१५०० सवत्) १५ वी शती का मानते हैं कुछ १६वी - १७वी (१५५५–१६३० सवत्) का बताते हैं।[4] अत रैदास और मीरा वाले प्रसगो से भी रैदास के जीवनकाल के बारे में कुछ ठीक निर्णय नही हो पाता। अनुमानत. हम इन्हें १५५० के पहले का ही मान सकते हैं।

रविदास ने अपने को जात का चमार या ढेढ कहा है तथा अपने को बनारस का निवासी बताया है। अपने को बार-बार चमार और नीची-जाति का कहा है।

ऐसी मेरो जाति विख्यात चमार, हृदय राम गोविन्द गुन सार ॥१॥

जाति भी ओछी करम भी ओछा कसब हमारा।

नीचे से प्रभु ऊँच कीयो है कह रैदास चमारा ॥२॥

(रैदासजी की बानी, पृ० २१, ४३)

इस प्रकार से अपनी जाति और वश के बारे में स्पष्ट उल्लेख करनेवाले रैदास की आत्मा कितनी विशाल थी। उनकी रचनाओं का एक सङ्कलन रैदासजी की वाणी के नाम से बहुत पहले प्रकाशित हो चुका है।[5] गुरुग्रन्थ साहब में इनके बहुत से पद सङ्कलित हैं। श्री परशुराम चतुर्वेदी गुरुग्रन्थ साहब की रचनाओ के विषय में लिखते हैं कि 'दोनो सग्रहो (वाणी और गुरुग्रन्थ) में आयी हुई रचनाओ की भाषा में कही-कही बहुत अन्तर है जो सग्रहकर्ता की अपनी भाषा के कारण भी सम्भव समझा जा सकता है।'[6] चतुर्वेदीजी का मतलब सम्भवत. लिपिकर्ता की अनुलेखन-पद्धति के प्रभाव से है तो यह स्वाभाविक दोष कहा जा सकता है, किन्तु यदि उनका मतलब भाषा-भेद से है, तो इसे स्पष्ट करना चाहिए था। मुझे रविदास की कविताओ में भाषा की वही दो पुरानी शैलियाँ रेखता और व्रज दिखाई पडती हैं। इनके बारे में आगे विचार करेंगे।

§ २१४ रैदास की रचनाओ के सिलसिले मे 'प्रह्लाद चरित्र' का भी जिक्र होना चाहिए। खोज रिपोर्ट सन् १६२६–३१ में रैदास के दो ग्रन्थो की सूचना प्रकाशित हुई है

---

१. मीराबाई की पदावली, हि० सा० सम्मेलन प्रयाग, पृ० १० और पृ० १५६।

२ भक्तमाल, नाभादास, पृ० ४८३–८५।

३. ऐन आउटलाइन ऑव दी रिलीजस लिटरेचर ऑव इंडिया, पृ० ३०६।

४ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ५६५–५८२।

५ रैदास की वाणी, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।

६ उत्तरभारत की सन्त परम्परा, पृ० २४१।

'प्रहलाद लीला' और 'रैदासजी के पद'। प्रहलाद लीला में प्रहलाद के पिता की राजधानी मुलतान शहर बतायी गयी है। डॉ० बडथ्वाल ने अपनी इस रिपोर्ट में यह भी लिखा है कि इस ग्रन्थ की भाषा पर किञ्चित् पजाबी प्रभाव भी दिखाई पडता है।[1] ग्रन्थ के अन्त में कवि भगवान् की वन्दना करता है—

जहां भक्त को भीर तहां सब कारज सारे
हमसे अधम उधार किये नरकन से तारे
सुर नर मुनि मंडन कहै पूरन ब्रह्म निवास
मनसा वाचा कर्मणा गावै जन रैदास

प्रहलाद के जन्म-अवसर का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है—

सहर बढ़ो मुलतान जहां एक लाखन राजा
तहा जनमे प्रहलाद सुर नर मुनि के काजा
पूछो विप्र बुलाइ कै, जन्म्यौ राजकुमार
या लक्षण तो कोई नहीं असुर सहारण हार ॥१॥
मैं पठैरों राम को नाम ओइ जान हो आनौं
राम को मैं छाँड़ि तीसरो आन न जानौं
कहा पढ़ावै बावरै और सकल जंजार
भौ सागर जमलोक तै मुहि कौ उतारै पार ॥२॥

हिरण्यकशिपु के वध का वर्णन इस प्रकार दिया गया है—

अस्त भयौ तव भान उदय रजनी जब कीन्हा
षवा मे ते निकसि जाघ पर जोधा लीन्हा
नष सौं निम्नव विढारिया तिलक दिया महराज
ससलोक नवदण्ड में, तीन लोक भइ राज।

भाषा की दृष्टि से यह ग्रन्थ वहुत परवर्ती मालूम होता है। वर्णन और कथा भी साधारण कोटि ही की है।

§ २१५ रैदास के पद और उनकी भाषा

रैदासजी के पद जैसा ऊपर कहा गया हिन्दी की व्रज और रेखता दोनो ही शैलियो में लिखे गये हैं। रेखता का किंचित् आभास अपनी जाति के सवध में कहे हुए उनके पूर्व उद्धृत पद में मिलता है। गुरुग्रन्थ साहव में उनके चालीस के करीव पद इन दोनों शैलियो मे मिलते है। रेखतावाले पदो पर भी व्रजभाषा की छाप दिखाई पडती है। रेखता शैली का पद दिया जाता है—

तेरे देव कमलापति सरन आया।
मुझ जनम सदेह भ्रम छेदि माया ॥१॥

---

१ नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४४, अंक २, पृ० १३९ तथा हस्तलिखि[त] खोज का विवरण १९२८–३१ पृ० ३१ पृ० ५१५, स० २७६ ए०।

अति अपार ससार भवसागर जामे जनम मरना सदेह भारी ।
काम भ्रम क्रोध भ्रम लोभ भ्रम मोह भ्रम अनत भ्रम छेदि मम करसि भारी ।।२।।
पच सगी मिलि पीड़ियो प्रान यो जाय न सक्यो बैराग भागा ।
पुत्र वरग कुल बधु ते भारजा भरव दसो दिप सिरकाल लागा ।।३।।
परम प्रकाश अविनाशी अघमोचना निरखि निज रूप विसराम पाया ।
वद रैदास वैराग पद चिंतना जपौ जगदीश गोविंद रामा ।।६।।

इस पद की भाषा मूलत खडी बोली ही है किन्तु इनमें भी जामें (सर्व० अधि०) और पीडियो, सक्यो आदि क्रिया रूप ब्रजभाषा प्रभाव की सूचना देते हैं किन्तु जहाँ आत्म-निवेदन आदि के पद आते हैं, वहाँ रैदास की भाषा अत्यन्त मार्मिक और शुद्ध ब्रजभाषा ही दिखाई पडती है । नीचे हम रैदास के तीन ब्रजभाषा-पद उद्धृत करते हैं । ये तीनो पद गुरु-ग्रन्थ से हैं

दूधु बछरै थनहु बिटारिउ फूल, भवँर जल मीनि बिगारउ ।। १ ।।
माई गोविंद पूजा कहा लै चरावउ, अवरु न फूल अनूप न पावउ ।
मैलागिरि वैरहे हैं भुइजंगा, बिषु अम्रितु बसहिं इक सगा ।। २ ।।
धूप दीप नइवेदहिं बासा, कैसे पूज करहिं तेरी दासा ।। ३ ।।
मनु अरपउ पूज चरावउ, गुरु परसादि निरजन पावउ ।। ४ ।।
पूजा अरचा आहि न तोरी, कहि रविदास कवन गति मोरी ।। ५ ।।

आत्मनिवेदन सम्बन्धी दूसरा पद—

जउ हम बाधे मोह फांस हम प्रेम बधनि तुम बॉधे ।
अपने छूटन को जतन करहु हम छूटे तुम आराधे ।। १ ।।
माधवे जानत हहु जैसी तैसी, अब कहा करहुगे ऐसी ।
मीन पकरि फाकिउ अरु काटिउ, राधि कीउ बहुबानी ।
खड खड करि भोजन कीनो, तउ न बिसारिउ पानी ।। २ ।।
आपन बापै नाहिं किसी को भावन को हरि राजा ।
मोहु पटलु सब जगत बियापिउ भगत नहीं सतापा ।। ३ ।।
कहि रविदास भगति इक बाढ़ी अब इह का सिउ कहिअै ।
जा कारनि हम तुम आराधे, सो दुख अजहूँ सहिअै ।। ४ ।।

दैन्यभाव का चित्रण करनेवाला तीसरा पद—

नाथ कछूअ न जानउँ मनु माइया कै हाथि विकानउ,
तुम कहीयत हैं जगतगुर सुआमी, हम कहीअत कलिजुग के कामी ।
इन पचन मेरो मन जु बिगारिउ, पल पल हरि जी ते अन्तर पारिउ ।। २ ।।
जत देखउ तत दुख की रासी, अजैं न पत्याइ निगम भए साखी ।। ३ ।।
गोतम नारि उमापति स्वामी, सीसु धरनि सहस भगगामी ।। ४ ।।
इन दूतन खलु बधु करि मारिउ, बड़ो निलाज अजहू नहि हारिउ ।। ५ ।।
कहि रविदास कहा कैसे कीजै, बिनु रघुनाथ सरन काकी लीजै ।। ६ ।।

'प्रह्लाद लीला' और 'रैदासजी के पद'। प्रह्लाद लीला में प्रह्लाद के पिता की राजधानी मुलतान शहर बतायी गयी है। डॉ० बडथ्वाल ने अपनी इस रिपोर्ट में यह भी लिखा है कि इस ग्रन्थ की भाषा पर किञ्चित् पंजाबी प्रभाव भी दिखाई पडता है।[1] ग्रन्थ के अन्त में कवि भगवान् की वन्दना करता है—

जहा भक्त को भीर तहां सब कारज सारे
हमसे अधम उधार किये नरकन से तारे
सुर नर मुनि मंडन कहै पूरन ब्रह्म निवास
मनसा वाचा कर्मणा गावै जन रैदास

प्रह्लाद के जन्म-अवसर का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है—

सहर वढ़ो मुलतान जहां एक लाखन राजा
तहा जनमे प्रहलाद सुर नर मुनि के काजा
पूछो विप्र बुलाइ कै, जन्म्यौ राजकुमार
या लक्षण तो कोई नही असुर संहारण हार ॥१॥
मै पठैरो राम को नाम ओइ जान हो आनौं
राम को मैं छॉड़ि तीसरो आन न जानौ
कहा पढ़ावै बावरे और सकल जंजार
भौ सागर जमलोक तै मुहि कौ उतारै पार ॥२॥

हिरण्यकशिपु के वध का वर्णन इस प्रकार दिया गया है—

अस्त भयौ तव भान उदय रजनी जब कीन्हा
पवा मै ते निकसि जांघ पर जोधा लीन्हा
नप सौं निक्षव विदारिया तिलक दिया महराज
सप्तलोक नवदण्ड मे, तीन लोक भइ राज।

भाषा की दृष्टि से यह ग्रन्थ वहुत परवर्ती मालूम होता है। वर्णन और कथा भी साधारण कोटि ही की है।

§ २१५. रैदास के पद और उनकी भाषा

रैदामजी के पद जैसा ऊपर कहा गया हिन्दी की ब्रज और रेखता दोनो ही शैलियों में लिखे गये हैं। रेखता का किंचित् आभास अपनो जाति के सबध मे कहे हुए उनके पूर्व उद्धृत पद मे मिलता है। गुरुग्रन्थ साहब मे उनके चालीस के करीब पद इन दोनो शैलियो मे मिलते हैं। रेखतावाले पदो पर भी ब्रजभाषा की छाप दिखाई पडती है। नीचे एक रेखता शैली का पद दिया जाता है—

तेरे देव कमलापति सरन आया।
मुझ जनम सदेह भ्रम छेदि माया ॥१॥

---

१ नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४४, अक २, पृ० १३९ तथा हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज का विवरण १९२८–३१ पृ० ३१ पृ० ५१५, सं० २७९ ए०।

अति अपार ससार भवसागर जामे जनम मरना सदेह भारी ।
काम भ्रम क्रोध भ्रम लीन भ्रम मोह भ्रम अनत भ्रम छेदि मम करसि भारी ॥२॥
पच सगी मिलि पीड़ियो प्रान यों जाय न सक्यो वैराग भागा ।
पुत्र वरग कुल वंधु ते भारजा भरव दसो दिष सिरकाल लागा ॥३॥
परम प्रकाश अविनाशी अघमोचना निरखि निज रूप विसराम पाया ।
वद रैदास वैराग पद चिंतना जपौ जगदीश गोविंद रामा ॥६॥

इस पद की भाषा मूलत खडी बोली ही है किन्तु इनमें भी जामें (सर्व० अधि०) और पीडियो, सक्यो आदि क्रिया रूप ब्रजभाषा प्रभाव की सूचना देते हैं किन्तु जहाँ आत्मनिवेदन आदि के पद आते हैं, वहाँ रैदास की भाषा अत्यन्त मार्मिक और शुद्ध ब्रजभाषा ही दिखाई पडती है। नीचे हम रैदास के तीन ब्रजभाषा-पद उद्धृत करते हैं। ये तीनो पद गुरुग्रन्थ से हैं

दूधु बछरै थनहु विदारिउ फूल, वभँर अल मीनि विगारउ ॥ १ ॥
माई गोविंद पूजा कहा लै चरूहावउ, अवरु न फूल अनूप न पावउं ।
मैलागिरि वैरहे हैं भुइजगा, विषु अम्रितु वसहिं इक संगा ॥ २ ॥
धूप दीप नइवेदहिं वासा, कैसे पूज करहिं तेरो दासा ॥ ३ ॥
मनु अरपउ पूज चरावउ, गुरु परसादि निरजन पावउ ॥ ४ ॥
पूजा अरचा आहि न तोरी, कहि रविदास कवन गति मोरी ॥ ५ ॥

आत्मनिवेदन सम्बन्धी दूसरा पद—

जउ हम बाधे मोह फांस हम प्रेम बधनि तुम बाँधे ।
अपने छूटन को जतन करहु हम छूटे तुम आराधे ॥ १ ॥
माधवे जानत हहु जैसी तैसी, अब कहा करहुगे ऐसी ।
मीन पकरि फांकिउ अरु काटिउ, राधि कीउ बहुवानी ।
षड षड करि भोजन कीनो, तउ न विसारिउ पानी ॥ २ ॥
आपन बापै नाहिं किसी को भावन को हरि राजा ।
मोहु पटलु सब जगत वियापिउ भगत नहीं सतापा ॥ ३ ॥
कहि रविदास भगति इक बाढ़ी अब इह का सिउ कहिअै ।
जा कारनि हम तुम आराधे, सो दुष अजहूँ सहिअै ॥ ४ ॥

दैन्यभाव का चित्रण करनेवाला तीसरा पद—

नाथ कछूअ न जानउँ मनु माइया कै हाथि विकानउ,
तुम कहीयत हैं जगतगुर सुआमी, हम कहीअत कलिजुग के कामी ।
इन पचन मेरो मन जु विगारिउ, पल पल हरि जी ते अन्तर पारिउ ॥ २ ॥
जत देषउ तत दुष की रासी, अजैं न पत्याइ निगम भए साखी ॥ ३ ॥
गोतम नारि उमापति स्वामी, सीसु धरनि सहस भगगामी ॥ ४ ॥
इन दूतन पनु वधु करि मारिउ, वड़ो निलाज अजहं नहि हारिउ ॥ ५ ॥
कहि रविदास कहा कैसे कीजै, विनु रघुनाथ सरन काकी लीजै ॥ ६ ॥

गुरुग्रन्थ की कृपा से इन पदो की भाषा बहुत कुछ अपनी प्राचीनता सुरक्षित किये है। रविदास की भाषा वस्तुत कबीर को अपेक्षा कही ज्यादा परिनिष्ठित और शुद्ध मालूम होती है। इस भाषा में पुराने तत्त्व भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। शब्दो के उकारान्त रूप, बिदारिउ > बिदार्यौ, बिगारिउ > बिगार्यौ, चरावउ > चरावौ, पावउँ > पावो, फाकिउ > फाक्यो, काटिउ > काट्यौ, बिसारिउ > बिसार्यौ, बियापिउ > ब्याप्यौ आदि भूतनिष्ठा के रूपो में उद्वृत्तस्वर सुरक्षित हैं। जहाँ नही हैं वहाँ इ+उ के रूप दिखाई पडते जिनसे ब्रज का यो रूप बनता है पुकारचो, कह्यो आदि। विभक्ति परसर्ग क्रिया सभी में भाषा रूप हैं। रविदास की भाषा १५वी शती की ब्रजभाषा आदर्श-रूप है।

§ २१६ पीपा—रामानन्दजी के शिष्यो में पीपा की भी गणना की जाती है, किन्तु इस सम्बन्ध की पुष्टि का कोई प्रामाणिक आधार प्राप्त नही होता। श्री फर्कुहर से पीपा का जन्म-काल सवत् १४८२ (सन् १४२५ ई०) बताया है।[1] ये गजनौरगढ़ के राजा थे। श्री कनिंघम ने गजनौर गढ की राजवशावली के आधार पर इनका जन्मकाल १३६० ईस्वी और १३८५ ई० के बीच अनुमानित किया है।[2]

पीपाजी अपनी पत्नी राजरानी सीता के साथ कृष्ण-दर्शन की आकाक्षा से घर से निकलकर इधर-उधर बहुत काल तक घूमते रहे, बाद में द्वारिका जाकर वही बस गये। इनकी प्रशसा मे नाभादास ने भक्तमाल में जो छप्पय दिया है उसमें इनके जीवन की कुछ चमत्कारिक घटनाओ का उल्लेख मिलता है।

> प्रथम भवानी भक्त मुक्ति मॉगन को धायौ।
> सत्य कह्यौ तेहि शक्ति सुहृद हरिशरण बतायौ॥
> श्री रामानन्द पद पाइ भयो अतिभक्त की सीवॉ।
> गुण असख्य निर्मोल सन्त धरि राखत ग्रीवा॥
> परस प्रणाली सरस भई, सकल विश्व मंगल कीयौ।
> पीपा प्रताप जग वासना नाहर को उपदेश दियौ॥
>
> —भक्तमाल, पृ० ४७५

पीपा की रचनाओ का कोई सकलन प्राप्त नही होता। पीपाजी को बानी नामक कोई सकलन निकला भी था, जो प्राप्त नही होता। गुरुग्रन्थ में पीपा का केवल एक पद प्राप्त होता है।

> कायउ देवा काइअउ देवल काइयउ जगम आती।
> काइअउ धूप दीप नइवेदा काइअउ पूजा पाती॥ १॥
> काइया बहु षड खोजते नवनिधि पाई।
> ना कुछ आइओ ना कुछ जाइयवो राम की दुहाई।
> जो ब्रह्मंडे सोई पिंडे जो खोजै सो पावै।
> पीपा प्रणवै परम ततु है सतगुरु होइ लखावै॥ २॥

पीपा के पद की भाषा ब्रज ही है।

---

1. ऐन आउटलाइन ऑव रिलीजस लिटरेचर ऑव इडिया, पृ० ३२३।
2. आर्कियालाजिकल सर्वे, भाग २, पृ० २९५–९७ तथा भाग ३, पृ० १११।

§ २१७ धन्ना भगत—धन्ना जाति के जाट और राजपूताना के निवासी थे। अपने एक पद में उन्होने अपने को जाट कहा है और कबीर, नामदेव, सेन, आदि नीच जातियो में उत्पन्न लोगो की भक्ति से आकृष्ट होकर स्वय भक्त हो जाने की बात लिखी है।

इहि विधि सुनकै जाटरो उठि भगती लागा
मिले प्रतषि गुसाइयां धनां बड भागा

श्री मेकालिफ ने इनका जन्मकाल सन् १४१५ ईस्वी अर्थात् सवत् १४७२ अनुमानित किया है।[1] मेकालिफ का यह अनुमान मुख्यत धन्ना और रामानन्द के शिष्य-गुरु-सम्बन्ध की जनश्रुति पर ही आधारित है। नाभादास ने भक्तमाल में धन्ना के बारे मे एक छप्पय लिखा है। नाभादास ने इस छप्पय मे लिखा है कि खेत में बोने का बीज धन्ना ने भक्तो को बांट दिया और माता-पिता के डर से झूठे हराई खीचते रहे, किन्तु उनकी भक्ति के प्रताप से बिना बीज बोये ही अकुर उदित हो गये। धन्ना के हृदय में अचानक उत्पन्न होनेवाली भक्ति के लिए इससे सुन्दर कथोपमा और क्या हो सकती है।

घर आए हरिदास तिनहिं गोधूम खवाए।
तात मात डर खेत थोथ लांगलहि चलाए॥
आसपास कृषकार खेत की करत बड़ाई।
भक्त भजे की रीति प्रकट परतीति जु पाई॥
अचरज मानत जगत में कहुँ निपज्यो कहुँ वै वयो।
धन्य धना के भजन कौ विनहिं वीज अंकुर भयो॥

—भक्तमाल, पृ० ५१४

धन्ना के कुल चार पद गुरुग्रन्थ साहब में मिलते हैं। इन पदो की भाषा पर खडी बोली और राजस्थानी का घोर प्रभाव दिखाई पडता है। नीचे एक पद दिया जाता है जो गुरुग्रन्थ साहब में आसा राग में दिया हुआ है[2]

रे चित चेतसि की न दयाल दमोदर विवहित जानसि कोई।
जे धावहिं षंड ब्रहिमड कउ करता करै सु कोई॥ रहाउ॥
जननि केरे उदर उदक मंहि पिंडु कीया दस दुआरा।
देइ अहारु अगिनि महि राषै ऐसा षसमु हमारा॥ १॥
कुंभी जल माहि तन तिसु वाहरि षष भीरु तिन्ह नाहीं।
पूरन परमानन्द मनोहर समझि देषु मन माहीं॥ २॥
पाषणि कीटु गुपतु होइ रहता ताको मारग नाहीं।
कहे धना पूरन ताहू को मत रे जीअ डराहीं॥ ३॥

§ २१८ नानक—नानक का रचनाकाल हमारी निश्चित काल-सीमा के अन्तर्गत आता है। इसका जन्म सवत् १५२६ में लाहौर से ३० मील दूर तलवडी नामक ग्राम में

---

१ मेकालिफ—द सिख रिलीजन भाग ५, पृ० १०६।

२ राग आसा पद १ और ३, पृ० ४८७, राग आसा पद ३ पृ० ४८८, धनाक्षरी पद १ पृ० ६६५।

हुआ। जन्म और जीवन सम्बन्धी जो भी सामग्री प्राप्त होती है, वह धार्मिक अन्धविश्वासों और पौराणिक रूढियो से इतनी रगी हुई है कि उसमें से सही तथ्य निकाल सकना सहसा कठिन होता है। एम० ए० मेकालिफ ने एक जन्म-साखी के अनुसार इनका जीवन वृत्त प्रस्तुत किया है।[1] इस साखी में भी पौराणिकता का रंग गाढा है। श्री जे० डब्ल्यू० यगसन को अमृतसर में एक जन्मसाखी मिली थी जिसमें नानक को जनक का अवतार बताया गया है।[2] इन सूत्रो के आधार पर नानक का जन्म १५२६ सवत् बताया गया है, इस तरह वे सूरदास से उम्र में कोई १५ वर्ष बडे थे। इनका देहावसान सवत् १५९५ विक्रमी यानी सूर की मृत्यु से ४७ वर्ष पहले ही करतारपुर में हुआ।

नानक की रचनाओ का विस्तृत सकलन गुरुग्रन्थ में मिलता है। इनकी रचनाओं में 'जपुजी' और 'असा दी वार' अत्यन्त प्रसिद्ध हैं जो सिखो के लिए पवित्र मत्रो की तरह पूज्य हैं। नानक की अन्य रचनाएँ जो पदो और साखियो के रूप में प्राप्त होती हैं, गुरुग्रन्थ में 'महला एक' के अन्तर्गत सकलित हैं।

इन रचनाओ की भाषा, या तो पजाबी मिश्रित खडी बोली अथवा ब्रजभाषा है। आचार्य शुक्ल लिखते हैं कि 'ये भजन कुछ तो पजाबी भाषा में हैं और कुछ देश की सामान्य काव्य भाषा हिन्दी में। यह हिन्दी कही देश की काव्य भाषा या ब्रजभाषा है कही खडी बोली जिसमें इधर-उधर पजाबी के रूप आ गये हैं जैसे चल्या, रह्या।'[4] शुक्लजी ने नानक की भाषा पर जो निर्णय दिया है वह बहुत कुछ ठीक है। शुक्लजी ने नानक के कुछ भजनो की भाषा पजाबी बतायी है, पर इस प्रकार शुद्ध पजाबी में लिखे भजन नही मिलते। इसका मूल कारण है पजाब की भाषा-स्थिति। पजाबी बहुत बाद में साहित्य का माध्यम हुई है इसके पहले खडी बोली और ब्रजभाषा में ही साहित्य लिखा गया है। नानक पर लिखी जन्मसाखी सम्भवत पजाबी की प्रारम्भिक रचना मानी जाती है। गुरु अगद ने (ईसवी सन् १५३८-५२) गुरुमुखी लिपि का निर्माण किया और पजाबी बोली के साहित्य को मान्यता दी। नानक के लिखे पजाबी पद यदि मिलते भी हैं तो उन्हें परवर्ती और प्रक्षिप्त ही मानना चाहिए। गुरुग्रन्थ की अधिकाश रचनाएँ, गुरुमुखी लिपि में होने पर भी, पुरानी हिन्दी की ही हैं।[5] ब्रजभाषा के प्रयोग में नानक ने आश्चर्यजनक सावधानी बरती है, फलस्वरूप ब्रजभाषा के पदो में मिश्रण अत्यन्त अल्प दिखाई पडता है। नानक ने रेखता शैली में भी रचनाएँ की। पर उनकी अत्यन्त मार्मिक और भावपूर्ण रचनाएँ ब्रजभाषा में ही दिखाई पडती हैं। नीचे नानक के दो ब्रजभाषा-पद उद्धृत किये जाते हैं ·

काची गागर देह दुहेली उपजै बिनुसै दुखु पाई
इहु जगु सागर दुतरु किउ तरीजै बिनु हरिगुर पार न पाई ॥ १ ॥

---

१ द सिख रिलीजन, इन्ट्रोडक्शन, पृ० ७६।
२ इनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन ऐण्ड एथिक्स भाग ६, पृ० १८१।
३ बावा सी० सिंह, द टेन गुरुज् ऐण्ड देयर टीचिंग्स्।
४ हिन्दी साहित्य का इतिहास, काशी, सवत् २००७, पृ० ८४।
५ जार्ज ग्रियर्सन, आन द माडर्न इन्डो-आर्यन वर्नाक्यूलर्स § १०।

तुझ विनु अवर न कोउ मेरे पियारे तुझ विनु अवर न कोई हरे
सखी रगी रूप तूँ है तिसु वरवसै जिसु नदिर करे
सासु वुरी घर वासुन देवै पिउ सिउ मिलन न देइ वुरी
सखी साजनी के हउ चरन सरवेउ, हरि गुरु किरपा तैं नदिर धरी ॥ २ ॥
आप विचारि मारि मनु देखियां तुम सौ मीत न अवरु कोई ।
जिवं तू राखहि तिव ही रहणा सुखु दुष देवहि करहि सोई ॥ ३ ॥
आसा मनसा दोउ विनासा त्रिहु गुण आस निरास भई
तुरिआ वसधा गुरु मुषि पाइऐ सत सभा की उतलही ॥ ४ ॥
गियान ध्यान सगले सुमि जप तप जिसु हरि हिरदै अलख अभेवा ।
नानक राम नाम मनु राता गुर मति पाये सहज सेवा ॥ ५ ॥
जो नर दुष में दुष नहि मानै ।
सुख सनेह अरु भय नहि जाके कञ्चन माटी जानै ॥
नहि निन्दा नहि अस्तुति जाके लोभ मोह अभिमाना ।
हरष सोक ते रहै नियारौ नाहि मान अपमाना ॥
आसा मनसा सक्त त्यागि कै जग तें रहे निरासा ।
काम क्रोध जेहि परसै नाहिन तेहि घट ब्रह्म निवासा ॥
गुरु कृपा जेहि नर पर कीन्हीं तिन्ह यह जुगति पिछानी ।
नानक लीन भयो गोविन्द सो ज्यों पानी सग पानी ॥

ऊपर का पद मूलत व्रज है जैसा कि हउँ (सर्वनाम) सिउँ, सउँ, कउ, तैं (परसर्ग) सरेवउँ > सरेवौं क्रिया, जिव > जिमि, तिव > तिमि (अव्यय) आदि से प्रकट है, किन्तु इस पद पर यत्र-तत्र खडी बोली की भी छाप अवश्य है, मिलिया, राता, देषिया, रहणा आदि आकारान्त क्रियापद इसकी सूचना देते हैं । किन्तु दूसरा पद एकदम शुद्ध व्रज का है और सूर के किसी भी पद से तुलनीय हो सकता है ।

गुरुग्रन्थ में नानक की कुछ साखियाँ भी सकलित हैं । दोहो की भाषा पर पजाबी की छाप अवश्य है, किन्तु दोहे व्रज के ही हैं । क्रिया कही-कही आकारान्त अवश्य है ।

सम काउ निवै आप कउ पर कउ निवै न कोई ।
भरि तराजू तौलिये निवै सो गउरा होइ ॥ १ ॥
जिनी न पाइउ प्रेम रसु कत न पाइउ साउ ।
सूने घर का पाहुना जिउ आइया तिउ जाउ ॥ २ ॥
धनवता इन ही कहै अवरी धन कउ आउ ।
नानक निरधन तितु दिन जितु दिन विसरै नाउ ॥ ३ ॥
जिनकै परै धनु वसै तिनको नाउँ फकीर ।
जिनकै हिरदै तू वसै तै नर गुणी गहीर ॥ ४ ॥
वेदु वुलाइया वैदगी पकडि ढढोले वाह ।
भोला वैद न जाणई करक कलेजे माह ॥ ५ ॥

हुआ। जन्म और जीवन सम्बन्धी जो भी सामग्री प्राप्त होती है, वह धार्मिक अन्धविश्वासो और पौराणिक रूढियो से इतनी रगी हुई है कि उसमे से सही तथ्य निकाल सकना सहसा कठिन होता है। एम० ए० मेकालिफ ने एक जन्म-साखी के अनुसार इनका जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया है।[1] इस साखी मे भी पौराणिकता का रग गाढा है। श्री जे० डब्ल्यू० यंगसन को अमृतसर मे एक जन्मसाखी मिली थी जिसमे नानक को जनक का अवतार बताया गया है।[2] इन सूत्रो के आधार पर नानक का जन्म १५२६ सवत् बताया गया है, इस तरह वे सूरदास से उम्र मे कोई १५ वर्ष बडे थे। इनका देहावसान सवत् १५९५ विक्रमी यानी सूर की मृत्यु से ४७ वर्ष पहले ही करतारपुर मे हुआ।

नानक की रचनाओ का विस्तृत सकलन गुरुग्रन्थ में मिलता है। इनकी रचनाओ में 'जपुजी' और 'असा दी वार' अत्यन्त प्रसिद्ध हैं जो सिखो के लिए पवित्र मंत्रो की तरह पूज्य हैं। नानक की अन्य रचनाएँ जो पदो और साखियो के रूप मे प्राप्त होती हैं, गुरुग्रन्थ मे 'महला एक' के अन्तर्गत सकलित हैं।

इन रचनाओ की भाषा, या तो पजाबी मिश्रित खडी बोली अथवा ब्रजभाषा है। आचार्य शुक्ल लिखते हैं कि 'ये भजन कुछ तो पजाबी भाषा मे हैं और कुछ देश की सामान्य काव्य भाषा हिन्दी मे। यह हिन्दी कहीं देश की काव्य भाषा या ब्रजभाषा है कही खडी बोली जिसमे इधर-उधर पजाबी के रूप आ गये हैं जैसे चल्या, रह्या।'[4] शुक्लजी ने नानक की भाषा पर जो निर्णय दिया है वह बहुत कुछ ठीक है। शुक्लजी ने नानक के कुछ भजनो की भाषा पजाबी बतायी है, पर इस प्रकार शुद्ध पजाबी में लिखे भजन नहीं मिलते। इसका मूल कारण है पजाब की भाषा-स्थिति। पजाबी बहुत बाद मे साहित्य का माध्यम हुई है इसके पहले खडी बोली और ब्रजभाषा मे ही साहित्य लिखा गया है। नानक पर लिखी जन्मसाखी सम्भवत पजाबी की प्रारम्भिक रचना मानी जाती है। गुरु अगद ने (ईसवी सन् १५३८-५२) गुरुमुखी लिपि का निर्माण किया और पजाबी बोली के साहित्य को मान्यता दी। नानक के लिखे पजाबी पद यदि मिलते भी हैं तो उन्हे परवर्ती

तुझ विनु अवर न कोउ मेरे पियारे तुझ विनु अवर न कोई हरे
सखी रंगी रूप तूँ है तिसु वरवसै जिसु नदिर करे
सासु वुरी घर वासुन देवै पिउ सिउ मिलन न देइ वुरी
सखी साजनी के हउ चरन सरवेउ, हरि गुरु किरपा तैं नदिर धरी ।। २ ।।
आप विचारि मारि मनु देखियां तुम सौ मीत न अवरु कोई ।
जिव तू राखहि तिव ही रहणा सुखु दुष देवहि करहि सोई ।। ३ ।।
आसा मनसा दोउ विनासा त्रिहु गुण आस निरास भई
तुरिआ वसधा गुरु मुषि पाइऐ सत सभा की उललही ।। ४ ।।
गियान ध्यान सगले सुभि जप तप जिसु हरि हिरदै अलख अभेवा ।
नानक राम नाम मनु राता गुर मति पाये सहज सेवा ।। ५ ।।
जो नर दुष में दुष नहि मानै ।
सुख सनेह अरु भय नहि जाके कञ्चन माटी जानै ।।
नहि निन्दा नहि अस्तुति जाके लोभ मोह अभिमाना ।
हरष सोक ते रहै नियारौ नाहि मान अपमाना ।।
आसा मनसा सक्क त्यागि कै जग तें रहे निरासा ।
काम क्रोध जेहि परसै नाहिन तेहि घट ब्रह्म निवासा ।।
गुरु कृपा जेहि नर पर कीन्हीं तिन्ह यह जुगति पिछानी ।
नानक लीन भयो गोविन्द सो ज्यों पानी सग पानी ।।

ऊपर का पद मूलत ब्रज है जैसा कि हउँ (सर्वनाम) सिउँ, सउँ, कउ, तैं (परसर्ग) सरेवउँ > सरेवौं क्रिया, जिव > जिमि, तिव > तिमि (अव्यय) आदि से प्रकट है, किन्तु इस पद पर यत्र-तत्र खडी बोली की भी छाप अवश्य है, मिलिया, राता, देषिया, रहणा आदि आकारान्त क्रियापद इसकी सूचना देते हैं। किन्तु दूसरा पद एकदम शुद्ध ब्रज का है और सूर के किसी भी पद से तुलनीय हो सकता है।

गुरुग्रन्थ में नानक की कुछ साखियाँ भी सकलित हैं। दोहो की भाषा पर पंजाबी की छाप अवश्य है, किन्तु दोहे ब्रज के ही हैं। क्रिया कही-कही आकारान्त अवश्य है।

सभ काउ निवै आप कउ पर कउ निवै न कोई ।
भरि तराजू तौलिये निवै सो गउरा होइ ।। १ ।।
जिनी न पाइउ प्रेम रसु कंत न पाइउ साउ ।
सूने घर का पाहुना जिउ आइया तिउ जाउ ।। २ ।।
धनवता इन ही कहै अवरी धन कउ आउ ।
नानक निरधन तितु दिन जितु दिन विसरै नाउ ।। ३ ।।
जिनकै परै धनु वसै तिनको नाउँ फकीर ।
जिनकै हिरदै तू वसै तै नर गुणी गहीर ।। ४ ।।
वेदु वुलाइया वैदगी पकड़ि ढढोले वांह ।
भोला वैद न जाणई करक कलेजै मांह ।। ५ ।।

गुरुग्रन्थ साहब में संकलित इन संतो की रचनाओ के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट पता चलता है कि भावपूर्ण पदो के लिए इन्होने सर्वत्र ब्रजभाषा का ही आश्रय लिया है। ब्रजभाषा के ये पद इस शैली की पूर्णता तो व्यक्त करते ही हैं, साथ ही साथ इस बात के भी सबूत हैं कि १४वी शती के नामदेव से १६वी के नानक तक पदो की भाषा ब्रज ही रही है। ब्रजभाषा बहुत पहले से काव्य-भाषा के रूप मे महाराष्ट्र, पंजाब, काशी, तक स्वीकृत और सर्वमान्य रही है। सूरदास के पदो की सुव्यवस्थित और पुष्ट भाषा आकस्मिक नही बल्कि इसी पद-शैली की ब्रजभाषा का अग्रसरीभूत रूप है।

अन्य कवि

●

हरिदास निरंजनी

§ २१९. हरिदास निरजनी के जन्म-काल आदि के विषय में अब तक कोई सुनिश्चित निर्णय नही हो सका है। ये निरजन सम्प्रदाय के आदि गुरु प्रतीत होते हैं। निरजन सम्प्रदाय के धार्मिक परम्पराओ और सैद्धान्तिक मान्यताओ का निरीक्षण करने पर पता चलता है कि यह सम्प्रदाय नाथ सम्प्रदाय से प्रभावित था। इस सम्प्रदाय के अवशिष्ट रूपो की मीमासा करते हुए श्री क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि उडीसा ही सम्भवत इस सम्प्रदाय की जन्मभूमि था, और वही से यह सम्प्रदाय बगाल आदि में प्रसारित हुआ होगा।[1] उडीसा मे फैले हुए इस सम्प्रदाय से उत्तर भारत खासतौर से पश्चिमी प्रदेशो में फैले हुए निरजनी सम्प्रदाय का क्या सम्बन्ध है, यह बताना कठिन है। पश्चिमी भारत में फैली हुई निरजनी परम्परा का कुछ परिचय दादू पन्थी राघोदास के भक्तमाल से (१७७० सवत्) मिलता है। इस ग्रन्थ में बारह निरजनी महन्तो का वर्णन दिया हुआ है जिनमें हरिदास, तुरसीदास, खेमजी, कान्हडदास और मोहनदास आदि सम्मिलित किये गये हैं। राघोदास निरजनी सम्प्रदाय का आदिप्रवर्तक निरजन भगवान् को बताते हैं, यही नही उन्होने कबीर, नानक, दादू, जगन राघो ? के चार निर्गुण सम्प्रदायो को भी निरजन से प्रेरित बताया।

रामानुज की पधित चली लक्ष्मीं सूँ आई।
विष्णुस्वामि की पधित सुतौ सकर ते आई॥
मधवाचार्य पधित ज्ञॉन ब्रह्मा सुविचारा।
नींबादित की पधित च्यारि सनकादि कुमारा।

---

१. मिडिवल मिस्टिसिज्म ऑव इण्डिया, पृ० ७०।

च्यारि सम्प्रदा की पछित अवतारन सूँ ह्वै चली।
उन च्यारि सकल नृगुनीन की पद्धति निरंजन सूँ चली ॥ (३८३)[1]

इस प्रकार राघोदास के मत से निर्गुण सम्प्रदाय के आदिगुरु निरंजन इन सम्प्रदायों के पहले विद्यमान थे। एक ओर यह सम्प्रदाय नाथ सम्प्रदाय से सम्बद्ध बताया जाता है दूसरी ओर निर्गुण सम्प्रदायों का पूर्ववर्ती माना जाता है, इसी को लक्ष्य करके डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने लिखा है कि यह निरंजन सम्प्रदाय नाथ सम्प्रदाय और निर्गुण सम्प्रदाय के बीच की कड़ी मालूम होता है।[2] किन्तु डॉ० बड़थ्वाल के इस अनुमान को पुष्ट करनेवाले प्रमाणों का अभी अभाव है। हरिदास निरंजनी के विषय में स्व० पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने लिखा है कि ये हरिदासजी प्रथम प्रयागदासजी के शिष्य हुए, फिर दादूजी के। फिर कबीर और गोरख पन्थ में हो गये, फिर अपना निराला पन्थ चलाया।[3] इस प्रकार पुरोहितजी के मत से हरिदास दादू के बाद हुए। श्री परशुराम चतुर्वेदी हरिदास का काल १७०० के आसपास तक मानते हैं।[4] दादू पन्थ के प्रसिद्ध कवि सन्त सुन्दरदास ने हरिदास का उल्लेख किया है[5]

कोउक गोरख कूँ गुरु थापत कोउक दत्त दिगम्बर आदू।
कोउक कथर कोउक भर्थर, कोउ कबीरा कै राखत नादू॥
कोउ कहै हरदास हमारे जु यूँ करि ठानत वाद विवादू।
और सुसन्त सबै सिर ऊपर सुन्दर कै उर है गुरु दादू॥
(सुन्दरविलास १–४)

सुन्दरदास के उल्लेख से ऐसा लगता है कि हरिदास की गणना गोरखनाथ, फक्कड़नाथ, कबीर आदि की तरह बड़े गुरुओं में होती थी। सुन्दरदासजी यद्यपि दादू को अपना गुरु स्वीकार करते हैं किन्तु उन्होंने बड़े आदर के साथ यह भी स्वीकार किया है कि लोग हरिदास को गुरु मानने के लिए वाद-विवाद करते थे। लगता है कि यह झगड़ा ऐसे सम्प्रदाय का था जिसमें हरिदास गुरु माने जाते थे किन्तु बाद में दादू के आविर्भाव के बाद दो प्रकार के मत हो गये। कुछ हरिदास को 'अपना गुरु' कहते रहे कुछ दादू को अपना गुरु मानना चाहते थे। सुन्दरदास के इस उल्लेख से स्पष्ट है कि हरिदास दादू के पहले हुए थे और उनका एक सुव्यवस्थित सम्प्रदाय था। उन्हें गुरु माननेवालों की संख्या भी थोड़ी न थी। इस विषय में दादू विद्यालय जयपुर के स्वामी मंगलदासजी से मेरी बातचीत हुई थी। उन्होंने भी स्वीकार किया कि दादू और निरंजन सम्प्रदायों में कभी ऐक्य था। श्री मंगलदास स्वामी के पास सम्पत राम (नागौर) के पास सुरक्षित किसी हरिरामदास द्वारा लिखित हरिदासजी की परचई के कुछ उद्धृत अंश सुरक्षित हैं, उनमें हरिदासजी के बारे में यह उल्लेख मिलता है

---

१. श्री परशुराम चतुर्वेदी की उत्तरी भारत की सन्त परम्परा में हस्तलेख से उद्धृत, पृ० ४६२।
२. निर्गुन स्कूल ऑव हिन्दी पोयट्री, प्रीफेस, पृ० २–३।
३. सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, जीवन चरित्र, पृ० ९२।
४. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० ४७०।
५. डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल सम्पादित सुन्दर विलास से।

पन्द्रसे वारोत्तरे फागुन सुदि छठसार
वैराग्य ज्ञान भगति कू लीयौ हरि अवतार
पन्द्रह सै का वारह गयो हरि धार्यो अवतार
ज्ञान भक्ति वैराग्य से आप कियो भवपार
पन्द्रह सै छप्पन समै वसन्त पञ्चमी जान
तव हरि गोरष रूप धरि आप दियो ब्रह्म ज्ञान
सोलह सौ को छट्टि सुदि फागुण माम
परम धाम भै प्रापती नगर डीड हरिदास

इस उल्लेख के मुताविक हरिदास का काल १५१२–१६०० सवत् मालूम पडता है जो सुन्दरदास के उल्लेख से जिनमें हरिदास को दादू का पूर्ववर्ती वताया गया है, मेल खाता है। मगलदासजी के पास एक हस्तलिखित गुटके में तिथिकाल सम्बन्धी एक दूसरा उल्लेख मिलता है, यह गुटका वहुत परवर्ती मालूम होता है, इसे किसी पूर्णदास ने नवलगढ में लिखा था

चवदेसे चोहतरे जन्म लियो हरिदास
साखल से घर अवतरे छतरी वश निवास
छतरी वश निवास तेज सो सुरति विराजे
छतरि भेय सो सूरमाय को दूध न लाजे
मिलियो गोरष रूप हरि दियो ज्ञान परकास
चवदह सै चोहोत्तरे जन्म लियो हरिदास

पन्दरसौ पिच्चाणवे कियो जोति मे वास
फागुन सुदि की छट्ट को परम जोति परकास

इसी से मिलता-जुलता दूसरा उल्लेख मत्रराज प्रभाकर ग्रन्थ के १३वें उल्लास में इस प्रकार आता है

चवदाशत सवत् सहचार, प्रकटे सुदेस सुरधर मझार।
पचासौ पञ्चानवे शुद्ध फागुण छठि जाण।
विंशा सो वपुराखि कै पहुँचै पद निर्वाण॥

इन सभी उल्लेखो में हरिदास का काल १५वी-१६वी विक्रमी के वीच पडता है। नीचे के दोनो उल्लेखो में तो १४७५–१५९५ सवत् पर मतैक्य भी दिखाई पडता है। इन उल्लेखो में व्यक्त रचनाकाल को देखते हुए श्री जगद्धर शर्मा गुलेरी का मत भी उपयुक्त ही मालूम होता है। श्री गुलेरी हरिदास का रचनाकाल १५२० और १५४० ईस्वी (अर्थात् १५७७–१५९७ विक्रमी) मानते हैं।[1] इन प्रसगो के आधार पर यह कहना शायद अनुचित न होगा कि हरिदास निरजनी विक्रमी १६०० के पहले अवश्य विद्यमान थे।

---

१ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् १९९७, वर्ष ४५, पृ० ७७।

हरिदास की रचनाएँ

§ २२०. हरिदास की रचनाएँ पूर्णतः प्रकाश में नहीं आयी हैं। उनकी कुछ रचनाओं का संकलन 'हरि पुरुष की वाणी' नाम से साधु सेवादास ने जोधपुर में प्रकाशित कराया है, इसमें हरिदास के पद संकलित किये गये हैं. श्री जगद्धर शर्मा गुलेरी ने हरिदास की रचनाओं की एक सूची प्रस्तुत की है

(१) अष्टपदी जोग ग्रन्थ
(२) ब्रह्मस्तुति
(३) हरिदास ग्रन्थमाला
(४) हंस प्रबोध ग्रन्थ
(५) निरपख मूल ग्रन्थ
(६) राजगुड
(७) पूजा जोग ग्रन्थ
(८) समाधि जोग ग्रन्थ
(९) संग्राम जोग ग्रन्थ

इन ग्रन्थों के अलावा कुछ साखियाँ और पद भी प्राप्त होते हैं। हरिदास का व्यक्तित्व बहुत ही आकर्षक और चमत्कारिक था। हरिदास निराश, इच्छाहीन तथा निरंतर परमात्मा में लीन रहनेवाले व्यक्ति थे। हरिपुरुषजी की वाणी में हरिदास का जो जीवनवृत्त दिया हुआ है, उससे प्रतीत होता है कि ८८ वर्ष की अवस्था में भयंकर दुर्भिक्ष के दिनों में ये जंगल में चले गये और वहाँ दस्यु-वृत्ति करके जीवन निर्वाह करने लगे। इसी बीच भगवान निरंजन ने गोरख रूप में इन्हें मंत्र दीक्षा दी और अमृत टूँगरो पर कई दिनों तक निराहार रह कर इन्होंने तपश्चर्या की। सुन्दरदास ने हरिदास को असत् और अज्ञान के विरुद्ध युद्ध करनेवाले योद्धा के रूप से याद किया है।

अगट भुवन परस हरदास उपान गह्यो हथियार रे।
(सुन्दर विलास, पृ० ५७०)

हरिदास का एक पद नीचे उद्धृत किया जाता है

रामा असाडा (हमारा) माइं हो
राखो ओट चोट क्यों लागे समुझि पर कछु नाहीं हो ॥
पाँच पचीस सदा संग पैले आवर करैं अघाई हो।
तुम अटक्यों तौ बहुड़ि न व्यापी हम बल कछु न बसाई हो ॥
तारण तिरण परम सुख दाता यह दुख कासों कहिए हो।
करम विपाक विघन होइ लागा तुम राखो तो रहिये हो ॥
समुद्र अथाह अगम करुनामय गोडि करैं नित गाजें हो।
तामें मच्छ काल सा पैले भक्ति दुरै सो साजै हो ॥
ये अवरूप अनिल मोहि जारे अधकूप में घेरा हो।
जन हरिदास को आस न दूजी राम भरोसा तेरा हो ॥

भाषा पर कही-कही राजस्थानी प्रभाव भी दिखाई पडता है। सत-शैली के रूढ़ प्रयोगो के बावजूद, जो प्राय कई भाषाओ से गृहीत हुए हैं, इनकी भाषा पुष्ट ब्रजभाषा कही जा सकती है। हरिदास के विचार अत्यत सहज और भावमय है अत भाषा बडी ही साफ और व्यजनापूर्ण है।

निम्बार्क संप्रदाय के कवि

§ २२१ वैष्णव सप्रदायो मे निम्बार्क सप्रदाय काफी प्रतिष्ठित और पुराना माना जाता है। निम्बार्क के जन्म-काल आदि के विषय में कोई सुनिश्चित धारणा नही है। सप्रदायी भक्त लोग निम्बार्काचार्य के आविर्भाव का काल आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व मानते हैं। उनके मत से २०१३वाँ विक्रमी वर्ष निम्बार्क का ५०५१वाँ वर्ष है। ऐतिहासिक रीति पर विचार करने पर हम इस सप्रदाय का आरम्भ १२वो से पूर्व नही मान सकते। १२वी शती मे निम्बार्क का जन्म आन्ध्र प्रदेश में हुआ था। उन्होने द्वैताद्वैत के सिद्धान्त पर आधारित वैष्णव भक्ति का प्रतिपादन किया, वे बाद मे वृन्दावन मे आकर रहने भी लगे थे। अन्य वैष्णव संप्रदायो की तरह इस सप्रदाय के भक्तो ने भी भक्ति-साहित्य का निर्माण किया। श्रीभट्ट इस सप्रदाय के आदि व्रजभाषा-कवि माने जाते हैं। श्रीभट्ट, हरिव्यासदेवाचार्य, परशुरामाचार्य ये तीन इस सप्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य और गुरु-शिष्य परपरा से क्रमिक उत्तराधिकारी के रूप में सबद्ध माने जाते हैं। इन तीनो ही आचार्य-कवियो के जीवन-वृत्त का यथातथ्य पता नही लग पाया है। श्रीभट्ट का परिचय देते हुए शुक्लजी लिखते हैं, इनका जन्म सवत् १५९५ में अनुमान किया जाता है अत इनका कविता-काल सवत् १६२५ या इससे कुछ आगे तक माना जाता है। युगल शतक के अतिरिक्त इनकी एक छोटी-सी रचना आदिबानी भी मिलती है।'[1] शुक्लजी ने जन्म-काल को जिस तरह अनुमान रूप में १५९५ विक्रमी बताया वैसे ही 'युगल शत' के साथ ही 'आदि बानी' का भी अनुमान कर लिया। आदिबानी और युगलशतक दोनो एक ही चीजें हैं। व्रजभाषा की निम्बार्क सम्प्रदाय-गत पहली रचना होने के कारण यह आदिबानी कहलायी। शुक्लजी ने हरिव्यासदेवाचार्य और परशुराम के बारे में कुछ नही लिखा। डॉ० दीनदयाल गुप्त ने अष्टछाप से पहले हिन्दी में कृष्ण-भक्ति काव्य की परम्परा का सन्धान करते हुए ब्रह्मचारी बिहारीशरण की 'निम्बार्कमाधुरी' में उपर्युक्त कवियो पर लिखे हुए जीवन-वृत्त को अप्रामाणिक बताया है।[2] बिहारीशरणजी ने श्रीभट्ट का समय १३५२ विक्रमी और उनके शिष्य हरिव्यासजी का १३२० विक्रमी दिया था। डॉ० गुप्त लिखते हैं, 'वस्तुत ब्रह्मचारीजी ने इन दोनो भक्तो की विद्यमानता का सवत् गलत दिया है। निम्बार्क सप्रदायी तथा युगल शतक के रचयिता श्रीभट्ट केशव कश्मीरी के शिष्य माने जाते हैं। इनका (श्रीभट्ट का) रचनाकाल सवत् १६१० विक्रमी है। श्री हरिव्यास देव का रचनाकाल भी सूरदास के समय का ही है। वैसे निम्बार्क सप्रदायी हरिव्यास देवजी आयु में सूर से बडे थे।[3] डॉ० गुप्त ने अपनी स्थापना के मण्डन के लिए कोई आधार

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, सवत् २००७, काशी, पृ० १८८।
२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, प्रयाग, २००४ विक्रमी, पृ० २५।
३ वही, पृ० २५।

गोविंद भक्ति गद रोग गति तिलक दास सद वैद हद
जंगली देस के लोग सब परशुराम किय पारषद

नाभादास के इस छप्पय मे श्रीभट्ट के बाद हरिव्यास और परशुराम को क्रमश शिष्य परम्परा में स्थापित किया गया है। परशुराम के विषय में नाभादास ने एक ऐतिहासिक तथ्य का उद्घाटन भी किया है। परशुराम ने 'जगली देस' के लोगो को वैष्णव बनाया। यह 'जगली देस के लोग' पद कुछ उलझा हुआ प्रतीत होता है। 'जगली' शब्द लोगो के असभ्य, वर्वर और असस्कृत होने का आभास तो देता ही है किन्तु मूलत यह देशभेद सूचित करता है जागल देश राजस्थान के एक हिस्से का नाम था। सभवत दिल्ली-मेरठ के क्षेत्र के, जिसे कुरुदेश कहते थे, दक्षिणी भाग को जागल कहते थे। कुरु के पूरब का देश पाचाल या इसी से 'कुरुपाचाल' और 'कुरुजागल' दोनो पदो का उल्लेख मिलता है। वैसे जागल किसी भी ऐसे हिस्से को कहा जाता था जो अल्पोदक, तृणहीन, सूखा देश हो तथा जहाँ हवा और गर्मी तेज रहती हो। भावप्रकाश में जागल देश का परिचय देते हुए कहा गया है कि शुभ्र आकाश वाला तथा थोडे जल से पैदा होनेवाले पौधो शमी, करीर, बिल्व, अर्क, पीपल, कर्कन्धु आदि से भरा हुआ देश जागल कहा जाता है।[2] इन विशेषताओ से युक्त राजस्थान के किसी हिस्से को जागल कहना उचित ही है। महाभारत में मद्र और जागल का नाम साथ आता है।[3] मद्र रावी और झेलम के बीच का देश था, इस प्रकार जागल उसके दक्षिण का प्रदेश (राजस्थान) कहा जा सकता है। इस प्रकार परशुराम सबन्धी छप्पय में 'जगली देश' का अर्थ जागल देश अर्थात् राजपूताना का भूभाग है। नाभादास के मत से परशुराम ने राजस्थान के लोगो को 'पारषद' यानी वैष्णव भक्त बनाया। नाभादास ने परशुराम के कार्य-क्षेत्र का एकदम ठीक उल्लेख किया है। क्योकि परशुराम देव राजस्थान के सलेमाबाद (परशुरामपुरी) को केन्द्र बनाकर भक्ति-प्रचार का कार्य करते थे। आज भी उक्त नगर में निम्बार्क पीठ स्थापित है। वहीं परशुराम की इहलौकिक लीला भी समाप्त हुई थी। इस प्रकार नाभादास को यह मालूम था कि परशुराम ने जागल देश के जगली लोगो को भक्त बनाया। परशुराम के इस विशेष-कार्य का उल्लेख भी ध्यान देने की वस्तु है। एक काफी बडे भूभाग को असभ्य से सभ्य या भक्त बनाना कुछ समय-सापेक्ष्य व्यापार है। मेरे कहने का मतलब यह कि परशुराम नाभादास (१६४३ सवत्) से पूर्व तो थे ही, भक्ति प्रचार का कार्य तो उन्होने और भी बहुत पहले से किया होगा। इस तरह परशुराम विक्रमी १६०० के आस पास या उसके पूर्व वर्तमान थे।

§ २२३ परशुराम सागर में विप्रमती ग्रन्थ की पुष्पिका से भी कुछ लोगो को भ्रम हुआ है। उक्त पुष्पिका इस प्रकार है

---

१ अल्पोदकतृणो अस्तु प्रवात प्रचुरातप
सज्ञेयो जागलो देशो बहुधान्यादिसयुत (रत्नावली)।

२ आकाश शुभ्र उच्चश्च स्वल्पपानीयपादप
शमी-करीर-बिल्वार्क पीलुकर्कन्धुसकुल (भावप्रकाशम्)।

३ तत्रेमे कुरुपाचाला शल्वा माद्रेय जागला। (महाभारत, भीष्म पर्व, अ० ९)।

१३ ग्रन्थो की यह सूची नागरी प्रचारिणी सभा खोज रिपोर्ट (१९३२-३४) में प्रस्तुत की गयी। डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने राजस्थान में हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थो की खोज में परशुराम के २२ ग्रन्थो की सूची दी है।[1]

(१) साखी का जोडा (२) छन्द का जोडा (३) सवैया दस अवतार का (४) रघुनाथ-चरित (५) श्रीकृष्ण-चरित (६) सिंगार सुदामा-चरित (७) द्रौपदी का जोडा (८) छप्पय गज-ग्राह को (९) प्रह्लाद-चरित (१०) अमरबोध-लीला (११) नामनिधि-लीला (१२) शौच निषेध लीला (१३) नाथ लीला (१४) निज रूप लीला (१५) श्री हरिलीला (१६) श्री निर्वाण-लीला (१७) समझणी लीला (१८) तिथि-लीला (१९) नद-लीला (२०) नक्षत्र-लीला (२१) श्री बावनी लीला (२२) विप्रमती तथा ७५० के लगभग फुटकल पद।

ऊपर की १३ रचनाओ में पदावली और वार लीला को छोडकर बाकी ११ ग्रंथ दूसरी सूची में भी शामिल हैं। पहली सूची रागरथ नाम लीला निधि (न० ७) दूसरी सूची नामनिधि लीला (न० ११) से मिलती-जुलती है किन्तु 'रागरथ' का अर्थ स्पष्ट नही होता। साँच निषेध लीला ही दूसरी में शौच निषेध लीला है।

दोनो सूचियो में तिथि लीला, वार लीला (दूसरी में नही) बावनी लीला और विप्रमती शामिल हैं जो विषय और नाम दोनो ही दृष्टियो से कबीर को कही जानेवाली इन्ही नाम की रचनाओ से साम्य रखती है। तिथि लीला में परशुराम और कबीर दोनो ही अमावस्या से पूर्णिमा तक का वर्णन सन्तोचित ढग से किया है। कबीर कहते हैं 'कबीर मावस मन में गरब न करना, गुरु प्रताप इमि दूतर तरना। पडिवा प्रीत पीव सूँ लागी, मसा मिथ्या तब सक्या भागी।' इसी को परशुराम इन शब्दो में कहते हैं 'मानस मैं तैं दोऊ डारी, मन मंगल अतर लै सारी। पडिवा परमतत ल्यौ लाई। मन कूँ पकरि प्रेम रस पाई।' कबीर मानस में गर्व न करने को कहते हैं परशुराम 'मैं तैं' की अहमन्यता को छोडने को सलाह देते हैं। प्रतिपदा में कबीर मन को अनुशासित करके प्रिय से प्रीति करते हैं जबकि परशुराम मन को पकडकर प्रियतम-लवलीन करने की बात करते हैं।

वारलीला ग्रन्थ में कबीर लिखते हैं

> कबीर वार-वार हरि का गुन गाऊँ, गुरु गमि भेद सहर का पाऊँ
> सोय वार ससि अमृत झरै, पीवत वेगि तवै निस्तरै

परशुराम की वारलीला में इसी को इस ढग से कहा गया है

> वार-वार निज राम संभारूँ,
> रतन जनम भ्रम वाद न हारूँ
> सोम सुरति करि सीतल वारा,
> देष सकल व्यापक व्यौहारा
> मौन विसरि जाको निस्तारा,
> समदृष्टि होइ सुमिरि अपारा।

---

१ प्रथम भाग, संपादक मोतीलाल मेनारिया, उदयपुर। 'राजस्थानी भाषा और साहित्य', पृ० १४२।

स्व० डॉ० पीताम्वर दत्त वडथ्वाल ने उचित ही लिखा कि 'परशुराम का रचनाकाल ज्ञात नही है वे कवीर से पहले के है या पीछे के यह भी ज्ञात नही। इसलिए पर्ववर्ती सवन्ध से भी इस विपय में कोई निर्णय नही हो सकता। परन्तु इतना निश्चय है कि औरो की भी कुछ रचनाएँ कवीर के नाम से चल पडी हैं। कवीर के नाम से प्रसिद्ध कुछ रचनाएँ स्वामी सुखानन्द और वखनाजी के नाम से मिलती हैं। कवीर जैसे प्रसिद्ध व्यक्ति की रचना दूसरो के नाम से चल पडेगी यह कम सभव है। अधिक सभव यही है कि कम प्रसिद्ध लोगो की रचनाएँ कवीर के नाम से चल पडी हो। और उनके कर्ताओ को लोग भूल गये हो।'[1]

§ २२६ नीचे श्रीभट्ट, हरिव्यासदेव, परशुराम और तत्त्ववेत्ता की कविताओ के कुछ उद्धरण दिये जाते हैं। श्रीभट्ट का कविता-नाम 'हितू', हरिव्यास देव का 'हरिप्रिया' और परशुराम का 'परमा' था। निम्वार्क सप्रदायी आचार्य कवियो के उभयनामो की सूची सर्वेश्वर मे प्रकाशित की गयी है।[2] इसमें प्राय ४५ आचार्यों के अन्तरग नामो का विवरण दिया हुआ है।

श्रीभट्टजी के युगलसत[3] का एक पद—

सुकर मुखर निरखत दोऊ मुख ससि नैन चकोर।
गोर स्याम अभिराम अति छवी फवी कछु थोर॥
गोर स्याम अभिराम विराजै।
अति उमग अग अग मरे रग सुकर मुखर निरखत नहि त्याजैं।
कठ सो कठ वाहु ग्रीवा मिलि प्रतिविम्वित तन उपमा लाजैं॥
नैन चकोरि विलोक वदन ससि आनद सिधु मगन भए भ्राजैं।
नील निचोल पीत पटके तट मोहन मुकुट मनोहर राजैं॥
घटा छटा आख डल कोदड दोउ तन एक देस छवि छाजैं।
गावत सहित मिलत गति प्यारी मोहन मुख सुर नीसुर वाजैं॥
अमिट अटकि परे दपति दृग मूरति मनहु एक ही साजैं॥

श्री हरिव्यास देव की महावाणी[4] से—

हौं कहा कहौं सुख फूल मई।
फूले फूल फवे सव वन में तन मन की सव सूल गई॥
फूल दिसन विदसन मे फूलै छिति अम्वर मे फूल छई।
फूली लता द्रुम सरित सरव में खग मृग सव ठा फूल ढई॥
फूल निकुञ्ज निलय निकरनि मे वरन वरन में फूल नई।
श्री 'हरिप्रिया' निरख नैन छवि फूलन के उर फूल भई॥

---

१ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४५, सवत् १९९७, पृ० ३३४।
२. सर्वेश्वर, वर्ष ४, अक ७, वृन्दावन, पृ० २८।
३ वृन्दावन से प्रकाशित। दूसरा काशी नागरी प्रचारिणी सभा, शीघ्र प्रकाशित करनेवाली '।
४ निम्वार्क—माधुरी में संकलित।

श्रीभट्ट और हरिव्यास देव की रचनाएँ भक्तो मे अति प्रचलित रही हैं और इनकी रचनाओ के कोई बहुत प्राचीन हस्तलेख भी प्राप्त नही होते। सभी हस्तलेख १८वी शती के ही मिले हैं इसलिए इन रचनाओ की भाषा बहुत परवर्ती मालूम होती है। किन्तु परशुराम देव की भाषा काफी पुरानी है। १६७७ सवत् की लिपिकृत परशुराम वाणी की कुछ रचनाएं नीचे उद्धृत की जाती है।[1]

परशुराम के काव्य पर निर्गुण और सगुण दोनो ही मतो का प्रभाव दिखाई पडता है।

अवधू उलट्यो मेर चढ्यो मन मेरा सूनि जोति धुनि लागी।
अणभै सबद बजावै विणकर सोई सुरता अनुरागी।।
उड़ि आसमान अषाड़ा देषै सोइ वदिय बड़भागी।
घर बाहर डर कछू नाहीं सोई निरभै वैरागी।।
रहै अकलप कलप तर सौं मिलि कलपि मरै नहि सोई।
निहचल रहै सदा सोइ परसा अवागमण न होई।।

सगुण भक्ति सम्बन्धी पद—

कान्हर फेरि कहो जु कही तब तो मोरी सूँ सरै।
सोवत जागी जसोदा उठी सुन सुत सब्द ऊँसर।।
लक्ष्मण वाण धनुषि दे मेरे मोंहि जुद्ध की हूँसरै।
सीया साल को सहै सदा दुष करिहूँ असुर विधूँसरे।।
प्रगटी आई जुद्ध विद्या वल सुमन सिंधु सारूँसरै।
परशुराम प्रभु उमगि उठे हरि लीने हाथ अथूस रे।।

'लीला समझनी' का विश्व-रूप सम्बन्धी एक पद—

कैसी कठिन ठगोरी थारी देख्यो चरित महाछल भारी।
वड़ आरम्भ जो औसर साध्यो, ज्यों नलिनी सूवा गहि बाध्यो।।
छूटि न सकै अकल कललाई, निर्गुण गुण में सब उरझाई।
उरझि उरझि कोइ लहै न पारा, भुरकी लागि मर्‍यो ससारा।।
वहि गए ब्रनजि मॉहि समाया, अविगत नाथ न दीपक पाया।
दीपक छॉडि अधा ह्वै धावै, वस्तु अगह क्यों गहणी आवै।।
गहणी वस्तु न आइये वाणी जब कियो विचारि।
अध अचेतन आस वसि चाले रतन विसारि।।

तत्ववेत्ता के कुछ फुटकल पदो का एक सग्रह प्राप्त होता है। डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने लिखा है कि इनके कवित्त नामक एक ग्रन्थ का पता है जो पिंगल भाषा (ब्रजभाषा) में है। इसमें ९८ कवित्त (छप्पय) हैं जिनमें राम, कृष्ण, नारद, जनक आदि महापुरुषो की महिमा कही गयी है। तत्ववेत्ता का एक छप्पय नीचे दिया जाता है।[2]

---

1 नागरी प्रचारिणी सभा की हस्तलिखित प्रति से। परशुराम सागर का सम्पादन भी सभा शीघ्र करा रही है।

२ राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १०६।

धरम मार्ग खड़ धार करम मारग कछु नाहीं ।
साध मार्ग सिर ताज सिद्ध मारग मन माहीं ॥
जोग मार्ग जोगेन्द्र जोगि जोगेश्वर जानें
हरिमारग हरिराइ वेद भागवत बखाने ।
ततवेत्ता तिहुँ लोक में विविध मार्ग विस्तरि रह्या ।
सब मारग को सुमिरता परम मार्ग परचै भया ॥

नरहरि भट्ट

§ २२७. नरहरि भट्ट उम्र मे सूरदास के समवयस्क थे । उनके रचना-काल को देखते हुए हम उन्हें सूरदास से कुछ पहले का या सम-सामयिक कवि मान सकते हैं, फिर भी नरहरि भट्ट की रचनाएँ कई दृष्टियो से सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसके साहित्य को समझने में सहायक हो सकती हैं । भाषा की दृष्टि से उनकी रचनाओ का विश्लेषण किया जाये तो स्पष्ट मालूम होगा कि इसकी अन्त प्रवृत्तियाँ अष्टछापी कवियो की भाषा से उतना साम्य नही रखती जितना अपनी पूर्ववर्ती चारण शैली की पिंगल भाषा से । उसी प्रकार काव्य और उसके रूप-उपादान भी सूरकालीन काव्य-चेतना से उतना प्रभावित नही है जितना अपभ्रंश और पिंगल काव्य-रूपो और उनकी शैली से ।

नरहरि की जन्म-तिथि का निर्णय करने के लिए कोई प्रामाणिक आधार उपलब्ध नही हैं । उनके वशजो मे ऐसा विश्वास प्रचलित है कि उनका जन्म सवत् १५६२ में हुआ था । प० रामचन्द्र शुक्ल इनका जन्म-काल सवत् १५६२ ही मानते हैं ।[१] नरहरि की रचनाओ के अतर्साक्ष्य से प्रमाणित होता है कि हुमायूँ के दरबार में उनका आना-जाना था । उन्होने हुमायूँ और शेरशाह के युद्ध का बडा विशद और चित्रात्मक वर्णन किया है । इस प्रकार के बिम्बपूर्ण वर्णन स्थिति के सूक्ष्म निरीक्षण के बिना संभव नही है । डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल इसी आधार पर यह अनुमानित करते हैं कि नरहरि हुमायूँ के सपर्क में सम्वत् १५९० के आस-पास आये होंगे क्योकि शेरशाह और हुमायूँ का युद्ध विक्रमी सवत् १५९७ के वैशाख में हुआ था और यदि इस दृष्टि से देखें तो नरहरि का हुमायूँ के दरबार में प्रवेश कुछ वर्ष पूर्व ही हुआ होगा और तदर्थ पाँच-सात वर्ष की मैत्री भी आवश्यक है । 'ऐसा लगता है कि नरहरि किसी एक नरेश के निश्चित सभा-कवि नही थे और उनका कई दरबारो के साथ सबन्ध था क्योकि उनकी रचनाओ में बाबर, हुमायूँ, अकबर, शेरशाह और उसके पुत्र सलीम शाह की प्रशस्तियाँ मिलती हैं । बाबर के विषय में नरहरि का यह पद्य काफी महत्त्व का है ।'[२]

नेक बख्त दिल पाक सखी जवाँ मर्द शेर नर
अव्वल अली खुदाय दिया तिरिपार मल्क जर

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १०९ ।

२ अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, लखनऊ, पृ० ६६ । इस छप्पय को और भी कई लोगो ने उद्धृत किया है । देखिए महाकवि नरहरि महापात्र, पृ० २२८, विशाल भारत, मार्च, १९४६ तथा नरहरि महापात्र और उनका घराना, सम्मेलन पत्रिका, पौष सवत् १९९६ । हिन्दुस्तानी, भाग २७, पृ० स० ५ ।

खालिक बहुनेश हुकुम आलियां जो आलिब
दौलत बख्स बुलन्द जंग दुश्मन पर गालिब
अवसाफ तुरा गोयद सकल छवि नरहरि गुफलम चुनी
बाबर बरोबर बादशाह दीगर न दीदय कर हुनो

इस प्रकार की प्रशंसा बाबर के जीवन-काल में ही की गयी होगी। इसी बात को लक्ष्य करके डॉ० विपिनविहारी त्रिवेदी ने नरहरि को बाबर के दरबार का कवि स्वीकार किया है।[1] विक्रमी संवत् १५६२ को नरहरि भट्ट का जन्म-काल मानने पर बाबर के दरबार में उनका उपस्थित होना असंभव नही है क्योकि उस समय वे २४-२५ वर्ष के रहे होगे। मुसलमान बादशाहो के अलावा, कई हिन्दू राजो के साथ भी नरहरि का सम्पर्क था। उन्होने रीवा नरेश वीरभानु तथा उनके पुत्र रामचन्द्र के विषय में भी कई प्रशस्तिमूलक पद्य लिखे हैं। इस तरह के पद्यो के आधार पर नरहरि के जीवन सम्बन्धी घटनाओ का विवरण डॉ० अग्रवाल ने अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पुस्तक में दिया है। नरहरि की शिक्षा-दीक्षा, उनके 'वंश-घराना, निवास-स्थल तथा पारिवारिक जीवन-वृत्त आदि के विषय में डॉ० विपिनविहारी त्रिवेदी ने विशाल भारत के फरवरी १९४६ के अक में विस्तार से लिखा है। यहाँ उस विवरण को दोहराने की आवश्यकता नही मालूम होती। इन सब प्रमाणो को देखने से लगता है कि नरहरि का रचना-काल सूर के कुछ पहले पडता है। हम नरहरि की भाषा के विषय में कुछ विचार करना चाहते हैं।

अभी नरहरि की रचनाएँ पूर्णत प्रकाश में नही आयी हैं। अब तक जितनी रचनाओ का पता चला है, वे इस प्रकार हैं . (१) रुक्मिणी मगल, (२) छप्पय नीति और (३) कवित्त सग्रह। इन तीनो रचनाओ में केवल रुक्मिणी मगल ही पूर्ण काव्य है बाकी रचनाएँ फुटकल पद्यो का सग्रह मात्र है। नागरी प्रचारिणी सभा की हस्तलिखित प्रति से जिसका लिपि-काल सवत् १७२१ है, डॉ० अग्रवाल ने कुछ फुटकल पद्यो को अपनी पुस्तक के परिशिष्ट में उद्धृत किया है जो 'वादु' काव्य हैं जिनमें 'लोहे सोने का वादु', 'तेल तबोल का वादु', 'लज्जा-भूख का वादु' आदि कई रचनाएँ संकलित हैं। इन रचनाओ की भाषा पर विचार नही हुआ है।

नरहरि की भाषा के विषय में जो विचार हम नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं, उसकी पुष्टि के लिए उदाहरण उपर्युक्त रचनाओ से लिये गये हैं, विस्तार भय से पूरी रचनाओ को उद्धृत नही किया जा सकता इसलिए उदाहरणो के लिए 'अकबरी दरबार के हिन्दी कवि' के परिशिष्ट में सकलित रचनाओ को देखना चाहिए।

§ २२८ ध्वनि-विश्लेषण करने पर नरहरि की भाषा काफी प्राचीन मालूम होती है। द्वित्व व्यजनो को सरलीकृत कर लेने की प्रवृत्ति जो अवहट्ठ काल में शुरू हुई थी और ब्रजभाषा में बाद में जिसका चरम विकास हुआ, नरहरि की भाषा में प्रबल नही दिखाई देती। इसीलिए द्वित्व व्यजन प्राय सुरक्षित हैं। रिज्झहि (वादु २>ब्रज० रीझहि), सज्जहि (वादु २>ब्रज० साजहि), वड्डेउ (वादु>बाढेउ या बाढ्यो), तिन्नि (वादु ४ अप० त्रिण्णि>ब्रज० तीनि), अप्पुवल (वादु ६>ब्रज० आपु बल), हत्थ (वादु ६>ब्रज० हाथ) रुक्मिणी मगल की शैली छप्पयो की नही है, उसमें कई प्रकार के छन्द प्रयुक्त हुए है इसलिए उसमें

1 महाकवि नरहरि महापात्र, विशाल भारत, मार्च १९४६, पृ० २२८।

अपेक्षाकृत इस प्रकार के व्यंजन-द्वित्व की सुरक्षा की प्रवृत्ति कम दिखाई पड़ती है, फिर भी एकदम अभाव नहीं। इसलिए ऐसा नहीं कहा जा सकता कि केवल छप्पय छन्दों में ही इस प्रकार की प्रवृत्ति मिलती है। सच तो यह है कि भाषा में विकास तभी आता है जब कवि सामाजिक विकास की चेतना को ग्रहण करता है। नरहरि भट्ट चरण शैली के कवि थे इसलिए उनकी भाषा में पुरानी परंपरा का पालन ही दिखाई पड़ता है।

§ २२९ उद्वृत्त स्वरों की विवृत्ति भी सुरक्षित है। परवर्ती अपभ्रंश से उद्वृत्त स्वरों को संधि प्रक्रिया से संयुक्त स्वर बनाने की प्रवृत्ति शुरू हो गयी थी। ब्रजभाषा में उद्वृत्त स्वरों का नितान्त अभाव पाया जाता है किन्तु नरहरि की भाषा में अपभ्रंश की पुरानी प्रवृत्ति वाली उद्वृत्त स्वरों की सुरक्षा पूर्णतः वर्तमान है।

करउ (वादु १>ब्रज० करौं), गहइ (वादु ११>ब्रज० गहै), रष्पउ (वादु ११> ब्रज० राखौ), कहइ (वादु १२>ब्रज० कहै), लहइ (वादु>ब्रज० लहै), रुक्मिणी मंगल में इस प्रकार के प्रयोग कम हैं। किन्तु क्रिया रूपों में वहाँ भी विकास नहीं दिखाई पड़ता। जैसे—

पठाएउ>पठायो, बुलाएउ>बुलायो, बनाएउ>बनायो, कीन्हेउ>कीन्हो, दीन्हेउ> दीन्हो, रोवइ>रोवै, जोवइ>जोवै, शावेउ>साव्यो, अवरावेउ>अवराव्यो, कल्पइ>कल्पै, तलपइ>तल्फै।

यहाँ भूत निष्ठा के कृदन्तज रूपों की ध्वनि-प्रक्रिया काफी महत्त्वपूर्ण और विचारणीय है। अपभ्रंश में कहिउ, सुनिउ आदि रूप पाये जाते हैं। ब्रज में इन्हीं के कह्यो, सुन्यो आदि हो जाते हैं। नरहरि भट्ट की भाषा में जो रूप मिलते हैं वे इन दोनों की मध्यवर्ती अवस्था की सूचना देते हैं। जैसे—

अप० साधिउ>नर० सावेउ>ब्रज साव्यो, अप० अवराधिउ>नर० अवरावेउ> ब्रज अवराव्यो।

§ २३० कारक विभक्तियों की दृष्टि से भी नरहरि की भाषा में पुराने तत्व मिलते हैं। जगदीस कह (वादु १>जगदीस कौं), अप्पु महं (वादु २>आपु में), [illegible] (वादु १०), तिन्ह के (वादु ११६>तिनकैं), हत्थह (वादु ११७, पष्ठी विभक्ति [illegible]), जुगह (वादु ३१७२ सविभक्ति पष्ठी), चित्तह गुनिय (वादु ३१७३ सविभक्तिक [illegible])। [illegible] प्रकार की विभक्तियों के प्रयोग ब्रजभाषा में सुरक्षित नहीं दिखाई पड़ते।

§ २३१ परसर्गों के प्रयोग भी काफी पुराने हैं। चतुर्थी लगि रूप आरंभिक [illegible] में मिलता है (देखिए § ३१७) किन्तु परवर्ती ब्रज में धीरे-धीरे कौं की प्रधानता हो [illegible] है। नरहरि में इस तरह के रूप मिलते हैं। केहि काज लगि (वादु ४) केशव भट्ट [illegible] ([illegible] ३१७७) अनाथ नाथ कउ (बा० मासा ११३, ब्रज कौ) एकह (बारह मासा ११३ [illegible]) परसर्गों की दृष्टि से 'न्हें' का प्रयोग अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। १४वीं शताब्दी के पूर्व किसी भी अवहट्ट ग्रंथ में नें का प्रयोग नहीं हुआ है। केवल कीर्तिलता में ही न्हें' का प्रयोग मिलते हैं। प्रद्युम्न चरित, हरिश्चन्द्र पुराण जैसे १५वीं शती के [illegible] में भी नें का प्रयोग नहीं मिलता। नरहरि भट्ट की भाषा में नें का प्रयोग [illegible] नहीं कहे जायेंगे क्योंकि उस काल में सूर आदि की भाषा में भी प्रयोग मिलते हैं। [illegible]

इसलिए है कि यह 'ने' न होकर 'न्हे' है जैसा कीर्तिलता में है। एण से ने के विकास में सभवत· 'न्हे' मध्यवर्ती स्थिति है। वान्हे लिखी पाती (रु० म०)।

§ २३२ तुअ (वादु २।५) तुँ (वादु १।५) आदि सर्वनाम अपभ्रंश के ही हैं। ब्रज का अति प्रचलित तैं रूप कम मिलता है। तै (वादु १।११)। केहु (वादु ४।३ ब्रज कोउ), जैंइ (फुटकल ११ <जेण), अप्पन (फुटकल १३ <अप्पण, ब्रज अपनो) वो सकर (रु० म० वह), इह (रु० म० यह) सर्वनामो की दृष्टि से नरहरि भट्ट की भाषा पूर्णत अपभ्रश को ही पश्चगामिनी दिखाई पडती है। सर्वनामो में परसर्गों के साथ विभक्तियो का भी प्रयोग हुआ है।

§ २३३ विध्यर्थ क्रिया के महत्त्वपूर्ण रूप किज्जिअ (वादु २।४ ब्रज कीजे) किज्जिअै (वादु १।६ कीजिए) दिज्जिअै (वादु १।६ दीजिए)। ईज्जइ रूप अपभ्रंश का सीधा लगाव सूचित करता है। आज्ञार्थक में करओ (वादु २।५) रूप भी अवहट्ठ की तरह ही है। दीघ (फु० छन्द ४) कीघ (वादु) लीघ (वादु) आदि रूपो में 'घ' प्रकार की कृदन्तज क्रियाएँ मिलती हैं। ऐसे रूप पुरानी राजस्थानी और रासो की भाषा में होते हैं। कुछ लोगो का कहना है कि 'घ' प्रकार के रूप ब्रजभाषा में नही मिलते, परन्तु नरहरि की भाषा के ये प्रयोग उपर्युक्त मत की पुष्टि नही करते। भविष्य के मिलिर्हहि (वादु ३।८० ब्रज मिलि हैं) आदि रूप पुरानापन सूचित करते हैं।

§ २३४. आ-कारान्त क्रियाओ को लेकर इतना बडा विवाद होता है। मैंने अवहट्ठ-वाले प्रसग मे ही कहा है कि आकारान्त कियाएँ ब्रज में नही मिलती ऐसा कहना बहुत उचित नही। कृदन्तज रूपो में पदान्त अ का आ रूपान्तर होता था। घारिअ > घारिआ (रु० मंगल), छाइअ > छाइआ (रु० मगल), पाइअ > पाइआ (रु० मगल), विचारिअ > विचारिआ (रु० मगल), घाइअ > घाइआ (रु० मगल) इस तरह के रूप प्राकृतपैंगलम्, कीर्तिलता, रणमल्लछन्द आदि अवहट्ठ रचनाओ में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। जयदेव कवि के गुरुग्रन्थवाले पदो मे भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं।

मीरांबाई

§ २३५ मीरा का जीवन-वृत्त अद्यावधि जनश्रुतियो के कुहासे में ही ढँका हुआ है। उनके जन्म-काल के विषय मे विद्वानो ने काफी खोज-बीन की है, किंतु अब तक कोई अन्तिम निष्कर्ष नही निकल सका। मीरा के जीवन-वृत्त की सूचना देनेवाला पहला ऐतिहासिक विवरण कर्नल टाड के 'एनल्स ऐण्ड एण्टिक्वीटीज ऑव राजस्थान' में उपस्थित किया गया। टाड ने मीरा को राणा कुभ की पत्नी माना। उन्होंने लिखा कि राणा कुभ ने मेडता के राठौर की लडकी मीरा को, जो भक्ति और सौन्दर्य के लिए ख्यात थी, अपनी पत्नी बनाया।[1] कर्नल टाड ने एक दूसरे स्थान पर राणा कुभ के बनवाये हुए एक मदिर का उल्लेख किया जिसे 'मीराजी का मदिर' कहते हैं।[2] सभवत इस जनश्रुति के आधार पर कर्नल टाड ने मीरा और राणा

कुभ को संबद्ध मान लिया। टाड के इस निष्कर्ष ने काफी भ्रान्ति फैलायी और बहुत-से विद्वानो ने कई प्रकार के साक्ष्यो के आधार पर मीरा को उक्त काल से सबद्ध बताया। गुजराती विद्वान् श्री गोवर्धन राय माधोराय त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक 'क्लैसिकल पोयट्स ऑव गुजरात' में मीरा का समय १५वी शताब्दी निर्धारित किया।[1] उसी प्रकार श्री कृष्णलाल मोहनलाल झबेरी ने भी मीरा का जन्म १४०३ ईस्वी के आस-पास तथा उनकी मृत्यु का समय, ६७ वर्ष की उम्र में, १४७० ईस्वी में बताया है।[2] श्री हरविलास सारदा ने अपनी पुस्तक 'महाराणा सागा' में मीरा को राव दूदा (सन् १४६१–६२) के चौथे पुत्र रतन सिंह की पुत्री बताया है।[3] विलियम कुक ने एनल्स ऑव राजस्थान में जेम्स टाड के मीरा-विषयक मत के साथ सारदा का मत भी टिप्पणी में दिया है। इस प्रकार एक पक्ष के लोग मीरा को १५वी शताब्दी का मानते हैं। दूसरी ओर डॉ० गौरीशकर हीराचन्द ओझा और श्री देवीप्रसाद जैसे इतिहासकार बिलकुल भिन्न धारणा रखते हैं। डॉ० ओझा ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ राजपूताने के इतिहास में लिखा कि 'लोगो में यह प्रसिद्धि हो गयी है कि बडा मन्दिर महाराणा कुम्भ ने और छोटा उसकी राणी मीराबाई ने बनवाया था। इसी जनश्रुति के आधार पर कर्नल टाड ने मीराबाई को महाराणा कुम्भा की राणी लिख दिया, जो मानने योग्य नही है। मीरा बाई महाराणा सग्राम सिंह के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज की स्त्री थी।[4] जो मन्दिर मीराबाई का बनवाया हुआ कहा जाता है वह वास्तव मे राणा कुम्भ के द्वारा ही सवत् १५०७ में बनवाया गया था। कुम्भ स्वामी और आदि वाराह दोनो ही मन्दिरो की प्रशस्तियाँ इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं।[5] मुशी देवीप्रसाद ने 'मीराबाई जीवनचरित्र' में एक दूसरे पहलू से टाड वाली मान्यता का प्रतिवाद किया। उन्होने लिखा कि 'यह बिलकुल गलत है क्योकि राणा कुम्भा तो मीराबाई के पति कुँवर भोजराज के परदादा थे। और मीराबाई के पैदा होने के २५ या ३० वर्ष पहले मर चुके थे। मालूम नही कि यह भूल राजपूताने के ऐसे बडे तवारीख लिखनेवाले से क्योकर हो गयी। राणा कुम्भाजी का इतकाल सवत् १५२५ में हुआ था, उस वक्त तक मीराबाई के दादा दूदाजी को मेडता मिला ही नही था। इसलिए मीराबाई राणा कुम्भ की राणी नही हो सकती। मुशी देवीप्रसाद ने मीराबाई का जन्मकाल सवत् १५५५ के लगभग माना है।[6] ओझा के अनुसार मीरा का विवाह १८ वर्ष की उम्र में राणा सग्राम सिंह के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज के साथ हुआ। विवाह के बाद सवत् १५८० में भोजराज का देहान्त हो गया। मुशी देवीप्रसाद ने मीरा का मृत्युकाल सवत् १६०३ माना है।

ऊपर के सक्षिप्त विवरण से मीरा के जीवन तथा रचनाकाल के विषय में इतना पता चलता है कि वे १६०० के पहले वर्तमान थी और उन्होने १५८० सवत् के आस-पास भक्ति सवन्धी कविताओ की रचना शुरू की थी। इस प्रकार यद्यपि मीरा सूर की पूर्ववर्ती नही थी,

---

१ जी० एम० त्रिपाठी, क्लासिकल पोयट्स ऑव गुजरात, पृ० १०।
२ के० एम० झावेरी, माइलस्टोन्स इन गुजराती लिट्रेचर, पृ० ३०।
३ महाराणा सागा, अजमेर, १९१८, पृ० ९५–९६।
४ राजपूताने का इतिहास, दूसरा खड, पृ० ६७०।
५. वही, पृ० ६२२।
६ मीराबाई का जीवन चरित्र, पृ० ३१–३२।

जैसा कि टाड, सारदा, ग्रियर्सन, झवेरी, त्रिपाठी आदि विद्वानो ने बतलाया है, फिर भी इनका रचनाकाल सूर से पूर्व ही है क्योकि अधिक से अधिक परवर्ती बताने पर भी उनका रचना-काल १५८० के आस-पास मानना ही पडेगा।

§ २३६ मीरा के गीतो की भाषा पर अभी तक सम्यक् विचार नही हुआ है। गुजराती विद्वान् मीरा को गुजराती की कवयित्री मानते हैं। उसी प्रकार राजस्थान के लोग राजस्थानी की। प० रामचन्द्र शुक्ल ने मीरा की भाषा पर विचार व्यक्त करते हुए लिखा है 'इनके पद कुछ तो राजस्थानी-मिश्रित भाषा में हैं और कुछ विशुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा में।'[1] डॉ० धीरेंद्र वर्मा ने मीरा की भाषा के विषय मे विचार करते हुए लिखा कि '१६वी शताब्दी की होने पर यहाँ हिन्दी की प्रसिद्ध कवियित्री मीरा का उल्लेख कर देना आवश्यक है। उनकी मातृभाषा राजस्थानी थी किन्तु वे कुछ समय तक वृन्दावन मे भी रही थीं। तथा उनके जीवन के अन्तिम दिन गुजरात में बीते थे। मीराबाई के गीतो के उपलब्ध सकलन राजस्थानी तथा गुजराती के मिश्रित रूपो में हैं, इनमे कही-कही ब्रजभाषा का पुट भी मिलता है। ब्रज से सबन्ध रखने के दृष्टिकोण से मीरा की रचनाओ का पश्चिमी मध्यदेश में वही स्थान है जो विद्यापति पदावली का पूर्वी मध्यदेश में है।'[2]

डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के मत से 'मीरा की रचना इतनी लोकप्रिय बनी कि धीरे-धीरे इसकी शुद्ध राजस्थानी भाषा (मारवाडी) परिवर्तित होकर शुद्ध हिन्दी की ओर झुकी और अन्त मे शुद्ध हिन्दी ही हो गयी।[3] उपर्युक्त तीनो विद्वानो के मतो का विश्लेषण करने से पता चलता है कि वे किसी न किसी रूप मे यह स्वीकार करते हैं कि मीरा की रचना में ब्रजभाषा का तत्त्व है। डॉ० चाटुर्ज्या के निष्कर्ष पर यह आपत्ति की जा सकती है कि मीरा की शुद्ध मारवाडी रचनाओ के हिन्दी रूपान्तर ग्रहण करने की प्रक्रिया मे कोई अन्तर्वर्ती स्तर भी मिलता है? कैसे मान लिया जाये कि आज कि शुद्ध हिन्दी में प्राप्त होनेवाली उनकी रचनाएँ मौलिक रूप से राजस्थानी में लिखी हुई थी। यदि महाराष्ट्र के नामदेव, राजस्थान के पीपा, सेन आदि तथा पजाब के नानकदेव जैसे लोग ब्रजभाषा में काव्य लिख सकते थे तो मीरा की ब्रजभाषा रचनाओ को मौलिक मानने मे कोई खास आपत्ति तो नही होनी चाहिए। वस्तुत मीरा के सामने भी भाषा के दो आदर्श थे। एक भाषा उनकी मातृभाषा थी जो उन्हें जन्म से ही प्राप्त हुई और दूसरी उस काल की अत्यन्त प्रचलित सास्कृतिक भाषा थी जो सन्तो के पदों के रूप में उनके पास पहुँची। मीरा ने इन दोनो ही भाषाओ में काव्य लिखा। राजस्थानी में भी और ब्रजभाषा में भी। यह भी स्वाभाविक है कि इस प्रकार के प्रयत्न में कुछ हद तक भाषा मिश्रण भी हो। यदि मीरा ने शुद्ध राजस्थानी मे ही पद लिखे होते तो इतने शीघ्र लोकप्रिय नही होते। खास तौर से हिन्दी प्रदेश में, जैसा कि डॉ० चाटुर्ज्या मानते हैं। मैं इस विषय में प० रामचन्द्र शुक्ल का निष्कर्ष ही उचित मानता हूँ कि उनके पद दो प्रकार की भाषा में लिखे गये थे। राजस्थानी और ब्रज। यदि मीरा की रचनाओ का सम्यक् विश्लेषण किया जाये तो

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, छठाँ सस्करण, काशी, २००७, पृ० १८५।

२ ब्रजभाषा, प्रयाग, १९५४, पृ० ५६।

३ राजस्थानी भाषा, उदयपुर, १९४९ ईस्वी, पृ० ६७।

उसमें खडी बोली या पजाबी का भी कम प्रभाव नही दिखाई पडेगा, क्योंकि पुरानी हिन्दी की दोनो प्रकार की शैलियो–ब्रज और खडी–में लिखी संतवाणी का उनके ऊपर प्रभाव अवश्य पडा था।

§ २३७ मीरा की कही जानेवाली निम्नलिखित रचनाओ की सूचना मिलती है

(१) नरसी जी रो माहेरो।
(२) गीत गोविन्द की टीका।
(३) सोरठ के पद।
(४) मीरा बाई का मलार।
(५) राग गोविन्द।
(६) गर्वा गीत।
(७) फुटकल पद।

इन रचनाओ की प्रामाणिकता काफी सदिग्ध है। 'नरसी जी रो माहरो' एक प्रकार का मगल काव्य है जिसमे प्रसिद्ध भक्त नरसी के माहेरा (लडकी या बहन के घर उसके पुत्र या पुत्री की शादी में भाई या बाप की ओर से भेजे गये उपहार) का वर्णन किया गया है। नरसी ने अपनी पुत्री नाना बाई को यह माहेरा भेजा था। इस ग्रन्थ की कोई प्रामाणिक प्रति उपलब्ध नही होती। गुजराती विद्वानो ने इस ग्रन्थ को गुजराती का बताया है किन्तु भाषा बिलकुल ही गुजराती नही बल्कि स्पष्ट ब्रजभाषा है। इस पुस्तक का आरम्भिक अश नीचे दिया जाता है

गणपति कृपा करो गुणसागर जन को जस सुभ गा सुनाऊँ।
पच्छिम दिसा प्रसिद्ध धाय सुख श्री रणछोड़ निवासी।
नरसी को आहेरो मगल गावे मीरा दासी ॥ १ ॥
छत्री वस जनम भय जानो नगर मेड़ते वासी।
नरसी को जस वरण सुनाऊँ नाना विधि इतिहासी ॥ २ ॥
सखा आपने सग जु लीन्हें हरि मन्दिर ये आये।
भक्ति कथा आरभी सुन्दर हरिगुण सीस नवाये ॥ ३ ॥
को मडल को देस बखानूँ सतन के जस वारी।
को नरसी को भयो कौन विध कहो महिराज कुँवारी ॥ ४ ॥
भये प्रसङ्ग मीरां तब भाख्यो सुनि सखि मिथिला नामां।
नरसी की विध गाय सुनाऊँ सामें सब ही कामां ॥

बीच में एक जैजैवन्ती राग का पद इस प्रकार है.

सोवत ही पलका में मैं तो पल लागी थल में पिउ आये।
मैं जु उठी प्रभु आदर देन कू जाग परी विण ढूँढ न पाये ॥
और सखी पिव सोय गमाए मैं जु सखी पिउ जागि गमाए ॥ १ ॥
आज की बात कहाँ कहूँ सजनी सपना में हरि लेत बुलाये।
वस्तु एक जब प्रेम की चकरी आज भये सखि मन के भाये ॥ २ ॥

क्रिया और कारक चिह्नादि खडी बोली के हैं।'[1] डॉ० वर्मा का कथन बिल्कुल सही है कि भाषा का निर्णय शब्दो से नही व्याकरणिक तत्त्वो यानी क्रियापद, कारक चिह्नादि से होना चाहिए।

§ २४० नीचे हम खुसरो के कुछ पद्य उद्धृत करते हैं

१ मेरा मोसे सिगार करावत आगे बैठ के मान बढावत
वासे चिक्कन ना कोउ दीसा, ए सखि साजन ना सखि सीसा

—हि० अलोचना० इति० पृ० १३१

२ खुसरो रैन सुहाग की जागी पी के संग।
तन मेरो मन पीउ को दोउ भयो एक रग॥
गोरी सोवै सेज पर मुख पर डारै केस।
चल खुसरो घर आपने रैन भइं चहुँ देस॥

३. मोरा जोबना नवेलरा भयो है गुलाल।
कैसे गर दीनी बकस मोरी लाल॥
सूनी सेज डरावन लागै, बिरहा अगिनि मोहि डस डस जाय।

४ हजरत निजामदीन चिस्ती जरजरीं बख्श पीर।
जोइ जोइ ध्यावैं तेइ तेइ फल पावैं
मेरे मन की मुराद भर दीजै अमीर

५ री मैं धाउँ पाउँ हजरत ख्वाजदीन
शकरगज सुलतान मशायख़ महबूब इलाही
निज़ामदीन औलिया के अमीर खुसरो बलबल जाहीं

ये पाँच पद्याश, जो खुसरो की रचनाओ में प्राय प्रामाणिक माने जाते हैं। भाषा-सबधी विवेचन के लिए पर्याप्त न होते हुए भी, खडी बोली और ब्रज का निर्णय करने के लिए अपर्याप्त नही कहे जा सकते। अन्य रचनाओ के लिए 'खुसरो की हिन्दी कविता' शीर्षक निबध देखा जा सकता है।[2]

सर्वनाम के साधित विकारी रूप मो, वा, तथा मोरो, मोरी (षष्ठी, उत्तम पुरुष) परसर्ग को (पीउ को) से (वा से) तथा सविभक्तिक सर्वनाम रूप मोहि (कर्म कारक) अनिश्चयवाचक कोउ (खडी बोली का कोई नही) नित्य सबधी जोइ जोइ तथा दूरवर्ती सकेतवाची तेइ तेइ आदि सर्वनाम, करावत, बढावत आदि प्रेरणार्थक कृदन्तज रूप जो वर्तमान की तरह प्रयुक्त हुए हैं, (खडी बोली में इनके साथ सहायक क्रिया का होना अनिवार्य है) भयो (पुल्लिग) दीनी, जागी (स्त्रीलिंग) आदि भूतनिष्ठा के रूप सौवै, डारै, लागै, ध्यावैं आदि वर्तमान के तिङन्त रूप (जो केवल ब्रज में चलते हैं, खडी बोली में नही) क्रियार्थक सज्ञा डरावन (ण प्रत्यय निर्मित खडी बोली का डरावना नही) दोउ, चहुँ जैसे सख्यावाचक विशेषण, (दोनो, चारो नही) आदि तत्त्व इस भाषा को ब्रज प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं।

---

१ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, इलाहाबाद, तृतीय सस्करण, पृ० १२७।

२ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् १९७८, पृ० २६१।

ईस्वी में जब दीपालपुर के युद्ध में सुलतान मारा गया तो ये भी शत्रुओ के हाथ में पड गये। दो वर्ष बाद मुक्ति मिली तो अवध के सूबेदार आलमगीर के नौकर बने। 'अस्फ नामा' तभी लिखा गया था। अपने जीवन काल में खुसरो ने जितनी उथल-पुथल देखी उतनी शायद ही किसी कवि ने देखी हो। आलमगीर के बाद उन्होंने कैकुवाद की नौकरी की और गुलाम वश के विनाश के बाद जलालुद्दीन खिलजी के दरबारी बने। अलाउद्दीन गद्दी पर बैठा तब खुसरो की पद-वृद्धि हुई और उन्हे खुसरु-ए-शायरा की पदवी मिली। खिलजी वश के पतन के बाद भी खुसरो राजकवि बने रहे और तुगलक गयासुद्दीन ने उनका पूरा सम्मान किया। इस प्रकार खुसरो ने दिल्ली में ग्यारह बादशाहो का उदय और अस्त देखा। १३२४ ईस्वी में अपने गुरु निजमुद्दीन औलिया की मृत्यु के कारण वे बहुत दु खी हुए और उसी गम में उनका सन् १३२५ ईस्वी में देहान्त हो गया।[1] खुसरो अप्रतिम विद्वान् और अद्भुत देश-भक्त व्यक्ति थे। उन्होने अपनी रचना 'नुह सिपेहर' मे बडे विस्तार से यह बताया है कि वे हिन्दुस्तान को प्रेम क्यो करते हैं। उन्होने हिन्दुस्तान के गौरव को बढानेवाले दस कारणो का उल्लेख किया है। सगीत, भाषा, जलवायु, आदमी, रहन-सहन आदि के बारे में विस्तार से बताया है। भाषा के बारे में खुसरो का कहना है कि दिल्ली में हिंदवी भाषा बोली जाती है जो काफी प्राचीन है। हिन्दवी का अर्थ सभवत ब्रजभाषा है क्योकि दूसरी भाषाओ के साथ ब्रज का नाम नही लिया है जब कि सिधी, बगला, अवधी आदि का नाम आता है। देशी भाषाओ के उदय की सूचना देनेवाला यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सकेत है। इसी प्रसग मे खुसरो ने भारतीय सगीत की भी चरचा की है। उसने स्पष्ट लिखा है कि हिन्दुस्तानी सगीत सुन कर हिरन तद्रा-मग्न हो जाते हैं। वे दौडना भूल जाते हैं।[2] गोपाल नायक, बैजू और तानसेन के बारे में, उनके सगीत की प्रतियोगिता में हिरनो के आने की बात, खुसरो के इस सकेत से पुष्ट होती है।

खुसरो ने अपनी, 'आशिका' नामक रचना में हिन्दी भाषा की बडी प्रशसा की है। यद्यपि उन्होने उसे अरबी से थोडा हीन माना किन्तु राय और रूम (फारस के नगरो) की भाषा के किसी भी तरह हीन मानने को वे तैयार न थे। हिंदी का अर्थ यहाँ हिन्द की भाषा यानी सस्कृत भी हो सकता है किन्तु यदि हिन्दी का अर्थ हिन्दी भाषा ही मानें तो स्पष्ट है कि उनका सकेत काव्यभाषा यानी ब्रज की ओर था। क्योकि १३वी शती में खडी बोली की स्थिति ऐसी नही थी कि उसे फारसी भाषा का दर्जा दिया जाता। डॉ० सैयद महीउद्दीन क़ादरी खुसरो की भाषा को ब्रजभाषा ही कहना चाहते हैं।[3] डॉ० रामकुमार वर्मा ने क़ादरी साहब के मत का विरोध करते हुए लिखा कि 'खुसरो की जबान ब्रजभाषा नही थी। जब तक किसी भाषा के क्रिया पद और कारक चिह्नादि व्याकरण की दृष्टि से प्रयुक्त न हो तब तक उस भाषा का प्रयोग पूर्ण रूप से नही माना जायेगा। शब्द चाहे ब्रजभाषा के भले ही हो पर

क्रिया और कारक चिह्नादि खडी बोली के हैं।'[1] डॉ० वर्मा का कथन बिल्कुल सही है कि भाषा का निर्णय शब्दो से नही व्याकरणिक तत्त्वो यानी क्रियापद, कारक चिह्नादि से होना चाहिए।

§ २४० नीचे हम खुसरो के कुछ पद्य उद्धृत करते हैं

१ मेरा मोसे सिंगार करावत आगे बैठ के मान बढावत
वासे चिक्कन ना कोउ दीसा, ए सखि साजन ना सखि सीसा

—हि० अलोचना० इति० पृ० १३१

२ खुसरो रैन सुहाग की जागी पी के संग।
तन मेरो मन पीउ को दोउ भयो एक रग॥
गोरी सोवै सेज पर मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने रैन भइ चहुँ देस॥

३. मोरा जोवना नवेलरा भयो है गुलाल।
कैसे गर दीनी बकस मोरी लाल॥
सूनी सेज डरावन लागे, विरहा अगिनि मोहि डस डस जाय।

४ हजरत निजामदीन चिस्ती जरजरी बख्श पीर।
जोइ जोइ ध्यावैं तेइ तेइ फल पावैं
मेरे मन की मुराद भर दीजै अमीर

५ री मैं धाऊॅ पाऊॅ हज़रत ख्वाजदीन
शकरगज सुलतान मशायख़ महबूब इलाही
निज़ामदीन औलिया के अमीर खुसरो बलबल जाहीं

ये पांच पद्याश, जो खुसरो की रचनाओ में प्राय प्रामाणिक माने जाते हैं। भाषा-सबधी विवेचन के लिए पर्याप्त न होते हुए भी, खडी बोली और ब्रज का निर्णय करने के लिए अपर्याप्त नही कहे जा सकते। अन्य रचनाओ के लिए 'खुसरो की हिन्दी कविता' शीर्षक निबंध देखा जा सकता है।[2]

सर्वनाम के साधित विकारी रूप मो, वा, तथा मोरो, मोरी (षष्ठी, उत्तम पुरुष) परसर्ग को (पीउ को) से (वा से) तथा सविभक्तिक सर्वनाम रूप मोहि (कर्म कारक) अनिश्चयवाचक कोउ (खडी बोली का कोई नही) नित्य सबधी जोइ जोइ तथा दूरवर्ती सकेतवाची तेइ तेइ आदि सर्वनाम, करावत, बढावत आदि प्रेरणार्थक कृदन्तज रूप जो वर्तमान की तरह प्रयुक्त हुए हैं, (खडी बोली में इनके साथ सहायक क्रिया का होना अनिवार्य है) भयो (पुल्लिग) दीनी, जागी (स्त्रीलिंग) आदि भूतनिष्ठा के रूप सौवै, डारै, लागै, ध्यावैं आदि वर्तमान के तिङन्त रूप (जो केवल ब्रज में चलते हैं, खडी बोली में नही) क्रियार्थक सज्ञा डरावन (ण प्रत्यय निर्मित खडी बोली का डरावना नही) दोउ, चहुँ जैसे संख्यावाचक विशेषण, (दोनो, चारो नही) आदि तत्त्व इस भाषा को ब्रज प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं।

---

१ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, इलाहाबाद, तृतीय सस्करण, पृ० १२७।
२ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् १९७८, पृ० २६९।

खुसरो की भाषा का प० रामचन्द्र शुक्ल ने बहुत सही विश्लेषण किया है। उन्होंने लिखा है कि 'काव्यभाषा का ढाँचा अधिकतर शौरसेनी या पुरानी ब्रजभाषा का ही बहुत काल से चला आता था अत जिन पश्चिमी प्रदेशो की बोलचाल खडी होती थी, उसमें भी जनता के बीच प्रचलित पद्यो, तुकबदियो आदि की भाषा ब्रजभाषा की ओर झुकी हुई रहती थी। खुसरो की हिन्दी-रचनाओ में दो प्रकार की भाषा पायी जाती है। ठेठ खडी बोल-चाल पहेलियो, मुकरियो और दो सखुनो में ही मिलती है यद्यपि उनमें भी कही-कही ब्रजभाषा की झलक है पर गीतो और दोहो की भाषा ब्रज या मुख-प्रचलित काव्यभाषा ही है।'[1]

गोपाल नायक

§ २४१ गोपाल नायक खुसरो के समकालीन ही माने जाते हैं। 'नायकी कानडा' राग के रचयिता इस यशस्वी सगीतकार के विषय में इतिहास प्राय मौन है। सगीत के इतिहास-ग्रथो में गोपाल नामक दो सगीतकारो का पता चलता है। प्राचीन ध्रुपदो में कही कही 'कहे मिया तानसेन सुनो हो गोपाल लाल' जैसी पक्तियाँ भी मिलती हैं, किन्तु गोपाल लाल नामक कवि तानसेन के समसामयिक और अकबर के दरबारी गायक थे। कप्तान विलिवर्ड की पुस्तक 'ट्रिटीज ऑन द म्यूजिक ऑव हिन्दुस्तान' में गोपाल नायक के जीवन-वृत्त आदि के विषय में विचार किया गया है। उक्त लेखक के अनुसार गोपाल नायक सन् १३१० मे दक्षिण के देवगिरि से उत्तर दिल्ली गये। उक्त सन् में अलाउद्दीन के सेनापति मलिक काफूर ने दक्षिण पर विजय पायी और देवगिरि के इस प्रसिद्ध राजगायक को दिल्ली आने पर विवश किया। कप्तान विलियर्ड ने लिखा है कि अलाउद्दीन के दरबार में गोपाल नायक ने जब पहली बार अपना सगीत सुनाया तो उनके अद्भुत कठ-माधुर्य और मार्मिक सगीत ने सबको स्तब्ध कर दिया। प्रसिद्ध सगीतज्ञ खुसरो गोपाल के सामने प्रतियोगिता में खामोश रह गये और दूसरे दिन अलाउद्दीन के सिंहासन के नीचे छिपकर उन्होंने गोपाल का गीत सुना तब कही वे उसकी शैली का अनुकरण करने में समर्थ हुए।

शारगदेव (१२१०-१२४७ ईस्वी) कृत सगीतरत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ ने ता[illegible]-अध्याय पर टीका लिखते हुए कडुकताल के प्रसग मे गोपाल-नायक का भी नामोल्लेख किया है।

दिल्लीपति नरेन्द्र अकबर साह जाकों डर डरे धरती पुहुप माल हलायो
दल साजि चतुरंग सेना अगाध जहाँ गुन ठयो चतु विद्याधर आप-
आय राग भेद गायो ।

ऐसी रचनाएँ गोपाल नायक को नही गोपाललाल की मानी जानी चाहिए जो अकबर के दरबारी गायक थे। हालाकि यह निर्णय करने का कोई आधार प्राप्त नही है कि किसे गोपाल नायक की रचना कहें और किसे गोपाललाल की ।

§ २४२ गोपाल नायक के गीत, जो राग-कल्पद्रुम में मिलते हैं, सभी व्रजभाषा में हैं। रचना काव्य की दृष्टि से उच्चकोटि को नही है किन्तु उनकी लयमयता और मधुरता अत्यन्त परिष्कृत शब्द सौष्ठव का परिचायक है। कही-कही प्रयोग प्राकृतपैंगलम् की भाषा का स्मरण दिलाते हैं। नीचे तीन पद उद्धृत किये जाते हैं।

१ अत गत मन्त्र गम् नम गंम् मगं मम गम मग ममग अत गत मंत्र गाइया
लं लोक भू में कमल रे हरि कौ लरै सन्तो लरै मकरन्द आइया
उदध चन्द्र धरौ मन में अत गत मंत्र गाइया
तड लक झुयण जुग लरे हत काल विरत अपार रे अधार दे धरु गावत
नायक गोपाल रे राजा राम चतुर भये ऊइयां, रे अत गत मंत्र गाइया

२ कहावै गुनी ज्यों साधै नाद सबद जाल कर थोक गावै ।
मार्ग देसी कर मूर्छना गुन उपजे मति सिद्ध गुरु साध चावै ।।
सो पचन मध दर पावै,
उक्ति जुक्ति भक्ति युक्ति गुस होवै ध्यान लगावै ।
तब गोपाल नायक के अष्ट सिद्ध नव निद्ध जगत मध पावै ।।

३. जय सरस्वती गनेश महादेव शक्ति सूर्य सब देव ।
देहो मोय विद्या कर कंठ पाठ ।।
भैरव मालकोस हिंडाल दीपक श्रीमेघ मूर्तिवंत ।
हृदय रहे ठाठ ।।
सप्त स्वर तीन ग्राम अकईस मूर्छना बाइस सुर्त,
उनचास कोट ताल लाग डाट ।
गोपाल नायक हो सब लायक आहत अनाहत शब्द,
सो ध्यायो नाद ईश्वर बसे मो घाट ।।

बैजू बावरा

§ २४३ बैजू बावरा का जीवन-वृत्त भी गोपालनायक को ही भाँति जन-श्रुतियों एव निजधरी कथाओ से आवृत्त है। गोपाल नायक के विषय में प्रसिद्ध जनश्रुति में बैजू बावरा को उनका गुरु बताया जाता है। कहा जाता है कि बैजू बावरा से संगीत की शिक्षा प्राप्त करने पर गोपाल नायक को ख्याति ज्यो-ज्यो बढ़ने लगी उनमें अहंभावना भी बढने लगी, और एक दिन किसी बात पर अपने गुरु से रुष्ट होकर वे चले गये। बैजू बावरा अपने शिष्य को इधर-उधर ढूंढ़ते रहे। अलाउद्दीन के दरबार में दोनो की भेंट हुई। अलाउद्दीन

के बार-बार पूछने पर भी गोपाल ने अपने गुरु का नाम नही बताया था और कहा था कि मेरी प्रतिभा ईश्वर प्रदत्त और जन्मजात है। बादशाह ने रुष्ट होकर चेतावनी दी कि यदि तुम्हारे गुरु का पता लग गया तो तुम्हें फाँसी दे दी जायेगी। जब अलाउद्दीन को मालूम हो गया कि बैजू ही गोपाल के गुरु हैं तो उन्होने फिर एक बार पूछा, परन्तु गोपाल ने वही पुरानी बात दुहरायी। उस दिन गोपाल के सगीत से आकृष्ट होकर हिरनो का एक झुण्ड पास आकर खडा हो गया। उसने एक हिरन के गले में अपनी माला पहनायी और गर्वपूर्वक बैजू से बोला यदि तुम मेरे गुरु हो तो मेरी माला मँगा दो। बैजू के गाने पर हिरन फिर आये, उसने माला उतार कर गोपाल को दे दी। बादशाह ने गोपाल को फाँसी की सजा दी, बैजू ने अपने शिष्य की रक्षा के लिए बहुत प्रयत्न किया, पर वह सफल न हुआ।

यही कथा कुछ हेर-फेर के साथ तानसेन और बैजू की प्रतियोगिता के विषय में भी प्रचलित है। तानसेन और बैजू बावरा दोनो ही स्वामी हरिदास के शिष्य माने जाते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'राधाकृष्ण की प्रेम-लीला के गीत सूर के वक्त से चले आते थे। बैजू बावरा एक प्रसिद्ध गवैया हो गया है कि जिसकी ख्याति तानसेन से पहले देश में फैली हुई थी।'[1] शुक्लजी ने अपने मत की पुष्टि के लिए कोई आधार नही बताया। डॉ० मोतीचन्द्र ने अपने 'तानसेन' शीर्षक लेख में तानसेन और बैजू बावरा की प्रतियोगिता का जिक्र करते हुए लिखा है कि 'इन सब में तानसेन की ही पराजय मानी गयी है। लेकिन इतिहास इस विषय में सर्वथा चुप है। शायद बैजू बावरा सूफी सन्त बख्शू हो जो तानसेन से एक पीढी पहले हुआ था। शायद परवर्ती गायको के विभिन्न पक्षपातियो ने अपने-अपने पक्ष की पुष्टि के लिए ऐसी कहानियाँ गढी हो। १७वी शताब्दी के मध्य में लिखित 'राग दर्पण' में फकीरुल्ला ने इसी बात की पुष्टि की है कि मानसिंह के समय में सगीत के ऐसे मर्मज्ञ थे जैसे अकबर के राजत्व काल में नही थे। दरबारी गवैये (तानसेन सहित) केवल गाने मे हो कमाल थे लेकिन सगीत के सिद्धान्तो पर उनका अधिकार न था।'[2] डॉ० मोतीचन्द्र फ़कीरुल्ला वाले मत को उद्धृत करके सभवत यह सकेत करना चाहते हैं कि बैजू बावरा मानसिंह के काल मे था। या उनके दरबार से सबद्ध था। क्योंकि 'मानुकुतूहल' का फारसी मे अनुवाद करनेवाले फ़कीरुल्ला ने लिखा है मार्गी (सगीत पद्धति) भारत में तब तक प्रचलित रहा जब तक कि ध्रुपद का जन्म नहीं हुआ था। कहते है कि राजा मानसिंह ने उसे पहली बार गाया था। इसमे चार पक्तियाँ होती हैं और सारे रसो में बाँधा जाता है। नायक बैजू, नायक बख्शू और सिंह जैसा नाद करनेवाला महमूद तथा नायक कर्ण ने ध्रुपद को इस प्रकार गाया कि इसके सामने पुराने गीत फीके पड गये।'[3] फ़कीरुल्ला के इस कथन मे दो बातें स्पष्ट होती है। पहली यह कि नायक बैज और बख्श दो

कही गयी हैं इसका निर्णय करने का कोई ऐतिहासिक आधार नही मिलता। नायक बख्शू, वैजू और कर्ण फकीरुल्ला के अनुसार मानसिंह के दरबार के प्रसिद्ध गायक थे। आईने अकबरी में लिखा है कि राजा मानसिंह ने अपने तीन गायको से एक ऐसा सग्रह तैयार कराया था जिसमें प्रत्येक वर्ग के लोगो की रुचि के अनुसार पद सगृहीत थे।[१] हालांकि इन तीन गायको के नामादि का पता नही चलता, किन्तु यह सकेत मिलता है कि ये गायक सगीत के आचार्य ही नही कवि और काव्य-प्रेमी भी थे। मानकुतूहल से भी मालूम होता है कि सगीतकार को पद रचयिता होना चाहिए।[२]

§ २४४. वैजू के बहुत से पद रागकल्पद्रुम में मिलते हैं। इस प्रकार के पदो को श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'सगीतज्ञ कवियो की हिन्दी रचनाएँ' में एकत्र सकलित कर दिया है। नीचे हम वैजू बावरा के तीन पद उद्धृत करते हैं।

१ आंगन भीर भई ब्रजपति के आज नद महोत्सव आनन्द भयो
हरद दूब दधि अक्षत रोरी ले छिरकत परस्पर गावत मंगल चार नयो
ब्रह्मा ईस नारद सुर नर मुनि हरषित विमानन पुष्प बरस रग ठयो
धन-धन वैजू सतन हित प्रकट नद जसोदा ये सुख जो दयो

२ कहाँ कहूँ उन विन मन जरो जात है अगन बरतें कर मन कियो है बिगार
वह मूरत सूरत बिनु देखे भावै न मोहें घर द्वार
इत उत देखत कछू न सोहावत विरथा लगत संसार
वैर करत है दुरजन सब बैजू न पावै मन पिय के
अचरज भयो हैं व्यौहार।

३ बोलियो न डोलियो ले आउँ हूँ प्यारी को
सुन हो सुघर वर अबहीं पैं जाउँ हूँ
मानिनी मनाय के तिहारे पास लियाय के
मधुर बुलाय के तो चरण गहाउँ हूँ
सुन री सुन्दर नार काहे करत एती रार
मदन डारत पार चलत पततुझाउँ हूँ
मेरी सीख मान कर मान न करो तुम
वैजू प्रभु प्यारे सो वहियाँ गहाउँ हूँ

वैजू बावरा की रचनाएँ केवल अपने सगीततत्त्व के लिए ही नही बल्कि काव्यत्व के लिए भी प्रशसनीय हैं।

हकायके हिन्दी मे प्राचीन ब्रजभाषा के तत्त्व

§ २४५ ईस्वी सन् १५६६ अर्थात् १६२३ संवत् में मीर अब्दुल वाहिद बिलग्रामी ने फारसी भाषा में हकायके हिन्दी नामक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होने हिन्दी के लौकिक शृङ्गार

---

१ ग्लेडविन आईने अकबरी, पृ० ७३०।
२ मानसिंह और मानकुतूहल, पृ० १२२।

की रचनाओ को आध्यात्मिक रूप में समझाने का प्रयत्न किया है। इस ग्रथ के सम्पादक श्री अतहर अब्बास रिजवी ने लिखा है कि "हक़ायके हिन्दी के अध्ययन से पता चलता है कि ध्रुपद तथा विष्णुपद को सबसे अधिक प्रसिद्धि प्राप्त थी। श्रीकृष्ण तथा राधा की प्रेम-कथाएँ सूफियो को भी अलौकिक रहस्य से परिपूर्ण ज्ञात होती थी। इन कविताओ का सभा में गाया जाना आलिमो को तो अच्छा लगता ही न होगा कदाचित् कुछ सूफी भी इन गानो की कटु आलोचना करते होगे, अत इन कविताओ का आध्यात्मिक रहस्य बताना भी परम आवश्यक-सा हो गया, अब्दुल वाहिद सूफी ने हकायके हिन्दी में उन्ही शब्दो के रहस्य की गूढ व्याख्या की है जो उस समय हिन्दी गानो में प्रयोग मे आते थे।"[1]

अब्दुल वाहिद जैसा कि उनके रचना-काल को देखने से पता लगता है, सूरदास के समकालीन थे। उन्होने अपनी पुस्तक मे जो रचनाएँ उद्धृत की है वे उनसे कुछ पहले की या उनके समसामयिक कवियो की होगी, इसमे सन्देह नही। रचनाओ की भाषा और वर्णन-पद्धति से अनुमान होता है कि ये राग-रागिनियो के बोल के रूप में रचित ब्रजभाषा गानो से ली गयी है। गोपाल नायक, बैजू, खुसरो आदि सगीतज्ञ कवियो की जो रचनाएँ राग कल्पद्रुम में पायी जाती हैं, उनकी शैली और भाषा की छाप इन रचनाओ पर स्पष्ट दिखाई पडती है। उदाहरण के लिए हकायके हिन्दी के कुछ अश नीचे उद्धृत किये जाते हैं। सगीतकार कवियो की रचनाओ के उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं।

(१) खेलत चोर भरक्यो उभर गये थन हार (पृष्ठ ४६)
(२) साजन आवत देखि कै हे सखि तोरो हार।
लोग जानि मुतिया चुनै हौ नय करौं जुहार॥ (पृष्ठ ४८)
(३) तुम मानि छाडि दै कत हेत हे मानमतो (पृष्ठ ६१)
(४) जब जब मान दहन करे तब तब अधिक सुहाग (पृष्ठ ६०)
(५) तुम न भई भोर की तरैयां (पृष्ठ ६५)
(६) रैन गई पीतम कठ लागैं (पृष्ठ ६५)
(७) अधर कपोल नैन आनन उर कहि देत रति के आनन्द (पृष्ठ ६७)
(८) हौ पठई तो लेन सुधि पर तै रति मानी जाय (पृष्ठ ६८)
(९) कन्हैया मारग रोकी, कान्ह घाट रूंधी (पृष्ठ ८०)
(१०) काहू की बांह मरोरी, काहू के कर चूरी फोरी।
काहू की मटकिया डारी, काहू की कचुकी फोरी॥ (पृष्ठ ८१)
(११) कन्हैया मेरो बागे तुम बाद लगावत सोर (पृष्ठ ८२)
(१२) मोर मुकुट सीस धरे (पृष्ठ ८३)
(१३) जाउ लागत मग्न कठ लग प्यारो (पृष्ठ ८७)
(१४) हौ बलिहारी साजना साजन मुख बलिहार।
हौं सदा सिर सेहरा साजन मुख गलहार॥ (पृ० ९०)
(१५) रांगो [illegible] न वार मुरग गयो जल्यिा (पृष्ठ ९२)

(१६) तुझ कारन मैं सेज सँवारी
तन मन जोवन जिउ बलिहारी (पृष्ठ ६४)

(१७) नन्ह-नन्ह पात जो आँवली सरहर पेड खजूर
तिन्ह चढ देखौं बालमा नियरैं बसैं कि दूर (पृष्ठ ९५)

(१८) उठ सुहागिनि मुख न जोहु छैल खडो गलबाहि
थाल भरी गजमोतिन गोद भरी कलियाहि (पृष्ठ ९५)

इन पद्यांशो को देखने से लगता है कि लेखक ने तत्कालीन बहुत प्रसिद्ध [illegible] स्फुट रचनाओ से इन्हें उद्धृत किया है। मुसलमान बादशाहो के दरबारो मे हिन्दू और मुसलमान सभी गायक प्राय ब्रजभाषा के बोल ही कहते थे, इन गानो मे राधाकृष्ण के प्रेम प्रसंगो का वर्णन रहता था। ऊपर की पंक्तियाँ ऐसे गीतो की ओर ही संकेत करती हैं।

'हकायके हिन्दी' कई दृष्टियो से एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमे प्राचीन [illegible] की रचनाएँ संकलित हैं जो सूरदास से पहले की ब्रजभाषा का परिचय देती हैं। सूरदास के पहले के संगीतकार कवियो ने इस भाषा को पुष्ट और परिष्कृत बनाने का कितना महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, इसका पता इन रचनाओ को देखने से चलता है। हकायके हिन्दी का साहित्यिक महत्त्व भी निर्विवाद है। इस रचना को देखने से सूफी साधको की उदार दृष्टि का भी पता चलता है जिन्होने हिन्दू धर्म और इस्लाम के बाहरी विभेद और वैषम्य के भीतर उनकी मूलभूत एकता को ढूँढने और प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया। सूफी कवि केवल अवधी भाषा के ही माध्यम से यह कार्य नही कर रहे थे बल्कि ब्रजभाषा के [illegible] कथा मूलक काव्य को समझने-समझाने का भी प्रयत्न कर रहे थे। ब्रजभाषा की कोमलता और मृदुता ने सूफियो पर भी अपना अमिट प्रभाव डाल दिया था। एक बार किसी ने [illegible] १४०० ईस्वी शुक्रवार के दिन ख्वाजा गेसू दराज सैयद मुहम्मद [illegible] हुसैनी (मृत्यु १४२२ ईस्वी) से पूछा 'क्या कारण है कि सूफियो को हिन्दवी में [illegible] बिना आनन्द आता है उतना गजल में नही आता।' गेसूदराज ने कहा हिन्दवी बडी ही कोमल [illegible]र स्वच्छ होती है। इसका संगीत बडा ही कोमल तथा मधुर होता है। इसमें मनुष्य की करुणा, [illegible] नम्रता तथा वेदना का बडा ही सुन्दर चित्रण होता है।[1] जाहिर है कि यहाँ हिन्दवी का मतलब ब्रज[illegible]

हिन्दीतर प्रान्तों के ब्रजभाषा-कवि

§ २४६. मध्यदेश की बोलियो से उत्पन्न साहित्यिक भाषाएँ समय समय पर संपूर्ण उत्तर भारत की काव्य-भाषा मानी जाती रही हैं। इस विषय पर विस्तृत विचार हम 'ब्रजभाषा का रिक्थ' शीर्षक अध्याय में कर चुके हैं। १०वीं शताब्दी के बाद काव्य भाषा का स्थान शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी ब्रजभाषा को प्राप्त हुआ और अपने पुराने रिक्थ को संपूर्णतया संपादित करनेवाली यह भाषा गुजरात से असम तक के साहित्यिक [illegible] के द्वारा परस्पर आदान-प्रदान के सहज माध्यम के रूप में गृहीत हुई। अष्टछापी कवियो की कविता का

---

1 जमावे-उल किलम-ख्वाजा गेसूदराज के वचन, इन्तजामी प्रेस, [illegible] हिन्दी, भूमिका पृष्ठ २२ पर उद्धृत।

शकरदेव ने ब्रजभाषा में वरगीतो की रचना की। अपनी पहली यात्रा में वे वृन्दावन गये थे। ब्रजभापा काव्य की प्रेरणा उन्हें कृष्ण की जन्मभूमि से ही प्राप्त हुई। ब्रजभाषा में रचित ये वरगीत सन् १४८१-९३ के बीच लिखे गये जैसा डॉ० एम० नेयोग ने प्रमाणित किया है।[1] डॉ० नेयोग का अनुमान है कि ब्रजभापा में लिखा पहला वरगीत बद्रिकाश्रम में लिखा गया। डॉ० नेयोग ने शकरदेव के वरगीतो को ब्रजबुलि का सबसे पुराना उदाहरण बताया है। डॉ० वरुआ ने लिखा है कि वृन्दावन में शकरदेव ने ब्रजभाषा के धार्मिक साहित्य को देखा था। इसी समय उन्होने इस भाषा को सीखा और इसी की मिश्रित भापा में वरगीतो की रचना की।'[2]

§ २४८ शकरदेव के वरगीतो की भाषा मिश्रित अवश्य है क्योकि उसमें कहीं-कही असमिया के प्रयोग भी आते हैं, किन्तु ब्रजभाषा की मूल प्रवृत्ति की आश्चर्यजनक रूप से सुरक्षा दिखायी पडती है। नीचे हम शकरदेव के दो पद उद्धृत करते हैं। ये पद बद्री हरिनारायण दत्त वरुआ द्वारा संपादित 'वरगीत' से उद्धृत किये गये हैं।

पद सख्या २१ राग धनश्री

१—धु० गोपिनी प्रान काहेनो गयो रे गोविन्द।
हामु पापिनी पुनु पेखवो नाहिं आर मोहि वदन अरविन्द।
पद कवन भाग्यवती, भयो रे सुपरभात आजु भेटन मुख चाँदा।
उगत सूर दूर गयो रे गोविन्द भयो गोप वधु आन्धा॥
आजु मथुरा पुरे मिलन महोत्सव माधव माधव मान।
गोकुल के मगल दूर गयो नाहिं बाजत बेनू विषान॥
आजु जत नागरी करत नयन भरि मुख पकज मधुपाना।
हमारि वन्ध विधि हाते हरल निधि कृष्ण किंकर रस माना॥

धनश्री पद १८

२—धु० मन मेरि राम चरनहिं लागु।
तइ देख ना अन्तक जागु॥
पद मन आयू क्षने-क्षने टूटे।
देखो प्रान कौन दिन छूटे॥
मन काल अजगर गिलै।
जान तिले के मरन मिलै॥
मन निश्चय पतन काया।
तइ राम भज तेजि माया॥
रे मन इ सब विषय धन्धा।
केने देखि न देखत अन्धा॥

---

१ जर्नल ऑव द यूनिवर्सिटी ऑव गुवाहाटी, भाग १, संख्या १, १९५०, नेयोग का लेख।
२ असमीज़ लिटरेचर, पी० ई० एन०, १९४१, पृ० २६।

पद—पापी अजामिल हरि को सुमरि नाम-आभास ।
अंतये कर्म को बन्ध छाँडि पावल वैकुण्ठ वास ।।
जानि आहे लोक हरि को नामे करु विसवास ।
सकल वेद कों तत्व कहए पुरुख माधवदास ।।

माधवदेव के गीतो की भाषा में भी पूर्वी प्रभाव है। किन्तु मूलत ब्रजभाषा की प्रवृत्ति ही प्रधान दिखाई पडती है। इ का ए रूपान्तर पूर्वी प्रदेशो में होता था (देखिए कीर्ति० § ९) यहाँ भी कहइ>कहए, अतहि>अंतइ>अतए आदि मे यही प्रभाव दिखाई पडता है। पावल का भूत 'ल' स्पष्ट ही पूर्वी है। भाषा में कई स्थानो पर सबधी विभक्त 'क' का भी प्रयोग है। किन्तु ब्रजभाषा 'की', 'को' का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है।

महाराष्ट्र के ब्रज-कवि

§ २५० महाराष्ट्र और मध्यदेश का सास्कृतिक सबध बहुत पुराना है। मध्यदेशीय भाषाओ के विकास में महाराष्ट्र का महत्वपूर्ण योग रहा है। वर्तमान खडी बोली का जन्म मेरठ-दिल्ली के प्रदेश में हुआ था, किन्तु उसका आरभिक विकास तो दक्षिण महाराष्ट्र यानी 'दकन' में ही हुआ। डॉ० मनमोहन घोष ने महाराष्ट्री प्राकृत को शौरसेनी का कनिष्ठ रूप बताते हुए यह सिद्ध किया है कि मध्यदेश से खास तौर से मथुरा के प्रदेश से महाराष्ट्र को स्थानान्तरण करनेवाले राजपूतो तथा अन्य जातियो के साथ मध्यदेशीय भाषा यानी शौरसेनी प्राकृत महाराष्ट्र पहुँची और बाद में वहाँ की जनता द्वारा भी मान्य होकर उसे महाराष्ट्री नाम मिला। शाहजी भोसले तथा शिवाजी के दरबार में हिन्दी कवियो का सम्मान होता था। नामदेव और त्रिलोचन जैसे सत कवियो के ब्रजभाषा पदो का हम पहले ही विवेचन कर चुके हैं। नीचे कुछ अल्पज्ञात कवियो की ब्रजभाषा कविता का परिचय प्रस्तुत किया जाता है। ये कवि सूरदास के पहले के हैं।

महाराष्ट्र में लिखी ब्रजभाषा[1] रचना का किंचित् संकेत चालुक्य नरेश सोमेश्वर (११८४ विक्रमी) के मानसोल्लास अर्थात् चिंतामणि नामक ग्रन्थ में मिलता है। इस ग्रन्थ में पन्द्रह विभिन्न विषयो पर विचार किया गया है। भूगोल, सेना, वाद्य, ज्योतिष, छंद, हाथी-घोडे आदि के वर्णन के साथ ही साथ राग-रागिनियो के वर्णन में कई देशी भाषाओ के पदो के उदाहरण भी दिये गये हैं। लाटी भाषा का उदाहरण प्राचीन ब्रजभाषा से मिलता-जुलता है। इस पद्य को देखने से मालूम होता है कि १२वी शताब्दी में अपभ्रश से प्रभावित देशी भाषा म काफी उच्चकोटि की रचनाएँ होने लगी थी।

नन्द गोकुल आयो कान्हडो गोवी जणे ।
पढि हिलोरे नयणे जो विधाय दण मरओ ।।

---

१ महाराष्ट्र के हिन्दी कवियो की जानकारी के लिए द्रष्टव्य ।
हिन्दी साहित्य के इतिहास के अप्रकाशित परिच्छेद, लेखक श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव, ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५७ ।

विना उयाणि हक्कारिया कान्हो सरिडा सो ।
अम्हण चिति या डेड बुध रूपण जो
दानव पुग बच उणि वेद पुरुषेण ।

चक्रधर महानुभाव पंथ के आदि आचार्य माने जाते हैं। इनका आविर्भाव काल ११९८ के आस-पास माना जाता है। इनकी बहुत-सी रचनाएँ गुप्त लिपियों में लिखी पायी जाती हैं। मध्यकाल के संत अपनी रचनाओं को अनधिकारी पाठकों से बचाने के लिए इस प्रकार की गुप्त लिपियों का प्रयोग किया करते थे। ऐसी अंक-लिपि, शून्य लिपि, परिमाण लिपि, सुभद्रा लिपि आदि प्रसिद्ध हैं। चक्रधर द्वारा संचालित इस पंथ का प्रचार पंजाब तक हो चुका था। १५वीं शती में इसी की एक शाखा 'जय कृष्णी' के नाम से पंजाब में दिखाई पड़ती है। चक्रधर का एक ब्रजभाषा पद नीचे दिया जाता है।

सुनी बशी स्थिर तोहि जेणनुम्ही जाई
सो परो भोगे वेरी आपला काई
पवन पुरे मनि स्थिर करो हो चन्द्री सेवी वा मान
आवागमन उठे वारी बुद्धि राख्यौ अपने मान

इन सब रचनाओं में ब्रजभाषा का स्पष्ट रूप नहीं दिखाई पड़ता। बाद में नामदेव आदि कवियों ने ब्रजभाषा के स्पष्ट रूप को अपनाया और उसमें रचनाएँ प्रस्तुत कीं। नामदेव के बाद महाराष्ट्र के सूर-पूर्व ब्रज कवियों में भानुदास का महत्त्व निर्विवाद है। यह बहुत बड़े वैष्णव भक्त थे जिनका आविर्भाव काल १५५५ विक्रमी बताया जाता है। श्री एकनाथ महाराज इनके नाती थे। इन्होंने पंढरपुर की विट्ठल मूर्ति की स्थापना की थी। इन्होंने ब्रजभाषा की बहुत ही सरस रचनाएँ लिखी हैं, नीचे इनकी वात्सल्य-मिश्र प्रभाती का एक पद उद्धृत किया जाता है।

उठहु तात प्रात भई रजनी को तिमिर गया
मिलन बाल सकल ग्वाल सुन्दर कन्हाई ।
जागहु गोपाल लाल जागहु गोविन्द लाल जननी बलि जाई
सगा सब फिरत बन तुम बिनु नाहिं कछू बनु
तजहु शयन कमल नयन सुन्दर सुखदाई ॥
मुख ते पट दूर कीजो जननी को दरस दीजो
दधि भात माग लीजो माट औ मिठाई ॥
अलस अपन श्याम राम सुन्दर सुख तन ललाम
बानी को कूट कछु भानुदास भाई ।

गुजरात के ब्रजभाषा-कवि

जिनपद्मसूरि, विजयचन्द्र सूरि तथा अन्य बहुत से कवियो ने परवर्ती विकसित अपभ्रंश के फागु, रास आदि जनप्रिय काव्यरूपो मे बहुत-सी मार्मिक कृतियाँ प्रस्तुत की। कुछ अन्य कवियो की रचनाओ में गुजराती मिश्रित शौरसेनी का प्रयोग हुआ है और भाषा की दृष्टि से शुद्ध ब्रज से भिन्नता रखते हुए भी इन रचनाओ की अन्तरात्मा मध्यदेशीय सस्कृति और काव्यपद्धति से भिन्न नही है। १४वी शती के बाद भी गुजरात के कई कवियो ने ब्रजभाषा में कविताएँ लिखी। श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी लिखते हैं 'गुजराती केवल बोल-चाल की भाषा थी। यह इतनी प्रौढ़ नही थी कि इसके द्वारा कोई कवि मनोगत भावो को भलीभाँति व्यक्त कर सकता। गुजराती भाषा के प्रथम कवि जूनागढ़ वासी भक्त प्रवर नरसी मेहता हैं जिनका कविताकाल सवत् १५१२ विक्रमी माना जाता है। इस समय तथा उसके बाद भी गुर्जर देशवासी सभी शिक्षित वर्ग सस्कृत या उस समय के प्राप्त ब्रजभाषा साहित्य को ही उलटा-पुलटा करते थे।'[१] श्री चतुर्वेदी का यह कथन न केवल भ्रान्तिपूर्ण है बल्कि ब्रजभाषा के अनुचित मोह से ग्रस्त भी। नरसी मेहता के पहले भी गुजराती में रचनाएँ होती थी, इसके लिए जैन गुर्जर कवियो के प्रथम और तृतीय भाग, तथा आपणा कवियो खड १ (नरसिंह युगनी पहेला) देखना चाहिए। यह सही है कि नरसी मेहता के पहले (१०००–१४००) गुजराती काव्य जिस भाषा में लिखा गया, वह शौरसेनी अपभ्रंश से बहुत प्रभावित थी। यद्यपि इसमें प्राचीन गुजराती के तत्त्व प्रचुर मात्रा मे प्राप्त नही होते हैं और कई दृष्टियो से यह साहित्य पश्चिमी भाषाओ (ब्रज, राजस्थानी, गुजराती आदि) की सम्मिलित निधि कहा जा सकता है, फिर भी इस भाषा का परवर्ती विकास गुर्जर अपभ्रंश के सम्मिश्रण के साथ गुजराती भाषा के रूप में पन्द्रहवी शताब्दी तक पूर्ण रूप से हो चुका था। इसलिए बाद के गुजराती कवियो-द्वारा ब्रजभाषा में काव्य लिखने का कारण गुजराती भाषा की अनुपयुक्तता कदापि नही है। इसका मुख्य कारण सम्पूर्ण उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन की व्यापकता के कारण उत्पन्न पारस्परिक सन्निवेश है। कृष्ण और राधा की जन्मभूमि ब्रजप्रदेश की भाषा 'इष्टदेव की भाषा या पुरुषोत्तम भाषा'[२] के रूप में सम्मानित हुई, इसका विस्तार पश्चिमान्त के गुजरात में ही नही सुदूर पूरब के असम और बगाल में भी दिखाई पडता है। सवत् १५५६ में श्रीनाथजी की स्थापना के पहले श्री वल्लभाचार्य ने गुजरात के द्वारका, जूनागढ़, प्रभास, नरोडा, गोधरा आदि तीर्थ स्थानो का पर्यटन किया था और जनता में शुद्धाद्वैत प्रतिपादित भक्ति का प्रचार भी किया। यही नही, पुष्टिमार्ग के सस्थापक श्री विट्ठलनाथ ने सवत् १६१० से १६२८ के बीच गुजरात की छह बार यात्राएँ की। इन यात्राओं से गुजरात मे वल्लभ मत की स्थापना हुई और श्री दुर्गाशकर केवल राम शास्त्री के शब्दो मे गुजरात वल्लभ मत का 'धाम' बन गया।[३] किन्तु गुजरात में भक्ति का आविर्भाव बहुत पहले हो चुका था। भागवत के श्लोक के अनुसार

---

१ जवाहरलाल चतुर्वेदी गुजरात के ब्रजभाषी शुक-पिक, पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ११४।

२. महाप्रभु वल्लभाचार्य ब्रजभाषा को इसी नाम से सबोधित करते थे।

३ श्री दु० के० शास्त्री कृत 'वैष्णव धर्मनो सक्षिप्त इतिहास', पृ० १८४
टूका माँ वल्लभ मत नु धाम ज गुजरात थइ गयुं।

आन्दोल

नाचइ गोपिय वृंद, वाजइ मधुर मृदंग
मोडइ अंग सुरंग, सारंगधर वाइति महूअरि ए ॥
कुलवण महूअरि ए ॥
करलिय पंकज नाल, सिरवरि फेरइ बाल ।
छंदिहि-वाजइ ताल, सारंग धर वाइइ महूअरि ए ॥
तारा महि जिमि चन्द, गोपिय माहिं मुकुन्द ॥
पणमइ सुर नर इंद, सारंगधर वाइति महूअरि ए ।
कुलवण महूअरि ए ॥
गोपी गोपति फागु कीडत हींडत वनह मझारि ।
मारुत प्रेरित व्रन मर नमइ मुरारि ॥

§ २५२ सन् १९४९ में श्री केशवराय काशीराम शास्त्री ने गुजराती हिन्दुस्तान में 'भालण ब्रजभाषा नो आदि कवि' शीर्षक लेख प्रकाशित कराया ।[1] सूरदास को ब्रजभाषा का आदि कवि माननेवालों की स्थापना को तथ्यपूर्ण मानते हुए इन्होंने भालण को सूर का पूर्ववर्ती सिद्ध करके ब्रज का आदि कवि बताया है । भालण का तिथिकाल निर्धारित करते हुए उन्होंने लिखा '१४६५-१५९५ नो सौ वर्षों नो समय एना पूर्वार्ध ना अस्तित्व में पुरवार करो सकवानो स्थित मा न होइ । उत्तरकाल में भाटे अेटले के स० १५५०-१५६५ अथवा विक्रमनी १६वीं सदी ना उत्तरार्ध मा परिणत थइ सके छे खरो ।'[2] इस निष्कर्ष में स्पष्टत भालण के पूर्व निर्धारित समय को संदेहास्पद मानकर उन्हें १६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध का बताया गया है, फिर भी शास्त्रीजी भालण को सूर-पूर्व ही रखना चाहते हैं जैसा कि शीर्षक से ध्वनित है । भालण के प्रसिद्ध काव्य 'दशमस्कंद' के सम्पादक श्री इ० द० काँटावाला ने भूमिका मे लिखा है कि श्री रा० नारायण भार्थी को भालण के मकान से एक खंडित जन्म-कुण्डली प्राप्त हुई थी जिसमें 'संवत् १४७२ वर्ष भाद्रवा, वदी दिने शनी दशोत्तीर्णा एव जन्मतो गत वर्ष ११ मास २ दिन ८ तदनु संवत् भाद्रवावदो ने बुध दशा प्रवेश' आदि लिखा है ।[3] काँटावाला का अनुमान है कि १४६१ संवत् जिस पुरुष का जन्म वर्ष है, वह भालण का न होकर उनके पुत्र का हो सकता है क्योंकि भालण के पुत्र विष्णुदास ने रामायण का उत्तरकांड रचा था जो संवत् १५७५ में पूर्ण हुआ था । इस अनुमान को यदि सही मानें तो भालण सूर के काफी पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं । श्री भार्थी ने दिशावाल जाति के एक ब्राह्मण से यह भी सुना था कि उसके पूर्वज मीठाराम और भालण संवत् १४५१ में दक्षिण हैदराबाद गये थे । भालण हैदराबाद और औरंगाबाद में रहे थे, जहाँ किसी रत्नादित्य राजा के दीवान ने पूजा के लिए चामुंडा देवी की एक मूर्ति भेंट की थी जो भालण के घर में मौजूद है । इस मूर्ति के पृष्ठ-भाग पर लिखा है 'संवत् १५२० वर्षे ठाकुर रत्नादित्य भाउ ही चामुंडा पूजनार्थं रत्नादित्य पुत्री

१. हिन्दुस्तान गुजराती दैनिक, बंबई, ११ नवंबर, १९४९ का अंक ।
२. वही, पृ० ८ ।
३. भालण कृत दशमस्कंद—कविचरित्र, पृ० २, सन् १९१४, बड़ौदा ।

चित्त में वे जु कुमी रही है चोर चोर कहेत है नाम ।।
निश दिन फीरतो जु सुरभि के संगे शीर पर परत शीत घनघाम ।
निस फुनि दोहन बधन को सुख करी बैठत नाहि जो काम ।।
मोर पिच्छ गुञ्जाफल ले ले वेख बनावत रुचिर ललाम ।
मालण प्रभु विधाता की गति चरित्र तुम्हारे सब बाम ।।

पृ० २००-२०१

पद २५४ राग सारग

कहो भैया कैसे सुख पाउं ।
नाहिन सो लोक श्रीदामा खेलन संग कौन में जाउं ।।
नाहिन गृहे वे व्रजवासिन के जहां चोर चोर दधि माखन खाउं ।
नाहिन वृन्दावन अति वल्लम जा कारन हु' गौ चराउ ।।
नाहिन वृन्द गोपी जन को जा कारन मृदु बेन बजाउं ।
नाहिन जमलार्जुन वृख दोउं जा कारन हुँ आप बधाउं ।।
नाहिन प्रेम ऐसो कोउ कु' जा कु' मेरी कथा सुनाउ ।
भालण को उस सी कछु नाहीं अहियां के आगे व्रज के गुन गाउं ।।

पृ० २०१

२५५ राग धनश्री

अब पढबे को आयो दिन ।
एते वरस बढ़े गने नाहीं कीडा कीनी नंद भुवन
सुत को सुख पायो जशोदा मेरे पूरण नाहीं जु पुन्य
आये दो दिन भये जु नाहीं उठ चले फुन जुग जीवन
अहि वाज कर हरि जु चले फुनि देखन हु कहां वृन्दावन
हम पर प्रीत नाहिंन मोहन की जैसो व्रज ऊपर है मन
काहां कुमति आनक दुन्दुमि की पढब रही सांवर घन
पाछे आये की कहाँ आश राम सग चले पीत वसन
जहाँ सिधारे गिरधर वे अवनी लोक सवंधन
विरह वेदना हरि नहिं जानत जानत है वे भालन जन

पृ० २०१

पद २६४ राग गूजरी

सुत मैं सुनित लोक में बात ।
मेरे सो तुम सत्य कहो सुन्दर श्यामल गात ।।
सदीपन को सुत मृत्यु भयो उदधि जल में पात ।
वहोत दिवस ता कु' निवड गए ते राम रहे वे मात ।।
तुम पे गुरुदच्छना मांगी आन दीयो विख्यात ।
करवट सुत कसे वधे हे मेरे जेष्ट तिहारे भ्रात ।।

सो मो कुं को देत जु नाहीं जो कुछ वल्लभ मात।
भालण प्रभु विरह अति ताते मेरो मन उकलात ॥

पृ० २०७

भालण की कविता सूर के पदो से कुछ साम्य रखतो है, किन्तु यह साम्य वस्तुगत ही ज्यादा है वर्णन की सूक्ष्मताओ और विस्तार में नही। भालण को भाषा में पिंगल ब्रज की तरह ओ (अ-उ)-ए (अ-इ) प्रयोगो के रूप हो मिलते हैं। है, मैं आदि के स्थान पर सर्वत्र हे, मे आदि ही लिखा गया है। को के स्थान पर कु राजस्थानी प्रभाव है। इन दृष्टियो से यह भाषा सूर की वर्तमान-उपलब्ध रचनाओ की भाषा से पूर्ववर्ती मालूम होती है।

'दशमस्कन्द' में विष्णुदास, मेहा और शीतलनाथ अथवा रसातलनाथ के भी पद प्राप्त होते है, किन्तु उनके तिथिकाल और रचना-स्थान आदि का कोई निश्चित पता नही चलता।

§ २५३. दूसरे कवि हैं श्री केशव कायस्थ जिन्होने १५२९ सवत् में कृष्ण-क्रीडा काव्य लिखा। कवि प्रभास पाटण के रहनेवाले थे। कृष्ण क्रीडा-काव्य चालीस सर्गों में विभक्त एक विस्तृत कृति है इसमें लेखक ने एक स्थान पर ब्रजभाषा के दो पदो का प्रयोग किया है। पहले पद में राधा के मान का वर्णन है और दूसरे में यशोदा और गोपी सवाद के रूप में कृष्ण की माखनचोरी आदि को शिकायत की गई है।

त्यज अभिमान गोवाली घरय आओ श्री वन माली।
याके चरण चतुर्मुख सेवें किंकर होय कपाली ॥
जो वन माली तो फूल वेचिजे चु वे वेल गुलाला।
सुण्य चतुरी हूँ चक्री तू काण कवण कुलाला ॥
अरे अरे अनग हू अबला नाग तमे हम नारी।
हूँ हरि हेला हश महि रमणी तू माकड वन मुझारी ॥
प्रेम कलह येम पस्य पस्य भडे जम होय कोयक कामी।
नाड़ी उघाड़ी मल्यो मधुसूदन केशवदास चो स्वामी ॥

ऊपर के पद में ब्रज के साथ गुजराती का भी मिश्रण है। अन्तिम पक्ति में 'चो' परसर्ग पुरानी राजस्थानी का है (देखिए तेसीतोरी § ७३)। दूसरे पद का कुछ अश इस प्रकार है—

कारिका

सुत की [illegible] माय कृष्ण करत है अति अनियाय।

त्रोटक

[illegible] अनियाय [illegible] गोपी को कह्यो न माने।
[illegible] नाहीं [illegible] की बातें ॥
[illegible] सुन्दरी, यह [illegible] रह्यो न जाय।
[illegible] सुन श्री जमुनति माय ॥

त्रोटक

लाज हमारी लोपी तुमही सब मिलि बाल भुलायो
जहाँ जहाँ फिर्यो गहन वन गोचर तहाँ तहाँ सग आयौ
अंजी अखिया कियो तुम अजन कहे इय माता कोपी
छाडौ सब चतुरी चतुराई, अरे अरे बाउरी गोपी

कारिका

कपट करे है तुम आगे, सेज सूये नहीं जागे

त्रोटक

सेज सूये नहि जागे, बालक आय बोलावे
यमुना तीर तरुन सब देखत मोहन वेनु बजावे
लीनो चित चुराई चत्रभुज कहते कछु ना लागे
हम अबला ये धीर धरनिधर कपट करही तुम आगे

पृ० १०९

इन दो कवियो के अलावा कुछ अन्य भी कवियो ने ब्रजभाषा में कविताएँ की । १७वी शताब्दी में गुजरात में काफी साहित्य ब्रजभाषा में भी लिखा गया, किन्तु सूरोत्तर होने के कारण यहाँ उसकी चर्चा आवश्यक नही जान पडती । मीराबाई को भी गुजरात के लोग अपना कवि मानते हैं, मीरा का काल सूर के कुछ पहले या सम-सामयिक पडता है, किन्तु इनका परिचय ब्रजभाषा की मूल धारा के कवियो के साथ पहले ही किया जा चुका है। १७वीं-१८वी शती के कवियो का सक्षिप्त परिचय श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी ने 'गुजरात के ब्रज भाषी शुक-पिक' शीर्षक लेख में प्रस्तुत किया है।[१]

---

१. पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ४१३–४०।

आरम्भिक ब्रजभाषा

भाषाशास्त्रीय विश्लेषण

○

§ २५४. विक्रमाब्द १००० से १४०० तक की ब्रजभाषा के विकास का अध्ययन पहले ही प्रस्तुत किया जा चुका है। इन चार सौ वर्षों में ब्रजभाषा का संक्रान्तिकालीन पिंगल रूप ही प्रधान था। ब्रजभाषा का वास्तविक विकास १४०० से १६०० के बीच दो सौ वर्षों में पूरा हुआ और इसने १७वीं शताब्दी के आरम्भ में परिनिष्ठित ब्रज का रूप ग्रहण किया। इस अध्याय में १४०० से १६०० की ब्रजभाषा के व्याकरणिक रूप का अध्ययन किया गया है। भाषा की गठन और प्रगति के उचित आकलन के लिए पूर्ववर्ती पिंगल रूप तथा परवर्ती परिनिष्ठित रूप के सम्बन्धों की संक्षिप्त व्याख्या भी की गयी है।

§ २५५ भाषा का यह अध्ययन निम्नलिखित तेरह हस्तलेखों पर आधारित है, जिनके रचनाकाल और ऐतिहासिक इतिवृत्त के बारे में पीछे विचार हो चुका है।

(१) प्रद्युम्न चरित	विक्रमी १४११	(प्र० च०)
(२) हरिचन्दपुराण	,, १४५३	(ह० पु०)
(३) महाभारत कथा	,, १४९२	(म० क०)
(४) रुक्मिणी मंगल	,, १४९२	(रु० मं०)
(५) स्वर्गारोहण	,, १४९२	(स्व० रो०)
(६) स्वर्गारोहण पर्व	,, १४९२	(स्व० रो० प०)
(७) लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा	,, १५१६	(ल० प० क०)
(८) वैताल पचीसी	,, १५४६	(वै० प०)
(९) पंचेन्द्रियवेलि	,, १५५०	(पं० वे०)

(१०) रासो लघुतम, वार्ता	विक्रमी १५५०	(रा० ल० वा०)
(११) छिताई वार्ता	,, १५५०	(छि० वा०)
(१२) भागवत गीता भाषा	,, १५५७	(गी० भा०)
(१३) छीहल बावनी	,, १५८४	(छी० बा०)

१४वी-१६वी की पुष्कल सामग्री में से १३ हस्तलेखो को चुनने का मुख्य कारण इनकी प्रामाणिकता और प्राचीनता ही है। लघुतम रासो के एक पुराने हस्तलेख से कुछ वार्ताएँ श्री अगरचन्द नाहटा ने व्रजभारती के (आश्विन-अगहन, सवत् २००९) अक में प्रकाशित करायी हैं। गद्य की कोई प्रामाणिक कृति इस युग में प्राप्त नही हुई, इस कमी को ये वचनिकाएँ दूर कर सकती हैं। इनमें प्राचीन व्रजभाषा गद्य का रूप सुरक्षित है। इनका समय मैंने अत्यन्त पीछे खीचकर १५५० विक्रमाब्द अनुमान किया है। ये इससे पहले की भी हो सकती हैं।

ध्वनि-विचार

§ २५६. प्रा० व्र० मे आर्यभाषा के मध्यकालीन स्तर की प्राय सभी ध्वनियाँ सुरक्षित हैं। अपभ्रश की कुछ विशिष्ट ध्वनि-प्रवृत्तियो का अभाव भी दिखाई पडता है। नव्य आर्यभाषा में कई प्रकार की नवीन ध्वनियो का निर्माण भी हुआ।

प्राचीन व्रज में निम्नलिखित स्वर ध्वनियाँ पायी जाती हैं —

अँ, अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, एँ, ऐ, ओ, आँ औ।

पिंगल व्रज में सध्यक्षर ऐ और औ के लिए अए, और अओ, जैसे सयुक्त स्वरो का प्रयोग मिलता है (देखिए § १०५) इनका परवर्ती विकास पूर्ण सध्यक्षर औ और ऐ के रूप में हुआ। प्राकृतपैंगलम् की भाषा में क्रिया रूपो में कही भी 'औ'कारान्त प्रयोग नही मिलते। सर्वत्र 'ओ'कारान्त ही दिखाई पडते हैं। 'औ'कारान्त क्रिया-रूप परवर्ती विकास हैं।

प्राचीन व्रज के उपर्युक्त स्वर सानुनासिक भी होते हैं।

§ २५७ अ का एक रूप 'अँ' पादान्त में सुरक्षित दिखाई पडता है।

व्रजभाषा मे मध्य अँ प्राय और अन्त्य 'अँ' का नियमित लोप होता है। (व्रजभाषा § ८९) नव्य आर्यभाषा के विकास के आरम्भिक दिनो में इस प्रकार की प्रवृत्ति सभवत प्रधान नही थी। बहुत से शब्दो में अन्त्य 'अ' सुरक्षित मालूम होता है। छन्दोबद्ध की कविता की भाषा में प्रयुक्त शब्दो में इस प्रकार की प्रवृत्ति को चाहें तो मौलिक न भी मानें, किन्तु वहाँ अन्त्य 'अ' का लोप स्वीकार करना उचित नही मालूम होता। अयाण (प्र० च०) सायर (प्र० च० १५) वयण (प्र० च० १३६) अठार (ह० पु० २७ अष्टादश) गेह (म० क० १) इत्यादि शब्दो में अन्त्य अ का उच्चारण एकदम लुप्त नही मालूम होता। १२वी-१३वी शती में मध्यदेशीय भाषा में भी अन्त्य 'अ' सुरक्षित ध्वनि थी। उक्ति व्यक्ति की भाषा में डॉ० चाटुर्ज्या के मत से अन्त्य 'अ' का उच्चारण असदिग्ध रूप में सुरक्षित दिखाई पडता है। (उक्ति व्यक्ति स्टडी § ५)।

§ २५८ आद्य या मध्यम अक्षर में कभी-कभी अ का इ रूप भी दिखाई पडता है।

यथा तिसु (प्र० च० २<तस्स<तस्य<) किमाड (प्र० च० १६<कवाड<कपाट) सूरिजवश (ह० पु० ८ <सूरज <सूर्य) पातिग (ह० पु०<पातक) छियाल (वैं० प०< छयताल) काइथ (वैं० प० <कायस्थ) पाछिलो (ल० रा० १४<पाछली<पश्चं) मूढिनि (गी० भा०<मूढनि<मूढ) निकुल (गी० भा० ३४<नकुल) सहिस (गी० भा० ४१ < साहस) ततखिण (छी० वा० ४<तत्क्षण) छिन (छी० वा० २१<क्षण) निरिंदु (गी० भा० ११< नरेन्द्र) इस प्रकार की प्रवृत्ति प्राचीन राजस्थानी में वहुत प्रचलित दिखाई पडती हैं (देखिए, तेसोतोरी पुरानी राजस्थानी § २। १)। प्राचीन ब्रज में यह प्रभाव राजस्थानी लेखन के कारण माना जा सकता है वैसे मूल ब्रज में भी यह प्रवृत्ति वर्तमान हैं, राजस्थान के बाहर लिखी गयी, ग्वालियर आदि की प्रतियो में भी यह प्रवृत्ति दिखाई पडती है। प्राकृत में भी ऐसा होता था, खास तौर से बलाघात के पूर्व अ का इ हो जाता था (देखिए, पिशेल ग्रैमेटिक § १०२-३)।

§ २५९. कुछ स्थानो में आद्य अ का आगम हुआ है।

अस्तुति (रू० म० < स्तुति) अस्नाना (म० क० २९६।१ < स्नान)।

§ २६० मध्यग उ का कई स्थलो पर इ रूपान्तर दिखाई पडता है।

आइर्वल (गी० भा० १६ < आयुर्वल) जिजोधन (गी० भा० ३२ < दुर्योधन) पुरिष (म० क० ६।२ < पुरुष) मुनिख (प० वे० १४ < मनुष्य) यह प्रवृत्ति राजस्थानी भाषा में पायी जाती हैं। (डॉ० चाटुर्ज्या, राजस्थानी, पृ० ११)।

उ<इ के उदाहरण ब्रजभाषा की बोलियो में भी पाये जाते हैं (देखिए डॉ० वर्मा, ब्रजभाषा § १००)।

§ २६१. उ<अ, मध्यग उ का कई स्थलो पर अ हो गया है।

गरुअ (छी० बा० १८।३ <गुरुक) मकुट (वैं० प० १ < मुकुट) रावरे (रु० म० <रावुले<राजकुल) हूअ (ल० प० क० ५।१<हुउ<भवतु)। इस प्रकार के उदाहरण परवर्ती ब्रजभाषा में भी मिलते हैं। चतुर>चतर, कुमार>कमर (देखिए ब्रजभाषा § १००) पुरानी राजस्थानी में डॉ० तेसीतोरी ने भी इस प्रकार के उदाहरणो की ओर सकेत किया है (पुरानी राजस्थानी § ५ १)। यह प्रवृत्ति अपभ्रंश से ही चलने लगी थी (देखिए पिशेल § १२३)।

§ २६२ अन्त्य इ प्राय परवर्ती दीर्घ स्वर के बाद उदासीन स्वर की तरह उच्चरित होता था। प्रद्युम्न चरित तथा हरिचन्द पुराण जैसे प्राचीन काव्यो की भाषा में अन्त्य इ का प्रयोग-बाहुल्य है किन्तु इस इ का उच्चारण अत्यन्त हल्का (Light) मालूम होता है।

हरे' इ (प्र० च० ५) करे' इ (प्र० च० ३९) सवरे' इ (प्र० च० २९) अगला' इ (प्र० च० ४, २) पला' इ (प्र० च० ४०२)' इ (हरि० पु० २) मा' इ (ह० पु०)। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ब्रजभाषा में अन्त्य इ का उच्चारण फुसफुसाहट वाले स्वर की तरह ही मानते हैं। ध्वनि प्रयोग करके वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह स्वर उच्चारण में वर्तमान था किन्तु इसका रूप अत्यन्त क्षीण था (ब्रजभाषा § ९१)। ह्रस्व स्वरो के बाद प्रयुक्त अन्त्य इ का रूप सामान्य स्वर की भाँति हो भी सकता है, किन्तु परवर्ती दीर्घस्वर के बाद प्रयुक्त इ तो निस्सन्देह उदासीन स्वर ही था।

§ २६३ मध्यग इ का कभी-कभी य रूपान्तर भी होता है।

गोव्यन्द (म० क० २६४।१<गोविन्द) मानस्यंघ (गी० भा० ६<मानसिंह) च्यते (प० वे० २६<चितइ)। कृदन्तज भूतकालिक क्रिया में इ>य का आगम। 'वोल्यउ' में 'य' वोलिअउ के इ का ही रूपान्तर है। उसी तरह सहारण शब्द § २५८ के अनुसार सिंहारण और फिर स्यंघारण (ल० प० क० ७१) हो गया।

§ २६४. 'अ+उ' या 'अ+इ' का औ या ऐ उद्वृत्त स्वर से सध्यक्षर रूप में परिवर्तन हो जाता है। यह प्रवृत्ति अवहट्ठ या पिंगल काल में ही शुरू हो गई थी। प्राचीन ब्रज की इन रचनाओ में इस तरह के बहुत से प्रयोग मिलते हैं। जिनमे उद्वृत्त स्वर सुरक्षित हैं, यथा—

चाल्यउ (ल० प० क० ५६।१>चल्यौ) च्यारउ (छी० वा० ४१५>च्यारौ) चउवारे (प्र० च० ११६।१>चौवारे) चउपास (प्र० च०>चौपास) चिन्हइ (छी० वा० १।३>चीन्हैं) चढिउ (प्र० च० ३।१>चढ्यौ) उदीठई (प्र० च० ४०३।१>उदीठै एतउ (ल० प० क० १३।१>एतौ) कइमास (रा० व० ३>कैमास) कहइ (रा० बा० १>कहै) करउ (म० क० ८।१>करौ) खयइ (छी० वा० ६।४>खयै) गहइ (छी० वा० ६।६>गहै) दीघउ (ल० प० क०>दीघौ) दिखावइ (छि० वा० १३३>दिखावै) धरइ (स्वर्ग०>धरै) नीसरइ (ल०प०क० २।१>नीसरै) मनइ (स्वर्ग०>मनै)। इस प्रकार के एक दो नही सैकडो प्रयोग मिलते हैं जिनमें उद्वृत्त स्वरो की सुरक्षा दिखाई पडती है। यह इन रचनाओ की प्राचीनता का एक सबल प्रमाण है। किन्तु हम इसे मूल प्रवृत्ति नही कह सकते क्योकि उद्वृत्त स्वरो के स्थान पर सध्यक्षरो के प्रयोगो के उदाहरण भी कम नही हैं। बल्कि गणना करने पर सध्यक्षरो के प्रयोग ही ज्यादा मिलते हैं। नीचे कुछ इस प्रकार के प्रयोग उनके अपभ्रंश रूपो के साथ दिये जाते हैं। आनीयो (ल० प० क० ५८।२<आनीयउ) उपज्यो (गी० भा० ४१<उपजउ) औगुन (प० वे०<अउगुण<अवगुण) कैमासहि (रा० ल० ५<कइमासहि) कौ (स्व०<कउ) सकै (रु० म०<सकइ) गन्यौ (गी० भा० ४१<गणउ) चौपही (वे० प०<चउपई) चौगुनी (गी० भा० १३<चउगुणी) चौक (म० क० २९५।१<चउक्क<चतुष्क) चपियौ (प० वे० ३३<चपियउ) दीसै (म० क० १२।२<दीसइ) नाच्यो (प० वे० १०<नच्चउ) पहिरौ (छि० वा० १३५<पहिरउ) आदि।

§ २६५ स्वर-सकोच नव्य आर्य भाषाओ की एक मूल ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति मानी जाती है। प्राचीन ब्रज में स्वर-सकोच कई प्रकार से हुआ है।

(१) अउ>उ

कुण (रा० ल० ३६<कउण<कवण) जदुराय (गी० भा० २९<जादवराय <यादवराय) दीउ (ल० प० क०<दियउ)

(२) इअ>ई।

अहारी (छी० वा० २०।४ अहारिअ<आहारिक) अपनाई (रु० म० <अपनाइअ<आत्मन +कृत) करी (रु० म०<करिय<*करित=कृत)

दीठी (ल० प० क०<दिट्ठिअ<*दृष्टित=दृष्ट) भई (छी० वा०<भइअ

<*भवित=भूत) वनी (छि० वा० १२२*वनिअ<*वनित=शोभित)

§ २६६ ऋ का परिवर्तन कई प्रकार से होता है—

ऋ>इ—किसन (छी० वा० १६।५<कृष्ण) सिंगार (गी० भा० २२<शृंगार) सरिस (छी० वा० ७।४<सदृश) हिये (गी० भा० २९>हृदय)

ऋ>ई—दीठ (छि० वा०<दृष्टि) मीचु (प्र० च० ४०६।१<मृत्यु)

ऋ>ऊ—रुख (म० क० ७।१<वृक्ष) वूढ़ो (म० क० ८।१<वृद्ध)

ऋ>ए—गेह (छी० वा० १४।३<गृह) ।

ऋ>र्—अम्रत (गी० भा० २<अमृत) क्रपण (छी० वा० १७।६<कृपण क्रपाचार्य (गी० भा० ३०<कृपाचार्य) ध्रष्टदमनु (गी० भा० २४ <धृष्टद्युम्न)

ऋ का रि—द्रिढ (गी० भा०<दृढ़) म्रिगमद (रा० ल० ३३<मृगमद)

अनुनासिक और अनुस्वार

§ २६७ नव्य आर्यभाषाओं में अनुस्वार का प्रयोग प्राय अनियमित ढंग से होता है। अनुस्वार का प्रयोग वर्गीय अनुनासिक के स्थान पर तथा अनुनासिक स्वर के लिए भी होने लगा। हस्तलेखो में उपर्युक्त दोनों ही स्थानो पर जहाँ अनुस्वार का प्रयोग किया गया है, सर्वत्र प्राय विन्दु का ही प्रयोग मिलता है, इसलिए दोनो का भेद करना कठिन हो जाता है जैसे प्रद्युम्न चरित में पचमी (११ पञ्चमी) दड (४<दण्ड) मदिर (१<मन्दिर) तथा हँसि हँसि (४०८=हसि हसि) सुणिउँ (७०५) अवहरिउँ (७०५) आदि पदो में अनुनासिक और अनुस्वार दोनो ही विन्दु से ही व्यक्त किये गए हैं।

अनुस्वार कई स्थलो पर ह्रस्व हो गया है। जैसे

सँताप (प्र० च० १३८<सताप) सिंगार (प्र० च० २९<शृंगार) सँवारि (छि० वार्ता० १२९<सस्कार) रँगि (प० वे०<रग) सँसार (हरि० पु०<ससार) सँभोग (छि० वार्ता १२१<सभोग) अँगारू (म० क० ५<अगार) सारँग पाणि (प्र० च० ४०२<सारगपाणि) अँधार (हरि० पु०<अधार<अधकार) इस प्रकार के परिवर्तन छन्दानुरोध के कारण तथा शब्दो में बलाघात के परिवर्तन के कारण उत्पन्न होते है। ब्रजभाषा में इस तरह के बहुत से प्रयोग मिलते हैं। कुछ उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं (देखिये §§ १०६, १२८)।

§ २६८ नव्य भाषा में अनुनासिक को ह्रस्व या सरलीकृत बनाने की प्रवृत्ति का एक दूसरा रूप भी दिखाई पडता है जिसमें पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ करके अनुस्वार का ह्रस्व कर लेते थे। प्राचीन ब्रज में यह प्रवृत्ति दिखाई पडती है।

साँभल्यो (हरि० पु०<समलउ अप० हेम० ४७४) पाँडे (म० क० १<पंडिअ<पण्डित) पाँचई (वे० प०<पचइ<पञ्च) छाँडो (स्व० रो० ५<छडउ) भाति (प्र० च० १ <भाति प्र० च० १६) काँस (प्र० च० ४१०<कस) आँकुस (प० वे०<अकुश)।

§ २६९. अकारण अनुनासिकता के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं।

आँसु (प्र० च० १३६<असु प्रा० पैं० <अश्रु) हँसि हँसि (प्र०च० ४०८√ हस्) करांहि (७०६ प्र० च०√ कृ) यहाँ तुक के कारण माँहि के वजन पर सभवत कराहि किया गया। चहुँदिसि (प्र० च० १८<चउदिसि, हश्रुति, <चतुर्दिशि) साँस (हरि० पु० <श्वास) पुँछि (ह० पु०√ पृच्छ्) साँपी (प० वे० ५३<सर्प)।

§ २७०. सम्पर्कज सानुनासिकता की प्रवृत्ति भी दिखाई पडती है। वर्गीय अनुनासिकों के स्पर्श से या अनुस्वारित स्वरो के साथ में रहनेवाले स्वर भी सानुनासिक हो जाते हैं। उक्ति व्यक्ति प्रकरण अनुनासिकता के विषय में विचार करते हुए इस प्रकार की सम्पर्कज सानुनासिकता के सदर्भ में डॉ० चाटुर्ज्या ने लिखा है कि उक्ति व्यक्ति की भाषा में यह प्रवृत्ति वगाली और विहारी के निकट दिखाई पडती है, पश्चिमी हिन्दी के नही (देखिये, उक्तिव्यक्ति स्टडी § २१) किन्तु प्राचीन ब्रजभाषा में बहुत से ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें सम्पर्कज सानुनासिकता उक्तिव्यक्ति की भाषा की तरह ही दिखाई पडती है। उक्ति व्यक्ति में इस प्रकार के उदाहरणो में विहाणहि (३४।२३) माझ (१९।१६) वणिए (१४।२०) आदि दिए गए हैं। नीचे प्राचीन व्रज के कुछ उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं।

कहाँ माइ (हरि० पु०) तुम कौं (स्व० रो० <कउ) परम आपणा (ल० प० क०१३ <आपण) सुजाण (छि० वा० <१२४<सुजाण<सुज्ञान) कवलिय (प० वे० २६<कमल) अम्रति (गी० भा० २<अमृत) वाणियो (प्र० च० १८<वणिक) जाणीयो (प्र० च० १८< जाणीयउ√ज्ञा) कुवर (द्र० च० १२९<कुमार) वाण (प्र० च० ४०२<वाण) पराण (प्र० च० ४०३<प्राण) काणि (प्र० च० ४०२=कानि) पाणि (प्र० च० ४०२<पाणि) सुणाव (ह० पु०<सुणाउ) जाम (ल० प० क० ६<यावत्)।

§ २७१ पदान्त के अनुस्वार प्राय अनुनासिक ध्वनि की तरह उच्चरित होते हैं। प्राकृत और अपभ्रंश काल में पदान्त अनुस्वार ह्रस्व और दीर्घ दोनो ही समझे जाते थे। पिशेल के मत से पदान्त अनुस्वार विकल्प से अनुस्वार और अनुनासिक दोनो माने जाते थे (देखिए ग्रमैं० § १८०) हेमचन्द्र के दोहो में भी अपभ्रंश के पादान्त 'उं' 'हुं' या 'हं' इत्यादि के अनुस्वार प्राय ह्रस्व उच्चरित होते थे। डॉ० तेसीतोरी का कहना है कि पदान्त अनुस्वार अपभ्रंश में (हेमचन्द्र) ही अनुनासिक में बदल गया था (देखिए पुरानी राजस्थानी § २०) प्राचीन व्रजभाषा को अपभ्रंश की यह प्रवृत्ति और भी विकसित रूप में प्राप्त हुई। यहाँ पर पदान्त अनुसार निश्चय ही अनुनासिक हैं। इसीलिए प्राय, इन्हें चन्द्रविन्दु से व्यक्त किया जाता है। हस्तलेखो में चन्द्रविन्दु देने का प्रचलन नही था, इसलिए वहाँ विन्दु ही दिया गया है, पर ये है अनुनासिक ही। यथा—

जियउ (प्र० च० १३७) हरउ, परउ (प्र० च० १३८) अवतरिउ (प्र० च० ७०५) पाऊ (छ० म०) लहहुँ (स० रो०) मनावँ (वै० प०) होहिं (वै० प०) ताई (प० वे० २०) तैसें (गी० भा० ३०) सघरो, करो (गी० भा० ५८) इस प्रकार के पदान्त अनुस्वार के अनुनासिक की तरह उच्चरित होनेवाले बहुतेरे उदाहरण इन रचनाओं में भरे पडे हैं।

§ २७२ मध्यवर्ती अनुस्वार प्राय. सुरक्षित दिखाई पडता है।

ठाइ (प्र० च० २९<ठाइ अप०<स्थाने) कुँवर (ह० पु० <कुमार) बाघो (गी० भा० २७<बघउ)।

व्यंजन

§ २७३ अपभ्रंशकालीन सभी व्यजन सुरक्षित हैं। कुछ नये व्यजनो का निर्माण भी हुआ है। निम्नलिखित व्यजन पाये जाते हैं

क ख ग घ ङ

च छ ज झ

ट ठ ड ड़ ढ ढ़ ण ड़्ह

त थ द ध न न्ह

प फ ब भ म म्ह

य र ल ल्ह व स ह

§ २७४. ण और न के विभेद को बनाये रखने की प्रवृत्ति नही दिखाई पडती। अपभ्रंश में न के स्थान पर प्राय ण का प्रयोग हुआ करता था। किन्तु मूर्धन्य ध्वनि ण १४०० के आस-पास ही न के रूप में बदल गई और जिन स्थानो पर मूलत ण होना चाहिए वहाँ भी न का ही व्यवहार होने लगा। ब्रजभाषा में मूर्धन्य ण का व्यवहार प्राय लुप्त हो गया है (देखिये उक्ति व्यक्ति स्टडी § २२ तथा ब्रजभाषा § १०५) प्राचीन ब्रज की रचनाओ में ण का प्रयोग मिलता है, इसे राजस्थानी लेखन पद्धति (Orthography) का प्रभाव कह सकते हैं, वैसे भी बुलन्दशहर की ब्रजभाषा में प्राय न का ण उच्चारण होता है (देखिये ब्रजभाषा § १०५)। राजस्थान में लिखी ब्रज रचनाओ में मूल ण के लिए ण का प्रयोग तो है ही, न के लिए भी ण का प्रयोग किया है।

विणु (प्र० च० ८) पणमेइ (प्र० च० ३) वयणू (प्र० च० ४०४) परदमणु (प्र० च० ४०६<प्रद्युम्न) अलावण (ह० पु० २) सुणि (ह० पु० २५) आपणा (ल० प० क० १३) तिणि (ल० प० क० १४) रखवालण (प० वे० ६) कवण (छी० वा० ७) आदि में सर्वत्र न का ण हुआ है।

किन्तु अन्य स्थानो पर प्राप्त होने वाले हस्तलेखो में प्राय ण का न रूप हो गया है जैसे—

गनपति (रु० म० १<गणपति) सरन (रु० म० २<शरण) पोषन (म० क० २९४<पोषण) पुरान (म० क० २९६ <पुराण) मानिक (बै० प० २<माणिक्य) पानि (वे० पु० <पाणि) नरायन (छि० वा० १२३<नारायण) गनेस (छि० वा० १२०<गणेश) वीन (छि० वा० १३२<वीणा) सुवर्न (छि० वा० १३७<स्वर्ण) परवीन (छि० वा० १३६<प्रवीण) गुनी (गी० भा० २<गुणी) पुनहि (गी० भा०<पुण्य) आदि।

§ २७५ ड र और ल इन तीनो ध्वनियो का स्पष्ट विभेद पाया जाता है, किन्तु कई स्थानो पर ये ध्वनियाँ परस्पर विनिमेय प्रतीत होती हैं।

र ड—खरी (प्र० च० १३६ खड़ी) जोरि (प्र० च० ७०२ जोडि ७ प्र० च० ३२) पर्यो (ह० पु० पड्यो) वीरा (वे० प०<बीडा<वीटिका) जोरे (वे० प० जोडे) थोरो (बे० पु०<थोडइ<स्तोक) करोर (गी० भा० १<करोड<कोटि)।

ड र—बाहुडि (ह० पु० ९ बहुरि, छि० वा० १२८) तोडइ (ह० पु० तोरइ) फाडइ (ह० पु० फारइ) पडिखा (प० वे० ४<परिखा)।

ल र—जरै (म० क० २ ज्वलइ) रावर (म० क० ४<रावल<राजकुल) आरसु (म० क० ७<आलस्य) हैंवारे (स्व० रो० ३<हिमालय) भुवारा (स्व० रो० ५<भूपाल) जारू (गी० भा० २५<जाल) रखवारू (गी० भा० ३९<रखपाल<रक्षपाल)।

ल का र रूपान्तर प्राय ब्रज की सभी बोलियो में पाया जाता है (देखिए ब्रजभाषा § १०९)।

§ २७६ न्ह, म्ह और ल्ह इन तीन महाप्राण ध्वनियो का प्रयोग होने लगा था।

न्ह—दीन्हेउ (ह० पु०<दिण्णउ हेम० ४।४३०) न्हाले (प० वे० ६७)

म्ह—ब्रम्ह (हरि० पु० २६<ब्रह्म)

ल्ह—उल्हास (गी० भा० ३२<उल्लास) मेल्है (ह० पु०<मेल्लइ हेम० ४।४३० छोडना) वल्ह (प० वे० ६६)

इन महाप्राण ध्वनियो का प्रयोग परवर्ती अपभ्रंश काल से ही किसी न किसी रूप में शुरू हो गया था (देखिये § ५३) किन्तु प्राचीन ब्रजभाषा में इनका बहुल प्रयोग नही मिलता। मध्यकालीन और परवर्ती ब्रज में अलबत्ता इनका प्रचुर, प्रयोग हुआ है। १२वी शती के उक्ति व्यक्ति प्रकरण में भी ये ध्वनियाँ मिलती हैं (द्रष्टव्य स्टडी §३१) मिर्जाखाँ इन ध्वनियो को सयुक्त ध्वनि नही बल्कि एक ध्वनि मानते हैं। (ए ब्रज ग्रामर, इन्ट्रोडक्शन पृ० १८)।

§ २७७ मध्यग क कई स्थलो पर ग हो गया है।

अनेग (रा० ल० ३९<अनेक) इगुणीस (ल० प० क० ७२।१<इक्कुणीस<एकोनविंशति) उपगार (छी० वा०<उपकार) कातिग (प० वे० ७१<कातिक<कार्तिक) ध्रुगु ध्रगु (ह० पु०<धिक् धिक्) प्रगट (रा० ल० वा० १४<प्रकट) भुगति (छी० वा० १८।५ <भुक्ति) मर्गज (प्र०च० १६<मरकत)।

§ २७८ क्ष का रूपान्तर प्राय दो प्रकार से होता है।

क्ष>छ

नक्षत्र (प्र० च० ११<नक्षत्र) जच्छ (प्र० च० १५<यक्ष) क्षत्री (प्र० च० ४०८ <क्षत्रिय) पतरिछ (प्र० च० ४१०।१<प्रत्यक्ष)

क्ष>ख

खत्तिय (छि० वा० ३१<क्षत्रिय) खान्ति (छि० वा० १३२<क्षान्ति) रखवालण (प० वे० १६८<रक्षपाल) रुख (म० क० ७।१<वृक्ष) लखनोती (ल० प० क० ६३।१ <लक्षणावती। कुछ शब्दो में क्ष, का प रूप भी मिलता है किन्तु वहाँ भी क्ष का उच्चारण ख ही होता है।

§ २७९ त का ज रूपान्तर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

मर्गज (प्र० च० १६<मरकत) त्य का च रूपान्तर अपभ्रंश में होता था। चत्तकुसह

(हेम० ४।३४५<त्यक्ताकुश) इसमें त<च परिवर्तन महत्त्वपूर्ण है। सभवत इसी च का ज रूपान्तर हो गया। तवर्ग और चवर्ग दोनो वर्ण उच्चारण की दृष्टि से अत्यन्त निकटवर्ती हैं। तवर्ग वर्त्स्य ध्वनि और चवर्ग सघर्षी है। इसीलिए इनका परिवर्तन स्वाभाविक है। द>ज का भी एक उदाहरण मिलता है जिजोधन (गी० भा० ३३<जुर्जोधन<दुर्योधन)।

§ २८० प्राकृत मे मध्यग क ग च ज त द प व के लोप के उदाहरण मिलते हैं (हेम० ८।१।१७७) यही अवस्था अपभ्रशो में रही। अपभ्रश मे उच्चारण-सौकर्य के लिए ऐसे स्थलो पर 'य' या 'व' श्रुति का विधान भी था किन्तु सर्वत्र इस नियम का कडाई से पालन नही होता था। नव्य आर्यभाषाओ में इस प्रकार के शब्दो में स्वरसकोच या सधि आदि द्वारा अथवा शब्द को मूलत तत्सम रूप में उपस्थित करके परिवर्तन लाया जाता है। किन्तु आरम्भिक ब्रजभाषा में ऐसे कई शब्द मिलते हैं जिसमे उपर्युक्त व्यञ्जनो के लोप के बाद किसी प्रकार का परिवर्तन नही दिखाई पडता। कही-कही 'य' श्रुति का प्रयोग हुआ भी है किन्तु ये शब्द परवर्ती ब्रज में बहुप्रचलित नही दिखाई पडते। इनके स्थान पर तत्सम शब्दो का प्रयोग ही ज्यादा उचित माना जाने लगा। यह भाषा की प्राचीनता का एक सबूत है। पआरैं (प्र० च० ४०६< प्रकारेण) पाउस (ह० पु०<प्रावृट्) गुणवइ (प्र० च० ७०५<गुणवती) हूअ (ल० प० क<भूत-ब्रजभाषा=हतो) पयालि (ल० प० क० ६१<पाताल) सायो (पं० वे०< साँप<सर्प) सयल (ल० प० क० ६८<सकल) पसाइ (वै० प० <पसाय<प्रसाद) सायर (गी० भा० २९<सागर)।

§ २८१ य<ज

अजुध्या (वै० प०<अयोध्या) जिर्जोधन (गी० भा० ३३<दुर्योधन) आचारजहि (गी० भा० ३३<आचार्य)।

संयुक्त व्यञ्जन

§ २८२ अपभ्रश के द्वित्व व्यजनो का प्राचीन ब्रजभाषा में सर्वत्र सरली-करण किया गया है। इस अवस्था में क्षतिपूर्ति के लिए पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर दिया गया है। अपूठा< प० वे० ४५<अपुट्ठ<अपुष्ट) आथमण (छी० वा० ७।५<अत्थमण<अस्तमान) काजै (प० वे० ४<कज्ज<कार्य) कीजइ (छि० वा० ७।३ <किज्जइ<क्रियते) घाले (प० वे०<घल्लइ हेम) दीठौ (ह० पु०<दिट्ठइ<दृष्ट) दीनी (छि० वार्ता० १३१<दिण्णी हेम०) नीसरइ (ल० प० क० २।१<निस्सरइ<निस्सरति) पूछइ (रा० वा० २५<पुच्छइ<पृच्छति) फूलियो (छी० वा० १२।६ <फुल्लियउ) वीध्यो (प० वे० ५२<विध्यउ) मीठो (प० वे०< मिठ्ठ<मिष्ठ) राखनहारा (छी० वा० ४।६<रक्खण<रक्षण) बूझइ (प्र० च० ११ १। वुज्झइ<बुद्ध्यते) इस प्रकार का व्यजन सरली करण (Simplification) पिंगल काल से ही शुरू हो गया था जिसे पहले प्राकृतपैंगलम्, सन्देशरासक आदि की भाषा के सिलसिले में दिखाया गया है। प्राचीन ब्रजभाषा में यह प्रवृत्ति पूर्ण रूप से विकसित दिखाई पडती है। बहुत से शब्दो में यह व्यजक द्वित्व सुरक्षित भी रह गया है। जैसे—

कज्जल (प्र० च० २९।१) दिट्ठ (छि० वा० १६।३) नच्चइ (छी० वा० १९।६) विलग्गि (छी० वा० २) वज्झई (छी० वा० २) सज्ज (रा० वा० वा० ३५) सकल (प० वे० ६)।

इसे हम अपभ्रश का अवशिष्ट प्रभाव कह सकते हैं।

§ २८३ ध्य का झ रूपान्तर-अपभ्रश की तरह ही ध्य का झ रूपान्तर हो गया है। आश्चर्य तो यह है कि ध्य>झ को सुरक्षित रखनेवाले तद्भव शब्द बाद की व्रजभापा मे कई स्थलो पर उचित न माने जाकर छोड दिये गए किन्तु आरभिक व्रज में इस प्रकार के अपरिचित शब्द प्रयोग में आते रहे हैं। उदाहरण के लिए झावहि (प्र० च० ७०६<ध्यायति, तुलनीय हेम ४।४४०) जूझ (सझा म० क० २ <जुज्झ<युध्य)।

§ २८४. मध्य ट का ड मे परिवर्तन—

तोडइ (ह० पुराण<*त्रोटति-पिशेल § ४८६)
जडे (प्र० च० १६ <जटित)
सकडु (छी० वा० १० <सकट)
घडन (छी० वा० १३ <घट)

यह वहुत पुराना नियम है, जो प्राचीनकाल से चला आ रहा है (हेम० ८।१।१९८)।

§ २८५ त्स>छ—त्स का च्छ रूपान्तर अपभ्रश मे होता था। आरभिक व्रज में च् भी लुप्त हो गया। इस प्रकार त्स>छ के रूपान्तर मिलते है। जो एक कदम आगे के रूप है। उछग (ह० पुराण<उच्छग<उत्सग) मछि (प० वे० १६ <मच्छ<मत्स्य)।

§ २८६ स्त>थ–परिवर्तन भी सलक्ष्य है।

युत (गी० भा० ६ <स्तुति) हथनापुर (गी० भा० ७ <हस्तिनापुर)

वर्ण-विपर्यय

§ २८७ वर्ण विपर्यय की प्रवृत्ति नव्य आर्यभापाओ में पाई जाती है। जैसे मध्यकालीन प्राकृत अपभ्रश में भी इसका किंचित् रूप दिखाई पडता है। डॉ० तेसीतोरी ने वर्ण-विपर्यय के उदाहरणो को चार वर्गो मे बाँटा है। यह वर्गीकरण काफी हद तक पूर्ण कहा जा सकता है। मात्रा विपर्यय, अनुनासिक विपर्यय, स्वर विपर्यय और व्यजन विपर्यय।

मात्रा विपर्यय

तवोर (गी० भा० २१ <ताम्वूल)
सहू (ल० प० क० ३ <अप० साहू <शश्वत्, पिशेल § ६४)
कुरवा (गी० भा० ५९ <कौरव)

अनुनासिक विपर्यय

कँवलिय (प० वे० २५ <कवँल<कमल)
भँवर (प० वे० २५ <भवँर<भ्रमर)
कुँवर (ह० पु० <कुवाँर<कुमार)
अँकवार (ह० पुराण<अकवाँर<अकमाल)

स्वर विपर्यय

(१) परोछति (स्व० पर्व० <परीक्षित)
(२) सिमरौं (गी० भा०<समिरउँ<स्मृ)
(३) पचाजननु (गी० भा० ४३ <पाचजन्य

(४) आथमन (छी० वा० <अस्तमान)

(५) हिव (रा० वार्ता ६ <हवि<एहवि पुरानी राजस्थानी § ५०)

व्यंजन विपर्यय

पतरिष्छ (प्र० च० ४१०<परतिछ<प्रत्यक्ष)

स्वरभक्ति

§ २८८ पदमावती (प्र० च० ४ <पद्मावती) विघण (प्र० च० ५<विघ्न) परदमण (प्र० च० ४०६<प्रद्युम्न) तिरिया (म० क० <६ त्रिया) मारगि (ल० प० क० ६१<मार्ग) भाराइथ (छि० वा० १२१<भारत) अपछर (छि० वा० १३१ <अप्सरा) परवीन (छि० वा० १३६ <प्रवीन) भीपम (गी० भा० ३६<भीष्म) सुरग (छी० वा० २८<स्वर्ग) सनमुख (छी० वा० ३<सम्मुख) अगिनि (छी० वा० ४<अग्नि) मुगती (छी० वा० ४< मुक्ति) आयुरवल (छी० वा० ८ <आयुर्वल) किसन (छी० वा० १६ <कृष्ण)।

संज्ञा-शब्द

§ २८९ आरम्भिक ब्रजभाषा में केवल दो ही लिंग का विधान दिखाई पडता है। डॉ० ग्रियर्सन ने ब्रजभाषा के सर्वेक्षण के बाद यह बताया कि प्राचीन ब्रजभाषा में तीन लिंग होते हैं (देखिये § १५६)। किन्तु इस प्रकार का कोई विधान नही दिखाई पडता। नपुसक और पुलिंग में अन्तर बतानेवाला चिह्न डॉ० ग्रियर्सन के अनुसार अनुस्वार है, जैसे घोडो पुल्लिग, सोनो नपुसक लिंग।[1] अनुस्वार का प्रयोग प्राचीन हस्तलेखो में कितना अनियमित होता है, इसे बताने की जरूरत नही। ऐसी हालत में लिंग-निर्णय का यह आधार बहुत प्रामाणिक नही प्रतीत होता। प्राचीन ब्रज में बहुत से स्त्रीलिंग शब्द पुल्लिग और बहुत से नपुसक लिग या पुल्लिग शब्द स्त्रीलिंग मे व्यवहृत हुए हैं। वार (प्र० च० ३२) समय के अर्थ में स्त्रीलिग में प्रयुक्त हुआ है। वियापी पाप (ह० पु० २५) मे पाप स्त्रीलिंग है।

प्रातिपदिको की दृष्टि से व्यञ्जनान्त प्रातिपदिक ही प्रधान है वैसे ऐसे व्यञ्जनो के अन्त मे 'अ' रहता है जो प्रत्ययो के लगने पर प्राय लुप्त हो जाता है। बहुत से दीर्घ स्वरान्त स्त्रीलिंग शब्द ह्रस्व स्वर हो गए हैं। धर (प्र० च० ४०७ <धरा) बात (प्र० च० २८ <वार्ता) बाम (प्र० च० ३१<वामा) कुमरि (ल० प० क० १०<कुमारी) गवरि (ल० प० क० ७२<गौरी) रेख (प्र० च० २६<रेखा) इस प्रकार की प्रवृत्ति अपभ्रंश में भी दिखाई पडती है (दे० हेम० ८।४।३३०)।

वचन

§ २९० बहुवचन द्योतित करने के लिए 'नि' या 'न' प्रत्यय का प्रयोग होता था। यह प्रत्यय प्राय विकारी रूपो को निर्माण करता है जिनके साथ परसर्गों के प्रयोग के आधार पर भिन्न भिन्न कारको का बोध होता है।

(१) चितवनि चलनि पुरनि मुस्क्यानि (स्त्रीलिंग) बहुवचन छि० वार्ता १३५।

(२) जेहि बस पचन कीय (प० वेलि० ६२) पाँचो ने।

---

1 लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इण्डिया, भाग ९, हिस्सा १, पृ० ७४।

(३) इन्द्रिन ओगुन भरिया (पं० वे० ६३) इन्द्रिया ओगुन भरी हैं।
(४) संखनि पूरन लागे (गी० भा० ४५) संखो से भरने लगे।

विभक्ति

§ २९१ अधिकाशत' परवर्ती ब्रज की तरह आरम्भिक ब्रज में भी निर्विभक्तिक प्रयोग पाये जाते हैं। किन्तु ब्रजभाषा में सविभक्तिक पद भी सुरक्षित हैं। यह ब्रजभाषा की अपनी विशेषता है, कि उसमें खडी बोली की तरह केवल परसर्गों का ही नही विभक्तियो के भी प्रयोग बचे रहे। कर्ता और कर्म में उपर्युक्त नि या न प्रत्यय विभक्ति चिह्न का भी कार्य करता है।

कर्म 'हिं'
(१) तिन्हहिं चरावति (छि० वार्ता १४१) कर्म० बहुवचन
(२) कैमासहिं अहमिति होइ (रा० वार्ता ५) कर्म, एकवचन
(३) तिन्हहिं कियो प्रणाम (ह० पु० ३२) कर्म बहुवचन

करण 'हि' 'ए'
(१) दोउ पओरें (प्र० च० ४०६) प्रकार से
(२) चितौरे दीनी पीठ कर्मवाच्य, छि० वार्ता० १३१, चितौरे से पीठ दी गई।
(३) अर्धचन्द्र तिहिं साधिउ प्र० च० ४०२ उसने साधा

षष्ठी 'ह'
(१) वणह मझारि (प्र० च० १३७)
(२) पदूमह तणउ (प्र० च० १०)

अधिकरण—'हिं', 'इ', 'एं'
कुरुखेतहिं (स्व० ३) मनहिं लगाइ (छि० वार्ता १२८)
मनि च्यते (प० वे० २८) सरोवरि (प० वे० ३२)
रावलि (ह० पु०) आगरे (प्र० च० ७०२) घरहिं अवतरिउ (प्र० च० ७०५)

सर्वनाम

§ २९२ उत्तमपुरुष—प्राचीन ब्रज में उत्तमपुरुष सर्वनाम में दोनो रूप 'में' और 'हौं' पाये जाते हैं। कुछ पुराने लेखो में अपभ्रंश का हउं रूप भी सुरक्षित है, जैसे प्रद्युम्न-चरित (७०२) तथापि प्रधानता हउ के विकसित रूप हौं की है। मईं का प्रयोग भी कई स्थानो पर हुआ है।

(१) हउ मतिहीन म लावउ खोरि (प्र० च० ७०२)
(२) मैं जु कथा यह कही (गी० भा० ३)
(३) हौं न घाउ घालौं (गी० भा० ५६)
(४) फुरमान मईं दीउगा (रा० वार्ता ४९)
(५) पूर्वजन्म मईं काहउँ कियउ (प्र० च० १३६)
(६) कि मईं पुरुष विछोही नारि (प्र० च० १३७)

यहाँ हउ, हौं, मइ और मैं इन चारो रूपो के उदाहरण दिये गये हैं। प्राचीन ब्रज-भाषा की आरम्भिक रचनाओ में अपभ्रंश रूप हउं (हेम० ४।३३८) और मइं (हेम० ४।३३०) भी वर्तमान थे किन्तु परवर्ती रचनाओ में इनके विकसित रूप हौं और मैं ही प्राप्त होते हैं।

इन रूपो के अलावा भिन्न-भिन्न कारको में प्रयुक्त होनेवाले विकारी रूप भी मिलते हैं।

§ २९३. मो और मोहिं

कर्म-सम्प्रदान में प्रयुक्त होनेवाले इन रूपो के कुछ प्रयोग नीचे दिये जाते हैं

(१) तोहि विणु मो जग पालट भयो (ह० पु०)
(२) बुद्धि दे मोहि (वै० पचीसी)
(३) मोहि सुनावहु कथा अनूप (वै० पचीसी)
(४) जो तुम वाहुडि पूछ्यो मोहि (ह० पु० ९)

मो का विकारी रूप भिन्न-भिन्न कारको के परसर्गों के साथ प्रयुक्त होता है।

(१) इहि मोसो वोल्यो अगलाइ (प्र० च० ४०२)
(२) मो सम मिलहिं तोहि गुरु कवण (प्र० च० ४०९)
(३) तो यह मो पै होइ है तैसे (गी० भा० ३०)
(४) को मो सो रन जोध्यो आनि (गी० भा० ४५)
(५) सो मो वरइ कुँवरि इमि कहइ (ल० प० क० १०)

डॉ० तेसीतोरी मूँ या मो की व्युत्पत्ति अप० महु<स० मह्यम् से मानते हैं। (देखिए, पुरानी राजस्थानी § ८३।२) डॉ० तेसीतोरी इसे मूलत षष्ठी रूप मानते हैं जिसका सम्प्रदान कारक में प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार मुहि या मोहि भी उनके मत से षष्ठी का ही रूप है। जिसका प्रयोग पूर्वी प्रदेश की बोलियो (राजस्थानी से भिन्न, ब्रजभाषा आदि) में सम्प्रदान कारक में होता है।[१] इस प्रकार मो के 'मम' अर्थ-द्योतक प्रयोग परवर्ती ब्रज में बहुत होने लगे। मो मन हरत (सेनापति ३४) मो माथा सोहत है (नन्ददास ४।२९) आदि रूपो में यही प्रवृत्ति पायी जाती है। (देखिए, ब्रजभाषा § १५८) बीम्स ब्रजभाषा के विकारी रूप मो की व्युत्पत्ति सस्कृत मम से मानते हैं।[२] उपर्युक्त प्रयोगो में 'मो जग' का अर्थ मेरा जग है।

§ २९४ मेरो, मोरी, मेरे

उत्तम पुरुष के सम्बन्ध विकारी रूपो के कुछ उदाहरण

(१) जो मेरे चित गुरु के पाय। (गी० भा० २९)
(२) मेरो रथ लै थापौ तहाँ (गी० भा० ४४)
(३) अगरवाल कौ मेरी जाति (प्र० च० ७०२)
(४) तो विनु और न कोऊ मेरो (रु० म०)

सम्बन्धवाची पुल्लिग मेरो, मेरे तथा स्त्रीलिंग मोरी, मेरी आदि सर्वनाम अपभ्रश महारउ सस्कृत-महकार्यक (पिशेल ग्रेमेटिक § ४३४) से व्युत्पन्न माने जा सकते हैं। डॉ० तेसीतोरी ने मेरउ और मोरउ रूपो को राजस्थानी का मूल रूप स्वीकार नही किया, उनके मत से पुरानी राजस्थानी की रचनाओ में मिलनेवाले ये रूप ब्रज तथा बुन्देली के विकारी रूप मो,

---

१ डॉ० एल० पी० तेसीतोरी, पुरानी राजस्थानी § ८३।२।
२ बीम्स, कम्परेटिव ग्रैमर ऑव माडर्न आर्यन लैंग्वेजेज ऑव इण्डिया § ६३।

में के सदृश हैं (देखिए पुरानी राजस्थानी § ८३) मेरा आदि की व्युत्पत्ति डॉ० धीरेन्द्र वर्मा प्राकृत महकेरो रूप से मानते हैं।[1]

§ २९५. बहुवचन के हम, हमारो आदि रूप भी मिलते हैं।

(१) हम तुम जयो नरायन देव (ह० पु०)
(२) हमार राजा पै वस दयाउ (रा० वार्ता० ४)
(३) एक सब सुहृद हमारे देव (गी० भा० ४८)
(४) इन मारे हमकों फल कौन (गी० भा० ५६)

'हम' उत्तम पुरुष बहुवचन का मूल रूप है। हमारो, हमार, हमारे आदि इसी के विकृत रूपान्तर हैं। हम का सम्बन्ध प्राकृत अम्हे<स०*अष्मे से किया जाता है। हमारो आदि रूप महकारो<स० *अस्मत्कार्यक से विकसित हो सकते हैं। (देखिए तेसीतोरी पुरानी राजस्थानी § ८४)।

§ २९६. मध्यमपुरुष

इस सर्वनाम के रूप प्राय उत्तम पुरुष के सर्वनाम-रूपो की पद्धति पर ही होते हैं। मूल रूप तुम, तूँ हैं जो अपभ्रंश के तुहुँ (हेम० ४।३३०)<सस्कृत त्वम् से निसृत हुआ है।

(१) अब यह राज तात तुम्ह लेहू (स्वर्गारोहण ५)
(२) जसु राखणहारा तूँ दई (छी० वा० ४।६)
(३) तुम जनि वीर धरौ सन्देहू (स्व० पर्व०)
(४) जेहि ठा तुम्ह तँह होइ न हारि (गी० भा० ५२)

तो, तोहिं आदि विकारी रूपो के उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) तो विणु अवरन को सरण (छी० वा० ३।६)
(२) तो विनु और न कोऊ मेरो (रु० म०)
(३) तो सम नाही छत्री कमनूँ (प्र० च० ४०८)
(४) तोहिं विनु मो जग पालट भयो (ह० पुराण)
(५) तोहि विनु नयन ढलइ को नीर (ह० पुराण)

ये उत्तम पुरुष के मो, मोहि के समानान्तर रूप हैं। तो की व्युत्पत्ति अपभ्रंश<तुहुँ <*तुष्मे से सभव है। (देखिए हिन्दी भाषा का इतिहास § २९१) मूलत ये भी षष्ठी के ही विकारी रूप हैं। 'तो' सर्वनाम षष्ठी में भी प्रयुक्त होता है। तो मन की जानत नहीं, आदि।

सम्बन्धी-सम्बन्ध विकारी रूप

(१) तेरे सनिधान जो रहै (गी० भा० ६४)
(२) न्याय गरुअत्तण तेरउ (छी० वा० १७)
(३) साथ तुम्हारे चलिहो राई (स्व० प०)
(४) निस दिन सुमिरन करत तिहारो (रु० म०)

---

१ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी भाषा का इतिहास § २९२।

में के सदृश हैं (देखिए पुरानी राजस्थानी § ८३) मेरा आदि की व्युत्पत्ति डॉ० धीरेन्द्र वर्मा प्राकृत महकेरो रूप से मानते हैं ।[1]

§ २९५. बहुवचन के हम, हमारो आदि रूप भी मिलते हैं ।

(१) हम तुम जयो नरायन देव (ह० पु०)
(२) हमार राजा पै बस दयाउ (रा० वार्ता० ४)
(३) एक सब सुहृद हमारे देव (गी० भा० ४८)
(४) इन मारें हमकौं फल कौन (गी० भा० ५६)

'हम' उत्तम पुरुष बहुवचन का मूल रूप है । हमारो, हमार, हमारे आदि इसी के विकृत रूपान्तर हैं । हम का सम्बन्ध प्राकृत अम्हे<स०*अष्मे से किया जाता है । हमारो आदि रूप महकारो<स० *अस्मत्कार्यक से विकसित हो सकते हैं । (देखिए तेसीतोरी पुरानी राजस्थानी § ८४) ।

§ २९६. मध्यमपुरुष

इस सर्वनाम के रूप प्राय उत्तम पुरुष के सर्वनाम-रूपों की पद्धति पर ही होते हैं । मूल रूप तुम, तूँ हैं जो अपभ्रंश के तुहुँ (हेम० ४।३३०)<संस्कृत त्वम् से निसृत हुआ है ।

(१) अब यह राज तात तुम्ह लेहू (स्वर्गारोहण ५)
(२) जसु राखणहारा तूँ दई (छी० वा० ४।६)
(३) तुम जनि वीर धरौ सन्देहू (स्व० पर्व०)
(४) जेहि ठा तुम्ह तँह होइ न हारि (गी० भा० ५२)

तो, तोहि आदि विकारी रूपों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) तो विणु अवरन को सरण (छी० वा० ३।६)
(२) तो विनु और न कोऊ मेरो (रु० मं०)
(३) तो सम नाही छत्री कमनूँ (प्र० च० ४०८)
(४) तोहि विनु मो जग पालट भयौ (ह० पुराण)
(५) तोहि विनु नयन ढलइ को नीर (ह० पुराण)

ये उत्तम पुरुष के मो, मोहि के समानान्तर रूप हैं । तो की व्युत्पत्ति अपभ्रंश<तुहँ <*तुष्मे से सभव है । (देखिए हिन्दी भाषा का इतिहास § २९१) मूलत ये भी षष्ठी के ही विकारी रूप हैं । 'तो' सर्वनाम षष्ठी में भी प्रयुक्त होता है । तो मन की जानत नहीं, आदि ।

सम्बन्धी-सम्बन्ध विकारी रूप

(१) तेरैं सनिधान जो रहै (गी० भा० ६४)
(२) न्याय गरुअत्तण तेरउ (छी० वा० १७)
(३) साथ तुम्हारे चलिहो राई (स्व० प०)
(४) निस दिन सुमिरन करत तिहारो (रु० म०)

---

१ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी भाषा का इतिहास § २९२ ।

तेरे, तिहारे, तुम्हारे या तिहारो रूप अप० तुम्हारउ<स० *तुस्मत् + कार्यक से निसृत हुए हैं (पुरानी राजस्थानी § ८६) षष्ठी के रूपों में एकवचन और बहुवचन का स्पष्ट भेद नहीं दिखाई पड़ता। तेरे, तेरी, तिहारा आदि एकवचन में और तुम्हारे आदि बहुवचन के रूप हैं। वैसे प्रयोग में यह भेद कम दिखाई पड़ता है।

(५) तुम चरनन पर माथो लावै (गी० भा०)

संस्कृत के 'तव' से निसृत 'तुव' रूप प्राचीन ब्रज में प्राप्त होता है। इसका प्रचार परवर्ती ब्रज में और भी अधिक दिखाई पड़ता है। (तुलनीय, ब्रजभाषा § १६७) कर्म-सम्प्रदान के विकारी रूप जो विभक्ति युक्त या परसर्गों के साथ प्रयोग में आते हैं।

(१) तुमै छाडि मो पै रह्यो न जाई (स्व० पर्व०)

(२) अब तुमहि कौ घरी द्वै चारी (स्व० पर्व०)

ये रूप भी उपर्युक्त रूपों की तरह निसृत होते हैं। इस तरह संयोगात्मक वैकल्पित रूप ब्रज में बहुत प्रचलित हैं। (देखिए ब्रजभाषा § १६६)

कर्तृ-करण के, 'तैं' रूप के उदाहरण नहीं मिलते हैं। संभवतः यह इस काल में बहु प्रचलित रूप न था। और उसके स्थान पर तुम या तू से ही काम चल जाता था। १६वीं शती के बाद की रचनाओं में इसका प्रयोग मिलता है।

§ २९७. अन्य पुरुष, नित्य सम्बन्धी सर्वनाम

इस वर्ग में संस्कृत के प्राचीन तद् 'स' विकसित सो आदि तथा उसके अन्य विकारी रूप प्राप्त होते हैं। स वाले रूप—

(१) सो सादर पणमइ सरसती (प्र० च० १)

(२) देइ असीस सो ठाढे भयो (प्र० च० २८)

(३) परसण इन्द्रिय पर्यो सो (पं० वे० २)

(४) सो रहे नही समझायो (प० वे० ५६)

(५) सो थुत मानस्यघ की करै (गी० भा० ६)

स प्रकार के रूप केवल कर्ता में ही प्राप्त होते हैं। अन्य कारकों में इसी के विकारी रूप प्रयोग में लाये जाते हैं। इन विकारी रूपों में कई मूलतः सर्वनाम की तरह प्रयुक्त होते हैं, कुछ सार्वनामिक विशेषण की तरह। इसी कारण कुछ भाषाविदों ने इन्हें मूलतः विशेषण रूप माना है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा इन्हें अन्यपुरुष सर्वनाम न कहकर नित्य सम्बन्धी कहना पसन्द करते हैं।[1] उक्तिव्यक्ति प्रकरण में डॉ० चाटुर्ज्या ने इन्हें अन्य पुरुष (Third person) के अन्तर्गत ही शामिल किया है।[2]

§ २९८ कर्तृकरण

तेइ–तिह

(१) तिहि तँवोर येघू कह दयो (गी० भा० २१)

---

१ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी भाषा का इतिहास § २९६।

२. उक्तिव्यक्ति प्रकरण, स्टडी § ६६।३।

(२) तेइ घणी सही तिस भूपा (प० वे० ५)

(३) ते सुकृत सलिल समोयौ (प० वे० ६४)

तेइ सस्कृत तधि*>तहि>तइ>तेइ का रूपान्तर हो सकता है (चाटुर्ज्या, उक्ति व्यक्ति § ६७) तिहि तहि का ही रूप है।

§ २९९. ता, ताको आदि विकारी रूप—

(१) ताको पाप सैल सम जाई (स्व० रो०)

(२) ताको रूप न सकौं बखानि (वै० पचीसी ३)

(३) ता मानिक सुत सुत को नद (वै० प०)

(४) ता घर भान महामरु तिसै (गी० भा० ७)

इन रूपो में 'ता' व्रजभाषा का प्रसिद्ध साधित रूप है जो भिन्न-भिन्न परसर्गों के साथ कई कारको में प्रयुक्त होता है। वैसे परसर्ग-रहित रूप से यह मूलत षष्ठी में ही प्रयुक्त होता है। षष्ठी ताह (अपभ्रंश) से सकुचित होकर ता बना है (उक्ति व्यक्ति § ६३)।

§ ३००. तासु, तिसी, तिहि, ताही आदि सम्बन्ध सबधी विकारी रूप—

(१) करि कागद मह चित्रो तिसो (छि० वार्ता० १३५)

(२) तिह नेवर सुनि फेरी दीठि (छि० वा० १३१)

(३) नारद रिसि गो तिहि ढाई (प्र० च० २९)

(४) ताही को भावै वैराग (गी० भा० २२)

(५) लिखत ताहि भान गुन ताहि (गी० भा० २०)

(६) तिस कउ अन्त कोइ नहिं लहई (प्र० च० १)

(७) तास चीन्हइ नहिं कोई (छी० वा० १)

स० तस्य>अप० तस्स>तसु>तासु। तिसी, तासु का ही स्त्रीलिंग रूप है जो मध्यकालीन ई प्रत्यय से बनाया गया।

§ ३०१ बहुवचन ते, तिन्ह आदि

(१) ते सुरनर घणा विगूता (प० वे० १२)

(२) तिन्ह मुनिष जनम विगूते (प० वे० २४)

(३) कुटिल वचन तिन कहे बहूत (गी० भा० ३४)

(४) सास ससुर ते आहि अपार (गी० भा० ५४)

तिन्ह और तिन रूप मूलत कर्तृकरण के प्राचीन तेण के विकार हैं। डॉ० चाटुर्ज्या इसकी व्युत्पत्ति ते मध्यकालीन तेणम्+हिं विभक्ति से मानते हैं (उक्ति व्यक्ति § ६७) ते सस्कृत के प्राचीन ते से सबद्ध है।

विकारी रूप—

(१) तिन्हहिं चरावति बाँह उचाइ (छि० वार्ता १४२) कर्म

(२) तैं कैसे बँधिए सग्राम (गी० भा० ५४) कर्म

(३) तिन समान दूजो नहिं आन (गी० भा० ३०) करण

(४) तिन की बात सु सञ्जय भनै (गी० भा० ३२) सम्बन्ध

(५) तिन्ह कौं कैसे सुनू पुराण (ह० पुराण ७) सम्बन्ध
(६) तिन्हि कहुँ बुद्धि होइ (प्र० च० १) कर्म
(७) तेउ न राखि न सकै आपणे (प्र० च० ४०९) कर्म
बहुवचन मे तिन या तिण का प्रयोग भी होता है।
(१) तिण ठाई (ल० प० क० १४)
(२) तिण परि (ह० पुराण)

नन्ददास और सूरदास ने भी 'उन' के अर्थ मे तिण का ऐसा ही प्रयोग किया है (देखिए ब्रजभाषा § १८३)।

दूरवर्ती निश्चयवाचक

§ ३०२ सस्कृत के तद् के विभिन्न रूपो से विकसित नित्यसबन्धी सर्वनामो के अलावा अन्यपुरुष में 'व' प्रकार के सर्वनाम भी दिखाई पडते हैं। खडी बोली में अन्य पुरुष में अब वह और उसके अन्य प्रकार ही चलते हैं। वह की व्युत्पत्ति सदिग्ध है। कुछ लोग इसका सम्बन्ध अपभ्रश क्रिया विशेषण ओइ (हेम० ८।४।३६४) से जोडते हैं।[1] प्राचीन ब्रजभाषा के कुछ रूप नीचे दिये जाते हैं—

(१) वहइ धनुप गयो गुण तोरि (प्र० च० ४०५)
(२) त्यो कि वै सकइ न चालै (प० वे० ८)
(३) पै वै क्यो हू साथ न भयौ (गी० भा० १४)

वहइ रूप १४११ सवत् के प्रद्युम्न चरित में प्राप्त होता है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योकि इस काल की दूसरी रचनाओ में 'वह' का प्रयोग अत्यन्त दुर्लभ है। वे के कई प्रयोग प्राप्त होते हैं, प्राय सभी एकवचन के। वे का प्रयोग परवर्ती ब्रज में बहुवचन में होता था (देखिए ब्रजभाषा § १६८)।

बहुवचन के रूप

(१) तब वै सुन्दरि करहिं कुकर्म (गी० भा० ६१)
(२) दुष्ट कर्म वै करिहैं जबहिं (गी० भा० ६१)

विकारी रूप—उन

बहुवचन में उनका व्यवहार होता है—

(१) अलि ज्यो उन घुटि मूआ (प० वे० ३५)
(२) उन विसवासि बध्यो रण द्रोण (ह० पु० ७)
(३) उनको नाहिन सुरति तुम्हारी (स्व० प०)

निकटवर्ती निश्चय वाचक

§ ३०३ इस वर्ग के अन्तर्गत एहि, इहि आदि निकटता सूचक सर्वनाम आते हैं—
एक वचन, मूल रूप—

(१) इहि मोसो वोल्यो (प्र० च० ४०२)

---

१ ओ० डे० व० लैं० § ५७२।

(२) एह बोल न संभल्यो आन (ह० पु० ६)
(३) इह स्वर्गारोहण की कथा (स्व० रो०)
(४) इह रभा कइ अपछर (छि० वार्ता १२७)

यह के लिए प्राय इहि रूप का प्रयोग हुआ है। इहि, एह, इह, यह आदि रूप अपभ्रंश के एहु (हेम० ४।३६२) से विकसित हुए हैं। एहु का सम्बन्ध डॉ० चाटुर्ज्या एत् से जोडते हैं जिसके तीन रूप एष, एषा और एतद् बनते हैं (वै० लैं० § ५६६) कभी-कभी इह का संकुचित रूप 'इ' भी प्रयोग में आता है, जैसे 'इ बाद तणु रच्यो ऐसो (प० वे० ५७)।' इ या 'इयि' का प्रयोग परवर्ती ब्रज मे भी होता था (देखिए ब्रजभाषा § १७४)

विकारी रूप-या, याहि आदि। या ब्रज का साधित रूप है जिसके कई तरह के रूप परसर्गों के साथ बनते हैं।

(१) अब या कउ देखियउँ पराण (प्र० च० ४०३)
(२) अब या भयौ मरण को ठाँव (प्र० च० ४०६)
(३) सुनउ कथा या परिमल भोग (ल० प० क० ६७)
(४) या तैं समझै सारु असारु (गी० भा० २८)
(५) या ही लगि हो सेवो (गी० भा० ५७)

§ ३०४. सम्बन्ध के यासु, इसो आदि रूप—

(१) गीता ज्ञान हीन नर इसो (गी० भा० २७)

इसो रूप सं० एत-अस्य>प्रा० एअस्स से सम्बन्धित मालूम होता है। डॉ० चाटुर्ज्या इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत एतस्य से मानते हैं देखिए (हि० भा० इतिहास § २९३)।

बहुवचन—ये, इन

(१) ये नैन दुवै वसि राषै (प० वे० ४८)
(२) सब जोधा ए मेरे हेत (गी० भा० ३९)
(३) ए दुर्बुद्ध अन्ध के पूत (गी० भा० ४५)
(४) छीहल्ल अकारण ए सवै (छी० वा० ११)

ये की व्युत्पत्ति डॉ० चाटुर्ज्या के अनुसार प्रा० आ० भाषा के एत्>म० का० एअ> ए से हो सकती है (उक्ति व्यक्ति स्टडी § ६७)।

विकारी रूप—इन—इसके साथ भी सभी परसर्गों का प्रयोग होता है—

(१) येघू इनमें एकै लहै (गी० भा० १७)
(२) इन मारे त्रिभुवन को राज (गी० भा० ५५)
(३) इन मैं को है (रा० वा० २१)

इन सर्वनाम स० एतानाम>एआण>एण्ह अप०>एन्ह>इन्ह>इन।

सम्बन्धवाचक सर्वनाम

§ ३०५ सम्बन्धवाचक सर्वनाम के निम्नलिखित रूप पाये जाते हैं।

एकवचन–जो,

(१) एकादसी सहस्र जो करे (म० क० १९५)
(२) विनसैं रोगी कुपथ जो करई (म० क० ३)

(३) जो कोइ सरन पडे हैं रावरे (स० प०)

'जो' सर्वनाम सस्कृत के य से विकसित हुआ है।

विकारी जा, जिहि, जेहि, जसु, जाहि आदि।

(१) जाहि होइ सारदा सुबुद्धि (गी० भा० ५)

(२) जा सम भयो न दूजो आन (गी० भा० ११)

(३) जाके चरन प्रताप ते (रु० म० २)

(४) जेहि हर विषे वस कियो (पं० वे० २३)

(५) जिहि ठा तुम (गी० भा० ५२)

(६) जसु राखण हारा तू दई (छी० वा० ४)

(७) जिमि मारग सचरयो पयालि (ल० प० क० ६१)

जा<जाहि<याहि। जेइ<येभि । जसु<जस्स<यस्य।

बहुवचन—जिन—जे आदि—

(१) जिन जहर विषै वस क्रीते (प्र० वे० २४)

(२) जे जप तप संमय खोयो (पं० वे० ६४)

(३) जे यहि छन्द सुणजु (ह० पुराण)

इनमें 'जिन' विकारी रूप है जिसके साथ सभी परसर्गों या विभक्तियो का प्रयोग होता है और इस प्रकार जिनहि, जिनको, जिनसो आदि रूप बनते हैं। जिनकी व्युत्पत्ति जाण>जन्ह जिन्ह>जिन हुई। जे<येभि (देखिए उक्ति व्यक्ति § ६७)।

प्रश्नवाचक सर्वनाम

§ ३०६. को और कौन मूल रूप हैं।

(१) को भानेंहि गुन विस्तरै (गी० भा० २१)

(२) देखो इनमें को है (रा० वा० १२)

(३) वहुरि वात बूझई कवण (छी० वा० ७।६)

(४) तो सम मिलै न छत्री कमणू (प्र० च० ४०८)

(५) कवि कौण कहै तसु भूषा (प० वे० ५)

(६) सावतन सो कूंण अवस्था हुइ (रा० वा० ३६)

को और कवन के बहुतेरे रूप प्राप्त होते हैं।

को तो सस्कृत 'क' का ही विकसित रूप है। कवण कौन, कूण आदि की व्युत्पत्ति इस प्रकार है। क पुन >कवुण>कउण>कवण>या कौन।

विकारी रूप—का

(१) का पहँ सीख्यो पौरुष (प्र० च० ४०९)

वहुवचन में 'किन' का प्रयोग होता है। यह बहुवचन का विकारी रूप है।

(१) किण ही अन्त न लिद्धियउ (छी० वा० १)

(२) गति किन हूं नहि पाई (रु० म०)

किन रूप प्राकृत केणा स० कापा (केपा) से विकसित माना जाता है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है कि प्राचीन व्रज में विशेष विकृत रूप किन् का प्राय सर्वथा अभाव है [देखिए

ब्रजभाषा § १८७) किन के रूप आरभिक ब्रज में मिलते हैं जो उपर्युक्त उदाहरणो मे दिखाई पडते हैं। सख्या अवश्य ही अपेक्षाकृत कम है।

§ ३०७. अप्राणि सूचक प्रश्न वाचक सर्वनाम के रूप—कहा, काहि।

(१) कहौ काहि अहु (छि० वार्ता ११३)

(२) कहा बहुत करि कीजै आनु (गी० भा० २६)

§ ३०८ अनिश्चय वाचक सर्वनाम

(१) तिस कउ अन्त कोउ नहिं लहई (प्र० च० २)

(२) तुम विनु और न कोऊ मेरो (रु० म०)

(३) इहि ससार न कोऊ रह्यो (गी० भा० २५)

कोऊ ही ब्रज का मुख्य रूप है। कोई का प्रयोग आरम्भिक ब्रज में नही दिखाई पडता। परवर्ती ब्रज में (मध्यकालीन) भी इसका प्रयोग बहुत प्रचलित नही था (देखिए ब्रजभाषा § १९१)।

विकृत रूपान्तर—काहु, किस

(१) मानत कह्यो न-काहु की (स्व० रोहण ९)

(२) काहू करुना ऊपर चाऊँ (गी० भा० २३)

'किस्यो' रूप भी मिलता है। यह रूप डॉ० वर्मा के अनुसार खडी बोली के किस का राशोधित रूपान्तर है (ब्रजभाषा § १९२) किन्तु इसे अपभ्रश कस्स>किस से सम्बन्धित भी कहा जा सकता है।

(१) किस्यो देख्यो (रा० वा० ४५)

इस रूप का प्रयोग आरम्भिक ब्रज में अत्यल्प दिखाई पडता है।

§ ३०९ अचेतन अनिश्चय वाचक सर्वनाम के रूप

(१) कछू सो भोग जानिबे (रा० वा० २)

(२) कछू न सूझे हिये मझार (गी० भा० ५८)

§ ३१० निजवाचक तथा आदरार्थक सर्वनाम

आपणे, आपनो, अपनो आदि रूप

(१) तेउ राषि सके न आपणे (प्र० च० ४०९)

(२) परजा सुखी कीजै आपणी (ह० पुराण).

(३) करइ आलोच मरम आपणा (ल० प० क० १३)

(४) हौं न विजे चाहौं आपौं (गी० भा० ५२)

(५) इन्द्री राखहु सवइ अप्प वसि (छी० वा० २)

(६) भीड सहइ तन आप (छी० वा० ५)

ये सभी रूप सस्कृत आत्मन्>अप्पण>अप्प से निर्मित हुए हैं। अपभ्रश मे इसी का अप्पण (हेम० ४।४२२) रूप मिलता है जो ब्रज में आपन, अपनो आदि रूपो में विकसित हुआ।

करिहउँ निज सुकृत (छी० वा० १०)

आदरार्थक का 'रावरे' रूप केवल एक स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। रुक्मिणी मगल में इस शब्द का प्रयोग मिलता है। विष्णुदास की रचना होने से इसका समय १४९२ सवत् माना गया है, किन्तु इस प्रयोग की प्राचीनता पर मुझे सन्देह है। कई कारणो से रुक्मिणी मगल की भाषा उतनी पुरानी नही मालूम होती। उदाहरण इस प्रकार है।

(१) जो कोई सरन पडे हैं रावरे

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार तुलसीदास आदि अवधी कवियो के प्रभाव के कारण इस शब्द का प्रयोग ब्रजभाषा में होने लगा। (ब्रजभाषा § १९६)

सर्वनामिक-विशेषण

§ ३११ आरम्भिक ब्रजभाषा मे सर्वनामो से बने विशेषण के निम्नलिखित रूप पाये जाते हैं।

परिमाणवाचक

(१) कल्प वृक्ष की साखा जितो (गी० भा० १९)

(२) तीन भुवन में जोधा जिते (गी० भा० ४०)

जित, जिते रूप अपभ्रश के जेत्तुलो (हेम० ४।४३५) से विकसित हुआ है।

सभावित व्युत्पत्ति इस प्रकार होगी—

जेत्तिय>जेती>जिती

(१) गढि कर लेखनि कीजै तिती (गी० भा० १९)

(२) भीषम के नहिं सरवर तिते (गी० भा० ४०)

अप० तेत्तिउ (हेम० ४।३९५)>तितो>तिती आदि।

(३) एते दीसे सुदृढ बहूत (गी० भा० २९)

(४) इतौ कपट काहे को कीजै (प० क० ११)

(५) इतने वचन सुने नर नाथा (स्व० रो० ९)

(६) इतनी सुनि कौतां लरखरिया (स्व० पर्व)

(७) एतउ कहि पद्मावती नाइ (ल० प० क० १३)

इतना, एती, एते आदि की व्युत्पत्ति इस प्रकार मानी जाती है।

इयत्तक>प्रा०>एत्तिय>अप० एत्तअ>एता, एते आदि।

(१) गै गत दिन निरषै वारि (छि० वार्ता० १२९)

स०' कयत्तक>प्रा० केत्तिय>अप० केत्तअ>कत, केते आदि।

हेमचन्द्र के बताये हुए एत्तिउ, जेत्तिउ, केत्तिउ (४।३८३) आदि रूपो से ये शब्द विकसित हुए हैं। पिशेल इन्हें सभावित सस्कृत रूप अयत्य , ययत्य , कयत्य , (ग्रेमेटिक § १५३) से विकसित मानते हैं। एक स्थान पर एतले (छी० वा० ४७) रूप भी मिलता है। एतले ठांइ। एतले अपभ्रश एत्तुलउ (हेम० ४।४३५) से विकसित रूप है। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में इसका प्रयोग हुआ है, व्रज मे यह नही पाया जाता (देखिए पुरानी राजस्थानी § ९३)।

§ ३१२ गुणवाचक सर्वनामिक विशेषण

(१) ऐसे जाय तुम्हारो राजू (म० क० १२)

(२) गीता ज्ञान होन नरु इसौ (गी० भा० २७)

स० एतादृश>प्रा० एदिस>एइस>अइस>ऐसा, ऐसे आदि।

(१) कइसइ मान भग या होइ (प्र० च० ३४)

(२) देखा सगुन कैसे वरवीर (गी० भा० ५१)

(३) तिन्ह कौ कैसे सुनू पुराण (ह० पु० ७)

कीदृश>कईस>कइस>कैसा

(१) तैसे सन्त लेहु तुम जानि (गी० भा० ३)

(२) तो यह मोपै ह्वैहै तैसें (गी० भा० ३०)

स० तादृश>प्रा० तादिस>तइस>तैसा–

(१) कह्यो प्रश्न अर्जुन को जैसे (गी० भा० ३०)

(२) सार माहि बसु बाच्यौ जिसो (गी० भा०)

यादृश>याईस>जइस>जैसा।

परसर्ग

§ ३१३. परसर्गों के विषय में डॉ० तेसीतोरी का यह निष्कर्ष अत्यन्त उचित प्रतीत होता है कि परसर्ग अधिकरण, करण, या अपादान कारक की संज्ञाएँ हैं अथवा विशेषण और कृदन्त। जिस सज्ञा के साथ इनका प्रयोग होता है ये उसके बाद आते हैं और उनके लिए उस सज्ञा को सम्बन्ध कारक का रूप धारण करना होता है। अथवा कभी-कभी अधिकरण और करण कारक का भी। इनमें से सिउं या सौं तथा प्रति अव्यय हैं (पुरानी राजस्थानी § ६८) आरभिक व्रजभाषा में अनेक प्रकार के परसर्गों का प्रयोग हुआ है। अपभ्रश की तरह केवल द्योतक शब्दो का ही नही, बल्कि अन्य पूर्ण तत्सम या तद्भव पूर्ण शब्दो का भी प्रयोग हुआ है।

कर्तृ परसर्ग—नै

§ ३१४ कर्ता कारक में नै का प्रयोग कुछ स्थानो पर हुआ है। यद्यपि यह सख्या अत्यल्प है।

(१) राजा नै आइस दीन्हो (रा० ल० वार्ता० १४)

(२) सावत ने स्नान कीयो (रा० ल० वार्ता० १६)

ने परसर्ग का प्रयोग १६वी शती तक की भाषा में कही नही दिखाई पडता। ऊपर के उदाहरण रासो लघुतम वार्ता की वचनिका ो से लिये गये हैं। इन्हें चाहें तो परवर्ती भी कह सकते हैं। फिर भी ने का प्रयोग सलक्ष्य है। कीर्तिलता की भाषा को छोड्कर १५वीं शती के पहले की शायद ही किसी रचना में 'ने' का प्रयोग मिले। कीर्तिलता में भी ये प्रयोग केवल सर्वनाम के जेन्ने रूप में आते हैं। इस प्रकार सज्ञा के साथ प्रयुक्त 'ने' के ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उदाहरण कहे जा सकते हैं। नरहरि भट्ट की भाषा में एक स्थान पर 'न्हे' आया है (देखिए § २३१)

§ ३१५ कर्म-परसर्ग—कहुँ, कौ, को, को, कू, कँउ

तिन्हि वहुँ वुद्धि (प्र० च० १) गुणियन कौ है (गी० भा० २)

राखन को अवतरो (गी० भा० ५)

ताही को भावै वैराग (गी० भा०) सायर को तरै (गी० भा० २९)

अर्जुन को जैसे (गी० भा० ३०) अवरन कूँ छाया (छी० वा० १७)
सखि कउ दीयो (छी० वा० ४७)

कर्म के सभी परसर्ग परवर्ती ब्रजभाषा में भी प्रचलित हैं। (देखिए ब्रजभाषा § ९९) कहुँ और कउ नि सन्देह पुराने रूप हैं। इस परसर्ग की व्युत्पत्ति संस्कृत कक्ष>कक्ख>काख >काह>कहु>कउ>कौ आदि।

§ ३१६ करण परसर्ग—सौं, सम, सो, सम, तइ, तैं, ते।

इस सो (प्र० च० १७) रमणि सन कहियउ (प्र० च० ३२) इहि मो सो (प्र० च० ४०२) तो सम (प्र० च० ४०८) इहि पराण तइ (प्र० च० ४१०) अहकार तैं (म० क० १२) ताते अति सुख (रु० म०) वरज्यो तैं (प० वे० ४५) 'स' वाले रूप संस्कृत समम् से विकसित हुए हैं। समम् सउँ सो। केलाग के मत से तै या तें परसर्ग संस्कृत के त (काशीत) से सम्बन्धित है। (देखिए के० हि० ग्रा० § १९७) केलाग ने अपनी व्युत्पत्ति पर सन्देह भी व्यक्त किया है। क्योंकि सभी परसर्ग किसी न किसी पूर्ण शब्द से विकसित होकर द्योतक रूप में आये हैं। इसीलिए केलाग हार्नले का अनुमान ठीक मानते हैं कि इस तैं या ते को व्युत्पत्ति संस्कृत तरिते,√तृ से की जा सकती है। तरिते यानी तीर्ण (To pass over) इस तरह तरिते>तरिये >तइ>तैं।

§ ३१७ सम्प्रदान–कहु, कौं, लीयो, ताईं, हेत, लगि, काज, कारन, निमित्त।

विप्रन कहु दान (म० क० २९६) के अर्जुन कहु देऊ (स्व० रो० ५) विप्रन कौं (स्व० रो०) रसना रस कै लीयौ (प० वे० १८) रम के ताईं (प० वे० १९) येन्नू कहु दियो (गो० भा० २१) मेरे हेत (गी० भा० ३९) जा लगि (छी० वा० ६) सुजस लगि (छी० वा० ७) कुजरि को काजै (प० वे० ४) दासी कै निमित्त (रा० वा० ५) कहु कौ की व्युत्पत्ति कर्म परसर्गों को तरह ही कक्ष से हुई है। लीयो, लौं, लू, लगि आदि रूप लग्ने से बने हैं। लग्ने>लग्ने>लगि> लग>लउ>लौ आदि। ताईं की व्युत्पत्ति हानले करणवाले तैं परसर्ग की तरह को संस्कृत तरिते>तइए>ताइ करते हैं। (ई० हि० ग्रे० § ७५) हेत संस्कृत हेतु का तद्भव रूपान्तर हैं।

§ ३१८ अपादान–हुती, तैं, सौं—

कासमीर हुंती नीसरइ (ल० प० क० २) हुंती और हुत्तउ अपादान के प्राचीन परसर्ग हैं इनका प्रयोग अपभ्रंश मे हुआ है। डॉ० तेसीतोरी इसको अस् या अस्ति वाचक क्रिया का वर्तमान कृदन्त रूप मानते हैं (पु० राजस्थानी § ७२) हेम व्याकरण में अपभ्रंश दोहों में इसका प्रयोग हुआ है। होन्तओ (४।३५५) होन्तउ (४।३७३) इसी से 'तो' आदि रूप बनते हैं। अपादान में तैं और सो रूपो का भी प्रयोग होता है 'सो' और 'तैं' की व्युत्पत्ति करण के परसर्ग के सिलसिले में बताई गई है।

§ ३१९ अधिकरण माहि, माझि, मा, में, मझारि, महि, मैं, मज्झि, अन्तर, मइ, पै।

पुर माहि निवास (प्र० च० २) दरपण माझि (प्र० च० २०) मन मा वइठ्यो चिन्तइ (प्र० च० ३४), जदुकुल में भये (स्व० रो० ४) सोलोत्तरा मझारि (ल० प० क० ४) कागद महि (छि० वार्ता १३५) इहि कलजुग में (गी० भा० १३) भुवन मज्झि (छी० वा० ६) उपजी चित अंतर (छी० वा० १६) पच्छिन मइ परसिद्ध (छी० वा० १६) राजा पै वस (रा० वा० ८)

अधिकरण मे मुख्य रूप से मध्य से विकसित मज्झि, महि, मह, मैं वाले रूप मिलते है। उपरि के पर और पै का भी बहुत प्रयोग होता है। अन्त, अन्तर जैसे कुछेक पूर्ण शब्द भी परसर्ग की तरह प्रयुक्त हुए है।

§ ३२० सम्बन्ध तणउ, कउ, कौ, को, के, की (स्त्रीलिंग) तणी, तगउ

पद्मह तणउ (प्र० च० १०)

तिस कउ अन्त (प्र० च० २) जोजण कौ विस्तारा (प्र० च० १५)

मीचु को ठाइ (प्र० च० ४०६) जनमेजय के रावलि (ह० पु० ५)

जाके चरन (रु० म० २) भोपम नृप की लाडली (रु० म०)

चितइ चित्र तन (छि० वार्ता १२८) करम तणी (छी० वा० १८)

कउ, कौ, को, के, की आदि परसर्ग स० कृत.>प्रा० केरो>या केरक>अप० केरउ से विकसित हुए हैं।

तन, तणउ, तनी आदि रूपो को व्युत्पत्ति के विषय में काफी विवाद है। बीम्स इनकी उत्पत्ति तन>तण (प्रत्यय सनातन, पुरातन) से मानते हैं। केलाग ने इसका विरोध किया। सज्ञा या विशेषण से बननेवाले परसर्गों को देखते हुए किसी प्रत्यय से परसर्ग का विकसित होना नियम विरोध जैसा मालूम होता है।[1] इसीलिए डॉ० तेसीतोरी ने इसकी व्युत्पत्ति सस्कृत के अनुमानित रूप आत्मनक से की।* आत्मनक >अप्पणउ>तणउ (दे० पुरानी राजस्थानी § ७३)।

§ ३२१. परसर्गों के प्रयोग में कही-कही व्यत्यय भी दिखाई पडता है। अधिकरण का परसर्ग करण में

का पह सीख्यो (प्र० च० ४०३)

मो पैं हाइहै तैसे (गी० भा० ३)

वेद व्यास पहि सुन्यो (गी० भा० ६३)

सयुक्त—कभी-कभी दो कारको के परसर्ग एक साथ प्रयुक्त हुए हैं।

जैसे—तिन को तैं अति सुख पाइये (रु० मगल)

विशेषण

§ ३२२ विशेषणो की रचना में प्राचीन ब्रजभाषा मध्यकालीन या नवीन ब्रजभाषा से बहुत भिन्न नही है। विशेषणो का निर्माण सस्कृत या अपभ्रंश-पद्धति से थोडा भिन्न अवश्य है क्योंकि रूप-निर्माण की दृष्टि से प्राचीन आर्यभाषा के विशेषणो की तरह, विशेष्य के लिंग, वचन आदि का अनुसरण करते हुए भी इनके स्वरूप में सर्वत्र कोई निश्चित परिवर्तन नहीं होता। कई स्थलो पर तो ये लिंग वचन के अनुसार परिवर्तित हो जाते हैं। कही नही भी होते जैसे सुन्दर लडका, सुन्दर लडकी आदि। नीचे कुछ थोडे से महत्वपूर्ण विशेषण-रूप उपस्थित किये जाते हैं। इनमें पहला पद विशेषण है दूसरा विशेष्य।

बडी वार (प्र० च० ३२) उत्तम ठाऊँ (म० क०)। विकट दन्त (वैं० प० १) अनूप कथा (वैं० प०) चकित चित्त (छि० वार्ता १२८) सुघर जोवन (छि० वार्ता० १३६) कुसुवी

---

१ ए ग्रामर आव द हिन्दी लैग्वेज § १९४।

चीर (छि० वार्ता १४०) गोर वर्न (छि० वार्ता १४०) गहीर नीर (पं० वे० १६) लम्पट लोइन (प० वे० ७५) झूठा (प० वे० ४८) महान कँवास (रा० वार्ता० २) सेतु तुरी (गो० भा० ४२ श्वेत तुरग) दाहिनी दिसि (छी० वा० ३) रीति (छी० वा० १३) भरी (छी० वा० १३) खार जल (छी० वा० ४७) धनवत (छी० वा० ४७) आलसी (छी० वा० ५२) उद्दमी (छी० वा० ५२) ।

संख्यावाचक विशेषण

§ ३२३ विकारी और अविकारी दोनो ही रूपो के जो भी संख्यावाचक विशेषण प्राप्त हैं उनको देखने से लगता है कि विकारी रूप केवल अधिकरण या करण कारक में ही होते हैं। अर्थात् सख्याएँ या तो 'इ' कारान्त हैं या 'ए'-ऐ-कारान्त । कुछ विकारी रूपो में हूँ, ऊ जैसे पद भी जुडते हैं ।

पूर्ण सख्यावाचक—

१—इक्कु (प्र० च० ३३) एकहि (गो० भा० ९) एक (छी० वा० ६)<अप० एक्क<स० एक ।

२—दऊ पयारे (प्र० च० ४०६) द्वै (स्व० रो० ८) दोइ (ल० प० ५७) <अप० दो<स० द्वौ ।

३—तीनि (प्र० च० ४०८)<अप० त्रिण्णि<स० त्रीणि ।

४—चउवारे (प्र० च० १६) चारि (छि० वार्ता० १२३) चहु (गो० भा० १७) च्यारउ (छी० वा० ४)<अप० चारि<चत्वारि ।

५—पाँचौ (स्व० रो० ९) पाँचइ (वै० प०) पांचहु (रा० वार्ता० ६) पचयरे (छी० वा० ८)<अप० पच<स० पच ।

६—षट (म० क० १०) छहूँ (रा० वार्ता २२) अप० छ स० षष् ।

७—सत्त (ल० प० क० ४)<अप० सत्त<स० सप्त ।

८—अठ दल कमल (प्र० च० २) अप०<अट्ठ<स० अष्ट ।

१०—दस (छी० वा० १०) अप०<दस<स० दश ।

११—एगाहरह (प्र० च० ११)<अप० एग्गारह<स० एकादश ।

१२—वारह जोजन कौ (प्र० च० १५)<अप० वारह<स० द्वादश ।

१४—चउदह (प्र० च० ११)<अप० चउदह<स० चतुर्दश।

१५—पनरह (ल० प० ४)<अप० पण्णरह<स० पचदश ।

१८—अष्टादस (छी० वा० ६) अठारह (छी० वा० १९) <अप० अट्ठारह< स० अष्टादश ।

२५—पचीस (वै० पचीसी)<पणुवीस<पचविंशति ।

३३—त्रेतीसउ (ल० प० ५६) तेंतीस (वै० प० २)

४६—छियाल (वै० पचीसी)

५३—तिरपनै (ह० पुराण ४)

५७—सत्तावनि (गो० भा० ४)

८४—चौरासी (प्र० च० १७)

१००—सौ (प्र० च० ११) सै (ह० पुराण)

१०१—एकोत्तर सइ (ल० प० क० ११)

कोटि (म० क० २९६) करोर (गी० भा० १)

§ ३२४ क्रम वाचक

१—प्रथम (छी० वा० १५)

२—दूजो (गी० भा० ११)

५—पचमी (प्र० च० ११) स्त्रीलिंग

८—अष्टमी (छी० वा० ५३)

९—नवमी (ल० प० क० ४) स्त्रीलिंग

अपूर्ण सख्यावाचक

½ अर्ध (प्र० च० ४०३)

§ ३२५ आवृत्ति सख्यावाचक—

चौगुनो (गी० भा० १३)

क्रियापद

सहायक क्रिया

§ ३२६ व्रजभापा मे सयुक्त क्रिया का बहुल प्रयोग होता है। सयुक्त क्रिया मे सहायक क्रिया का अपना अलग महत्व है। सहायक क्रिया अस्तिवाचक क्रिया के रूपो से निर्मित होती है। व्रजभापा में √भू और √*ऋच्छ (अछई ल० प० क० ९ अहै आदि रूप) धातु से बनी सहायक क्रियाएँ होती है। नीचे भू धातु से बनी सहायक क्रिया के विविध काल के रूप दिये जाते हैं।

सामान्यवर्तमान

होइ, हुइ, हौं, होय, होहि (बहु)

कवित न होइ (प्र० च० १) सो होइ (प्र० च० ५)

होय थान (म० क० २९९) सबन्धी हैं (गी० भा० ५५)

होहिं, बहुवचन (वै० प०) देत हइ (रा० वा० ४८)

होइ, हुई, होय<अप० होइ<स० भवति से बने हैं। होहिं बहुवचन का रूप है। है रूप<अहइ<अछइ<*अक्षति से विकसित माना जाता है।

विधि आज्ञार्यक रूप का कोई उदाहरण इन रचनाओ मे नही मिला। सभवत यह रूप होइजे, हूजै, हूजो, रहा होगा, ऐसे ही रूप अन्य क्रियाओ के आज्ञार्यक मे होते हैं। इसी से मिलते-जुलते रूप पुरानी राजस्थानी में उपलब्ध होते हैं (देखिये तेसीतोरी पु० राज० § ११४)

भूत कृदन्त

§ ३२७ हुअउ, भयउ, भई (स्त्रीलिंग) भौ, भये, भयौ, हुउ

सो ठाटे भयउ (प्र० च० २८) भई चितकाणि (प्र० च० ४०२) भौ ताम (प्र०च० ४०३) भयो मीचु को (प्र० च० ४०६) खड द्वै भयऊ (स्व० रो० ८) हजूर हुउ (रा० वा० ४८) हुअ उछाह (ल० प० क० ५११) भई (छि० वार्ता १२७) भो जिमि खीर (छि० वार्ता

१३७) हुआ (प० वे० ३५) भये (रा० वा० १७)। ये सभी रूप भू के बने कृदन्त से ही विकसित हुए हैं। हुअउ<अप० हुअउ<स० भूतक । स्त्रीलिंग में हुई और बहुवचन में भई रूप महत्वपूर्ण हैं।

§ ३२८ पूर्वकालिक कृदन्त—भइ, हुइ, हो, होय, ह्वै, होइ—

हो आगे सरइ (ह० पु०) ह्वै दोजै दान (ह० पु०) हुइ (रा० ल० वा० १४) उर्द्ध होई दुइचरण (छी० वा० १०)।

अपभ्रंश मे इ प्रत्यय से पूर्वकालिक कृदन्त का निर्माण होता था। भइ, हुइ, होइ, में (भू<हु में) इसी प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। ह्वै<हुइ का ही विकास है।

§ ३२९ भविष्यत् काल—ह्वै हैं—

ह्वै हैं कैसे (गी० भा० ३०)

भविष्य में 'स' और 'ह' दोनो प्रकार के रूप अपभ्रंश में चलते थे। ब्रज में केवल 'ह' वाले रूप ही मिलते हैं। 'गा' वाले रूपो का अभाव है।

मूल क्रिया-पद

§ ३३०. सामान्य वर्तमान—आरम्भिक ब्रजभाषा मे सामान्य वर्तमान की क्रियाएँ प्राचीन तिङन्त (प्राय शौरसेनी अपभ्रंश की ही तरह) होती हैं किंचित् ध्वन्यात्मक परिवर्तनो के साथ। प्रद्युम्न चरित और हरिश्चन्द्र पुराण की भाषा मे ऐसे तिङन्त रूपो में उद्वृत्त स्वर सुरक्षित दिखाई पडता है, किन्तु बाद की रचनाओ में अपभ्रंश से काफी भिन्नता (ध्वनि सबन्धी) दिखाई पडती है।

उत्तम पुरुष—मारउ (प्र० च० ४०२) हरउ (प्र० च० १३८) परउँ (प्र० च० १३८) देपिअउ (प्र० च० ४०३) विनवउं (प्र० च० ७०२) समरू (ह० पु० १) पयडो (ह० पु०) करू (ह०पु० ३) लावो (ह०पु० ३) सुणु (ह०पु० ७) लागौं (स्व०रो० १) कहहूँ (स्व०रो० २)।

इस प्रकार उत्तम पुरुष एकवचन में—उ, ऊ, ओ, औ तथा हूँ विभक्तियाँ लगती हैं। अपभ्रंश में केवल उँ-जैसे करउँ रूप मिलता है बाकी रूप प्राचीन ब्रज में विकसित हुए।

बहुवचन के उदाहरण नही मिले हैं किन्तु परवर्ती ब्रज और अपभ्रंश को देखते हुए इस वर्ग के रूपो का निर्धारण आसान बात है। बहुवचन में ऐं-कारान्त रूप चलें, करैं आदि होते हैं। अपभ्रंश में करइँ, चलइँ आदि।

§ ३३१ मध्यम पुरुष—

एकवचन—करइ (छी० वा० १७) सहइ (छी० वा० १७) एकवचन का अइ सध्यक्षर ऐ मे बदल जाता है और इस प्रकार सहै, करै आदि रूप भी मिलते हैं। बहुवचन में ओ, औ, हु विभक्तियाँ लगती हैं।

देहु (स्व० पर्व०) लेहु (स्व० प०) प्रतिपाली (स्व० प०) यही प्रवृत्ति परवर्ती ब्रज में भी है (देखिए ब्रजभाषा § २११)।

§ ३३२ अन्य पुरुष—

एकवचन की क्रिया मे अपभ्रंश का पदान्त अइ कही सुरक्षित है, कही ए हो गया है और कही ऐ।

एकवचन—सोहइ (प्र० च० १६) चलइ (प्र० च० ३३) भीजइ (प्र० च० १३६) रोवइ (प्र० च० १३६) फाडै (ह० पु०) झुरै (ह० पु०) मेल्है (ह० पु०) विनसै (म० क० १) करै (म० क० २९५) हीडइ (ल० प० क० ७) देषै (छि० वार्ता १२९) बजावइ (छि० वा० १३६)।

बहुवचन की क्रिया मे हिं विभक्ति अपभ्रंश में चलती थी, कुछ स्थानो पर हिं विभक्ति सुरक्षित है। अहिं>अइ>ऐ के रूप मे परिवर्तन भी हुआ है।

हिं—कराहिं (प्र० च० ७०६) जाहिं (गी० भा० ३८) गुर्जहिं (छी० वा० १७)
इ—लागइ (ह० पुराण २) जाइ (छि० वा० १२४) देषइ (छि० वा० १२४)
पीवइ (छी० वा० १७)।
ऍं—मनावॆं (वै० प० २)
ऐं—राखै (स्व० रो० ६) आवै (छि० वार्ता १२४)

वर्तमान कृदन्त से बना सामान्य वर्तमान काल

§ ३३३ वर्तमान कृदन्त के अतवाले रूप किंचित् परिवर्तन के साथ सामान्य वर्तमान में प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार के प्रयोगो का प्रचलन मध्यकाल में ही आरम्भ हो गया था। सस्कृत अतक >अप० अन्तउ>अत, अती के रूप मे इनका विकास हुआ। पठन्त>पठन्तउ> पठत पढती, या पढति। डॉ० तेसीतोरी का विचार है कि सभवत अपभ्रंश में ही दन्त्य अनुनासिक व्यजन दुर्बल हो कर अनुनासिक मात्र रह गया था जैसा कि सिद्ध हेम ४।३८८ में उद्धृत करतु और प्राकृतपैंगलम् १।१३२ में उद्धृत जात से अनुमान किया जा सकता है। (पुरानी राजस्थानी § १२२) अन्तवाले रूप भी अवहट्ठ मे सुरक्षित हैं। किन्तु अन्त>अत की प्रवृत्ति ज्यादा प्रबल दिखाई पडती है। बाद में ब्रजभाषा मे अन्तवाले रूप प्राय अत-अती वाले रूपो में बदल गये। कही-कही अन्तवाले रूप मिलते हैं उन्हे अपभ्रंश का प्रभाव ही कहना चाहिए जैसे—

(१) जे यहि छन्द सुणन्तु (ह० पु० ३०)
(२) घोर पाप फीटन्तु (ह० पु० ३०)

१४११ वि० के प्रद्युम्न चरित और हरिश्चन्द्र पुराण मे अवहट्ठ की तरह अन्तवाले रूप ही मिलते हैं। बाद मे १५वीं शती के उत्तरार्ध से अत वाले रूप मिलने लगे। उदाहरण—

(१) दुष सुख परत न दीठि (रु० म० १)
(२) देवी पूजन कर बर माँगत (रु० म०)
(३) मोहन महलन करत विलास (विष्णुपद)
(४) देखति फिरति चित्र चहुँपासि (छि० वार्ता १३२)
(५) तिन्हहिं चरावति बाह उचाइ (छि० वार्ता १८२)
(६) आवति सपइ बार बार (छी० वा० ७)

इन रूपो में इ कारान्त अर्थात् ति वाले रूप स्त्रीलिंग में है। छीहल बावनी मे अपभ्रंश के प्रभाव के कारण कुछ अतउ वाले रूप भी मिलते हैं।

चित चिन्ता चिन्तउ हरिण (३)

§ ३३४ वर्तमान कृदन्त का प्रयोग प्राय विशेषण की तरह भी होता है। वर्तमान कृदन्त असमापिका क्रिया की तरह भी प्रयुक्त होता है। सप्तमी के प्रयोग भी काफी महत्त्वपूर्ण है। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। ये रूप अन्त और अत दोनो ही प्रकार के हैं।

(१) काल रूप अति देखत फिरई (प्र० च० ३०)
(२) पढ़त सुनत फल पावे जथा (स्व० रो०)
(३) तो सुमिरन्त कवित हुलसै (वै० प० २)
(४) यो नाद सुणन्तो सांपो (प० वे० ५२)
(५) लिखत ताहि भानु गुन (गी० भा० २०)
(६) ततषिण घन वरसत (छी० वा० ५)

आज्ञार्थ

§ ३३५ वर्तमान आज्ञार्थ के रूप कभी भी शुद्ध रूप मे प्राप्त नही होते। इसकी रचना अशत प्राचीन विधि (Potential) अशत प्राचीन आज्ञार्थ और अन्तत प्राचीन निश्चयार्थ से होती है (पुरानी राजस्थानी § ११९)। उत्तमपुरुष के रूपो मे यह कथन और भी लागू होता है क्योकि शुद्ध उत्तम पुरुष के आज्ञार्थक रूप एकदम नही मिलते। मध्यम पुरुष में प्राचीन ब्रजभाषा मे एकवचन में उ, ओ, व तथा कभी-कभी 'इ' विभक्तियो के रूप मिलते हैं बहुवचन में प्राय ह या उ विभक्ति लगती है। व्युत्पत्ति के लिए (देखिए उक्तिव्यक्ति § १०४)।

मध्यम पुरुष

एकवचन—लावउ खोरि (प्र० च० ७०२) सँभाल्यो (ह० पु० ६) करउ पसाह (ह० पु० १) सुणो (ह० पु० ८) सुन्नाव (ह० पु० २६) करो (रु० म०) लेहु, देउ (स्व० रो० ५) सुनावो (गो० भा० ३२) सुनो (गी० ३६) थापो (गी० भा० ४४) सुनि (गी० भा० ५८)।

बहुवचन—निसुणहु चरित (प्र० च० १०) दुरावो (रा० वार्ता १५) आवउ (रा० वा० १४) देहु (छी० वा० ७)

अन्यपुरुष

एकवचन—जयो (ह० पुराण)

विध्यर्थ

इसके रूप प्राचीन व्रज में मिलते है। ये रूप प्राय अन्यपुरुष में मिलते हैं। आदरार्थक। ये दो प्रकार के हैं।

इज्जइ >ईजे—(१) गुरु वचन कीजो परमाण (ह० पु०)
(२) परजा सुखो कीजै आपणी (ह० पु०)
(३) इतनो कपट काहे को कीजै (म० क० ११)
(४) विनय कीजइ (छी० वा० ७)

इज्जइ >ईये—(१) गौरी पुत्र मनाइये (रु० म०)
(२) ध्यान लगाइये (रु० म०)
(३) लै रथ थापियै तहा (गो० भा० ४६)
(४) वुल्लियइ (छी० वा० ७) विलसिये (छी० वा० ७)

क्रियार्थक-संज्ञा

§ ३३६. परवर्ती व्रज की ही तरह आरम्भिक व्रज में भी क्रियार्थक संज्ञा के दो रूप प्राप्त होते हैं। एक 'व' वाला रूप और दूसरा 'न' वाला। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का मत है कि साधारणतया पूर्व में धातुओं में 'नो' लगाकर भी इस तरह के रूप बनते हैं (देखिये व्रजभाषा § २२०) नीचे प्राचीन व्रजभाषा की रचनाओं से इस तरह के रूप उद्धृत किये जाते हैं।

'न'—करन (प्र० च० ३१) पोषन (म० क० २६४) रचन (छि० वा० १२०)
देखन (छि० वा० १२४) राखन (गी० भा० ५) भाजन (छी० वा० १३)
घडन (छी० वा० १३) करण (छी० वा० १३)।

'नि'—स्त्रीलिंग रूपों में 'नि' लगता है।
चितवनि, चलनि, मुरनि, मुसकयानि (छि० वा० १३५)

'व'—चलिवे को (रा० वार्ता ८) होइब (गी० भा० १६)
कहिवे (गी० भा० २७)।

§ ३३७ भूत कृदन्त—भूतकाल में भूत कृदन्त के बने रूपों का निश्चयार्थ में प्रयोग होता है। ये रूप कर्ता के अनुसार लिंग-वचन के अनुसार परिवर्तित भी होते हैं। भूतकाल के उत्तमपुरुष के रूप—

(१) रचिउ पुराण (प्र० च० ७०५)
(२) अवतरिउँ (प्र० च० ७०५)
(३) सुमिरयो आदीत (ह० पु० ४)
(४) कियौ कवीत (ह० पुराण ४)
(५) हउ सहिउँ सव (छी० वा० १५)
(६) पावी मति (स्त्रीलिंग हरि० पु० ३)

भूतकाल में उत्तमपुरुष, मध्यमपुरुष और अन्यपुरुष के रूपों में कोई अन्तर नहीं होता। प्राय ये रूप एकवचन में ऊ, ओ, औ, ओ-कारान्त, बहुवचन में ए-अथवा ऐ-कारान्त तथा सभी पुरुषों में स्त्रीलिंग रूपों में एकवचन में ईकारान्त तथा बहुवचन में ई-कारान्त होते हैं। उत्तमपुरुष का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। बाकी के उदाहरण नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं।

मध्यम पुरुष के रूप

मीरुयो पोरिस (प्र० च० ४०६) मारिउ कास (प्र० च० ४१०)
भुजिउ राज (प्र० च० ४१०)
फूलियौ मूड अव पत्त तजि (छी० वा० १२)
ये अजुत्त कीयउ घणो (छी० वा० १२)
एक बोल म सम्हल्यो आन (ह० पुराण ६)

अन्य पुरुष के रूप

ऊकारान्त ओकारान्त तथा औकारान्त होते हैं।

(३) साथ तुम्हारे चलिहौ राई (स्व० रो० पर्व)

(४) बहुरि करिहौं निज कुकृत (छी० वा० १०)

उत्तमपुरुष का निम्नलिखित उदाहरण महत्त्वपूर्ण है।

अब या कउ देखिअउँ पराण (प्र० च० ५०३)=अब इसकी शक्ति देखूँगा।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने इस प्रकार के मध्यग ह लोपवाले रूपो पर विचार किया है। उनके निरीक्षण के अनुसार इटावा, शाहजहाँपुर आदि को बोली में इसी प्रकार के रूप पाये जाते हैं (देखिए ब्रजभाषा § ३२६)

ग—वाले रूप—साध लोग छोडेगे जासी (स्व० प०)

फुरमान मई दिउँगा (रा० वार्ता ४८)

इन दो प्रयोगो में एक तो विष्णुदास के स्वर्गारोहण पर्व से है दूसरा रासो वार्ता से। स्वर्गारोहण पर्व का रचनाकाल १४९२ विक्रमी माना गया है। ऐसी स्थिति में ग-का प्रयोग प्राचीन कहा जायेगा। किन्तु केवल दो प्रयोगो को देखते हुए कोई निश्चित निर्णय देना कठिन है।

एक–स–प्रकार के रूप का भी उदाहरण मिला है जिसे राजस्थानी प्रभाव कह सकते हैं।

रस लेस्यो आइ वहोडि (प० बे० ३०)

§ ३४० संयुक्त काल

वर्तमान—साधारणतया वर्तमान में प्राचीन तिङन्तो से विकसित क्रिया पद ही व्यवहृत होते हैं किन्तु वर्तमान में अपूर्ण निश्चयार्थ व्यक्त करने के लिए वर्तमान कृदन्त और सहायक क्रिया के वर्तमान कालिक तिङन्त रूपो के योग से सयुक्तकाल का निर्माण होता है। हौं चलत हौ, तू करत है आदि। इस तरह के रूप प्रद्युम्न चरित और हरिश्चन्द्र पुराण जैसो १५वी शतो के पूर्वार्घ को रचनाओ में नही मिलते।

१—अस्तुति कहत हौं (छ० मगल)

२—चद सू कहतु है (रा० वार्ता ११)

३—या जानियतु है (रा० वा० १७)

४—तारतु है (रा० वा० ३५)

इस प्रकार के प्रयोग आरभिक ब्रजभाषा में बहुत ही कम दिखाई पडते हैं।

१—सुरनर मुनि जस ध्यान धरत रहै गति किनहू नही पाई (छ० म०)

२—सदा रहै भय भीति (भीत रहता है [पं० बे० ४९)

इस प्रकार नैरन्तर्य सूचित करनेवाले पदो में प्राय रह् धातु सहायक क्रिया की तरह प्रयुक्त होती है। इस तरह के कुछ उदाहरण पुरानी राजस्थानी में भी प्राप्त होते हैं (पुरानी राजस्थानी § १२५)।

निरन्तर रुदन करतो रहइ।

केलाग ने इस प्रकार प्रयोगो पर विचार करते हुए बताया है कि नैरन्तर्य सूचक नय हो गया है। ntinuative compound verb) में अपूर्ण कृदन्त और रह् सहायक क्रिया इ>ए भी होता है। , हिंदी ग्रेमर § ४४२ और § ७५४ डो)

§ ३४१ भूत कृदन्त निर्मित संयुक्त काल

पूर्ण भूत—भूत कृदन्त+वर्तमान सहायक क्रिया ।

(१) खड्यो रहै हैरानि (प० वे० ५१)—खडा रहे

(२) सो रहै नही समझायौ (प० वे० ५६)—समझाया है

(३) यह आयो है (रा० वार्ता० २४)—आया है

(४) कयमास परचो है (रा० वा० ५)—कयमास पडा है

पूर्वकालिक कृदन्त के साथ सहायक क्रिया के वर्तमान और भूत दोनो कालो के रूपों के सयोग से भी सयुक्त कालिक क्रिया का निर्माण होता है ।

पूर्वकालिक+सहायक क्रिया का वर्तमान कालिक रूप

(१) चित्र तन रहइँ भुलाइ (छि० वार्ता० १२४)

(२) पडि होइ जहाँ (प० वे० ४०)

(३) मारवि सकै (छी० वा० ४)

(४) जल जल पूरि रहै अति (छी० वा० १३)

इस प्रकार के रूप बहुत नही मिलते ।

संयुक्त क्रिया

(१) पूर्वकालिक कृदन्त के बने क्रिया रूपो का प्रयोग । इस वर्ग की दोनो ही क्रियाएँ मूल क्रिया ही होती हैं ।

(१) ह्वइ गयौ (प्र० च० ११)

(२) ठाढे भयउ (प्र० च० २८)

(३) तूटि गो जाम (प्र० च० ४०४)

(४) दे करउ पसाउ (ह० पुराण १)

(५) गरि गए हेवारे (स्व० रो० ३)

(६) होइ गई मति मदो (वै० वे० ३)

(७) मन देष्यो मूढ विचारी (प० वे० ३४)

(८) मोसे रन जोधो आनि (गी० भा० ४५)

डॉ० तेसीतोरी पूर्वकालिक कृदन्त को अपभ्रश 'ई'<सस्कृत य से उत्पन्न नही मानते । इसे वह वस्तुत भूत कृदन्त के 'भावे सप्तमी' का रूप मानते हैं । इस सिलसिले में उन्होंने रामचरितमानस की अर्धाली 'कछुक काल बीते सब भाई' उद्धृत की है और बताया है कि इसमें 'बीते' भावे कृदन्त रूप है जो पूर्वकालिक कृदन्त का कार्य करता है उन्होंने शक्ति-बोधक तथा तीव्रता-बोधक 'सकना' क्रिया के साथ पूर्वकालिक कृदन्त का प्रयोग पुरानी राजस्थानी में लक्षित किया था । (पुरानी राजस्थानी § १३१–१३२) । ऐसे प्रयोग आरम्भिक व्रज में भी मिलते हैं ।

(१) उपनो कोप न सक्यो सहारि (प्र० च० ३२)

(२) तेउ न रापि सके अपने (प्र० च० ४०६)

(२) वर्तमान कृदन्द+भूतकालिक क्रिया

(१) काल रूप अति देखत फिरई (प्र० च० ३०)

(२) मोहि जूझत गयऊ (स्व० रो० ८)

(३) फल खात फिरयो (प० वे० १)

§ ३४२ क्रिया विशेपण—डॉ० तेसीतोरी क्रिया विशेषणो को चार वर्गों में बाँटते हैं। करण मूलक, अधिकरण मूलक, विशेपण मूलक और अव्यय मूलक। करण मूलक क्रिया विशेपण रीति का बोध कराते हैं। अधिकरण मूलक काल और स्थान का। विशेपण मूलक परिमाण या मात्रा का तथा अव्यय मूलक क्रिया विशेपण कई प्रकार के अनिश्चित कार्यों का बोध कराते हैं (पुरानी राजस्थानी § ६६) नीचे आरम्भिक ब्रजभापा के क्रिया विशेपणो को उनके अर्थबोध की दृष्टि से निम्नलिखित विभागो में रखा गया है

१—कालवाचक

अब (प्र० च० ४०२) जाम (प्र० च० ४०४<यावत्) ताम (प्र० च० ३१<तावत्) तब (प्र० च० ४०७) बिन (प्र० च० ४०८) बेगि (ह० पु० २२ बेगेन=शीघ्र) नितु (ल० प० क० ६८) ततपणा (ल० प० क० ५९) जब जब (छि० वार्ता १२८) तबलूं (रा० वार्ता तब तक)

फुनि (प्र० च० २८) बडी बार (प्र० च० ३२) नित-नित (प्र० च० १३६) फुरि-फुरि (वें० प० ४) बहुरि (छि० वार्ता १२८) कबही (छि० वार्ता १२८) आजु (गी० भा० ५५) तब ही (गी० भा० ६१) जब ही (गो० भा० ६१) अतर (छी० वा० १) जब-पुनि (छी० वा० ३) ततपिण (छीं० वा० ४) अत (छी० वा० ६)

२—स्थानवाचक

तँह (प्र० च० २६) नीराली (ह० पु०=अलग) भीतर (ह० पुराण) पास (म० क० ४) तिहाँ (ल० प० क० ८) ढिग (ह० पु० ६) आगे (प० वे० १०) ठौर ठौर (रा० वार्ता ७) ऊपर (गी० भा० २३) कहाँ (गो० भा० ३२) तहाँ (गी० भा० ३२)।

३—रीतिवाचक

भाँति (प्र० च० १७) जिमि (ह० पुराण) ऐसे (म० क० १२) ज्यूँ (छि० वार्ता १२७) जनु (छि० वार्ता १४२) नीकै (गी० भा०=अच्छी तरह) तैसे (गी० भा० ३०) जैसे (गी० भा० ३०) कहाँ धुँ (छि० वार्ता १३६)।

४—निपेधवाचक

नहि (प्र० च० २) ण (प्र० च० ३३) नाहीं (प्र० च० ४०८) म (प्र० च० ७०२) ना (गी० भा० २६) जिन (गी० भा० २९)।

५—विभाजक

कि (प्र० च० १३७) कइ तू परणी कइ कुमारि (ल० प० ६) कै (गी० भा० ५)

६—समुच्चय बोधक

अरु (प्र० च० १३६) अर (ल० प० क० ६४<अपर)

७—केवलार्थ

एकै (गी० भा० १७=एकही) किण हो (छी० वा० १)

८—विविध

वरु (गी० भा०=वरन्)=वरु भल वास (तुलसी)

९—परिमाण वाचक

मकु (प्र० च० १=थोडा) बहु (ह० पु०) घणै (ह० पु०=अधिक) घणी (प० वे० ६) इतनी (गी० भा० ४६) कछू (गी० भा० ५८) ।

१०—निमित्तवाचक

तो (प्र० च० १३८) तउ (ल० प० क० ११) पै (गी० भा० १४) तौ (गी० भा० ३०) ।

११—उद्देश्यवाचक

ज्यु (ह० पु० १=जो) तइ (पं० वे० ४) जौ (गी० भा० १९)

१२—घृणासूचक

धिक धिक (छी० वा० १३)

१३—करुणाद्योतक

हा ध्रिग, हा ध्रिग (ह० पुराण) हा हा दैव (छी० वा० ३)

रचनात्मक प्रत्यय—

§ ३४३. इस प्रकरण में हम उन रचनात्मक प्रत्ययो पर विचार करना चाहते हैं जो प्राचीन व्रजभाषा में मध्यकालीन आर्यभापा स्तर से विकसित होते हुए आये अथवा जो इस भाषा में नवीन रूप से निर्मित हुए । पिछले प्रकार के रचनात्मक प्रत्यय वस्तुत कुछ टूटे-फूटे (Decayed) शब्दो से बनाये गये ।

अन— प्रत्यय प्राय क्रियार्थक सज्ञाओ के निर्माण में प्रयुक्त होता है । करण, गमन आदि । उदाहरण के लिए देखिए § ३३६, लावण (ल० प० क० ३)

–अनिहार– राखणिहारा (छी० वा० ४) इस प्रत्यय की व्युत्पत्ति मध्यकालीन अनिय प्रा० चौ० <अनिक+हार<प्रा० धार से हुई है । (देखिए उक्ति व्यक्ति स्टडी § ४९)

–आर– अधिआर (ह० पु०<अघकार) जूझारु (गी० भा० ३९<युद्धकार)

–कार– झुणकार (ल० प० ५५)

–ई– नयनी (ल० प० क० १२<नयनिका) गुनी (गी० भा० २<गुणिक) इक या इका>ई । स्त्रीलिग और पुल्लिग दोनो प्रकार के विशेषण रूपो में प्रयुक्त होता है ।

–वाल-वार–भुवाल (वे० प०<भूपाल) रखवालण (पं० वे० ६<रक्षपाल) रखवारु (गी० भा० ३९<रक्षपाल) पाल>वार ।

–वाल– अगरवाल (प्र० च० ७०२) ।

वाल या वाला परवर्ती प्रत्यय है जिसका विकास सस्कृत-पाल से ही माना जाता है किन्तु यह प्रत्यय जातिबोधक शब्दो में लगने के कारण प्राचीन अर्थ से किंचित् भिन्न हो गया है ।

–ली– अकली (ह० पुराण) पाछली (रा० वार्ता १४) पहली (स्त्रीलिंग) (रा० वार्ता ४०)।

–वान– अगवाण (ल० प० फ० ५६)।

–वो–ओ– वधावउ=(वधावो, ल० प० ६२)

–एरो– चितेरौ (छि० वार्ता १२७)

–नी– गुर्विनी (१३८<गर्विणी)

–अप्पण– मित्तप्पण (छी० वा० १२) विधवापणउ (छी० वा० ४७) यह अपभ्रंश का पुराना प्रत्यय हैं। इसी से परवर्ती ब्रज का पन प्रत्यय बनता है।

–वे– क्रियार्थक सज्ञा बनाने में इस प्रत्यय का प्रयोग होता है। भरिबै (रा० वार्ता १७) देवै (रा० वार्ता २७)।

–यर>कर–गुनियर (गी० भा० २१ गुणकर) डॉ० भायाणी ने सन्देशरासक में इस यर प्रत्यय के विवरण के प्रसग में यह लिखा है कि इसी से ब्रजभाषा का एरो प्रत्यय जो चितेरो में दिखाई पडता है, विकसित हुआ (सन्देशरासक § ९३)।

प्राचीन ब्रज-काव्य

प्रमुख काव्य धाराएँ

§ ३४४ ब्रजसाहित्य के अनुसन्धित्सु और विचारवान् पाठक के सामने अष्टछाप के भक्त कवियो से लेकर रीतिकाल मे स्वच्छन्दतावादी घनानन्द-द्विजदेव तक के कवियो की रचनाओ में अन्त प्रवाहित मूल-काव्य-चेतना के पारस्परिक विकास और उनके उद्गम स्रोतो के अन्वेषण का प्रश्न प्राय उठता है। यह प्रश्न केवल ब्रज-साहित्य तक ही सीमित नही है। मध्यकाल की दूसरी विभाषाओ अवधी, मैथिली, राजस्थानी आदि के साहित्य-विवेचन के लिए भी ऐसे प्रश्नो का समाधान आवश्यक हो जाता है। वहुत दिनो तक हिन्दी के आलोचक भक्ति, रीति तथा ऐतिहासिक स्तुतिपरक काव्यो की अन्तश्चेतना की तलाश करते आ रहे हैं और हिन्दी के भक्ति-रीति साहित्य की प्रवृत्तियो के विकास की सारी प्रेरणा सस्कृत साहित्य से ही प्राप्त हुई ऐसा समझते रहे हैं। भागवत, गीतगोविन्द भक्ति के विकास के लिए उपजीव्य ग्रन्थ माने जाते है, उसी प्रकार रीतिकालीन अलकृत शृङ्गार-मुक्तको के लिए प्राचीन शृङ्गार शतको की शरण लेनी पडती रही है। दसवी शताब्दी तक के सस्कृत साहित्य को सोलहवी शताब्दी में उद्भूत हिन्दी साहित्य से जोडते समय बीच के काल-व्यवधान को नजरअन्दाज़ कर जाने में उन्हें कभी चिन्ता नही होती थी।

अपभ्रश साहित्य के प्रकाश में आने के वाद इस मध्यन्तरित व्यवधान को मिटाने का प्रयत्न अवश्य हुआ। राजस्थानी, व्रज, अवधी आदि भाषाओं में लिखे साहित्य की प्रवृत्तियो और उनमें गृहीत काव्य-रूपो को अपभ्रश की काव्य-धाराओं और शैली-विधियो से जोडने का प्रयत्न होने लगा। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपभ्रश काव्य को हिन्दी की 'प्राणधारा' कहा। वहुत से आलोचक अपभ्रश काव्य का प्रभाव केवल आदिकाल के साहित्य तक ही सीमित कर

देते हैं। उनके मत से अपभ्रंश के वीरकाव्य का प्रभाव आदिकाल या वीरगाथा काल तक ही सीमित हो जाता है। इसीलिए उक्त मत के माननेवाले विद्वान् भक्तिकाव्य को आकस्मिक उदय का परिणाम बताते हैं।

सच पूछा जाये तो अपभ्रंश का साहित्य भी स्थूल अर्थ में हिन्दी साहित्य के ठीक पहले की पृष्ठभूमि नही है, अर्थात् अपभ्रश साहित्य शुद्ध अर्थों में प्राकृत प्रभावापन्न तथा उसी से परिचालित होने के कारण हमारे परवर्ती साहित्य के सभी पक्षो की प्रवृत्तियो के विकास भी सही सकेत नही दे सकता। अपभ्रंश साहित्य का विकास नवी शताब्दी तक पूर्णत. कुठित हो चुका था। जैन काव्यो में रूढियो की भरमार थी, वहाँ जीवन का स्पन्दन कम सुनाई पडता है, पौराणिकता का सभार अधिक है। ९वी शताब्दी के बाद नवीन आर्यभाषाओ के उदय के साथ ही सक्रान्तिकालीन अपभ्रश, या अवहट्ठ के साहित्य में एक बार पुनः जन-जीवन को चित्रित करने का प्रयत्न दिखाई पडता है। इस साहित्य में शृङ्गार, शौर्य, रोमास, नीति, रूढ़िविरोधिता आदि की विकासशील भावनाएँ प्रबुद्ध होने लगी थी। अभाग्यवश इस मध्यन्तर सक्रान्ति कालीन साहित्य के सभी पक्षो का पूर्ण अध्ययन नही हो सका है। यदि यह अध्ययन पूर्णता और निष्पक्षता से किया गया होता तो आचार्य शुक्ल को शायद यह न कहना पडता कि 'आदिकाल की इस दीर्घ परम्परा के बीच-प्रथम डेढ-दो सौ वर्ष के भीतर की रचनाएँ दोहो में मिलती हैं, इस अनिर्दिष्ट लोक-प्रवृत्ति के उपरात जब से मुसलमानो की चढाइयो का आरम्भ होता है, तब से हम हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बँधती हुई पाते हैं।'[1] शुक्लजी के इस निष्कर्ष का परिणाम यह हुआ कि हमने भक्तिकाल को आकस्मिक रूप से उदित माना याकि उसकी परम्परा जोडने का प्रयत्न किया तो संस्कृत (भागवत, गीतगोविन्दादि) के अलावा और कोई रास्ता न सूझा। रीतिकालीन काव्य की उद्दाम चेष्टाओ को भक्तिकाल के पिछले कवियो सूरादि की रचनाओ से जोडा गया जिन्होने भगवत्प्रेम पूर्ण शृङ्गारमयी अभिव्यञ्जना से एक ओर जनता को रसोन्मत्त किया वहीं उसी के आधार पर आगे के कवियो ने शृङ्गार की उद्दामकारिणी उक्तियो से हिन्दी काव्य को भर दिया। ऐसे स्थान पर यह पूछना शायद अनुचित न होगा कि क्या भक्त कवियो ने भक्ति के साथ शृङ्गार को मिलाने की एकदम मौलिक चेष्टा की। क्या उसके पहले भक्ति और शृगार का समवेत रूप कही नही दिखाई पडता।

इस प्रकार की गडवडी आरभिक व्रजभाषा काव्य के पूर्ण आकलन के अभाव के कारण उत्पन्न हुई है। यदि प्राप्त साहित्य—जो बहुत विस्तृत नही है—की पूरी समीक्षा की जाये, रचनाओ के भाव तथा विचार तत्त्व की सही जाँच-परख हो तो मेरा विश्वास है कि उसमें भक्ति, रीति तथा वीर काव्य के वे सभी तत्त्व पूर्ण मात्रा में विद्यमान मिलेंगे, जिन्होने आगे चल कर व्रजभाषा में इस प्रकार की प्रवृत्तियो को पूर्ण विकसित किया। व्रजभाषा में यद्यपि जैन काव्य की धारा का पूर्ण विकास नही हुआ जो कुछ हुआ भी उसे हिन्दी के इतिहासकारो ने बहुत महत्वपूर्ण नहीं माना, किन्तु बनारसीदास जैन जैसे उच्चकोटि के व्रजभाषा

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, छठाँ सस्करण, पृ० ३।

कवियो को भुला देना बहुत उचित नही कहा जा सकता। बनारसी-विलास[1] में प्रकाशित उनकी स्फुट रचनाएँ तथा अर्द्धकथानक जैसे आत्मकथा काव्य इस कवि के अक्षुण्ण गौरव के प्रमाण हैं।

मैं इस अध्याय में सैद्धान्तिक ऊहापोह के प्रश्नो को छोडकर केवल परवर्ती व्रजभाषा काव्य की उन मुख्य प्रवृत्तियो के उद्गम और विकास का विश्लेषण करना चाहता हूँ जिनके तत्त्व पूर्ववर्ती व्रज साहित्य में वर्तमान हैं।

जैनकाव्य

§ ३४५ अपभ्रश काव्य के प्रकाश मे आ जाने के बाद धीरे-धीरे हिन्दी के आलोचक का ध्यान अपने साहित्य की पृष्ठभूमि मे वर्तमान इस गौरवमयी साहित्य परपरा के विश्लेषण तथा परवर्ती हिन्दी साहित्य से इसके घनिष्ठ सबन्ध और तारतम्य के निरूपण की ओर आकृष्ट हुआ है। सिद्धो की अपभ्रश या परवर्ती अपभ्रश में लिखी रचनाओ को सत काव्य के साथ समन्वित करके उनके परिपार्श्व में विचार-वस्तु और काव्य-रूप दोनो के अध्ययन का प्रयत्न हुआ है। महापडित राहुल साकृत्यायन, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, स्व० डॉ० पीताम्बर दत्त वडथ्वाल तथा हिन्दी के अन्य कई विद्वानो ने नाथ-सिद्ध साहित्य के प्रकाश मे सत-काव्य के आकलन और मूल्याकन का प्रयत्न किया है। डॉ० द्विवेदी ने संत काव्य को मुसलमानी आक्रमण से उत्पन्न तथा उसी से प्रभावित बतानेवाले विद्वानो की धारणा का उचित निरास करते हुए स्पष्ट लिखा है कि 'कबीर आदि निर्गुण मतवादी संतो की वाणियो का नाथ-पथी योगियो के पदादि से सीधा सबन्ध है। वे ही पद, वे ही राग-रागिनियाँ, वे ही दोहे, वे ही चौपाइयाँ कबीर आदि ने व्यवहार की हैं जो उक्त मत के माननेवाले उनके पूर्ववर्ती सतो ने की थी। क्या पद्य, क्या भाषा, क्या छन्द, क्या पारिभाषिक शब्द—सर्वत्र वे ही कबीरदास के मार्ग दर्शक हैं। कबीर की ही भाँति वे साधक नाना मतो का खडन करते थे, सहज और शून्य में समाधि लगाते थे, दोहो में गुरु के ऊपर भक्ति करने का उपदेश देते थे।'[2] उपर्युक्त विद्वानो के इस प्रकार के प्रयत्नो का परिणाम है कि आज हिन्दी की अत्यत प्राणवान सत काव्य-धारा अपने सही परपरा में प्रतिष्ठित हुई और हम सत वाणियो की इस अविच्छिन्न धारा को उसके सभी रूपो के साथ समझने में समर्थ हो पाते हैं।

सिद्धो के युग मे ही वल्कि उनसे कुछ और पहले से ही एक दूसरी धार्मिक काव्य-धारा का भी समानान्तर प्रवाह दिखाई पडता है जिसे हम जैन-काव्य-धारा कह सकते हैं। अपभ्रश के अद्यावधि प्राप्त ग्रंथो में अधिकाश जैन-साहित्य से सबन्धित हैं। इनमें बहुत थोडे से प्रकाशित हो चुके हैं, बाकी अब भी जैनियो के मदिरो और भाडारो में वेष्ठित ही पडे हैं। जैन-काव्य के विश्लेषण-परीक्षण का प्रयत्न हो रहा है। कुछ अत्यत प्रसिद्ध काव्य-ग्रथो जैसे स्वयभू के 'पउमचरिउ' आदि से हिन्दी की रचनाओ के सतुलनात्मक अध्ययन का प्रयास भी दिखाई पडता है किन्तु जैसा श्री अगरचन्द नाहटा ने लिखा है कि 'हिन्दी आदि लोक भाषाओ की जननी अपभ्रश में जैन विद्वानो ने बहुत अधिक साहित्य निर्माण किया है पर अभी तक उसके प्रकाशन

---

१ बनारसी विलास, अतिशय क्षेत्र जयपुर से प्रकाशित।

२. हिन्दी साहित्य की भूमिका, तीसरी आवृत्ति, पृ० ३१।

की तो कौन कहे हमें उसकी पूरी जानकारी भी नही है' उक्त लेखक ने हिन्दीवालो की इस अकर्मण्यता के लिए बहुत कोसा है जो उचित भी है। यह सत्य है कि हिन्दी के विद्वानो ने जैन साहित्य को उसका प्राप्य गौरव प्रदान नही किया। स्वयभू के पउमचरिउ के कुछ स्थलो की तुलना तुलसी-मानस के उन्ही अशो से करके, इन दोनो के साहित्य के परस्पर सबन्धो की चर्चा करते हुए राहुल साकृत्यायन ने इस दिशा में काम करनेवालो को प्रेरणा दी थी किन्तु आज भी जैन-साहित्य का अध्ययन ऊपरी स्तर पर काव्य रूपो छन्द, कडवक, पद्धडिया, चरित कथा आदि तक ही सीमित दिखाई पडता है। प० रामचद्र शुक्ल ने बहुत पहले जैन-साहित्य को अपने इतिहास से यह कह कर बहिष्कृत कर दिया था कि 'इसमे कई पुस्तकें जैनो के धर्म तत्त्व निरूपण सबन्धी है जो साहित्य कोटि मे नही आती।[1] शुक्लजी का प्रभाव और व्यक्तित्व इतना आच्छादक था कि उनकी इस मान्यता को बहुत से विद्वान् आज भी श्रद्धापूर्वक स्वीकार करने मे सकोच का अनुभव नही करते। शायद ऐसी ही मान्यता से किंचित् रुष्ट होकर डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पडने लगी है कि धार्मिक रचनाएँ साहित्य मे विवेच्य नही है। कभी-कभी शुक्लजी के मत को भी इस मत के समर्थन मे उद्धृत किया जाता है। मुझे यह बात उचित नही मालूम होती। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नही समझा जाना चाहिए।[2] आदिकाल की यत्किंचित् प्राप्त सामग्री मे उस काल के जैन लेखको की रचनाएँ हमारे लिए अत्यन्त मूल्यवान प्रमाणित हो सकती हैं किन्तु ये रचनाएँ केवल तत्कालीन भाषा के समझने या कुछ प्रसिद्ध काव्य रूपो के लक्षण-निर्धारण आदि मे ही सहायक नही है, जैसा कि प्राय माना जाता है, बल्कि यदि इस साहित्य की अन्तर्वर्ती भावधारा को भी ठीक से समझा जाये तो तत्कालीन-जन जीवन को समझने और उससे अनुप्राणित होने में सहायता मिलेगी, जिसका अत्यत मार्मिक, विशद और यथार्थ चित्रण इन तथाकथित धार्मिक रचनाओ मे बडी पूर्णता के साथ हो सका है। यही नही, इस साहित्य मे चित्रित उस मनुष्य को, जिसने अपनी साधना से, कष्टो और कठिनाइयो को झेलते हुए, अपने शरीर को तपश्चर्या से सुखाकर, नाना प्रकार की अग्नि-परीक्षाओ में उत्तीर्ण होकर तत्कालीन मानव जाति के सासारिक और पारलौकिक सुख के लिए अपने को होम कर दिया, हम अपनी पृथ्वी पर चलते-फिरते और हँसते-रोते भी देख सकते हैं।

§ ३४६ अपभ्रंश भाषा मे लिखा जैन साहित्य बहुत महान् है। जिस साहित्य ने स्वयभू, पुष्पदन्त और हेमचन्द्र जैसे व्यक्तियो को उत्पन्न किया वह अपनी महत्ता की स्वीकृति के लिए कभी परमुखापेक्षी नही हो सकता। राहुलजी ने तो स्वयभू की अभ्यर्थना करते हुए यहा तक लिख दिया है कि हमारे इसी युग मे (सिद्ध-सामन्त युग) नही बल्कि हिन्दी कविता के पाँचो युगो—सिद्ध सामन्त युग, सूफी युग, भक्त युग, दर्बारी युग और नव जागरण युग के जितने भी कवियो को हमने यहाँ सगृहीत (काव्यधारा पाँच भागो मे निकलनेवाली है) किया है उनमे यह निःसकोच कहा जा सकता है कि स्वयभू सबसे बडा कवि था।[3] जैन साहित्य के

विषय में कुछ विद्वानो ने एक अजीब पूर्वागृहीत धारणा बना ली है कि यह साहित्य स्थूल, धर्माचार, स्तवन-अराधना, विरागोपदेश तथा नग्नकाय जनो के रूढ आचरणो से आक्रान्त है। इसीलिए न इसमे रस है न भाव न जीवन का स्पदन। उनकी यह धारणा तो स्वयभू और पुष्पदन्त जैसे अतिप्रसिद्ध कवियो की एकाध रचनाओ से या उनके अशो से ही, कम-से-कम जिन्हें देखने की आशा अवश्य की जाती है, पूर्णत निर्मूल प्रमाणित हो जानी चाहिए। जिसने स्वयभू रामायण मे पति द्वारा मिथ्या लाछनो से प्रताडित सीता की अद्भुत करुणा—दर्प-मिश्रित मूर्ति को देखा है, जिसने सीता के मुख से सुना है

पुरिस णिहीण हों ति गुणवत वि
तियहे ण पत्तिज्जति मरतनि
खडु लक्कडु सलिल वहतिहे पउराणिहे कुलग्गयहे
रयणायरु खार इ देत्तउ तो विण थक्कइ ण णइहे

'पुरुष गुणवान् होकर भी कितना हीन होता है, वह मरती हुई पत्नी का भी विश्वास नही करता। वह उस रत्नाकर की तरह है जो नदियो को केवल क्षार देता है, किन्तु उनसे छोडा नही जाता।'

इस सीता को कौन भूल सकता है? 'राम के हाथो मुक्ति पानेवालो का जब हमारे देश में नाम भी नही रह जायेगा, तब भी तुलसी की कद्र होगी, स्वयभू के जैन धर्म का अस्तित्व भी न रहने पर वह नास्तिक भारत का महान् कवि रहेगा। उसकी वाणी में हमेशा वह शक्ति बनी रहेगी कि कही अपने पाठको को हर्षातिफुल कर दे, कही शरीर को रोमाचित कर दे और कही आंखो को भीगने के लिए मजबूर कर दे।'[1]

स्वयभू का यह प्रसग केवल इस परितोष के लिए उद्धृत किया गया कि जैन काव्य में केवल धर्मोपदेश नही है, केवल निर्ग्रन्थ-आचरण का सन्देश नही है, वहाँ काव्य भी है तथा मर्म को छू देनेवाली पीडा भी।

§ ३४७ हमारे विवेच्य काल के अन्तर्गत केवल वे ही जैन रचनायें परिगृहीत की गयी हैं जो परवर्ती शौरसेनी अपभ्रश यानी अवहट्ट तथा व्रजभाषा में लिखी गयी हो। दूसरे वर्ग की रचनाओ की सख्या ज्यादा नही है क्योकि इसका बहुत बडा भाग ज्ञात-अज्ञात भाडारो मे दबा पडा है। फिर भी जितनी रचनाओ की चर्चा इनके ऐतिहासिक कालानुक्रम और तिथिकाल आदि के परिचय के सिलसिले मे हमने पिछले अध्याय मे की है, वे भी कम नही हैं। आरम्भिक व्रजभाषा में लिखे जैन काव्य की मुख्य प्रवृत्तियो और काव्योपलब्धियो का पूरा सकेत तो इनसे मिलता ही है।

जन-जीवन का चित्रण

व्रजभाषा—जैन काव्य की सबसे बडी विशेषता है जीवन के यथार्थ चित्रण की। लोगो को भ्रम है कि जैन-साहित्य केवल प्राचीन पौराणिक कथाओ के जैनोद्देश्य-परक रूपान्तरो के साथ ही सामन्त और श्रेष्ठी जीवन से सम्बन्धित व्रत-उपवासादि की कहानियो तक ही सीमित है। सामन्तवादी सस्कृति के प्रभावो से तो इस काल का कोई भी साहित्य मुक्त नही हो सका

---

1 वही पृ० ५८।

है। १४वी-१५वी के किसी भी साहित्य मे सामन्तवादी संस्कृति का भाव किसी-न-किसी रूप मे वर्तमान रहा है, किन्तु सामन्तवादी या श्रेष्ठी जीवन के बाह्य वैभव और प्रदर्शन के भीतर सामान्य मनुष्य के जीवन की अजस्र बहनेवाली धारा को जैन कवियो ने कभी अवरुद्ध नहीं किया। सामन्ती जीवन मे भी वे सामान्य जन-जीवन के व्यहृत आदर्शों, विचार-पद्धतियो, विश्वासो और मान्यताओ को प्रभावशाली रूप मे चित्रित करने मे सफल हुए हैं। राजो महाराजो की कहानियाँ लिखते हुए भी जैन कवि पुष्पदत को याद रख सकते थे जिन्होने बडे गर्व से कहा था कि वल्कल धारण करके गिरिकदराओ में निवास करते हुए, वन के फल-फूल खाकर, दारिद्रय से शरीर को कष्ट देकर जीवन बिता देना श्रेयस्कर है किन्तु किसी राजा के सामने नतमस्तक होकर अभिमान का खण्डन कराना नही।

> वक्कल णिवसणु कदर मंदिरु, वणहल भोयण वर त सुन्दर
> वर दालिद्द सरीरह दण्डणु, णहु पुरिसह अहिमान विहडणु

आचार्य शुक्ल ने जायसी के विरह वर्णन की इतनी प्रशसा इसलिए की थी कि रानी नागमती विरह दशा मे अपना रानीपन बिलकुल भूल जाती हैं और अपने को केवल साधारण स्त्री के रूप मे देखती हैं। इसी सामान्य स्वाभाविक वृत्ति के बल पर उसके विरह-काव्य छोटे-बडे सबके हृदय को सामान्य रूप से स्पर्श करते हैं। 'प्रद्युम्न चरित' के कवि सधार अग्रवाल ने भी वियोग का एक चित्रण प्रस्तुत किया है। किन्तु यह पति-वियोग नही पुत्र-वियोग है। रानी रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न को एक दैत्य चुरा कर ले जाता है। पुत्र-वियोग से विक्षिप्त माँ के हृदय को वेदना को कवि आत्मग्लानि के दर्द से और भी घनीभूत कर देता है। रानी सोचती है कि यह पुत्र वियोग मुझे क्यो हुआ

> नित नित मीजइ, विलखी खरी, काहे दुखी विधाता करी।
> इकु धाजइ अरु रोवइ वयण, आसू वहत न थाके नयण॥
> की मइ पुरिष विछोही नारि, की दव घाली वणह मझारि।
> की मइँ लोग तेल-घृत हरयउ, पूत सताप कवण गुण परयउ॥

तेल-घी चुराकर बच्चे का पालन-पोषण करनेवाली नारी के पुत्र-वियोग की जनश्रुति रानी के हृदय को विदीर्ण कर देती है। वह सोचती है कि क्या उसने किसी पुरुष को उसकी पत्नी से अलग किया था, किसी वन मे आग लगा दी थी, आखिर यह पुत्र-वियोग का सताप उसे क्या मिला। अपनी जीविका के लिए किसी के बच्चे की सेवा-शुश्रूषा करनेवाली गरीब नौकरानी तेल-घी म से कुछ काट-कपट करके अपने बच्चे का पालन-पोषण करे और अचानक किसी कारणवश उसके बच्चे की मृत्यु हो जाये तो कितनी बडी आत्मग्लानि और पीडा उसके मन में होती होगी।

कवि ठक्कुरसी ने अपनी गुणवेलि अथवा पंचेन्द्रिय वेलि में पाँचो इद्रियो के अति व्यापारो से उत्पन्न आचरण की ओर सकेत करते हुए वडे व्यग्यपूर्ण ढग से इनकी निन्दा की है। स्वाद के वशीभूत होकर आदमी क्या नही करता—

केलि करन्तो जन्म जलि गाल्यो लोभ दिषालि
मीन मुनिप ससार सर सौं काढ्यो धीवर कालि
मछि नीर गहीर पईठै, दिठि जाइ नहीं तह दीठै
इहि रसना रस के घालै, थल आई मुवै दुष सालै
इहि रसना रस के लीयो, नर कौन कुकर्म न कीयो
इहि रसना रस के ताईं, नर मुषै बाप गुरु भाई
घर फोडै मारै वाटा, नित करै कपट धन घाटा
मुषि झूठ साच वहु बोलै, घरि छाँड़ि देसाउर डोलै
कंवलिय पइठौ भवर दलि घ्राण गध रस रूढ़
रैनि पड़ी सो सकुयौ सो नीसरि सक्यौ न मूढ़

अलकरण को ही काव्य माननेवाले लोगो को शायद ठक्कुरसी की इस रचना में उतना रस न मिले किन्तु सीधी-सी वात को सहज किन्तु प्रभावशाली ढग से व्यक्त करना भी साधारण कौशल नही है। वैसे भी जो अलकारप्रेमी हैं वे 'मीन-मुनिप' के साग रूपक को अवश्य सराहेंगे। तीव्र प्रभाव उत्पन्न करने के लिए सीधे अभिधात्मक शब्दो के चयन से भी ताकत पैदा की जा सकती है। इन छोटे-छोटे साधारण वाक्यो मे सत्य की गहराई उतर गयी है।

छीहल कवि इस ससार की विचित्र गति को देखकर अपना क्षोभ दबा नही पाते। उन्होने सपत्तिवान् व्यक्ति के चतुर्दिक् मडरानेवाले मिथ्या प्रदर्शन को देखा था, धन के प्रभाव से उस निकृष्ट व्यक्ति में चाहे जितने भी गुणो को प्रतिष्ठा देखी जाये किन्तु असलियत कभी छीहल से छिपी न रह सकी।

होइ धनवत आलसी ताहु उद्दमी पयपइ
क्रोधवंत अति चपल तउ थिरता जग जपइ
पत्त कुपत्त नहि लखइ कहइ तसु इच्छाचारी
होइ वोलण असमत्थ ताह गुरुअत्तण भारी
श्रीवत लप्प अवगुण सहित ताहि लोग गुणकिरि ठवइ
छीहल्ल कहै ससार महि सपति को सहु को नवइ

इन वाक्याशो को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि जैन कवि न तो अपने पौराणिक कथानको में ही वँधे रहे और न तो उन्होने सामन्ती सस्कृति के चित्रण में जन-सामान्य को भुला ही दिया। जैन काव्य में विराग और कष्टसहिष्णुता पर वहुत वल दिया गया है, यह भी सच है कि इस प्रकार सदाचरण के नीरस उपदेश काव्य को उचित महत्व नही प्रदान करते किन्तु यह केवल एक पक्ष है, अपने आध्यात्मिक जीवन को महत्त्व देते हुए भी, पारलौकिक सुखो के लिए अति सचेष्टा दिखाते हुए भी जैन कवि उन लोगो को नहीं भुला सका जिनके वीच वह जन्म लेता है। उसके मन में अपने आस-पास के लोगो के सुखी जीवन के लिए अपूर्व सदिच्छा भरी हुई है, वह सृष्टि की सारी सम्पत्ति जनता के द्वार पर जुटा देना चाहता है।

धन कन दूध पूत परिवार बाढे मंगल सुपक्षु अपार
मेदिनि उपजहु अन्न अनन्त, चारि मासि मरि जल वरसंत
मगल बाजहु घर-घर द्वार, कामिनि गावहिं मंगलचार
घर-घर सीत उपजहु सुक्ख, नासे रोग आपदा दु ख

शृंगार और प्रेम-भावना

§ ३४८ जैन कवियो पर जो दूसरा आरोप लगाया जाता है, वह है उनकी जीवन-विरक्ति। डॉ० रामकुमार वर्मा ने इसी ओर सकेत करते हुए लिखा है कि 'साधारणतया जैन साहित्य में जैन धर्म का ही शान्त वातावरण व्याप्त है। सन्त के हृदय में शृंगार कैसा ?'[1] जैन काव्य मे शान्ति या शम की प्रधानता है अवश्य किन्तु वह आरम्भ नही परिणति है। सम्भवत पूरे जीवन को शम या विरक्ति का क्षेत्र बना देना प्रकृति का विरोध है। जैन कवि इसे अच्छी तरह जानता है इसीलिए उसने शम या विरक्ति को उद्देश्य के रूप मे मानते हुए भी सासारिक वैभव, रूप, विलास और कामासक्ति का चित्रण भी पूरे यथार्थ के साथ प्रस्तुत किया है। जीवन का भोग-पक्ष इतना निर्बल तथा सहज आक्राम्य नही होता। इसका आकर्षण दुर्निवार्य है, आसक्ति स्वाभाविक, इसीलिए साधना के कृपाण-पथ पर चलनेवाले के लिए तो यह और भी भयकर हो जाते हैं। भिक्षुक वज्रयानी वन जाता है, शैव कापालिक। राहुलजी ने लिखा है कि इस युग मे तन्त्र-मन्त्र भैरवीचक्र या गुप्त यौन स्वातन्त्र्य का बहुत जोर था। बौद्ध और ब्राह्मण दोनों ही इसमें होड लगाये हुए थे, 'भूत-प्रेत, जादू-मतर और देवो-देवता-वाद में जैन भी किसी से पीछे नही थे। रहा सवाल वाममार्ग का, शायद उसका उतना जोर नही हुआ, लेकिन यह विल्कुल ही नही था, यह भी नही कहा जा सकता। आखिर चक्रेश्वरी देवी यहाँ भी विराजमान हुई और हमारे मुनि कवि भी निर्वाण-कामिनी के आलिंगन का खूब गीत गाने लगे।'[2] सिद्ध साहित्य की अपेक्षा जैन साहित्य मे रूप-सौन्दर्य का चित्रण कही ज्यादा बारीक और रगीन हुआ है, क्योकि जैन धर्म का सस्कार रूप को निर्वाण प्राप्ति के लिए योग्य नही मानता, रूप अदम्य आकर्षण की वस्तु होने के कारण निर्वाण में बाधक है—इस मान्यता के कारण जैन कवियो ने शृगार का बडा ही उद्दाम वासनापूर्ण और क्षोभकारक चित्रण किया है, जड पदार्थ के प्रति मनुष्य का आकर्षण जितना घनिष्ठ होगा, उससे विरक्ति उतनी ही तीव्र। शमन की शक्ति की महत्ता का अनुमान तो इन्द्रिय-भोग-स्पृहा की ताकत से ही किया जा सकता है। नारी के शृगारिक रूप, यौवन तथा तज्जन्य कामोत्तेजना आदि का चित्रण उसी कारण बहुत सूक्ष्मता से किया गया है।

मुनि स्थूलभद्र पाटलिपुत्र में चौमासा बिताने के लिए रुक जाते हैं। उनके रूप और ब्रह्मचर्य से तेजोदीप्त शरीर को देखकर एक वेश्या आसक्त हो जाती है—अपने सौन्दर्य के अप्रतिम निखार से मुनि को वशीभूत करने के लिए तत्पर उस रमणी का रूप कवि इन शब्दो में साकार करता है

---

१ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १००।
२ हिन्दी काव्यधारा, पृ० ३७।

कन्नजुयल जसु लहलहंत किर मयण हिंडोला
चञ्चल चपल तरंग चंग जसु नयण कचोला
सोहइ जासु कपोल पालि जणु गालि मसूरा
कोमल विमल सुकंठ जासु वाजइ सखंतूरा
तुंग पयोहर उल्लसइ सिंगार थपक्का।
कुसुम वाण निय अमिय कुम्भ किर थापण मुक्का ।।

प्रकम्पित कर्णयुगल मानो कामदेव के हिंडोले थे, चञ्चल ऊर्मियो से आपूरित नयन कचोले, सुन्दर विपॅले फूल की तरह प्रफुल्लित कपोल-पालि, शख की तरह सुडौल सुचिक्कण निर्मल कठ—उसके उरोज शृगार के स्तवक थे, मानो पुष्पधन्वा कामदेव ने विश्वविजय के लिए अमृत कुम्भ की स्थापना की थी।

नव यौवन से विहसती हुई देहवाली, प्रथमप्रेम से उल्लसित वह रमणी अपने सुकुमार चरणो के आशिजित पायल की रुनझुन से दिशाओ को चैतन्य करती हुई जब मुनि के पास पहुँची तो आकाश में कौतुक-प्रिय देवताओ की भीड लग गयी। वेश्या ने अपने हाव-भाव से मुनि को वशीभूत करने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु मुनि का हृदय उस तप्त लोह को तरह था जो उसकी बात से बिंघ न सका। जिसने सिद्धि से परिणय कर लिया और सयम श्री के भोग में लीन है, उसे साधारण नारी के कटाक्ष कहाँ तक डिगा सकते हैं—

मुनिवइ जंपइ वेस सिद्धि रमणी परिणेवा।
मनु लीनउ सयम सिरि सों भोग रमेवा ।।

यह है जैन कवि की अनासक्त रूपासक्ति। वह तिल-तिल जुटा कर सौन्दर्य के जिस ऐन्द्रजालिक माया-स्तूप का निर्माण करता है, उसी को एक ठेस से बिखरा देने में उसे कभी सकोच नही होता। प्रेम के प्रसगो मे ऋतुवर्णन का प्रयोग प्राय होता है। यह वर्णन उद्दीपन के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। उद्दीपनगत प्रकृति-चित्रण प्राय प्रथा प्राथित रूढियो से आक्रान्त होता है। उपकरण प्राय निश्चित हैं। उन्ही के आधार पर प्रकृति को इतना आकर्षक और रुचिकर बनाना है कि वह निश्चित भाव को उद्दीप्त कर सके। ऐसी अवस्था में प्राय वस्तुओं की नामपरिगणना तो हो जाती है, किन्तु उद्दीपन का कार्य भी पूरा नहीं होता यानी यह प्रकृति-वर्णन सहृदय के मन को रच-मात्र भी नही छू पाता। जिनपद्मसूरि ने थूलिभद्द फागु में वर्षा का वर्णन किया है। यह वर्णन वस्तु-परिगणना पद्धति का ही है इसमें संदेह नहीं, किन्तु शब्दो का चयन कुछ इतना उपयुक्त है कि प्रकृति का एक सजीव चित्र खडा हो जाता है। ध्वन्यात्मक शब्दो के प्रयोग प्रकृति के कई उद्दाम उपकरणो को रूपाकार देने में सहायक हुए हैं।

झिरि झिरि झिरिमिर झिरिमिर ए मेहा वरसंति।
खलहल खलहल खलहल ए वादला वहंत ।।
झब झब झब झब झब झब ए वीजुलिय झंक्कइ।
थर हर थर हर थर हर ए विरहिणि मणु कंपइ ।। ६ ।।
महुर गभीर सरेण मेह जिमि जिमि गाजन्ते।
पच वाण निज कुसुम वाण तिम तिम साजन्ते ।।

जिमि जिमि केतकि महमहत परिमल विगसावइ
तिमि तिमि कामिय चरण लग्गि निज रमणि मनावइ । ७ ।

उसी प्रकार नेमिनाथ चौपई में नेमि और राजमती के प्रेम का अत्यत स्वाभाविक और सवेद्य चित्रण किया गया है। पारिवारिक प्रेम की इस पवित्र वेदना से किस सहृदय का मन द्रवीभूत नही हो जाता। मधुमास के आगमन पर पवन के झकोरो से वृक्षो के जीर्ण पत्ते टूट कर गिर पडते हैं मानो राजल के दुःख के वृक्ष भी रो पडते हैं। चैत में जब नव वनस्पतियाँ अकुरित हो जाती है, चारो ओर कोयल की टहकार गूँजने लगती है, कामदेव अपने पुष्पधनु से राजल के हृदय को वेंधने लगता है।

फागुण वागुणि पन्न पडन्त, राजल दुक्ख कि तरु रोयन्त
चैतमास वणसइ पंगुरइ, वणि वणि कोयल टहका करइ
पच वाण करि धनुष धरेइ, वेझइ माडी राजल देइ
जुइ सखि मातेउ मास वसन्त, इणि खिल्लिजइ जइ हुइ कन्त

किन्तु माधवी क्रीडा के लिए लालायित राजल का पति नही आता। ज्येष्ठ की उत्तप्त पवन धू-धू कर जलने लगती है, नदियाँ सूख जाती हैं, चपा-लता को पुष्पित देख कर नेह-पगी राजल वेहोश हो जाती है

जिट्ठ विरह जिमि तप्पइ सूर, छण वियोग सूखिउ नइ पूर
पिक्खिउ फुल्लिउ चपइ विल्लि, राजल मूर्छी नेह गहिल्लि

जैन कवि पौराणिक चरित्रो में भी सामान्य जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियो की ही स्थापना करता है। उसके चरित्र अवतारी जीव नही होते इसीलिए उनके प्रेमादि के चित्रण देवत्व के आतक से कभी भी कृत्रिम नही हो पाते। वे एक ऐसे जीवात्मा का चित्रण प्रस्तुत करते हैं जो अपनी आतरिक शक्तियो को वशीभूत करके परमेश्वर पद को प्राप्त करने के लिए निरन्तर सचेष्ट है। उसकी ऊर्ध्वमुखी चेतना आध्यात्मिक वातावरण मे सास लेती है, किन्तु पक से उत्पन्न कमल की तरह उसकी जड सत्ता सासारिक वातावरण से अलग नही है। इसीलिए ससार के अप्रतिम सौन्दर्य को भी तिरस्कृत करके अपने साधना-मार्ग पर अटल रहनेवाले मुनि के प्रति पाठक अपनी पूरी श्रद्धा दे पाता है।

व्यग्य-विनोद तथा नीति-वचन

§ ३४९ कष्ट, दुःख, विरक्ति के तथाकथित आतक से पीडित कहे जानेवाले जैन-काव्य में जीवन के हलके पक्षो से सम्बद्ध हास्य व्यग्य-विनोद की अवतारणा भी बहुत ही सफलता से की गयी है। नारद हास्य के प्राचीन आलम्बन हैं। सधारु अग्रवाल ने अपने प्रद्युम्नचरित मे नारद का जो भव्य रूप खीचा है वह तुलसी के नारद-मोह से तुलनीय हो सकता है। नारद रनिवास में पहुँचे तो सत्यभामा शृङ्गार कर रही थी, रूपगर्विता नारी के दर्पण में नारद की छाया प्रतिबिम्बित हो गयी, वैसे उन्होंने पीठ-पीछे खडे होकर अपने को छिपाने की बहुत कोशिश की थी।

[illegible] सिंगार सतभाम करेइ, नयण रेह कज्जल सवरेइ
तिलक लिलाट हाथ मसिवाडै, पण नारद रिसि गो तिह ठाई

नारद हाथ कमण्डल धरई, काल रूप अति देखत फिरई
सो सतिभामा पीछे ठियउ, दरपन मांहि विरूप देखियउ
देखि कुडीया कियउ कुताल, मात करला आयेउ वैताल

रूपगर्विता सत्यभामा के इस व्यंग्य से नारद तिलमिला उठे। बडे-बडे नृपीश्वर जिन्हें शीश झुकाते, सुरेश इन्द्र जिनके चरणो को नन्दन-पुष्पो से अर्चित करता उसी को एक नारी ने वैताल कह दिया। नारद क्रोध के मारे पागल हो गये

विणहु तूर जु नाव न चलई, ताकों तूर आणु जु मिलई
इकु स्याली इकु वीछी खाइ, इक नारद इकु चल्यो रिसाइ

एक तो स्याली (शृगालिनी) ऐसे ही चिल्लानेवाली, दूसरे यदि उसे विच्छू डस ले, एक तो नारद ऐसे ही वाचाल, दूसरे कहो क्रोध में हो तो क्या कहना। श्रीगिरिपर वैठ कर उस मानिनी नारी के गर्व को ध्वस्त करने के उपाय सोचने लगे। वदला ले लिया और कृष्ण का विवाह रुक्मिणी से कराकर सत्यभामा के सिर पर सौत ला दी।

प्रद्युम्न चरित्र में व्यग्य का एक दूसरा स्थल भी देखने योग्य है। प्रद्युम्न अपनी माँ से मिलकर कृष्ण को छकाने के लिए षड्यत्र करता है। यादवो की सभा में जाकर उसने पाडव और यादव वीरो से रक्षित कृष्ण को ललकारा—अरे यादवो और पाण्डवो से सुरक्षित कृष्ण! मैं तुम्हारी प्रियतमा को लिए जा रहा हूँ, शक्ति हो तो छुडाओ। कृष्ण और प्रद्युम्न की लडाई रुक्मिणी के मन में भय और आशका का कारण वन रही थी, उधर प्रद्युम्न के वाणो से कृष्ण के सभी अस्त्र-शस्त्र व्यर्थ हो रहे थे। प्रद्युम्न व्यग्य से कह रहा था

हँसि-हँसि वात कहै परदमनू, तो सम नाही छत्री कमनू
का पह सीख्यो पौरिस ठाउण, मो सम मिलिहि तोहि गुरु कउण
धनुप वाण छीने तुम तणे, तेउ रापि सके न आपणे
तो पतरिछ में डीठेउँ आज, इहि पराण तेइ भुजिउ राज
पुनि परदमनू जपइ तास, जरासंध क्यो मारिउ कांस

इस विचित्र और आत्मघाती युद्ध को चरम विन्दु पर पहुँचने के पहले नारद ने वीच-वचाव करके कृष्ण को प्रद्युम्न का परिचय कराया—कृष्ण अवसर कहाँ चूकनेवाले थे। वोले, हाँ-हाँ रुक्मिणी को ले जाओ, मैं नही रोकता। प्रद्युम्न ने गरदन झुका ली। ऐसे प्रसंगो पर कवि ने भारतीय मर्यादानुकूल विनोद का वडा सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया है।

§ ३५०. जैन काव्य नीति-वचनो का भी आगार हैं। इस प्रकार के विषयो पर लिखे हुए दोहे तथा अन्य मुक्तकोचित छन्द उस काल में अवश्य ही वहुत लोकप्रिय रहे होगे। परवर्ती अपभ्रश में लिखे हुए कुछ उपदेशात्मक मुक्तको का सकलन जैन गुर्जर कवियो में श्री देसाई ने किया है ऐसे कुछ दोहे नीचे उद्धृत किये जाते हैं। परवर्ती व्रजभाषा तथा हिन्दी की अन्य वोलियों में प्रचलित नीतिपरक दोहों से इनकी तुलना की जा सकती है

१ दिट्ठा जे नवि आलवइ पुच्छइ कुपल न वत्त
ताह तणइ किमि जाईये रे हीयडा नीसत्त

अंवड कथानक

देखत ही हरसे नही नयनन भरे न नेह
तुलसी वहाँ न जाइए कंचन बरसे मेंह

तुलसी

२ साहसीय लच्छी लहइ नहु कायर पुरसाण
काने कुण्डल रयण मइ कज्जल पुनु नयणाण
सीह न जोई चदवल, नवि जोई घण ऋद्धि
एकलडो वहु आभिडइ जह साहस तहँ सिद्धि

अवड कथानक

३. उत्तर दिशि न उन्हई उन्हइ तो वरसइं
सुपुरुष वयन न उच्चरहिं, उक्चरइ तु करइ
उत्तर दिशा में बादल नहीं उठते, उठते हैं तो अवश्य बरसते हैं
सज्जन बात नही बोलते, बोलते हैं तो उसे अवश्य करते हैं

विशालराज सूरि के शिष्य जिनराज सूरि ने अपने सस्कृत ग्रथ 'रूपचन्द्र कथा' में कुछ अवहट्ठ की रचनाएँ दी है। उनमें से कुछ दोहे नीचे दिये जाते हैं

जीमइं सांचु बोलियइ राग रोस करि दूरि
उत्तम सिउ सगति करे लाभइ जिम सुख भूरि। ७।
जहा सहाय हुइ बुद्धिवल, हुइ न तिहां विणास
सूर सवे सेवा करइ रहइ अगलि जिमि दास ॥ ९८ ॥

नीति वचनों के लिए डूँगर और छीहल कवि की बावनियो को देखना चाहिए। इनके प्रत्येक छप्पय में अत्यत मार्मिक ढग से किसी-न-किसी सत्य की व्यजना की गयी है। जैनियो के नीति-साहित्य ने ब्रजभाषा के नीति-साहित्य (गिरधर, वृन्द आदि के कुडलिया-साहित्य) को बहुत प्रभावित किया है।

भक्ति-काव्य

§ २५१ ईस्वी सन् की ७वी शताब्दी से अद्यतन काल तक अजस्र रूप से प्रवाहित हिन्दी-काव्य धारा में भक्ति का प्रवाह मन्दाकिनी की तरह अपनी शुभ्रता, निष्कलुष तरगावलि और अनन्त जनता के मन को नैसर्गिक शान्ति प्रदान करनेवाली दिव्य जल-धारा की तरह पूजित है। रवि बाबू ने लिखा है 'मध्य युग में हिन्दी के साधक-कवियो ने जिस रस-ऐश्वर्य का विकास किया उसमें असामान्य विशिष्टता है। वह विशेषता यह है कि एक साथ कवि की रचना में उच्चकोटि की साधना और अप्रतिम कवित्व का एकत्र मिलित सयोग दिखाई पड़ता है जो अन्यत्र दुर्लभ है।'[1]

भक्तिकाल के इस अप्रतिम और ऐश्वर्य-मडित काव्य को विदेशी प्रभाव की छाया में पला हुआ, ईसाइयत का अनुकरण बतानेवाले लोगों पर भारतीय मन का क्षोभ स्वाभाविक था। डॉ० ग्रियर्सन, वेबर, केनेडी यहाँ तक कि भारतीय पडित डॉ० भाण्डारकर तक ने यह प्रमाणित

[1] पुरोहित हरिनारायण शर्मा द्वारा सम्पादित सुन्दर ग्रन्थावली का प्राक्कथन, स० १९९३।

करने का प्रयत्न किया कि वैष्णव भक्ति आन्दोलन ईसाई-ससर्ग का परिणाम है। डॉ० ग्रियर्सन ने नेष्टोरियन ईसाइयो के धर्ममत का भक्ति आन्दोलन पर प्रभाव दिखाते हुए हिन्दुओ को उनका ऋणी साबित किया।[1] वेवर ने कृष्ण जन्माष्टमी के उत्सव की सास्कृतिक पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए कृष्ण जन्म की कथा को ईसामसीह की जन्म-कथा से जोड दिया।[2] केनेडी ने 'कृष्ण, ईसाइयत और गूजर' शीर्षक निबन्ध में यह बताने का प्रयत्न किया कि गूजरो से कृष्ण का घनिष्ठ सम्बन्ध है और चूँकि गूजर सीथियन जाति के हैं इसलिए उनमें प्रचलित बालकृष्ण की पूजा की प्रेरणा उनके मूल प्रदेश के किसी धर्म-मत से मिली होगी।[3] डॉ० भाण्डारकर ने इन्ही सब मतो का जैसे एकत्र सयोग प्रस्तुत करते हुए लिखा कि आभीर ही शायद बाल देवता की जन्म-कथा तथा उसकी पूजा अपने साथ ले आये। उन्होने भी क्राइष्ट और कृष्ण शब्द के कृष्ट-घृष्ट साम्य को प्रमाणित करने का घोर प्रयत्न किया और बताया कि नन्द के मन में यह अज्ञान कि वह कृष्ण के पिता हैं तथा कंस-द्वारा निरपराध व्यक्तियो की हत्या के विवरण क्राइष्ट जन्म की तत्सवन्धित घटनाओ से पूर्णत साम्य रखते हैं। यह सब कुछ भाडारकर के मत से आभीर अपने साथ भारत में ले आये।[4]

इन मतो को पढ़ने पर किसी भी विवेकवान पुरुष को लगेगा कि इनकी स्थापना के पीछे निश्चित पूर्वग्रह और न्यस्त अभिप्राय थे उनके कारण सत्य को आच्छन्न बनाने में इन विद्वानो ने सकोच नही किया। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने बडे खेद के साथ लिखा है कि 'भारतवर्ष का यह परम अपराध रहा है कि वह परम सहिष्णु और आश्रितवत्सल रहा है दुर्दिन में दुरवस्था की मार से जब एक दल के ईसाई भारत के दक्षिण हिस्से में शरणापन्न हुए उस समय शरणागतवत्सल भारत ने उन्हें बिना विचारे आश्रय दिया। उस दिन उसने सोचा भी नही था कि इन दुर्गत आश्रितो के सहधर्मी इस मामूली से सूत्र से भारतवर्ष के सारे गौरवो का दावा पेश करने लगेंगे।[5] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उपर्युक्त विद्वानो की धारणाओ का उचित निरास करते हुए राधा-कृष्ण के विकास का बडा सतुलित सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है। उन्होने स्वीकार किया है कि 'कृष्ण का वर्तमान रूप नाना वैदिक, अवैदिक, आर्य-अनार्य धाराओ के मिश्रण से बना है। इस प्रकार शताब्दियो की उलट-फेर के बाद प्रेम-ज्ञान वात्सल्य दास्य आदि विविध भावो के मधुर आलवन पूर्णब्रह्म श्री कृष्ण रचित हुए। माधुर्य के अतिरिक्त उद्रेक से प्रेम और भक्ति का प्याला लबालब भर गया। इसी समय व्रजभाषा का साहित्य बनना शुरू हुआ।'[6]

---

१ जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसाइटी, सन् १९०७ में प्रकाशित, हिन्दुओ पर नेष्टोरियन ईसाइयो का ऋण शीर्षक निवन्ध।

२ इडियन ऐंटिक्वेरी भाग ३–४ में उनका 'कृष्ण जन्माष्टमी' पर लेख।

३ जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसाइटी, सन् १९०७ में प्रकाशित उनका कृष्ण, क्रिश्चियानिटी और गूजर शीर्षक निवन्ध।

४ वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड अदर माइनर सेक्ट्स, पृ० ३८–३९।

५ डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के सूर साहित्य की भूमिका, पृ० ७।

६ सूर साहित्य, संशोधित सस्करण १९५६, बम्बई, पृ० ११ तथा १९।

§ ३५२ भक्ति-आन्दोलन के पीछे ईसाइयत के प्रभाव की बात की गयी है उसी प्रकार कुछेक विद्वानो की धारणा है कि यह आन्दोलन मुसलमानो के आक्रमण के कारण इतने आकस्मिक रूप में दिखाई पडा। इस धारणा का भी प्रचार करने में विदेशी विद्वानो का हाथ रहा है। प्रो० हैवेल ने अपनी पुस्तक 'दि हिस्ट्री ऑव आर्यन रूल' में लिखा कि मुसलमानी सत्ता के प्रतिष्ठित होते ही हिन्दू राज-काज से अलग कर दिये गये। इसलिए दुनिया की झझटो से छुट्टी मिलते ही उनमें धर्म की ओर जो उनके लिए एकमात्र आश्रय-स्थल रह गया था स्वाभाविक आकर्पण पैदा हुआ।[1] हिन्दी के भी कुछ इतिहासकारो ने इसी मत को स्वीकार किया है। प० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में भक्ति-आदोलन की सास्कृतिक पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए लिखा है कि 'देश मे मुसलसानो का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। इतने भारी राजनीतिक उलट-फेर के पीछे हिन्दू जन-समुदाय पर वहुत दिनो तक उदासी छायी रही। अपने पौरुप से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।'[2] बहुत से लोग सोचते हैं कि शुक्लजी ने भक्ति के विकास का मूल कारण मुसलमानी आक्रमण को बताया, किन्तु ऐसी बात नही है। शुक्लजी ने भक्ति आन्दोलन के शास्त्रीय और सैद्धान्तिक पक्षो का भी विश्लेपण किया है, उनके निष्कर्ष कितने सही हैं, यह अलग बात है, इस पर आगे विचार करेंगे। शुक्लजी ने सिद्धो और योगियो की साहित्य-साधना को 'गुह्य रहस्य और सिद्धि' के नाम से अभिहित किया है और उनके मत से भक्ति के विकास में इनकी वाणियो से कोई प्रभाव नहीं पडा। प्रभाव यदि पड सकता था तो यही कि जनता सच्चे शुद्ध कर्मों के मार्ग से तथा भगद्भक्ति की स्वाभाविक हृदय-पद्धति से हटकर अनेक प्रकार के मत्र, तत्र और उपचारो में जा उलझे।'[3] अत स्पष्ट है कि शुक्लजी के मत से ऐसी रचनाओ का भक्ति के विकास मे कुछ महत्त्वपूर्ण योग दान नही था। भक्ति का सैद्धान्तिक विकास 'ब्रह्म सूत्रो पर, उपनिपदो पर, गीता पर भाष्यो की जो परम्परा विद्वन्मण्डली के भीतर चल रही थी, उसमें हुआ।'[4] भक्ति के विकास में सहायक तीसरा तत्त्व शुक्लजी के मत से 'भक्ति का वह सोता है जो दक्षिण की ओर से उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पडते हुए जनता के हृदय-क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला।'[5] भक्ति जैसे लोक चित्तोद्भूत और लोकप्रिय मत को सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि भाष्य और टीका ग्रन्थो में ढूंढ़ना वहुत उचित नही कहा जा सकता क्योंकि तथा टीका ग्रन्थ भारतीय मनीपा की मौलिक उद्भावना और जीवन्त वुद्धि का परिचय नही देते। शुक्लजी के प्रथम और तृतीय कारण भी परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। यदि मुसलमानी आक्रमण के कारण जनता में दयनीयता का उद्भव हुआ जिसमे भक्ति के विकास में सहायता

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका में डॉ० द्विवेदी द्वारा उद्धृत, पृ० १५।
२ हिन्दी साहित्य का इतिहास, छठाँ सस्करण, पृ० ६०।
३ वही, पृ० [illegible]।
४ वही, पृ० [illegible]।
५ वही, पृ० ६२।

मिली तो मुसलमानों के आक्रमण से प्राय सुरक्षित दक्षिण मे यह 'भक्ति का सोता' कहाँ से पैदा हो गया जो उत्तर मे भी प्रवाहित होने लगा था।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भक्ति के विकास की दिशाओ का सकेत देनेवाले तत्त्वो का सधान करते हुए बताया है कि[1] बौद्धमत का महायान सप्रदाय अतिम दिनो में लोक-मत के रूप में परिणत हिन्दू धर्म मे पूर्णत घुलमिल गया, पूजा-पद्धति का विकास इसी महायान मत के काल में होने लगा था। हिन्दी भक्ति-साहित्य में जिस प्रकार के अवतारवाद का वर्णन है, उसका सकेत महायान मत में ही मिल जाता है। सिद्धो और नाथ योगियो की कविताएँ हिन्दी सत साहित्य से पूर्णतया सयुक्त हैं, इस प्रकार सत मत का उद्भव मुसलमानो के आक्रमण के कारण नहीं, बल्कि भारतीय चिन्ता के स्वाभाविक विकास का परिणाम है। इस प्रकार द्विवेदीजी की यह स्थापना है कि अगर इस्लाम नही आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।'[2]

§ ३५३ वस्तुत इन सभी प्रकार के वाद-विवाद का मूल कारण है भक्तिसबन्धी प्राचीन-साहित्य का अपेक्षाकृत अभाव। हम भक्ति के आन्दोलन को बहुत प्राचीन मानते हुए भी जयदेव के गीत गोविन्द से प्राचीन कोई साहित्य न पा सकने के कारण अपने सिद्धान्तो की पुष्टि के लिए ऐतिहासिक ऊहापोह में ही लगे रह जाते हैं। व्रजभाषा-भक्ति-साहित्य का आरम्भ सूरदास के साथ मानते हैं, राम भक्ति काव्य तुलसी के साथ शुरू होता है। प्राचीन सत काव्य ही ले-देकर कुछ पुराना प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था मे मुसलमानी आक्रमण के साथ भक्ति आन्दोलन का आरभ माननेवाले लोग इसे 'मुसलमानो जोश' का साहित्य कह कर गोटी बिठा देते हैं। इस दिशा में एक भ्रान्त धारणा यह भी बद्धमूल हो गयी है और जो हमें भक्ति काव्य के सर्वांगीण विश्लेषण में बाधा पहुँचाती है कि भक्ति के सगुण और निर्गुण मतवाद परस्पर विरोधी चीजें हैं। इस प्रकार के विचारवाले आलोचक सगुण काव्य को तो भारतीय परम्परा से सबद्ध मान लेते हैं और निर्गुण काव्य को विदेशी कह देते हैं। परिणाम यह होता है कि निर्गुण काव्य को धारा-च्युत कर देने पर सगुण भक्ति काव्य को १६वीं शती में उत्पन्न मानना पडता है और सूर तथा अन्य वैष्णव कवियो के लिए १३वीं शती के जयदेव और १४वी के विद्यापति एक मात्र प्रेरणा-केन्द्र बन जाते हैं। प० रामचन्द्र शुक्ल ने मध्यदेश में भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात खास तौर से व्रजभाषा-प्रदेश में वल्लभाचार्य के आगमन के बाद माना है।[3] डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है कि '१६वी शताब्दी के पहले भी कृष्ण-काव्य लिखा गया था लेकिन वह सब-का-सब या तो सस्कृत में है जैसे जयदेव कृत गीत गोविन्द या अन्य प्रादेशिक भाषाओ में जैसे मैथिल-कोकिल कृत पदावली। व्रजभाषा में लिखी हुई १६वीं शताब्दी से पहले की रचनाएँ उपलब्ध नही हैं।'[4]

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका का 'भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास' शीर्षक अध्याय।
२ वही, पृ० २।
३ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १५२।
४ नाम माहात्म्य, श्री व्रजांक, अगस्त सन् १९४०, व्रजभाषा नामक लेख।

मेरा नम्र निवेदन है कि सूरदास के पूर्व ब्रजभाषा में कृष्णभक्ति सम्बन्धी साहित्य प्राप्त होता है और यह साहित्य जयदेव के गीतगोविन्द से कम पुराना नही है। मैं सूर और अन्य ब्रजभाषा कवियो पर गीत गोविन्द के प्रभाव को अस्वीकार नही करता बल्कि मैं तो यह मानता हूँ कि सगुण भक्ति विशेषत कृष्ण भक्ति के विकास में गीतगोविन्द का अप्रतिम स्थान है। यह हमारे भक्ति कालीन काव्य का सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त प्रेरणा-ग्रन्थ रहा है। मेरा निवेदन केवल इतना ही है कि ब्रजभाषा मे कृष्ण काव्य की परम्परा काफी पुरानी है, कम से कम उसका आरम्भ १२वी शताब्दी तक तो मानना ही पडता है। इस अध्याय में मैं ब्रजभाषा में लिखी रचनाओ मे सन्त काव्य की निर्गुण मतवादी रचनाओ का विश्लेषण नही करूँगा क्योकि इसके बारे में काफी लिखा जा चुका है जिसे पुन दोहराने की कोई जरूरत नही मालूम होती। निर्गुण मतवाले कवियो की उन्ही रचनाओ पर विशेष ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ जो सगुण मत के ब्रजभाषा कवियो के काव्य को किसी न किसी रूप में प्रभावित करती हैं। इसलिए आरम्भिक ब्रज के सगुण भक्तिपरक काव्य खास तौर से कृष्ण भक्ति के काव्य पर ही अपने विचार प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

भागवत कृष्ण काव्य का उपजीव्य ग्रन्थ माना जाता है। और भी कई पुराणो में कृष्ण के जीवन तथा उनके अलौकिक कार्यों का वर्णन किया गया है। ईस्वी सन् के पूर्व ही कृष्ण वासुदेव भगवान् या परम दैवत के रूप मे पूजित होने लगे थे। सस्कृत साहित्य में कई स्थानो पर कृष्ण की अवतार के रूप मे अभ्यर्थना की गयी है। भागवत के अलावा हरिवंश-पुराण, नारद पचरात्र, आदि धार्मिक ग्रन्थो में कृष्ण लीला का वर्णन आता है। भास कवि के सस्कृत नाटको मे, जो कुछ विद्वानो की राय मे ईसा पूर्व लिखे गये थे, कई ऐसे हैं जिनमें कृष्ण के जीवन-चरित्र को नाट्य-वस्तु के रूप में ग्रहण किया गया है। परवर्ती सस्कृत काव्यो शिशुपाल वध आदि में कृष्ण के जीवन और कार्यों का वर्णन किया गया है। जयदेव का गीतगोविन्द तो कृष्ण भक्ति का अनुपम काव्य ग्रन्थ है ही।

धूली धूसरेण वर मुक्क सरेण तिणा मुरारिणा
कीला रस वसेन गोवालय गोवी हियय हारिणा
मदीरउ तोडिवि आवट्टिउं, अद्ध विरोलिउं दहिउं पलोट्टिउ
कावि गोवी गोविन्दहु लग्गी, एण महारी मंथानि भग्गी
एयहि मोल्ले देहु आलिंगणु, ण तो मा मेल्लहु मे प्रगणु
काहिं वि गोविहि पडरु चेल्लउ, हरि तणु छाइहि जायउ कालउ

—उत्तर पुराण, पृ० ६४

भागवत से अत्यत प्रभावित होते हुए भी पुष्पदत की कथा में कृष्ण-भक्ति का स्फुट स्वरूप नही दिखाई पडता फिर भी रास-क्रीडा आदि के वर्णन यह तो प्रमाणित करते हैं कि कृष्ण के रास का महत्व १०वी शती के एक जैन कवि के निकट भी कम नही था। यह याद रखना चाहिए कि पुष्पदत्त का यह वर्णन गीत गोविन्द से दो सौ वर्ष पहले का है। बाद में भी कई जैन कवियो ने कृष्ण सबधी काव्य लिखे परंतु कृष्ण को भगवान् के रूप में चित्रित नही किया गया। वे एक महाप्राणवान् पुरुष के रूप में ही चित्रित हुए। प्रद्युम्न चरित काव्यो में तो उनकी कही-कही दुर्गति भी दिखाई गयी है। जैन कथा के कृष्ण-काव्य पर अगरचन्द नाहटा का लेख द्रष्टव्य है।

§ ३५५ १२वी शताब्दी में हेमचन्द्र के द्वारा सकलित अपभ्रश के दोहो में दो ऐसे दोहे हैं जिनमें कृष्ण सबंधी चर्चा है। एक में तो स्पष्ट रूप से कृष्ण और राधा के प्रेम की चर्चा की गयी है। मेरा ख्याल है कि ये दोहे एतत्संबंधी किसी पूर्ण काव्य ग्रथ के अश हैं। दोहे इस प्रकार हैं

हरि नच्चाविउ पंगणहिं विम्हइ पाडिउ लोउ
एम्वइ राह पओहरह ज भावइ तं होउ

हरि को प्रागण में नचानेवाले तथा लोगो को विस्मय में डाल देनेवाले राधा के पयोधरो को जो भावे से हो। सभवत यह किसी हास्यप्रगल्भा सखी के वचन राधा के प्रति कहे गये हैं। इस पद में राधा कृष्ण के प्रेम का सकेत तो मिलता है, किन्तु उस प्रेम को भक्ति-सयुक्त मानने का कोई स्पष्ट सकेत नही मिलता। दूसरा दोहा अवश्य ही स्तुतिमूलक है।

मइ भणियउँ वलिराय तुहु केहउ मग्गण एहु
जेहु तेहु न वि होइ वढ मई नारायण एहु

इस पद्य में नारायण और वलि की कथा का सकेत मिलता है, इसमें भी हम बहुत अशो तक भक्ति के मूल भावो का निदर्शन नही पाते। फिर भी ये दोहे आरम्भिक व्रजभाषा के अज्ञात कृष्ण काव्यो की सूचना तो देते ही हैं, इस तरह का न जाने कितना विपुल साहित्य रहा होगा जो दुर्भाग्यवश आज प्राप्त नही होता। प्रबध चिन्तामणि में भी एक दोहा ऐसा आता है जिसमें राजा वलि की कथा को लक्ष्य करके एक अन्योक्ति कही गयी है।

अम्हणिओ सन्देसड़ो तारय कन्ह कहिज्ज
जग दालिद्दिहिं डुब्बिउ वलि वंधणह मुहिज्ज

मेरा संदेशा उन तारक कृष्ण से कहना कि संसार दारिद्रय में डूब रहा है अब तो वलि को बधन-मुक्त कर दीजिए। इस दोहे का 'तारक' शब्द महत्त्वपूर्ण है। उद्धारक या तारक विशेषण से कृष्ण के प्रति परमात्मबुद्धि का पता चलता है।

§ ३५६ कृष्ण भक्ति काव्य का वास्तविक रूप पिंगल ब्रजभाषा में १४वी शती के आस-पास निर्मित होने लगा। प्राकृतपैंगलम् का रचनाकाल १४वी शती के पहले का माना जाता है। एक सकलन ग्रन्थ है जिसमें १४वी शती तक के पिंगल ब्रजभाषा के काव्यो से छन्दो के उदाहरण छाँटे गये हैं। इसमें कृष्णभक्ति सम्बधी कई पद्य सग्रहीत हैं। कृष्ण के अलावा शकर, विष्णु आदि की स्तुति के भी कई पद दिखाई पडते हैं। एक पद मे तो दशावतार का वर्णन भी मिलता है। इन पद्यो का विश्लेषण करने पर भक्ति के कई तत्त्वो का सधान मिलता है। प्रेमभक्ति का बडा ही मधुर और मार्मिक चित्रण हुआ है। स्तुतिपरक पद्यो में भी आत्मनिवेदन तथा प्रणति का रूप स्पष्ट दिखाई पडता है। शिव सम्बन्धी स्तुति में शकर के रूप का चित्रण देखिए

जसु कर फणवइ वलय तरुणि वर तणुमह विलसइ
नयन अनल गल गरल विमल ससहर सिर णिवसइ
सुरसरि सिर मॅह रहइ सयल जण दुरित दमण कर
हरि ससिहर हरउ दुरित वितरहु अतुल अमय वर (१९०, १११)

राम सम्बन्धी स्तुति का एक पद

वप्पअ उक्कि सिरे जिणि लिज्जिउ तेज्जिय रज्ज वणंत चले विणु
सोहर सुन्दर सगहि लग्गिय मारु विराध कवध तहाँ हणु
मारइ मित्तिलिय वालि विहडिय रज्ज सुगीवह दिज्ज अकंटक
वध समुद्द विणासिय रावण सो तुव राहव दिज्जउ विम्मय (५७६।२२१)

स्तुतिपरक पद्यो में राम, शिव या कृष्ण की वन्दना परमात्मा के रूप मे की गयी है और वे दीनो पर कृपा करनेवाले तथा अभय देनेवाले इष्टदेव के रूप में चित्रित किये गये हैं किन्तु सर्वाधिक महत्त्व के कृष्ण सम्बन्धी वे पद्य हैं जिनमें कृष्ण को परमात्मा के रूप में मानते हुए भी गोपी या राधा के साथ उनके प्रेम का वर्णन किया गया है। ऐसे पद्यो में कवि ने बडे कौशल से लौकिक प्रेम का पूरा रूप प्रस्तुत करते हुए भी उसमे चिन्मय सत्ता का आरोप किया है। सूरदास की कविता मे गोपियो के सामान्य लौकिक प्रेम के धरातल से चिदोन्मुख प्रेम का जैसा उन्नत रूप उपस्थित किया गया है, वैसा ही चित्रण इन पदो में भी मिलता है। इनमे से कई पद्य जयदेव के गीतगोविन्द के श्लोको मे भाव-साम्य रखते हैं इस प्रसग पर पीछे काफी चर्चा हो चुकी है।

पडता है। कृष्ण को नारायण के रूप में स्मरण करते हुए भी कवि ने उनके राधा-प्रेम का जो चित्र प्रस्तुत किया है उसमें प्रेमरूप भक्ति के तत्त्व दिखाई पडते हैं। मधुर भाव की भक्ति का यह सकेत ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। राधा तत्त्व के क्रमिक विकास का अत्यत वैज्ञानिक और व्यापक अध्ययन प्रस्तुत करनेवाले डॉ० शशिभूषणदास गुप्त ने लिखा है कि 'सस्कृत और प्राकृत वैष्णव कविता के बाद पहले-पहल देश भाषा में ही राधा कृष्ण की प्रेम-सबधी वैष्णव पदावली १५वी शती के मैथिल कवि विद्यापति और बँगला के कवि चण्डीदासजी की रचनाओ में पाते हैं।'[1] प्राकृत काव्य से डॉ० दासगुप्त का मतलब गाथा सप्तशती आदि में पाये जानेवाले उन शृगारपरक प्रसगो से है जिनका सम्बन्ध वे राधा कृष्ण प्रेम से अनुमानित करते हैं।[2] उन्होंने इसी प्रसग में प्राकृतपैंगलम् की एक गाथा भी उद्धृत की है जिसके बारे में उन्होंने लिखा है कि परवर्ती काल में गाथा सप्तशती से सगृहीत प्राकृत पिंगल नामक छन्द के ग्रन्थ में जो प्राकृत गाथाएँ उद्धृत मिलती हैं उसके कितने ही श्लोको और परवर्ती काल की वैष्णव कविता के वर्णन और स्वर में समानता लक्षणीय है, जैसे

फुल्ला णीवा भम भमरा दिट्ठा मेहा जले सामला
णच्चे विज्जु पिय सहिया, आवे कता कहु कहिया ॥[3]
(वर्णवृत्त ८१)

जाहिर है कि डॉ० दासगुप्त ने इस ग्रन्थ को अत्यत शीघ्रता से देखा अन्यथा उन्हें परवर्ती वैष्णव पदावली से प्राकृतपैंगलम् के कुछ छन्दो की शैली का साम्य दिखाने के लिए उपर्युक्त प्रकृत-वर्णन सम्बन्धो सामान्य वर्णन से सतोष न करना पडता। प्राकृतपैंगलम् में कृष्ण राधा के प्रेम सम्बन्धी कई अत्यत उच्चकोटि की कविताएँ सकलित हैं। एक छन्द पहले दे चुके हैं, दूसरा इस प्रकार है

जिणि कस विणासिअ कित्ति पयासिअ
मुट्ठि अरिट्ठ विणास करे गिरि हत्थ धरे
जमलज्जुण भजिय पय भर गजिय
कालिय कुल सहार करे, जस भुवण भरे
चाणूर विहडिअ, णिय कुल मडिअ
राहा मुह महु पान करे, जिमि भमर वरे
सो तुम्ह णरायण विप्प परायण
चित्तह चिंतिय देउ वरा, भयभीअ हरा (३२८।२०७)

स्पष्ट है कि इस पद में नारायण के रूप में कृष्ण का परम दैवत या परमात्म बुद्धि से स्मरण किया गया है। ऐसे परमात्मा का राधा के मुख-मधु का भ्रमर की तरह पान करने का वर्णन इस बात का सकेत है कि १४वी शताब्दी में यानी विद्यापति और चण्डीदास

---

१ राधा का क्रम विकास, हिन्दी सस्करण सन् १९५६, काशी, पृ० २७६–७७।
२ देखिए वही पुस्तक, पृ० १८९।
३ वही, पृ० १५३।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शैव और वैष्णव मतो में समन्वय का प्रयत्न सेन-वंशीय राजाओ के काल में आरम्भ हो गया था। प्राकृतपैंगलम् के पद्य में यद्यपि इस श्लोक में वर्णित शिव और विष्णु की मिश्रमूर्ति का वर्णन नही किया गया है और न तो विद्यापति की तरह

धन हरि धन हर धन तव कला
खन पीत वसन खनहिं वघछला

वाली मूलत एक, किन्तु प्रतिक्षण दोनो ही रूपो में दिखाई पडनेवाली अलौकिक मूर्ति का वर्णन है फिर भी एक ही पद में 'जयति शकर' और 'जयति हरि' कहनेवाले लेखक के मन में दोनो के प्रति समान आदर की भावना अवश्य थी, ऐसा तो मानना ही पडेगा।

§ ३५७ व्रजभाषा में कृष्ण सम्बन्धी काव्य का अगला विकास सन्त कवियो की रचनाओ में हुआ। सन्त कवि प्राय निर्गुण मत के माने जाते हैं इसीलिए उनकी सगुण भावना की कविताओ को भी निर्गुणिया वस्त्र पहनाया जाना हमने आवश्यक मान लिया है। परिणाम यह होता है कि सहज अभिव्यक्तिपूर्ण कविताओ के भीतर रहस्य और गुह्य की प्रवृत्ति का अनावश्यक अन्वेषण आरम्भ हो जाता है। निर्गुण और सगुण दोनो बिलकुल भिन्न धाराएँ मान ली जाती हैं। वस्तुत ये दोनो मूलत एक ही प्रकार की साधनाएँ है। जैसा आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि 'जहाँ तक ब्रह्म हमारे मन और इन्द्रियो के अनुभव में आ सकता है वहाँ तक हम उसे सगुण और व्यक्त कहते है, पर यही तक इसकी इयत्ता नही है। इसके आगे भी उसकी अनन्त सत्ता है इसके लिए हम कोई शब्द न पाकर निर्गुण, अव्यक्त आदि निषेधवाचक शब्दो का आश्रय लेते हैं। ब्रह्म की पूर्णता की अनुभूति सगुण मतवालो का भी ध्येय है, किन्तु व्यक्ति इस अनुभूति के लिए जिस साधना का प्रयोग करता है वह सीमित है, ब्रह्म का दर्शन इसी सीमित क्षेत्र में होने पर सगुण की सज्ञा पाता है। सूरदासादि अष्टछाप के कवियो ने निर्गुण निराकार ब्रह्म में विश्वास करनेवालो की बडी कडी आलोचना की है। कुछ लोग इस प्रकार के प्रमाणो के आधार पर दोनो मतो को एक दूसरे का द्रोही सिद्ध करना चाहते है किन्तु यह याद रखना चाहिए कि सूर आदि भक्त कवि ब्रह्म की निराकार स्थिति को अस्वीकार नही करते थे, वे निराकार ब्रह्म की प्राप्ति के ज्ञानमार्गी साधन को ठीक नही मानते थे। श्रीमद्‌भागवत के एक श्लोक में बताया गया है आनन्द स्वरूप ब्रह्म के तीन रूप होते हैं—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। ब्रह्म चिन्मय-सत्ता है, जो भक्त ब्रह्म के इस चिन्मय स्वरूप के साक्षात्कार का प्रयत्न करते है वे ब्रह्म के एक अंश को जानना चाहते हैं या जान पाते हैं, इस मत के अनुसार 'केवल ब्रह्म' 'ज्ञान स्वरूप ब्रह्म' ज्ञाता और ज्ञेय के विभाग से रहित होता है। परमात्मा उसे कहते है जो सम्पूर्ण शक्ति का अधिष्ठाता है। इस रूप के उपासको में शक्ति और शक्तिमान का भेद ज्ञात रहता है। किन्तु तीसरा रूप सर्वशक्तिविशिष्ट भगवान् का है, इसकी सम्पूर्ण शक्तियो का ज्ञान केवल सगुण भाव से भजन करनेवाले भक्त को ही हो सकता है।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते

(भा० ३।२।११)

बांह छुड़ाये जात हो निबल जानि के मोहि
हिरदय तैं जब जाहुगे सबल बदौंगे तोहि

प्रेम की अनन्त व्यापिनी पीडा से जिसका चित्त आपूरित हो जाता है, वही वेदना की इतनी बडी पुकार सुनाई पडती है।

मोकउ तू न विसारि तू न विसारि तू न विसारे रामईआ[1]

कबीर को अपने गोविन्द पर पूरा विश्वास है पर उन्हें पास जाने में डर लगता है। नाना प्रकार के मतवादो के चक्कर मे पड कर जीव कष्टो की गठरी ही बाँधता रह जाता है। धूप से उत्तप्त होकर किसी तरु-छाया में विश्राम करना चाहे तो तरु से ही ज्वाला निकलने लगती है। इन प्रपचो को कबीर समझते हैं इसलिए वे विश्वास से कहते हैं मैं तो तुझे छोडकर और किसी की शरण में नही जाना चाहता—

गोविन्दे तुम पै डरपौ मारी
सरणाइ आयो क्यूँ गहिए यह कौनु बात तुम्हारी
धूप दाझ तैं छाइं तकाई मति तरवर सचु पाऊँ
तरवर माहे ज्वाला निकसै तो क्या लेइ बुझाऊँ ।।१।।
तारण तरण-तरण तू तारण और न दूजा जानौं
कहै कबीर सरनाई आयौं आन देव नहि मानौं ।।२।।

कबीर के पदो, साखियो तथा अन्य स्फुट रचनाओ में भगवान् के प्रति उनके अनन्य प्रेम की वडी ही सहज और नैसर्गिक अभिव्यक्ति हुई है। मधुर भाव का बीजाकुर कबीर की रचनाओ मे मिलता है। यह सत्य है कि ये रचनाएँ रहस्य की प्रवृत्ति से रगी हुई हैं और इनमें निराकार परमात्मा और जीवात्मा के मिलन या वियोग के सुख-दु ख का चित्रण है किन्तु भाव की गहराई और प्रेम की व्यजना का यह रूप सगुण मत के कवियो को अवश्य ही प्रभावित किये होगा क्योकि उनकी रचनाओ में इसी भाव की समानान्तर पक्तियाँ मिल जाती हैं।

१ नैना अतर आव तूँ ज्यूँ हौं नैन झपेउँ
ना हौं देखौं और कूँ ना तुझ देखन देउँ (कबीर)

इसी प्रकार की पक्तियाँ मीरा के एक पद में भी आती है। प्रेम की वेदना से तप्त जलहीन मीन की तरह यह आत्मा व्याकुल है। विरह का भुजग इस शरीर को अपनी गुजलक में लपेटे है, राम का वियोगी कभी जीवित नही रह सकता

विरह भुवगम तन वसै मत्र न लागै कोइ
राम वियोगी ना जिवै, जिवै त वौरा होइ (मीरा)
तुम विनु व्याकुल केसवा नैन रहे जल पूरि
अन्तरजामी छिप रहे हम क्यों जीवें दूरि
आप अपरछन होइ रहे हम क्यों रैन विहाइ
दादू दरसन कारने तलफि तलफि जिय जाइ (दादू)

---

१ वही, पृ० १५०।

तुम्हरी भक्ति हमारे प्रान
छूटि गये कैसे जन जीवन ज्यों पानी बिनु प्रान

(सूरदास)

रैदास मोह-पाश मे बाँधनेवाले ईश्वर को चुनौती देते हुए कहते है कि तुम्हारे बन्धन से तो हम तुम्ही को याद करके छूट जायेंगे किन्तु माधव हमारे प्रेम-बन्धन से तुम कभी न छूट सकोगे

जउ हम बाँधे मोह फास हम प्रेम बँधनि तुम बाँधे
अपने छूटन को जतन करहु हम छूटे तुम आराधे
माधवे जानत हहु जैसी तैसी । कहा करहुगे ऐसी ॥

रैदास उस अनन्त सौन्दर्य-मूर्ति पर निछावर है। यदि उनका प्रिय विशाल गिरिवर है तो वे उसके अन्तराल मे निवास करनेवाले मयूर है, यदि वह चांद है तो ये चकोर। रैदास कहते है कि माधव, यदि तुम प्रेम के इस बन्धन को तोड भी दो तो हम कैसे तोड सकते है, तुमसे तोड कर और किससे जोडे।

जउ तउ गिरिवर तउ हम मोरा
जउ तुव चन्द तउ हम भये है चकोरा
माधवे तुम तोरहु तउ हम नहिं तोरहि
तुम सिउ तोरि कवन सिउ जोरहि

रैदास की इस प्रकार की कविताओ में प्रेम की जिस सहज अनुभूति और पीडा की विवृत्ति हुई है क्या वह परवर्ती काल मे सूर की विरहिणी गोपियो की अनुभूतियो से मेल नही खाती ? सूर की गोपियां भी इस प्रकार की परिस्थिति में यही कहती है

तिनका तोर करहुँ जनि हमसों एक बार की लाज निबाहियो
तुम बिनु प्रान कहा हम करि है यह अवलम्ब सुपनेह लहियो

§ ३५९ कृष्ण-भक्ति-काव्य के विकास मे सगीतकार कवियो ने भी कम योग नही दिया। सगीतज्ञ कवियो ने न केवल अपनी स्वर-साधना से भाषा को परिष्कार और मधुर अभिव्यञ्जना प्रदान की, उन्होंने न केवल अप्रतिम नाद-सौन्दर्य से कविता को अधिक दीर्घायुषी बनाया बल्कि अपनी सम्पूर्ण सगीत-प्रतिभा को आराध्य कृष्ण के चरणो पर लुटा भी दिया। इसी कारण सगीतज्ञ कवियो के पद गेयता के लिए जितने लोकप्रिय हुए उतने ही उनमें निहित भक्ति भाव के लिए भी। गोपाल नायक और बैजू बावरा के पदो में आत्मनिवेदन, गोपीप्रेम तथा भक्ति के विविध पक्षो का बडा ही विशद और मार्मिक चित्रण हुआ है। गोपाल नायक की बहुत कम रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। अपने एक पद में वे रास का चित्रण इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं

काधे कामरी गो अलाप के नाचे जमुना तीर नाचे जमुना तीर
पीछे रे पावरे लेति नाचि लोई मांगवा
भुअ आली मृदग वासुरी बजावै गोपाल बैन बतरस ले अनंद
ले मुराद मालवा।

(रागकल्पद्रुम)

बैजू की कविताएँ कृष्ण-लीला के प्राय सभी पक्षो को दृष्टि मे रख कर लिखी गयी हैं। नटवर, रूप-मोहिनी, गोपी-प्रेम, विरह, रास, मान-मनुहार आदि सभी पक्षो पर लिखी गयी इन कविताओ मे कवित्व शक्ति का बहुत अच्छा प्रस्फुटन दिखाई पडता है। विरह के वर्णन में बैजू ने उद्दीपनो तथा अन्य कवि-परिपाटी-विहित उपकरणो का प्रयोग नही किया है, बडी सहज और निरलकृत भाषा में उन्होने विप्र-वियोग की वेदना को व्यक्त किया है .

प्यारे बिनु भर आए दोउ नैन
जबते श्याम गवन कीनो गोकुल तें नाही परत री चैन
लगे न भूख न प्यास न निद्रा मुख आवत नहि बैन
बैजू प्रभु कोई आन मिलावै बाकी बलिहार चरन रैन

§ ३६० विष्णुदास, थेघनाथ आदि कवियो ने कृष्ण के जीवन-चरित्र से सम्बद्ध महाभारत, गीता आदि के भाषानुवाद भी प्रस्तुत किये हैं। इन अनुवादो की परपरा बाद में और भी अधिक विकसित हुई। सूरदास, नन्ददास, कृष्णदास आदि वल्लभ सप्रदाय के कवियो ने भागवत का पूरा या खडश अनुवाद किया। विष्णुदास का रुक्मिणी मगल विवाहलो की पद्धति में लिखा हुआ सुन्दर भक्ति-काव्य है।

इस प्रकार हमने देखा कि ब्रजभाषा में कृष्ण भक्ति काव्य की परपरा काफी पुरानी है। सूरदास के समय में अचानक कृष्ण भक्ति के काव्य का उदय नही हुआ और न सूरदास इस प्रकार के प्रथम कवि हैं। ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य का आरभ जयदेव और विद्यापति से पुराना नही तो कम से कम उनके समय से तो मानना ही पडेगा। प्राकृतपैंगलम् की रचनाओ को देखते हुए यह कहना भी शायद अत्युक्ति न हो कि हिन्दी प्रदेश की किसी भी बोली मे इतना प्राचीन कृष्ण-काव्य नही मिलेगा, जैसा ब्रजभाषा में है। अष्टछाप के कवियो की प्रतिभा बेजोड थी, इसमें सन्देह नही, किन्तु उनकी कविता में जो शक्ति, परिस्फूर्ति तथा मृदुता है वह केवल उन्ही की साधना का परिणाम नही है बल्कि १०वी शताब्दी से इस भाषा में कृष्ण-काव्य की जो अविच्छिन्न साहित्य-परपरा रही है, उसके अप्रतिम योग-दान का भी परिणाम कहना चाहिए।

शृंगार-शौर्य तथा नीतिपरक काव्य

§ ३६१. भक्ति और शृगार दोनो ही मध्यकालीन साहित्य की अत्यत प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। भक्त कवियो के शृगारिक वर्णनो को लेकर आलोचको ने बहुत निर्मम आक्षेप किये हैं। आचार्य शुक्ल जैसे अपेक्षाकृत उदार और सिद्ध आलोचको ने भी सूर के बारे में विचार करते हुए उनके शृगारिक प्रेम के विषय में यही शिकायत की है। उन्होने लिखा है कि 'समाज किधर जा रहा है इस बात की परवाह ये नही रखते थे। यहाँ तक कि अपने भगवत्प्रेम की पुष्टि के लिए जिस शृगारमयी लोकोत्तर छटा और आत्मोत्सर्ग की अभिव्यञ्जना से इन्होने जनता को रसोन्मत्त किया उसका लौकिक स्थूल दृष्टि रखनेवाले विषय वासना पूर्ण जीवो पर कैसा प्रभाव पडेगा इनकी ओर इन्होने ध्यान न दिया। जिस राधा और कृष्ण के प्रेम को इन भक्तो ने अपनी गूढातिगूढ चरम भक्ति का व्यजक बनाया उसको लेकर आगे के कवियो ने शृगार की उन्मादकारिणी उक्तियो से हिन्दी काव्य को भर दिया।' शुक्लजी के इस कथन से दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली तो यह कि वे कृष्णभक्ति में शृगार की अतिवर्णना को समाज की दृष्टि से कल्याणकारी नही मानते, दूसरी यह कि रीतिकाल के कामोद्दीपक चित्रणो की

अतिशयता का कारण भक्त कवियों के शृंगारिक चित्रणों को ही मानते हैं। इस प्रकार के मत दूसरे कतिपय आलोचकों ने भी व्यक्त किये हैं। प्रश्न उठता है कि क्या हिन्दी साहित्य में विशेषत ब्रजभाषा साहित्य में, सूरदास के पहले शृंगारपूर्ण चित्रणों का अभाव है? क्या भक्त कवियों ने शृंगारिक चित्रण की शैली को आकस्मिक रूप से उद्भूत किया, क्या इस प्रकार के वर्णनों की कोई परिपाटी उनके पहले के साहित्य में नहीं थी? ऐसे प्रश्नों के उत्तर के लिए हमें मध्यकालीन संस्कृति, समाज और उसमें प्रचलित विश्वासों का पूर्व विश्लेषण करना होगा। हमें यह देखना होगा कि शृंगार की तत्कालीन कल्पना क्या थी। शृंगार की मर्यादा क्या थी, उसके किस स्वरूप को समाज में स्वीकार किया गया।

§ ३६२ जयदेव जैसे कवि ने शृंगार और भक्ति को परस्पर समन्वित भाव धारा के रूप में ग्रहण किया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि 'यदि हरि स्मरण में मन सरस हो और यदि विलास-कला में कुतूहल हो तो जयदेव की मधुर कोमलकान्त पदावली को सुनो

> यदि हरिस्मरणे सरस मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्
> मधुरकोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्।

वह कौन-सी सामाजिक परिस्थिति थी जो जयदेव जैसे विख्यात रससिद्ध कवि को यह नि संकोच कहने को प्रेरित करती थी कि काम कला और हरिस्मरण एकत्र उनकी पदावली में सुलभ है। यह केवल जयदेव जैसे कवि के मन की ही बात नहीं है। काव्य तो व्यक्ति के मन की अभिव्यक्ति है इसलिए उसमें निहित सत्य को हम वैयक्तिक धारणा भी कह सकते हैं। उस काल के धार्मिक ग्रन्थों में जो भक्ति के नियामक तत्त्वों का विश्लेषण करते हैं, शृङ्गार और भक्ति की इस समन्वय-धर्मिता के बारे में विशद रूप से विचार किया गया है। भक्ति की चरमोपलब्धि के लिए साधक को कई सीढ़ियाँ पार करनी पड़ती हैं। भागवत के एक श्लोक में श्रद्धा तथा रति को भक्ति का क्रमिक सोपान बताया गया है

> सतां प्रसंगान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायना कथा
> तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति

(भागवत ३।२०।२२)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'स्त्रीपूजा और उसका वैष्णव रूप' शीर्षक निबंध में इस विषय पर काफ़ी विस्तार के साथ विचार किया है।[1] उन्होंने लिखा है कि 'वस्तुत. भारतवर्ष में परकीया-प्रेम बहुत पुराने ज़माने से एक ख़ास सम्प्रदाय का धर्म-सा था। कहा जाता है कि ऋग्वेद (१०।१२९।२५) से इस परकीया प्रेम का समर्थन होता है। अथर्ववेद (९-५-२७-२८) में इसका स्पष्ट वर्णन पाया जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् (२।१३।१) के 'काचन परिहरेत्' मंत्रांश का अर्थ आचार्य शंकर ने इस प्रकार किया है 'जो वामदेव सामन् को जानता है उसे मैथुन की विधि का कोई बन्धन नहीं है—उसका मत है किसी स्त्री को मत छोड़ो, अवश्य ही इस मतवाद को वैदिक युग में बहुत अच्छा नहीं समझा जाता होगा।'[2] कथावत्थु

---

१ सूर साहित्य, संशोधित संस्करण, १९५६, बंबई, पृ० २०-६०।

२ वही, पृ० २३-२४।

जातक (२३।२) और मज्झिम निकाय (भाग १ पृ० १५५) से भी यह सिद्ध होता है कि बुद्ध-काल में भी यह प्रथा प्रचलित थी। भगवान् बुद्ध ने कई स्थलो पर इसकी निन्दा की है।[1]

§ ३६३. बौद्ध धर्म के अन्तिम दिनो में वज्रयान का बडा जोर था। उसके प्रभाव से 'पंचमकार सेवन' का बहुत प्रचार हुआ। महासुख की प्राप्ति के लिए त्रिपुरसुन्दरी को पराशक्ति के रूप में निरन्तर साथ रखना आवश्यक माना जाने लगा। तन्त्रवाद में रति और शृगार की भावना को एक नये रहस्य और आध्यात्मिकता का रग मिला। वैष्णव धर्म में नारी पुरुष की पूरक दिव्य शक्ति के रूप में अवतरित हुई। उज्ज्वल नीलमणि में राधा को कृष्ण की स्वरूपा-ह्लादिनी शक्ति बताया गया जिनके सहवास के बिना कृष्ण अपूर्ण रहते हैं।[2] चैतन्यदेव ने परकीया प्रेम को भक्ति का मुख्य साधन बताया। नारी-पुरुष के सामान्य प्रेम के विविध पक्षो का ज्यो-का-त्यो भक्ति के विविध पक्षो के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया।

यह सैद्धान्तिक पक्ष है। सूरदास को तथा अन्य व्रजकवियो को इससे वैचारिक प्रेरणा ही मिली। शृगार के वर्णनो की व्यावहारिक प्रेरणा उन्हें गीतगोविन्द तथा प्राचीन भागवतादि संस्कृत ग्रथो से तो मिली ही, किन्तु सीधा प्रभाव उनके ऊपर प्राचीन व्रजभाषा के काव्य का पडा इसमें सदेह नही। सक्षेप में प्राचीन व्रजभाषा के शृगार काव्य के विविध पक्षो का विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

§ ३६४. ऐहिकतापरक शृगारिक रचनाओ का आरम्भ ६वी-७वी शताब्दी के संस्कृत वाङ्मय में दिखाई पडता है। ऐसा नही कि इस प्रकार की रचनाएँ पहले के साहित्य में प्राप्त नही होती। वैदिक साहित्य में भी इस प्रकार की रचनाओ का सकेत मिलता है किन्तु वहाँ मानव मन में दैवी शक्तियो का आतक तथा आध्यात्मिक प्रवृत्तियो का प्रभाव उग्ररूप में वर्तमान है। संस्कृत-काव्य देवताओ के स्तुति गान की वैदिक परपरा की पृष्ठभूमि में विकसित हुआ इसलिए उसमें पौराणिकता और नैतिक रूढ़िवादिता की सर्वदा प्रधानता बनी रही। विद्वानो की धारणा है कि लौकिक शृ गारपरक काव्यो का आरभ प्राकृत काल से हुआ, खास तौर से चौथी-पाँचवी शताब्दी मे विभिन्न जातियो के मिश्रण और उत्तर-पश्चिम से आयी हुई विदेशी जातियो की सस्कृति के कारण। हूणो और आभीरो के भारत आगमन के बाद मध्यदेशीय प्राकृत भाषा इनके सम्पर्क और प्रभाव से एक नये रूप में विकसित हुई और इनकी स्वच्छन्द शौर्य और रोमास की प्रवृत्ति ने इस भाषा के साहित्य को भी प्रभावित किया। मध्यकालीन सस्कृत में निजघरी कथाओ का सहारा लेकर रोमास लिखने की परिपाटी भी—जिसका चरम विकास बाणभट्ट की कादम्बरी में दिखाई पडता है—शुद्ध रूप से भारतीय शैली नही कही जा सकती। अपभ्रश की रचनाएँ तो इस मध्यकालीन सस्कृत-रोमास की पद्धति से भी भिन्न हैं क्योकि इनमें आमुष्मिकता का आतक बिल्कुल ही नही दिखाई पडता। हाल की गाथा सत्तसई के वर्ण्य-विषय की नवीनता की ओर सकेत करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'प्रेम और करुणा के भाव, प्रेमियो की रसमयी क्रीडाएँ, उनका घात-प्रतिघात इस ग्रन्थ में अतिशय जीवित रस में

---

१ दि कलकत्ता रिव्यू जून १९२७, पृ० ३६२—३ तथा मनीन्द्र मोहन बोस का 'पोस्ट चैतन्य सहजीया कल्ट' पृ० १०१।

२ उज्ज्वल नीलमणि, कृष्ण वल्लभा, ५।

प्रस्फुटित हुआ है। अहीर और अहीरिनियो की प्रेम गाथाएँ, ग्राम-वधूटियो की शृङ्गार चेष्टाएँ, चक्की पीसती हुई या पौधो को सीचती हुई सुन्दरियो के मर्मस्पर्शी चित्र विभिन्न ऋतुओ का भावोत्तेजन, आदि बातें इतनी जीवित, इतनी सरस और इतनी हृदय-स्पर्शी हैं कि पाठक बरबस इस सरस काव्य की ओर आकृष्ट होता है। यहाँ वह एक अभिनव जगत् में प्रवेश करता है जहाँ आध्यात्मिकता का झमेला नही है। कुश और वेदिका का नाम नही सुनाई देता, स्वर्ग और अपवर्ग की परवाह नही की जाती, इतिहास और पुराण की दुहाई नही दी जाती। द्विवेदीजी ने बडे ही सूक्ष्म ढग से मध्यकालीन शृ गार की इस नयी धारा और प्राचीन सस्कृत काव्यो की परम्परा का प्रभाव बताया है। वह लोक-साहित्य परम्परा क्या थी, इसका निर्णय देना कठिन है, किन्तु उस लोक-साहित्य परम्परा के अग्रिम विकास का विवरण अवश्य दिया जा सकता है क्योकि वह अपभ्रश में सुरक्षित है।

§ ३६५ हाल की गाथासप्तशती मे ही शृङ्गार के दोनो पक्षो का जो मिश्रण प्रस्तुत किया गया है, वह इतना मार्मिक है कि परवर्ती काल के कवियो ने—विद्यापति सूरदास आदि ने—उन अनूठी उक्तियो को बिल्कुल अपना बना लिया। इस तरह के दो एक उदाहरणो को देखने से ही इस काव्य की चेतना और परवर्ती काव्य को प्रभावित करने की शक्ति का पता चलता है।

परदेशी प्रिय लौट कर आता नही। नायिका उसके प्रेम की अतिशयता के कारण आज ही गया है, आज ही गया है ऐसा कह कर जो रेखा खीच देती है उससे दीवाल भर गयी किन्तु वह आया नही

> अज्ज गओत्ति अज्ज गओत्ति अज्ज गओत्ति गण्णीए।
> पढम व्विअ दिअहद्धे कुड्डो रेहाहिं चित लियां॥ (३।२)

विद्यापति की नायिका तो दिवस की रेखा खीचते-खीचते अपने नाखूनो को ही खो चुकी किन्तु श्याम मथुरा से लौटने का नाम नही लेते

> कत दिन माधव रहब मथुरा पुर कबे घुचब विहि वाम।
> दिवस लिखि लिखि नखर खोयाओल बिछुरल गोकुल नाम॥

हेमचन्द्र सकलित दोहो में भी एक में यही भाव व्यक्त किया गया है

> जो मइ दिण्णा दिअहडा दइएँ पवसन्तेण।
> ताण गणन्तिएँ अगुलिउ जज्जरिआउ नहेण॥

गाथा सप्तशती की एक दूसरी गाथा मे नायिका अपने प्रिय के आगमन पर कहती है कि तुम्हारे आने पर सभी प्रकार के मगल आयोजन करके तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ। नयनोत्पल से मैंने पथप्रकीर्ण किया है और कुचो का कलश बनाकर हृदय के द्वार पर स्थापित कर दिया है

> रथ्यापइण्ण ण अणुप्पला तुम सा पडिच्छये एन्तम।
> दारणि हिर्येहि दोहि वि मगलकलसेंहि व थणेहि॥ (२।४०)

सूर की गोपी कृष्ण के आने पर अपनी हृदय की कमल कुटी में आसन ठीक करती है और मगल कलश की तरह उसके स्तन चोली के बन्धन तोड कर स्वय ही प्रकट हो जाते हैं।

करत मोहि कछुवै न बनी ।
हरि आये चितवत ही रही सखि जैसे चित्र धनी ॥
अति आनन्द हरष आसन उर कमल कुटी अपनी ।
हृदय उमगि कुच कलस प्रकट भये तूटी तरकि तनी ॥ (सूरसागर १८८०)

प्रिय से मिलने को उत्सुक नायिका अभिसार के लिए जाने से पहले इतनी प्रेम-विह्वल हो गयी है कि वह निमलिताक्षी अपने घर में ही चहलकदमी कर रही है—

अज्ज मए गन्तव्वं घणअन्धारे वि तस्स सुहस्स
अज्जा निमीलिअच्छी पअ परिवाडि घरे कुरइ (३।४९)

सूर की राधा की भी तो अभिसार की उत्सुकता के कारण यही हालत हो जाती है—

आप उठी आँगन गई फिरि घरहीं आई
कबधौं मिलिहौ स्याम कौ पल रह्यो न जाई
फिरि-फिरि अजिरहिं भवनहिं तलवेली लागी ।
सूर स्याम के रस भरी राधा अनुरागी (सूरसागर १९९९)

§ ३६६. सक्रान्तिकालीन अपभ्रश में लिखे दोहो में मुजराज और मृणालवती के प्रेम पर लिखे हुए दोहे अपनी रसमयता और साकेतिकता के लिए प्रसिद्ध हैं। आरम्भिक व्रजभाषा में लिखे ये दोहे शृगार-काव्य के 'मुक्ताहल' हैं। इनमे सहज प्रेम और नैसर्गिक माधुर्य की एकत्र पराकाष्ठा दिखाई पडती है

मुज भणइ मुणालवइ जुव्वण गयुं न झूरि
जो सक्कर सय खण्ड थिय सोवि स मीठी चूरि

शर्करा का सौवाँ खड भी क्या मिठास में कम होता है। मुज अपनी प्रौढ़ा नायिका को हर प्रकार से आश्वस्त करना चाहता है।

हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण मे सकलित दोहो में प्रेम और शृगार की अत्यत स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है। विरह की निगूढ वेदना को व्यक्त करनेवाले एक-एक दोहे में परवर्ती व्रजभाषा के विरह वर्णनो का पूरा इतिहास भरा पडा है। प्रिय-विश्लेष दु ख से पीडित नायिका पी-पी पुकारनेवाले चातक से कहती है, हे निराश, चातक क्यो व्यर्थ की 'पिउ-पिउ' पुकार रहा है। इतना रोने से क्या होगा। तेरी जल से और मेरी वल्लभ से कभी आशा पूरी न होगी।

वप्पीहा पिउ-पिउ भणवि कित्तिउ रुअहि हयास
तुम जलि महु पुणु वल्लहईं विहुँ वि न पूरिअ आस

पपीहे के बार-बार पुकारने पर वेदना-विजडित चित्त से वह निराशा को स्वाभाविक मानती हुई, आक्रोश भी व्यक्त करती है चिल्लाने से कुछ न होगा, विमल जल से सागर भरा है किन्तु अभागे को एक बूँद भी नही मिलता—

वप्पीहा कइँ बोल्लिएण निग्घिण वारइ वार
सायर भरिअइ विमल जल लहइ न एक्कइ धार

सूर की गोपियो के विरह-वर्णन को जिन्होने पढा है वे जानते हैं कि पपीहा के प्रति प्रेम-आक्रोश, सहानुभूति के कितने शब्द गोपियो ने नाना प्रकार के करुणापूर्ण भावोच्छ्वास के साथ सुनाये हैं

१ सखी री चातक मोहि जियावत
जैसे हि रैनि रटत हौं पिव-पिव तैसेहि वह पुनि गावत (३३३४)
२ अजहु पिय-पिय रजनि सुरति करि झूठैं ही मुख मागत वारि (३३३५)
३ सब जग सुखी दुखी तू जल बिनु तउ न उर की विथा विचारत (३३३५)

मिलन या सयोग शृङ्गार में जडता या अचेतना की स्थिति का वर्णन किया जाता है। अपभ्रश दोहे में एक नायिका कहती है कि अग से अग न मिले, अधरो से अधर न मिले, मैंने तो प्रिय के मुख-कमल को देखती ही रात बिता दी—

अंगहि अंग न मिलिउ हलि अहरें अहर न पत्तु
पिय जोअन्तिहे मुह कमलु एवम्इ सुरउ समत्तु

प्रिय के सौन्दर्य का ऐसा ही अप्रतिम चित्रण सूरदास की रचनाओ मे भरा पडा है।

कमल नैन मुख बिनु अवलोकैं रहत न एक घरी
तब तैं अग-अग छवि निरखत सो चित तैं न टरी (सूर २३८६)

§ ३६७ इन दोहो में कुछ तो सहज शृङ्गार और प्रेम के दोहे है, कुछ शृङ्गारिक उक्तियो और उत्तेजन भाव के भी है जिनका अतिवादी विकास बाद में बिहारी आदि रीतिकालीन कवियो के काव्य में दिखाई पडता है। इनमे शृङ्गार का गभीर रूप नही दिखाई पडता, ऊहात्मक अथवा अत्यत सस्ते कोटि की कामुक और शृङ्गारिक चेष्टाओ की विवृत्ति दिखाई पडती है। रीतिकालीन कविता को सस्ते किस्म के शृङ्गार की प्रेरणा भी यही से मिली, इसे भक्ति-काल के शृङ्गार का ही विकास नही कहना चाहिए वैसे सूर तथा अन्य भक्त कवियो ने शृङ्गार का कहीं-कही बडा उद्दाम और विक्षोभक चित्रण भी किया है जो मर्यादित नही है, ऐसे चित्रणो ने भी रीतिकालीन कविता को शृङ्गार की अश्लील कोटि तक पहुँचने में मदद दी। इसके लिए कुछ अशो में सूर आदि के रति और सयोग के शृङ्गारिक वर्णन भी उत्तरदायी हो सकते हैं। इस प्रकार अष्टछाप के भक्त कवि अथवा रीतिकालीन कवियो की घोर शृङ्गारिक चेष्टाओवाले काव्य की प्रेरणा प्राचीन ब्रज के इन दोहो में वर्तमान थी। जैसे

विट्टिए मइ भणिय तुहु मा कुरु वकी दिट्ठि
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिवँ मारइ हियइ पइट्ठि

हे पुत्री, मैंने तुझसे कहा था कि दृष्टि बाँकी मत कर। यह अनीदार भाले की तरह हृदय में पैठकर चोट करती है।

नखशिख तथा रूप-चित्रण

§ ३६८ रीतिकाल की शैली को यदि एकदम सकुचित अर्थ मे कहना चाहें तो नखशिख चित्रण और नायिका भेद की शैलो कह सकते हैं। परवर्ती सस्कृत साहित्य में ही इस प्रकार की शैली का प्रादुर्भाव हो गया था। एकदम रूढ़ अर्थ में उसे ऐसा न भी मानें तो भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि भवभूति, माघ, श्रीहर्ष आदि की कृतियों में नखशिख वर्णन अथवा मानव रूप-चित्रण ज्यादा अलकरण-प्रधान और विलक्षणता-बोधक होने लगा था। आचार्य शुक्ल ने नखशिख वर्णनो की अतिवादी परिणति की निन्दा करते हुए, मनुष्य के सहज रूप के चित्रण की विशेषता बताते हुए कहा है कि 'आकृति-चित्रण का अत्यंत उत्कर्ष वहाँ समझना

चाहिए जहाँ दो व्यक्तियो के अलग-अलग चित्रो में हम भेद कर सकें।'[1] शुक्ल जी ने इसी प्रसग में रीतिकालीन कवियो की शैली को अत्यत निकृष्ट बताते हुए लिखा है कि 'यहाँ हम रूप चित्रण का कोई प्रयास नही पाते केवल विलक्षण उपमाओ और उत्प्रेक्षाओ की भरमार पाते हैं इन उपमानो के योग द्वारा अगो की सौन्दर्य-भावना से उत्पन्न सुखानुभूति में अवश्य वृद्धि होती है, पर रूप निर्दिष्ट नही होता।'[2]

नखशिख-वर्णन सूर तथा उनके अन्य समसामयिक ब्रजभाषा कवियो में मिलता है। कहीं-कही तो इस चित्रण में वस्तुत रूढ़ियो के प्रयोग की इयत्ता हो जाती है। सूरदास के 'अद्भुत एक अनूपम बाग' वाले प्रसिद्ध नखशिख चित्रण को लक्ष्य करके शुक्लजी ने लिखा था कि इस स्वभाव सिद्ध (तुलसी के) अद्भुत व्यापार के सामने 'कमल पर कदली-कदली पर कुंड, शख पर चन्द्रमा' आदि कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध रूपकातिशयोक्ति के कागजी दृश्य क्या चीज हैं।'[3] हमें यहाँ यह विचार करना है कि सूरदास आदि की कविताओ में जो इस प्रकार के कविप्रौढोक्ति रूपकातिशयोक्ति की अधिकता दिखाई पडती है, उसका कारण क्या है। मैंने ऊपर निवेदन किया है कि सस्कृत के परवर्ती काव्यो में भी इस प्रकार के अलकरण की प्रवृत्ति दिखाई पडती है। किन्तु नखशिख-वर्णन की इस शैली का विकास—इस अतिशयतावादी शैली का—परवर्ती जैन अपभ्रश काव्यो तथा आरभिक ब्रजभाषा की रचनाओ में भी दिखाई पडता है। मैंने पीछे थूलिभद्दफागु से वेश्या के रूप वर्णन का प्रसग उद्धृत किया है (देखिए § ३४८) इस प्रसंग में यद्यपि शैली रूढ है इसमे सन्देह नहीं, किन्तु लेखक ने उसे विलक्षणता प्रदर्शन के लिए नही अपनाया है। यौवन-सपन्न उरोजो की उपमा वसन्त के पुष्पित फूलो के स्तवक से देना एक प्रकार का अलंकरण ही कहा जायेगा किन्तु यह अलंकरण रूप चित्रण में बाधक नही है, बल्कि उसे और भी अधिक उद्भासित करने के लिए प्रयुक्त हुआ है। पुष्पदन्त ने नारी सौन्दर्य का जो चित्रण किया है वह अभूतपूर्व है। पुष्पदन्त के चित्रण शुक्लजी द्वारा प्रतिष्ठापित मानदण्ड के अनुकूल हैं, उसने न केवल दो नारियो के रूप मे अन्तर को स्पष्ट अकित किया है बल्कि भिन्न-भिन्न प्रदेशो की नारियो के रूप, स्वभाव तथा व्यवहारो का ऐसा सूक्ष्म वर्णन किया है जैसा पूर्ववर्ती काव्यो में कम मिलेगा। हिन्दी काव्यधारा में पृष्ठ २०० पर दिये गये पद्याश में नारी-सौन्दर्य का चित्रण देखा जा सकता है। हेमचन्द्र-सकलित अपभ्रश दोहो में भी इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं। स्फुट मुक्तक होने के कारण इनमें सर्वांगीणता नही दिखाई पडती। किन्तु सूक्ष्मता का स्पर्श तो है ही। जैसे नेत्रो का वर्णन देखिए .

> जिवँ जिवँ वंकिम लोअणहु निरु सामलि सिक्खेइ।
> तिवँ तिवँ वम्महु निअय सर खर पत्थर तिक्खेइ॥

ज्यो-ज्यो गोरी अपनी बाँकी आँखो की भगिमा सिखाती है, वैसे ही वैसे मानो कामदेव अपने बाणों को पत्थर पर तीखा करता जाता है।

---

१. चिन्तामणि, भाग २, काशी २००२, पृ० ३।

२. वही, पृ० २८।

३. देखिए शुक्लजी का 'तुलसीदास की भावुकता' शीर्षक निबन्ध।

नखशिख वर्णन का और अधिक प्राधान्य परवर्ती रचनाओ में दिखाई पडता है। प्राकृतपैंगलम् की ब्रजभाषा-रचनाओ में ऐसे वर्णन विरल नही हैं जो किसी काव्य के नखशिख चित्रण के प्रसग से छाँटे गये हैं।

रासो काव्यो में वर्णित नखशिख शैली का भी प्रभाव सूर आदि पर कम न पडा। सदेशरासक में नायिका के रूप का चित्रण रूढ शैली का ही है, किन्तु उसमें उपमानो के चयन में कवि की अन्तर्दृष्टि और सूझ का पता चलता है। पथिक से अपने विदेश-स्थित पति को सदेश भेजते समय उसके रूप की क्षण-क्षण परिवर्तित दशा का कवि ने स्थान-स्थान पर बडा मार्मिक चित्रण किया है

छायंति कह कहव सलज्जिर णिय करही
कणक्र कलस झंपंती णं इन्दीवरही
तो आसन्न पहुत्त सागग्गिर गिर वयनी
कियउ सद्द सविलासु करुण दीहर नयनी
(सदेशरासक २९)

अपने कनक कलश सदृश उरोजो को इन्दीवरो से (हाथो से) ढँकती हुई वह पथिक के सामने किसी-किसी तरह सलज्ज भाव से पहुँची।

§ ३६९. चन्दवरदाई के वर्णनो की अलकरणप्रियता और रूढ निर्वाहधर्मिता की आलोचको ने बहुत निन्दा की है। कुछ लोग तो इन्ही आलोचनाओ के कारण पृथ्वीराज रासो को केवल युद्धबहुल वर्णनात्मक काव्य मात्र मानते हैं, उसमें काव्य-गुणो की सभावना पर भी विचार करना नही चाहते। हम यह मानते हैं कि रासोकार ने सर्वत्र काव्य का ऊँचा आदर्श ही नही रखा है किन्तु कई स्थलो पर चन्दवरदाई का काव्य-कौशल उच्चकोटि का दिखाई पड़ता है और नि सदेह ऐसे चित्रणो ने परवर्ती काव्य को बहुत अधिक प्रभावित किया है। शशिव्रता-समय में कवि नायिका की वय सन्धि का चित्रण इन शब्दो में करता है

जल सैसव मुद्ध समान मय रवि वाल वह्निक्रम लै अथय
वर सैसव जौवन सधि अती सु मिलै जनु पित्तह्व वाल जती
जु रही लगि सैसव जुव्वनता सु मनो ससि रतन राज हिता
जु चलै मुरि मारुत झकुरिता, सु मनो मुर वेस मुरी मुरिला

मारुत के झँकोरे से इधर-उधर झुक-झुक पडनेवाली लता की तरह उसकी वय कभी शैशव कभी यौवन की ओर झुक जाती थी। विगत शैशव वालारुण सूर्य की तरह अस्तमान था, और नवीन कान्ति से शरीर को उद्भासित करनेवाला यौवन पूर्ण चन्द्र की तरह उदित हो रहा था—इस वय सन्धि में शशिव्रता का श्रृङ्गार सुमेरु पर्वत की तरह देदीप्यमान हो रहा था। पर्वत के दोनो तरफ अस्त होते सूर्य और उदीयमान चन्द्र के प्रकाश का सम्मिलन-वय सन्धि के लिए कितनी उचित और आकर्षक उत्प्रेक्षा है

राका अरु सूरज्ज विच उदय अस्त दुहुँ वेर
वर ससिवृत्ता सोहई, मनो श्रृङ्गार सुमेर

स्पष्टत' इस वर्णन में कवि ने प्रौढ़ोक्ति सिद्ध उपमानो और उत्प्रेक्षाओ का ही सहारा लिया है, किन्तु इस चित्रण से कवि पाठक के मन में सौन्दर्योद्भूत आनन्द को प्रकट करने में भी सफल हुआ है। नखशिख वर्णन में भी कवि यदि रुचि-सपन्न हुआ, नारी-रूप के प्रति उसके मन में मात्र विक्षोभकारी आकर्षण ही नही, यदि पस्तुत सौन्दर्य के प्रति अनासक्त जागरूकता और सस्कारी चेतना हुई तो ऐसे रूढिग्रथित वर्णनो में भी ताज़गी और जीवन दिखाई पडता है। छिताई वार्ता में कवि नारायण दास सौन्दर्य का ऐसा ही चित्रण प्रस्तुत कर सकने में सफल हुए हैं। छिताई का रूप पद्मिनी की तरह ही पारस-रूप है, जड चेतना को अपनी अपूर्व प्रभावकारिता से स्पन्दित कर देनेवाला। यद्यपि कवि प्रतीपालकार के आधार पर नायिका के अग-प्रत्यग के सौन्दर्य-चित्रण में उपमानो या अप्रस्तुतो का पराभव दिखाता है, किन्तु इसी के साथ-साथ छिताई के सौन्दर्य की सार्वभौम प्रभुता भी प्रकट होती है

तें सिर गुथी तु वेनी माल, लाजनि गये भुंयग पयालि
वदनि जोति वै ससिहर हरी, तूँ सुख क्यों पावहि सुन्दरी
हरे हरिण लोचन तैं नारि, ते म्रिग सेवैं अजौं उजारि ॥५४५॥
जे गज कुभ तोहि कुच भये, ते गज देस दिसाउर गये
तैं केहरि मझस्थल हर्यौ, तौ हरि ग्रेह कदक नीसर्यौ ॥५४६॥
दसन ज्योति तें दारिउँ भये, उदर फूटि ते दाँरिउ गये
कमल वास लइ अग छिनाइ, सजल नीर तें रहे लुकाइ ॥५४७॥

सौन्दर्य का स्थूल चित्रण वर्ण्य-वस्तु को साकार करने की दृष्टि से कठिन और कौशल-साध्य व्यापार है किन्तु इससे भी कठिन इस तरह के रूप के चित्रो या छायाँकनो को पुन चित्रित करने का कार्य है। ऐसे स्थलो पर कवि को सौन्दर्य को सजीव बनानेवाले गुणो, हाव-भाव, अंगो के मोड, चाल-ढाल आदि का वडा सूक्ष्म ज्ञान रखना अनिवार्य हो जाता है। अलाउद्दीन द्वारा देवगिरि नरेश को उपहार में दिये गये चित्रकार ने एक दिन चित्रशाला में छिताई को देख लिया। उसने छिताई की एक छवि कागज़ पर चित्रित कर ली। नारायण दास चित्र की शोभा का वर्णन यो करते हैं

चतुर चितोरै देखी जिसी, करि कागज मँह चित्री तिसी
चितवनि चलनि मुरनि मुसक्यानि, चतुर चितौरे चित्री वानि ॥१२५॥
सुन्दरि सुघर, सुघर परवीन, जोवनि जानि वजावइ वीन
नाद करत हरि को मन हरइ, नर वापुरा कहा धुं करइ ॥१२६॥
इक सुन्दर अरु सुवन शरीर, मिश्री मिश्रित मो जिमि षीर
इकु मोनों इकु होइ सुगन्ध, लहइ परस प्रिया गहि कंध ॥१२७॥
चित्र देपि वहुरो चित्रिनी, आलस गति गयन्द गुर्वनी

छीहल कवि की पच सहेली में शृगार का बहुत ही सूक्ष्म और मार्मिक वर्णन हुआ है। वियोग शृङ्गार में विरहिणी नायिकाओ के अनुभावो का चित्रण उन्हीं के शब्दो में इतना सवेद्य और अनुभूतिपरक है कि कोई भी सहृदय विरह की इस दशकारी वेदना से व्याकुल हुए बिना नहीं रहता। छीहल की पच सहेली के दोहे पीछे दिये हुए हैं (देखिए § १९७)।

वीरता और शौर्य

§ ३७०. मध्यकालीन ब्रजभाषा काव्य मे शौर्य और शृङ्गार की प्रवृत्तियो का अद्भुत समिश्रण दिखाई पडता है। मध्यकालीन रोमेण्टिक काव्य चेतना में शौर्य और शृङ्गार दोनो ही सहगामी भाव हैं। यद्यपि भक्ति–रीति काल में शौर्य और वीरता-परक काव्य कम लिखे गये, इस काल की मूल धारा शृङ्गार और भक्ति की ही रही परंतु इस युग में भी भूषण, सूदन, सोमनाथ, लाल जैसे अत्यत उच्चकोटि के वीर-काव्य प्रणेता भी उत्पन्न हुए।

बहुत से आलोचक रासो काव्यो में चित्रित वीरता की प्रवृत्ति को बहुत सहज और स्वस्थ नही मानते। एक आलोचक ने लिखा है कि उस काल का वीर काव्य उन थोड़े से सामन्तो की वीरता की अतिशयोक्ति पूर्ण गाथाओ पर आश्रित है, जिनकी हार-जीत से जनता को कोई चिन्ता-प्रसन्नता नही होती थी, इसलिए ऐसे काव्यो को वीर काव्य नही कहा जा सकता। इसके विपरीत आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि पाडित्य के चमत्कार पर पुरस्कार का विधान ढीला पड गया था। उस समय तो जो भाट या चारण किसी राजा के पराक्रम विजय, शत्रुकन्या-हरण आदि का अत्युक्तिपूर्ण आलाप करता या रण क्षेत्रो में जाकर वीरो के हृदय में उत्साह की उमगें भरा करता था वही सम्मान पाता था। शुक्लजी ने रासो काव्यो की मूल प्रवृत्ति वीरता की ही बतायी वैसे उनके मत से 'इन काव्यो मे शृङ्गार का भी थोडा मिश्रण रहता था, पर गौण रूप में। प्रधान रस वीर ही रहता था।'[1] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृथ्वीराज रासो की प्रेम-कथा की पृष्ठभूमि में वर्तमान तुमुल सघर्ष और युद्ध के वर्णनो की अधिकता को देखते हुए लिखते हैं कि 'वीर रस की पृष्ठभूमि में यह प्रेम का चित्र बहुत ही सुन्दर निखरता है, पर युद्ध का रग बहुत गाढ़ा हो गया है। प्रेम का चित्र उसमे एकदम डूब गया है। या तो युद्ध का इतना गाढ़ा रग बाद के किसी अनाडी चित्रकार ने पोता है, या फिर चद बहुत अच्छे कवि नही थे।'[2] मध्यकालीन ऐतिहासिक अथवा अर्ध ऐतिहासिक काव्यो मे प्राय अधिकाश में प्रेम तथा शौर्य का ऐसा ही असतुलित, कही फीका कही अतिरजित, वर्णन सभी कवियो ने किया है। ऐसे स्थलों पर जब हम वर्तमानयुगीन दृष्टि से वीर-काव्यो का निर्णय करने लगेंगे तो निराशा स्वाभाविक है। बख्तियार खिलजी ने केवल दो सौ घोडो से समूचे अग–वग के राजाओ को एक लपेट में सर कर लिया और जनता के कानो पर जूं नही रेंगी–इसलिए यह वीर काव्य जनता से कोई संबन्ध नही रखते इसलिए इन्हें 'बलेड काव्य' मानना शुक्लजी के अतीत प्रेम का प्रमाण मात्र है–इस तरह की धारणावाले आलोचक शायद यह भूल जाते हैं कि पृथ्वीराज ने संपूर्ण मध्येशिया और पश्चिमोत्तर भारत को शान्ति को नष्ट करनेवाले महमूद गोरी को सत्रह बार पराजित भी किया था। हल्दीघाटी के युद्ध में राणा प्रताप ने जो शौर्य दिखाया, वह तत्कालीन जनता के लिए धर्म-गाया बन गया था। यह सही है कि इन काव्यो में शौर्य का चित्रण बहुत ही अति-रजना पूर्ण और कृत्रिम है, यह भी सही है कि इनमें प्रेम की प्रधानता है किन्तु यह एकदम 'क्षीयमाण मनोवृत्ति' का ही प्रतिबिंब है ऐसा कहना बहुत उचित नही है।

§ ३७१ हेमचन्द्र–सकलित अपभ्रश दोहो में शौर्य के नैसर्गिक रूप की बहुत ही मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। इस शौर्य-काव्य की सबसे बडी विशेषता है इसके भीतर सामान्य

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, छठाँ सस्करण, पृ० ३१–३२।

२ हिन्दी-साहित्य का आदि काल, पृष्ठ सख्या ८८।

जीवन की स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता की प्रेरणा। आलोचको को रासो काव्यो के रूढ़िवादिता, अतिरंजना और अतिशयोक्ति पूर्ण उन वर्णनो से शिकायत रही है, जिनमें युद्ध का निश्चित उपकरणो के आधार पर वर्णन कर दिया जाता है, घोडो की जाति गिनाकर, अस्त्र-शस्त्रो के नामो की एक लम्वी सूची वनाकर तथा भयंकरता और दर्प को सूचित करने के लिए तोडे-मरोडे शब्दो की विचित्र पलटन खडी करके कवि युद्ध का वातावरण उपस्थित करने का कृत्रिम प्रयत्न करता है, हेमचन्द्र के अपभ्रश-दोहो मे इस प्रकार के शब्द-जालिक युद्ध का वर्णन नही है। यहाँ युद्धोन्माद 'तडातड-भडाभड' वाले शब्दो की ध्वनि में नही, सैनिक के रक्त में दिखाई पडता है जिसके लिए युद्ध दिनचर्या है, तलवार जीविका का साधन।

स्वतन्त्रता-प्रिय उन्मुक्त जीवन व्यतीत करनेवाली जातियो के जीवन के दोनो ही पक्ष शृगार और शौर्य इन दोहो में साकार हो उठे हैं। यह शौर्य ऐसा है जिसमें शृङ्गार सहयोग देता है। नायिका को अपने प्रिय के अपूर्व त्याग पर श्रद्धा है, वह जानती है अपनी आज़ादी के लिए वह सब कुछ निछावर कर देगा—बस बच रहेगी घर में प्रिया और हाथ में तलवार :

महु कन्तहु वे दोसड़ा हेल्लि म झंखहि आलु
देन्तहो हउ पर उव्वरिअ जुज्झंतहो करवालु (४।३७९)

एक ओर प्रिया अपने प्रिय की मृत्यु पर सखियो से सतोष व्यक्त करती हुई कह सकती है कि अच्छा हुआ जो वह युद्धभूमि में मारा गया, कही भाग कर आता तो मेरी हँसाई होती वही अपने वाहुवली और निरन्तर युद्धोद्यत प्रिय के लिए चिन्तित होकर नि श्वासें भी लेती है। सीमा-प्रदेश का निवास, सकोची प्रिय, स्वामी की कृपा और उसका 'वाहु बलुल्लडा' पति—भला शान्त कैसे रह सकती है

सामि पसाउ सलज्जु पिउ सीमा सधिहिं वासु
पेक्खिवि वाहु वलुल्लडा धण भेल्लइ नीसासु (४।४३०)

निरन्तर युद्ध में लिप्त, रणक्षेत्र को ही सुहाग-शैया माननेवाली प्रियतमा शान्ति के दिनो में उदास हो जाती है। भला वह भी कोई देश है जहाँ लडाई-भिडाई न हो। वह अपने प्रिय को दूसरे देश में जाने की सलाह देती है जहाँ युद्ध होता हो, यहाँ तो विना युद्ध के स्वस्थ रहना कठिन है

खग्ग विसाहिउ जहिं लहहुं पिय तहिं देसहिं जाहु
रण दुब्भिक्खे भग्गाईं विणु जुज्झे न वलाहु (४।३८६)

§ ३७२. प्राकृतपैंगलम् की चारण शैली की रचनाओ में शौर्य का रूप यद्यपि हेमचन्द्र-सकलित दोहो में अभिव्यक्त शौर्य की तरह नितान्त रूढ और स्वाभाविक नहीं है, किन्तु इसे हम परवर्ती रासो काव्यो की तरह नितान्त रूढ और भाव-शून्य नहीं कह सकते। ये रचनाएँ न केवल भाषा की दृष्टि से ही प्राचीन अपभ्रश और चारण शैली की ब्रजभाषा के बीच की कड़ी कही जा सकती हैं वल्कि काव्य-वस्तु और कौशल में भी इन्हें हम उपर्युक्त दोनो प्रकार की रचनाओ का मध्यान्तरित विकास कह सकते हैं। इन रचनाओ में वे सभी रुढ़ियाँ दिखाई पडने लगती हैं जिनका परवर्ती विकास रासो काव्यो में तथा आगे चलकर भूषण, सूदन, लाल आदि कवियो की ब्रजभाषा-रचनाओ में दिखाई पडता है। हम्मीर युद्ध के लिए चले, युद्ध प्रयाण के समय की परिस्थिति का चित्रण कवि-शब्दो में इस प्रकार है :

§ ३७५ आरम्भिक ब्रजभाषा में वर्तमान इन मुख्य प्रवृत्तियो के इस विश्लेषण से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि परवर्ती ब्रज की सभी मुख्य धाराएँ किसी-न-किसी रूप में इन्ही के विकसित रूप हैं। भक्ति काव्य, जैन काव्य, वीर काव्य, शृङ्गार अथवा नीति काव्य का विकास ब्रजभाषा में आकस्मिक रूप से नहीं हुआ और न तो इसकी पृष्ठभूमि में केवल सस्कृत काव्य की प्रेरणा ही थी, बल्कि १००० से १६०० सवत् तक के ब्रजभाषा साहित्य में इनके बीजविन्दु वर्तमान थे, इनका विकास इसी काव्य की पृष्ठभूमि पर आगे सम्पन्न हुआ।

प्राचीन ब्रज के काव्य-रूप

उद्गम-स्रोत और विकास

§ ३७६ रूप और पदार्थ दोनो ही सापेक्ष्य शब्द हैं। आकार या रूप के विना वस्तु की और वस्तु के आधार के विना आकार की कल्पना नही हो सकती। अशरीरी वस्तुओ के भी रूप होते हैं जो केवल बोधगम्य हैं, वे स्थूल इद्रियो के विषय नही हो सकते। इसीलिए अरस्तू ने रूप या आकार (Form) की परिभाषा बताते हुए कहा था कि किसी वस्तु के अस्तित्व का बोध करानेवाले चार कारणो में रूप या आकार प्रथम कारण है। दो कारण वस्तु से बहिर्भूत (Extrinsic) हैं अर्थात् उसका स्रष्टा और प्रयोजन। दो वस्तु मे अतर्निहित होते हैं, एक वस्तु का उपादान कारण और दूसरा उसका रूपाकार कारण। भौतिक कारण वस्तु के उपकरण का परिचय देता है और आकार उसे 'वह' बनाता है जो वह है। इस प्रकार अरस्तू के मत से रूप केवल बाहरी ढाँचे या ऊपरी आकार का नाम नही है बल्कि वह निर्माण-प्रक्रिया के नियमो को व्यक्त करता है। कला के क्षेत्र में इस रूप या फार्म का अर्थ बाहरी आकार-प्रकार नही है बल्कि रूप में वह सब कुछ शामिल है जो किसी वस्तु को स्पष्ट करने, उसकी अभिव्यक्ति कराने तथा उसके अस्तित्व का स्पष्ट बोध कराने में समर्थ हो।[1] इस प्रकार काव्य-रूप का मतलब छन्द, अलकरण या सजावट नही बल्कि भाव या वक्तव्य वस्तु को स्पष्ट करने की एक निश्चित प्रणाली है। यह शैली नही है, इसी कारण यह कवि की व्यक्तिगत विशिष्टता नही है। काव्य मीमासा में राजशेखर ने काव्य-पुरुष का वर्णन किया है, वह कई दृष्टियो से प्राचीन होते हुए भी, आजकल प्रचलित अर्थ को भलीभाँति व्यक्त करता है। 'शब्दार्थ इस पुरुष का शरीर है, सस्कृत

---

1 Dictionary of world Literary terms, Ed J T Shipley. London, 1955 pp 161.

(भाषा) मुख है—सम, प्रसन्न, मधुर, उदार, ओजस्वी इसके गुण हैं, रस आत्मा है, छन्द रोम हैं, प्रश्नोत्तर, पहेलियाँ समस्या आदि वाग्विनोद हैं, अनुप्रास, उपमा आदि उसे अलकृत करते हैं।'[1] रस और गुण को छोडकर बाकी सभी वस्तुएँ काव्यपुरुष के बाहरी रूप को व्यक्त करनेवाली बताई गयी हैं। इसमें शब्द, भाषा, अलकरण, वाग्विनोद, पहेलियाँ, प्रश्नोत्तर आदि रूप-तत्त्व (फारमल एलीमेन्ट्स) मिलकर काव्य के कलेवर की सृष्टि करते हैं।

§ ३७७ काव्यरूपो का निर्माण, उनके उद्भव और विकास की प्रक्रिया देश-काल की सामाजिक और ऐतिहासिक परिस्थितियो से परिचालित होती हैं। भाषा और कवि की कारीगरी पर भी इन परिस्थितियो का प्रभाव पडता है। काव्यरूप तो किसी भाषा की बहुत वर्षों की साधना से उपलब्ध होते हैं इसलिए इनमें परिवर्तन शीघ्र नही होता किन्तु जब सामाजिक परिस्थितियो में कोई बहुत बडी उथल-पुथल या परिवर्तन होता है तब काव्य-रूपो के भीतर भी परिवर्तन अवश्यम्भावी हो जाता है। मेला में वस्तु और रूप की समस्या पर विचार करते हुए कहते हैं "कवि के लिए कविता-निर्माण का सबसे बडा उपकरण भाषा है जो कवि को उसके देश और काल के अनुसार प्राप्त होती है। किन्तु भाषा कभी भी पूर्णत रूप-आकारहीन उपकरण नही है, यह मनुष्य की युगो की साधना की उपलब्धि है जिसमें हजारो प्रकार के काव्य-रूप निर्मित होते रहते हैं।'[2] वस्तुत कवि को सबसे बडी परीक्षा यही पर होती है कि वह अपनी व्यक्तव्य भाव-वस्तु के लिए किस प्रकार का रूप चुनता है। यदि उसके चुनाव में सामजस्य और औचित्य हुआ तो उसको सफलता निसदिग्ध है। टी० यस० इलियट ने इसी तथ्य की ओर सकेत करते हुए कहा है कि 'कुछ काव्य रूप ऐसे होते हैं जो किसी निश्चित भाषा के लिए ही उपयुक्त होते हैं और फिर बहुत से उस भाषा में भी किसी काल-विशेष में ही लोकप्रिय हो पाते हैं।'[3] इसी को थोडा बदल कर कह सकते हैं कि भाषाओ के परिवर्तन के कारण काव्यरूपो में भी परिवर्तन अनिवार्यत होता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दो में 'जब जब कोई जाति नवीन जातियो के सम्पर्क में आती है तब-तब उसमें नयी प्रवृत्तियाँ आती हैं, नयी आचार-परपरा का प्रचलन होता है, नये काव्य-रूपो की उद्भावना होती है, और नये छन्दो में जनचित्त मुखर हो उठता है, नया छन्द नये मनोभाव की सूचना देता है।'[4] इस प्रकार काव्यरूपो का पूरा इतिहास नाना प्रकार के तत्वो के मिश्रण से बना हुआ है। सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश और हिन्दी के काव्यरूपो का विश्लेपण किया जाये तो इनमें न जाने कितने प्रकार के विदेशी तत्व दिखाई पडेंगे। सस्कृतियो के समिश्रण का प्रभाव केवल भाषा, आचार-व्यवहार, धर्म-सस्कारो में ही नही दिखाई पडता, बल्कि अत्यन्त सूक्ष्म कलाओ, सगीत, स्थापत्य, साहित्य आदि में भी दिखाई पडता है।

---

१ शब्दार्थौ ते शरीर, सस्कृत मुख सम प्रसन्नो मधुरोदार ओजस्वी चासि। रस आत्मा, रोमाणि छन्दासि। प्रश्नोत्तरप्रहेलिकादिक च वाक्केलि, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ्कुर्वन्ति। तृतीय अध्याय, राजशेखर, काव्य मीमासा, पटना, १९५४ ईस्वी, पृ० १४।

२ जोजेफ शिप्ले के साहित्य कोश में उद्धृत, पृ० १८८।

३ टी० यस० इलियट केर् मेमोरियल लेक्चर्स पैर्टिसन रिव्यू, खण्ड ६, पृष्ठ ४६३।

४ हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पटना, १९५२, पृ० ९०।

§ ३७८. संस्कृत के लक्षणकारों ने बहुत से अभिजात काव्यरूपों का अध्ययन किया था। महाकाव्य, कथा, आख्यायिका, मुक्तक, रूपक आदि काव्य-प्रकारों पर सविस्तर विवेचन किया गया है, किन्तु बहुत से ऐसे काव्य रूप, जो प्राकृत-अपभ्रंश आदि भाषाओं में लोक-प्रचलित काव्य प्रकारों से लिये गये, संस्कृत लक्षण ग्रन्थों में विवेचित नहीं हो सके हैं। आरम्भिक व्रजभाषा में दोनों प्रकार के काव्यरूप मिलते हैं, प्राचीन अभिजात काव्यरूप जो समय के अनुसार बदलते और विकसित होते रहे हैं साथ ही लोकात्मक काव्य रूप जिन्हें कवियों ने जन-काव्यों में प्रयुक्त देखा और इनकी लोकप्रियता से आकृष्ट होकर इन्हें किंचित् परिष्कृत करके साहित्यिक भाषा में भी अपना लिया। इस प्रकार के काव्यरूपों की संख्या काफी बड़ी है। हम केवल थोड़े से अत्यंत प्रसिद्ध प्रकारों पर ही विचार करना चाहते हैं। आरम्भिक व्रजभाषा में निम्नलिखित काव्यरूप महत्वपूर्ण हैं :

(१) चरित काव्य—प्रद्युम्न चरित (१४११ संवत्), हरिचन्द पुराण (१४५३ संवत्), रैदास कृत प्रहलाद चरित (१५वीं शती का अन्त) रणमल्ल छन्द (संवत् १४५७)।

(२) कथा-वार्ता—लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा (संवत् १५१६), छिताई वार्ता (संवत् १५५० के लगभग), मधुमालती (संवत् १५५०तक)।

(३) रास और रासो—संदेशरासक (११वीं शती), पृथ्वीराज रासो, खुमान-रासो, विजयपाल रासो, विसलदेव रासो आदि।

(४) लीला काव्य—स्नेह लीला (विष्णुदास १४९२ विक्रमी) तथा परशुराम देव की कई लीलासंज्ञक रचनाएँ।

(५) षड्ऋतु और बारहमासा—संदेसरासक का षड्ऋतु वर्णन, पृथ्वीराज रासो का षड्ऋतु वर्णन, नेमिनाथ चउपई तथा नरहरि भट्ट का बारहमासा।

(६) बावनी—डूंगरबावनी (१५४८ संवत्), छीहलबावनी (१५८४ संवत्)।

(७) विप्रमतीसी—परशुराम देव की विप्रमतीसी, कबीर-बीजक की विप्रमतीसी।

(८) वेलि काव्य—कवि ठक्कुरसी की पञ्चेन्द्रिय वेलि (१५५० विक्रमी) तथा नेमि राजमति वेलि।

(९) गेय मुक्तक—विष्णुदास, सन्त-कवियों तथा संगीतज्ञ कवियों आदि के गेय पद।

(१०) मंगल काव्य—रासो का विनय मंगल, विष्णुदास का रुक्मिणी मंगल, नरहरि भट्ट का रुक्मिणी मंगल तथा मीराँबाई का नरसो का माहेरो।

इन रूपों के उद्गम-स्रोत इनका ऐतिहासिक विकास तथा इनकी शैलीगत विशेषताओं का अध्ययन आवश्यक है। सूरोत्तर व्रजभाषा के काव्यरूपों के साथ इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। परवर्ती व्रज के बहुत से काव्य-रूपों के विकास की एकसूत्रता बताने के लिए अनुमान से काम लेना पड़ता था। नीचे हम इन काव्य रूपों के शास्त्रीय और लौकिक दोनों पक्ष प्रस्तुत करते हैं।

चरित-काव्य

§ ३७९. चरित काव्य मध्यकालीन साहित्य का सबसे प्रसिद्ध साथ ही सर्वाधिक गुम्फित और उलझा हुआ काव्यरूप है। संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा को अग्रसरित करने वाला

यह काव्यरूप न जाने कितने प्रकार के देशी-विदेशी काव्य-रूपों से प्रभावित हुआ है। इसमें कितना तत्त्व सस्कृत महाकाव्यो का है, कितना परवर्ती प्राकृत-अपभ्रंश के धार्मिक काव्यो का। यह निर्णय करना भी कठिन है। चरित काव्य की शैली में विदेशी ऐतिहासिक काव्यो की शैली का प्रभाव पडा है। यही नही चरित काव्य लोकचित्तोद्भूत नाना प्रकार की निजधरी-कथाओ, रोमाचक तथा काल्पनिक घटनाओ के ऐन्द्रजालिक वृत्तान्तो से इतना रगा हुआ है कि उसमें ऐतिह्य का पता लगा सकना भी एक दुस्तर कार्य है। मध्यकाल में सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश तथा नवोदित देशी भाषाओ में चरित नाम के सैकडो काव्य लिखे गये। सब समय चरित नाम से अभिहित रचना, जो इस काव्य रूप को शैली से युक्त होती है, इसी नाम से नही पुकारी गयी है। प्रकाश, विलास, रूपक, रासो[1] आदि इसके विभिन्न नाम रहे हैं जिनमें शुद्ध रूप से इसी शैली को नही अपनाया गया है। फिर भी इसके रूपतत्व के जाने कितने उपकरण, कौशल और तरीके उन काव्यो में भी अपनाये गये हैं। कथा, आख्यान, वार्ता आदि नामो से सकेतिक आख्यानक काव्यो में भी इस शैली का तथा इसके काव्य-रूप का घोर प्रभाव दिखाई पडता है। यही नही सभी चरित काव्यो ने अपने को कथा भी कहा है। चरित काव्य को कथा कहने की प्रणाली बहुत बाद तक चलती रही। तुलसीदासजी का रामचरित मानस 'चरित' तो है ही, कथा भी है। उन्होने कई बार इसे कथा कहा है।'[2] स्पष्ट है कि चरित काव्य की अत्यत-शिथिल परिभाषा प्रचलित थी जिसके लपेट में कोई भी पद्यवद्ध इतिवृत्तात्मक काव्य आ सकता था। इस प्रकार की परिभाषा क्यो और कैसे निर्मित हुई, चरित-काव्य का पूरा इतिहास क्या है—आदि प्रश्न न केवल इस साहित्यिक प्रकार (फार्म) को समझने में सहायक होगे, बल्कि इनसे मध्यकालीन साहित्य के अनेक काव्य रूपो के स्वरूप-निर्धारण में भी सहायता मिल सकती है।

§ ३८० सस्कृत महाकाव्यो के लक्षणो के बारे में काफी विस्तार से विचार हुआ है। सस्कृत आचार्यों के महाकाव्य-विवेचन का पूर्ण विश्लेषण करने पर निम्नलिखित लक्षण सर्वमान्य रूप से निर्धारित हो सकते हैं।

---

१ श्री मोतीलाल मेनारिया ने 'रास, विलास, प्रकाश और रूपक' सज्ञक रचनाओ में चरित काव्यो की गणना की है

(१) रासो—रायमल रासो, राणा रासो, जगतसिंघ रासो, रतन रासो आदि।
(२) प्रकाश—राज प्रकाश, सूरज प्रकाश, भीमप्रकाश, कीरत प्रकाश।
(३) विलास—राज विलास, जग विलाम, विजै विलास, रतन विलास।
(४) रूपक—राजरूपक, राव रणमल्ल रो रूपक, महाराज गजसिंघ रो रूपक आदि।

राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ५०।

२ हिन्दी साहित्य का आदिकाल, १९५२, पटना, पृ० ५२।

३ महाकाव्य के लक्षणो के लिए द्रष्टव्य भामह, काव्यालकार १।१९–२१, दण्डी काव्यादर्श १।१४–१९, रुद्रट, काव्यालकार १६।२–१९, हेमचन्द्र काव्यानुशासन आठवाँ अध्याय तथा कविराज विश्वनाथ के साहित्य दर्पण का षष्ठ परिच्छेद।

(१) कथानक की दृष्टि से महाकाव्य किसी अतिप्रसिद्ध घटना पर अवलम्बित होता है जिसका स्रोत पुराण या इतिहास हो सकता है। कथा ख्यात और उत्पाद्य या काल्पनिक दो प्रकार की होती है किन्तु महाकाव्य की कथा का अधिकाश ख्यात रहना चाहिए, साथ ही रोमाचक, निजधरी, लोक-कथा आदि का भी सहारा लिया जा सकता है।

(२) महाकाव्य का नायक सस्कारी और धीरोदात्त होना चाहिए ताकि उसके चरित्र के प्रति लोगो का आकर्षण हो। सत्यासत्य के सघर्ष के लिए, जा जोवन मे अनिवार्यत होता है, प्रतिनायक का होना भी अनिवार्य है।

(३) प्रकृति और परिस्थितियों का विशद वर्णन देश-काल की स्थिति के अनुरूप होना चाहिए, वातावरण के चित्रण के बिना कथा को समुचित आधार प्राप्त नही होता।

(४) महाकाव्य की शैली के बारे में आचार्यों ने बहुत बारीकी से विचार किया है। सर्ग, छन्द, आरभ-अन्त, मगलाचरण, सज्जन-प्रशसा तथा दुर्जन-निन्दा, रस, अलकार भाषा आदि का समुचित प्रयोग और निर्वाह होना चाहिए। ये सक्षिप्त में महाकाव्य के सर्वसान्य लक्षण हैं। परवर्ती सस्कृत महाकाव्य कला-सौन्दर्य पर अधिक ध्यान देने तथा लाक्षणिक रूढ़ियो से पूर्णत आवद्ध हो जाने के कारण अलंकरण-प्रधान काव्य-कोटि में रखे जाते हैं।

§ ३८१. सस्कृत के परवर्ती काव्यो में ऐतिहासिक व्यक्तियो के जीवन को भी कथा-वस्तु के रूप मे ग्रहण किया गया। इस प्रकार सस्कृत महाकाव्यो की निम्नलिखित श्रेणियाँ दिखाई पडती हैं।

१—शास्त्रानुशासित महाकाव्य, २—पौराणिक शैली के महाकाव्य तथा ३—ऐतिहासिक महाकाव्य। प्रथम प्रकार के महाकाव्यो का विकास अत्यन्त रूढिवादी रीतिबद्ध महाकाव्यो के रूप में होने लगा। यह विकास रामायण-रघुवश से आरम्भ होकर शिशुपाल वध और नैपधचरित में पूर्णता या अत्यन्त आलकारिता को प्राप्त हुआ। पौराणिक शैली ने महाकाव्यो का विकास प्राकृत-अपभ्रश तथा परवर्ती भाषाओ में चरित काव्य के रूप में हुआ। तीसरी शैली के महाकाव्य चरित काव्यो तथा मध्यकालीन अलकृत कथाओ (कादम्बरी आदि) की शैली से प्रभावित होकर अर्ध ऐतिहासिक तथा रोमाचक काव्यो (रासो आदि) में परिवर्तित हो गये।

चरित-काव्य के मध्यकालीन रूप का आरम्भ और विकास प्राकृत-अपभ्रश के 'चरित' काव्यो में दिखाई पडता है। चरित काव्यो के कथानक मूलत पौराणिक होते हैं। कभी-कभी पुराण नाम से भी चरित काव्य लिखे गये। हमारे आलोच्य काल में जाखू मणियार का 'हरिचन्द पुराण' ऐसा ही चरित काव्य है जिसमें हरिश्चन्द्र की पौराणिक कथा को प्रस्तुत किया गया है। छन्द और शैली की दृष्टि से भी चरित काव्य और पुराण-सज्ञक काव्यो में कोई अन्तर नहीं दिखाई पडता। पउमसिरि चरिउ की भूमिका में इस समता की ओर सकेत करते हुए डॉ० हरिवल्लभ भायाणी ने लिखा है कि 'स्वरूप (फार्म) की दृष्टि से अपभ्रश के पुराण काव्यो और चरित काव्यो में कोई खास अन्तर नही है। पौराणिक काव्यो मे विषय-विस्तार होने से सन्धियों की सख्या पचास से सवा सौ तक होती है जब कि चरित काव्यो में विषय विस्तार मर्यादित होता है। सधि, कडवक, तुक तथा पक्तियुगल आदि में कोई भेद नहीं है। सभी चरित-काव्य कडवक-बद्ध हो ऐसी भी बात नही, हरिभद्र कृत 'णेमिणाह चरिउ'

आद्यन्त रड्डा छन्द में है।'[१] चरित काव्य और पुराण को कुछ लोग भिन्न भी बताते हैं। 'अइहास एकपुरुषाश्रिता कथा' अर्थात् एक व्यक्ति के जीवन पर आधारित कथा को चरित कहेंगे जब कि पुराण का अर्थ 'त्रिषष्टिपुरुषाश्रिता कथा' अर्थात् तिरसठ पुरुषो के जीवन पर आधारित कथा है।[२] यह भेद चरित और पुराण काव्यो को शैलो के उचित विश्लेषण पर आधारित नही प्रतीत होता। यह विभेद वस्तु-गत है, इसलिए इस मान्यता से पुराण और चरित के शैली साम्य का विरोध नही दिखाई पडता। हिन्दी में रामचरित मानस को भी बहुत से लोग पुराण शैली का काव्य मानते हैं।

§ २८२ ब्रजभाषा के प्रद्युम्नचरित और हरिचन्द पुराण को शैली नि सन्देह जैन पौराणिक चरित काव्यो की शैली का विकसित रूप है। हरिचन्द पुराण का लेखक हिन्दू है इसीलिए हरिश्चन्द्र की कथा हिन्दू पुराणो को कहानी का अनुसरण करती है। प्रद्युम्न चरित में कवि ने हिन्दू पुराणो की कहानी को काफी परिवर्तित कर दिया है। प्रद्युम्न चरित नामक कई काव्य अपभ्रश में मिलते हैं। इस ग्रन्थ की शैली पर विचार करने से स्पष्ट प्रतोत होता है कि इससे जैन और परवर्ती हिन्दी के चरित काव्यरूपो के बीच को कडी का सघान लग सकता है। ग्रन्थ आरम्भ इस प्रकार होता है

> सारद विणु मति कवितु न होइ, मकु आखर णवि बूझइ कोइ
> सो सधारु पणयइ सुरसती, तिन्ह कह बुधि होइ कत हुती ।१।
> सव कोइ सारद सारद कहई, तिस कउ अन्त कोइ नहिं लहई
> अठ दल कमल सरोवर वास, कासमीर पुर मांहि निवास ।२।
> हस चढी कर लेखनि लेइ, कवि सधार सारद पणमेइ।
> सेत वस्त पदमावतीण, करइ अलावणि बाजइ वीण ॥३॥

हिन्दी के रासो और चरित-काव्यो मे आदि में सरस्वती वन्दना का प्राय यही रूप दिखाई पडता है। वोसलदेव रासो के आरम्भ को सरस्वती वन्दना देखें

> हस वाहणि देवी कर धरइ वीण
> झणडउ कवित कहइ कुलहीण
> वर दीज्यो माता सारदा भुलउ अक्षर आनि वहोडि
> तइ तूठी अक्षर जुडइ, नाल्ह वखाणइ वे कर जोडि

हरिचन्द पुराण के आरम्भ में जापू मणियार-कृत सरस्वती वन्दना उपर्युक्त दोनो स्तुतियो से कितना साम्य रखती है

> ब्रह्म कुँवरि स्वामिनी स्वर माय, सुर किन्नर मुनि लागइ पॉय
> क्यो सिंगार अलावण लेइ, हस गमणि सारद वर देइ

---

१ धाहिल रचित 'पउमसिरी चरिउ' भूमिका (गुजराती में) विद्याभवन, बम्बई, २००५ सवत्, पृ० १५।

२ पुष्पदन्तकृत महापुराण को भूमिका में डॉ० पी० एल० वैद्य-द्वारा उद्धृत महापुराण, भाग १, पृ० ३०।

उसी प्रकार कवि की हीनता का वर्णन भी सादृश्य-सूचक दिखाई पडता है

हौं अति हीण बुद्धि अयाण, मइ सामि को कियो वखाण
मन उछाह मइ कियउँ विचित्त, पडित जन सोहउ दे चित्त
पडित जन विनवउँ कर जोरि, हउँ मति हीन म लावउ खोरि
(प्रद्युम्न चरित ७०१-२)

भाषा भनिति मोरि मति मोरी, हँसिवे जोग हसै नहिं खोरी
कवि न होउँ नहिं वचन प्रवीनू, सकल कला सब विद्या हीनू (तुलसी)

इस प्रकार के वर्णन निस्सदेह रूढिगत और मान्य परिपाटी के निर्वाह के प्रयत्न की ओर सकेत करते हैं, किन्तु ऐसे प्रसगो से इनकी शैली के सादृश्य का कुछ-न-कुछ पता तो चलता ही है।

§ ३८३ चरित काव्यो की शैली की सबसे वडो विशेषता उनमे कथानक-रूढियो के प्रयोग की है। ये कथानक-रूढ़ियाँ हिन्दी के परवर्ती काव्यो पद्मावत, रामचरित मानस तथा किंचित् पूर्ववर्ती पृथ्वीराज रासो आदि में भी मिलती है। इस प्रकार के कथाभिप्रायो (Motifs) के प्रयोग मध्यकालीन सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रश की कथाओ में भी मिलते हैं। वृहत्कथा, कादम्बरी, दशकुमारचरित आदि मे इस प्रकार की कथा-रूढियो की भरमार है। हमारे विवेच्य काल के अन्तर्गत लिखी गयी कथाओ—छिताई वार्ता तथा लक्ष्मण सेन पद्मावती कथा में भी इस प्रकार की रूढियाँ मिलती हैं। ऐतिहासिक अथवा ऐतिहासिक व्यक्तियो से सबद्ध निजधरी कथाओ में रूढियो का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है। क्योकि ऐतिहासिक चरित के लेखक सभावनाओ पर अधिक बल देते हैं। 'सभावनाओ पर बल देने का परिणाम यह हुआ कि हमारे देश के साहित्य में कथानक को गति और घुमाव देने के लिए कुछ ऐसे अभिप्राय बहुत दीर्घ-काल से व्यवहृत होते आये हैं जो बहुत थोडो दूर तक यथार्थ होते हैं और जो आगे चलकर कथानक रूढ़ि में वदल जाते हैं।'[1] इसी सत्य की ओर सकेत करते हुए विन्टरनित्स ने लिखा है कि भारत मे पुराण तत्त्व (Myths) निजधरी कथाओ तथा इतिहास मे भेद करने का कभी प्रयत्न नही किया गया। भारत में इतिहास-लेखन का मतलव महाकाव्य लिखने से भिन्न नही माना गया।[2] रासो काव्यो में इतिहास और कल्पना का अद्भुत समिश्रण पाया जाता है। ये कल्पनाएँ अपनी लम्बी उडानें भर कर थक गयी और यथार्थ के अभाव में कल्पना के काव्य-प्रयोग दूसरे लेखको के लिए अनुकरणीय विषय हो गये। इस प्रकार कथानक रूढियो का जन्म होता रहा। मध्यकालीन काव्यो की कथानक रूढियो के वारे में श्री एम० वूमफिल्ड ने सन् १९१७-२४ के बीच जर्नल ऑव अमेरिकन ओरियटल सोसाइटी में प्रकाशित अपने निवधो में तथा पेजर ने कथासरित्सागर के नये सस्करण की टिप्पणियो में विस्तार से विचार किया है। श्री एम० एन० दासगुप्त और श्री एस० के० डे ने अपने सस्कृत साहित्य के इतिहास में सस्कृत काव्यो में प्राप्त

१ हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ७४।

2 As it has never been the Indian way to make clearly defined distinction between myth, legend and history, histriography in India was never more than a branch of epic poetry-A History of Indian Literature by Winternitz, Calcutta, 1933, Vol II, pp. 208

होनेवाली कथानक-रूढियो का परिचय और अध्ययन प्रस्तुत किया।[1] हिन्दी में इस तरह का पहला कार्य डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया। आदिकाल के रासो के वस्तु-विवेचन के सिलसिले मे उन्होने कथानक रूढियो का विस्तृत विवेचन किया है। डॉ० द्विवेदी ने जिन २१ रूढियो का परिचय दिया है वे इस प्रकार हैं[2]

(१) कहानी कहनेवाला सुग्गा, (२) स्वप्न में प्रिय का दर्शन, चित्र देखकर भिक्षुको आदि से सौन्दर्य-वर्णन सुनकर किसी पर मोहित होना, (३) मुनि का शाप, (४) रूप परिवर्तन (६) परकाय प्रवेश, (७) आकाशवाणी, (८) अभिज्ञान या सहदानी, (९) परिचारिका का राजा से प्रेम और अन्त मे उसका राजकन्या या रानी के बहन के रूप में अभिज्ञान, (१०) नायक का औदार्य, (११) षड्ऋतु या बारहमासा के माध्यम से विरह वर्णन, (१२) हस, कपोत आदि से सदेश भेजना, (१३) घोडे का आखेट के समय निर्जन वन में पहुँचना, (१४) सरोवर पर पहुँचना, सुन्दरी स्त्री का दिखाई पडना, प्रेम और प्रयत्न, (१५) विजन वन मे सुन्दरी से साक्षात्कार, (१६) कापालिक की वेदी से, या युद्ध से सुन्दरी स्त्री का उद्धार, (१७) गणिका-द्वारा दरिद्र नायक का स्वीकार और उसकी माता-द्वारा तिरस्कार, (१८) भरुण्ड और गरुड आदि के द्वारा प्रिय युगलो का स्थानान्तरकरण, (१९) प्यास और जल की खोज मे जाते समय असुर दर्शन और प्रिया-वियोग, (२०) ऊजड नगर, (२१) दोहद पूर्ति के लिए असाध्य साधन का सकल्प और (२२) शत्रु-सन्तापित सरदार को शरण देना और फिर युद्ध।

पृथ्वीराज रासो की कथानक-रूढ़ियो पर विचार हो चुका है। द्विवेदीजी ने तो कथा-रूढियों के आधार पर रासो के प्रामाणिक कथाशो के निर्णय का भी प्रयत्न किया है। हम अपने विवेच्य काल की कृतियो में आनेवाले कथाभिप्र यो का सक्षिप्त परिचय देना चाहते हैं। सधार अग्रवाल के प्रद्युम्न चरित, दामो कवि की लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा और नारायणदास की छिताई मे आनेवाली कुछ महत्त्वपूर्ण कथानक-रूढियाँ इस प्रकार है

प्रद्युम्न चरित की रूढियाॅ:

(१) बालक प्रद्युम्न को एक दैत्य उठाकर ले जाता है और एक शिला-खड के नीचे दबाकर रख देता है। मृगया के लिए निकले हुए कालसवर नरेश को यह बच्चा मिलता है और वे अपनी रानी के गूढ गर्भ की बात प्रचारित करके इसे अपना पुत्र बताते हैं।

(२) पुत्र वियोग से विकल रुक्मिणी को सान्त्वना देकर नारद बालक प्रद्युम्न को ढूँढने निकलते है। जैन मुनि से मालूम होता है कि प्रद्युम्न पिछले जन्म में मधु नाम का राजा था। उसने वटपुर के राजा हेमरथ की रानी चन्द्रवती का अपहरण किया था। हेमरथ पत्नी-वियोग मे पागल होकर मर गया उसी ने इस जन्म में उक्त दैत्य के रूप में जन्म लिया है। यह पुनर्जन्म की अत्यत प्रचलित कथानक रूढि है।

(३) प्रद्युम्न के अन्य भाइयो के मन में उसकी बढती देखकर ईर्ष्या होनी है। उसे नाना प्रकार से परेशान करने के लिए प्रयत्न किये जाते हैं। पहाड से गिराना, कुएँ में

---

1 A History of samskrit Literature Vol 1 pp 28–29

2 हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ७८–७५।

डालना, जंगल में छोडना, प्रद्युम्न हर स्थान पर किसी दैत्य, गन्धर्व को पराजित करके कई मायास्त्र तथा विद्यायें प्राप्त करता है।

(४) विपुल वन में प्रद्युम्न की अचानक एक अति सुन्दरी तपस्विनी से भेंट होती है, वह उससे प्रेम करता है और दोनो का गन्धर्व विवाह हो जाता है।

(५) यादवो की सेना को प्रद्युम्न अपने मायास्त्रो से पराजित करता है।

(६) दुर्योधन की पुत्री से बलपूर्वक विवाह करता है।

लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा की रूढियाँ

§ ३८५ (१) सिद्धनाथ नामक कापालिक योगी आकाश मार्ग से उड कर जहाँ चाहे वहाँ पहुँचता है और भयकर उत्पात मचाता है।

(२) पद्मावती को प्राप्त करने के लिए उसने एक सौ राजाओ के शिरच्छेदन का संकल्प किया और सबको मत्र-शक्ति से अपहृत करके एक कुएँ में डाल दिया।

(३) लक्ष्मणसेन को भी छल से योगी ने उसी कुएँ में ढकेल दिया। सभी बन्दी राजाओ को मुक्त करके लक्ष्मणसेन थका-प्यासा सामौर नगर के पास स्वच्छ जल के सरोवर पर पहुँचा, वही पद्मावती का रूप देखकर वह उसके प्रति आकृष्ट हुआ।

(४) स्वयवर में ब्राह्मणवेषधारी लक्ष्मणसेन ने सभी राजाओ को पराजित किया और पद्मावती से विवाह किया।

(५) स्वप्न में सिद्धनाथ की भयंकर मूर्ति का दर्शन और पानी का माँगना। राजा दूसरे दिन योगी को ढूँढकर उससे मिला तो उसने स्वप्नवाली बात बताकर पद्मावती से उसके उत्पन्न प्रथम-पुत्र की याचना की। राजा यथावसर जब बच्चे को लेकर योगी के पास पहुँचा तो उसने लडके को टुकडे-टुकडे काट देने की आज्ञा दी। लाचार लक्ष्मणसेन को वैसा ही करना पडा। वे कटे हुए टुकडे खग, धनुष बाण, वस्त्र और कन्या में बदल गये। मंत्र शक्ति और शाप तथा जादू-टोना की कथानक रूढि कई काव्यो में इसी ढंग की प्राप्त होती हैं।

(६) राजा का पागल होकर जगल में चला जाना। डूबते हुए एक लडके की रक्षा करके वह उसके धनकुबेर पिता का कृपाभाजन बना। धारानगर की राजकुमारी से प्रेम और विवाह।

छिताई वार्ता की कथानक-रूढ़ियाँ

§ ३८६. (१) दिल्ली का चित्रकार देवगिरि की राजकन्या छिताई का चित्र बादशाह अलाउद्दीन को दिखाता है। छिताई के रूप से पराभूत अलाउद्दीन उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होता है।

(२) छिताई का पति सुरसी मृगया मृग के पीछे घोडा दौडाते हुए मुनि भर्तृहरि के आश्रम पर पहुँचता है। हिंसा से विरत करानेवाले मुनि का आगमन करने के कारण उसे पत्नी-वियोग का शाप मिलता है।

(३) देवगिरि के किले को अलाउद्दीन घेर लेता है, पर तोड नहीं पाता। राघव चेतन अपनी अद्भुत मंत्र-शक्ति से [illegible] पद्मावती का दर्शन करके किले के गुप्त भेद ज्ञात करता है।

(४) सन्यासिनी के वेष में अलाउद्दीन की दूतियाँ छिताई को बादशाह के रूप-यश का वर्णन सुनाती हैं।

(५) गौरी पूजा के समय छिताई का अपहरण।

(६) सुरसी का सन्यासी होना तथा मार्मिक पीडा की अवस्था में उसके द्वारा अद्भुत वीणा-वादन जिसके मधुर स्वर को सुनकर पशु-पक्षी तक भी विकल हो जाते हैं।

(७) दिल्ली में गायक जयगोपाल, जो छिताई के आदेशानुसार उसके सगीतज्ञ पति का पता लगाना चाहता है, सुरसी को छिताई की वीणा बजाने के लिए देता है। अपनी प्रियतमा की वीणा को पहचान कर सुरसी प्रेम-विह्वल होकर विचित्र जादूभरे स्वरो में गा उठता है। यह सहिदानी या अभिज्ञान की पुरानी रूढि है।

इन काव्यो की बहुत-सी रूढियाँ समान हैं। जैसे मुनि या योगी का शाप, मन्त्र-शक्ति, सुन्दरी-दर्शन आदि। किन्तु कई स्थानो पर भिन्न-भिन्न रूढ़ियो के प्रयोग हुए हैं। इनमें से कई रूढियाँ रासो आदि की रूढियो से साम्य रखती है। रामचरितमानस, पद्मावत आदि में भी ऐसी रूढियां मिलती है।

कथा और वार्ता

§ ३८७ कथा शब्द का प्रयोग बहुत ही शिथिल ढग से होता है। हम किसी भी रचना को जिसमें कथानक या कथा तत्त्व का प्रयोग किया गया हो, कथा कह देते हैं। किन्तु सस्कृत के लक्षणकारो ने सस्कृत-प्राकृत में प्रचलित गद्य और पद्य की कथानक-तत्त्व से संयुक्त रचनाओ को, उनकी शैली और काव्य-रूप को ध्यान में रखकर कई श्रेणियो में विभाजित किया है। कादम्बरी भी कथा है दशकुमार चरित भी। प्राकृत में बहुत-सी रचनाओ को, जो मूलत पद्य में या नाममात्र के गद्य सहित पद्य में लिखी गयी हैं, कथा कहा गया है, लीलावई कहा (केवल एक गद्य-खड मिलता है) समराइच्च कहा, भविसयत्त कहा आदि। कथा को कुछ लोग आख्यायिका भी कहते हैं किन्तु सस्कृत में सभी कथा-काव्यो को आख्यायिका नही कहा जा सकता। सस्कृत के आचार्यों ने इन भेदो को बडी बारीकी के साथ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। रुद्रट ने अपने काव्यालकार में सस्कृत और प्राकृत दोनो भाषाओ में प्रचलित कथाओ को दृष्टि में रखकर लिखा कि कथा के आरभ मे देवता और गुरु की वन्दना होनी चाहिए, फिर ग्रथकार को अपना और अपने काव्य का परिचय देना चाहिए, कथा लिखने का उद्देश्य बताना चाहिए, सभी शृङ्गारो से आभूषित कन्या लाभ ही इस कथा का उद्देश्य है।

> श्लोकैर्महाकथायामिष्टान् देवान् गुरुन्नमस्कृत्य।
> सक्षेपेण निज कुलमभिध्यात् स्व च कर्तृतया॥
> सानुप्रासेन ततो लघ्वक्षरेण गद्येन।
> रचयेत् कथाशरीर पुरेव पुरवर्णकप्रभृतीनि॥
> आदौ कथान्तर वा तस्या न्यस्येत् प्रपचित सम्यक्।
> लघु तावत् सधान प्रक्रान्तकथावताराय।
> कन्यालाभफला वा सम्यग् विन्यस्य सकलशृङ्गारम्।
> इति सस्कृतेन कुर्यात् कथामगद्येन चान्येन॥
>
> (रुद्रट—काव्यालकार १६।२०-२३)

रुद्रट संस्कृत कथा का गद्य में लिखा जाना आवश्यक मानते हैं, हालाँकि अन्य भाषाओं की कथाएँ भी उनके सामने थी जो अगद्य में होती थी। भामह ने इस गद्य और पद्य में लिखी जानेवाली कथाओं की शैली को दृष्टि में रख कर कथा के लक्षण और प्रकार का निर्णय किया। उन्होंने लिखा कि सुन्दर गद्य में लिखी सरस कहानीवाली रचना को आख्यायिका कहा जाता है। यह उच्छ्वासों में विभक्त होती है, वक्ता स्वय नायक होता है, उसमें बीच-बीच में वक्त्र और अपवक्त्र छन्द आ जाते हैं। कन्याहरण, युद्ध तथा अन्त मे नायक की विजय का वर्णन होता है।'[1] भामह कथा को आख्यायिका से भिन्न मानते हैं। कथा के लक्षण बताते हुए उन्होंने लिखा है कि कथा में वक्त्र और अपवक्त्र छन्द नही होते और न तो उसके अध्यायों का विभाजन उच्छ्वासों मे किया जाता है। कथा की कहानी भी नायक स्वय नही कहता बल्कि दो व्यक्तियो के बीच वार्तालाप की पद्धति पर निर्मित होती है। इसमें भाषा का भी कोई बन्धन नही होता।[2] दण्डी ने भामह-द्वारा निर्धारित इन नियमो को तथा इनके आधार पर किये गये इस श्रेणी-विभाजन को अनुचित बताया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि चाहे वक्त्र अपवक्त्र छन्दो के प्रयोग हो या न हो इससे कथा या आख्यायिका के रूप मे कोई अतर नही आता।[3] 'इन आचार्यों' के मतो के विवेचन करने के बाद डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कथा संस्कृत से भिन्न भाषाओ (प्राकृतादि) में पद्य में लिखी जाती थी। प्राकृत-अपभ्रंश में उन दिनो निश्चय ही पद्य में लिखा हुआ ऐसा साहित्य वर्तमान था जिन्हें कथा कहा जाता था।'[4] 'संस्कृत के आचार्य इस गद्य-पद्य के माध्यमवाले प्रश्न पर एकमत नही दिखाई पडते। दण्डी की ही तरह विश्वनाथ ने भी संस्कृत की कथा-आख्यायिका को मूलत गद्य-कृति माना जिसमें कभी-कभी छन्दो का भी प्रयोग होता था।'[5] किन्तु रुद्रट की तरह हेमचन्द्र ने स्पष्टतया स्वीकार किया कि संस्कृतेर भाषाओ में कथाख्यायिकायें पद्य-बद्ध भी होती हैं।[6] प्राकृत और अपभ्रंश कथाओ में अधिकांश पद्य ही में हैं इसलिए ऐसा लगता है कि मध्यकाल में पद्यबद्ध कथाओ के लिखने का प्रचलन हुआ। संस्कृत के लेखको ने इस लोकप्रिय काव्यरूप को लेकर संस्कृत में भी कथाओ मे पद्य का प्रयोग आरम्भ किया।

संक्षेप में कथा के प्रधान लक्षण इस प्रकार रखे जा सकते हैं

(१) कथा संस्कृत में गद्य में होती है, प्राकृत अभ्रंशादि मे भी।

(२) कथा में कन्यालाभ-अर्थात् प्रेम, अपहरण, विवाह आदि वर्णन अनिवार्यत होते हैं। रुद्रट ने स्पष्ट कहा कि कथा का उद्देश्य ही श्रृङ्गार-सज्जित कन्या का लाभ है।

(३) कथानक सरस और प्रवाह युक्त होना चाहिए। कुछ कहानियो में जो विशिष्ट व्यक्तियो के चरित्रो पर लिखी जाती हैं उनमें कल्पना के प्रयोग पर कुछ अंकुश हो सकता है

---

१ भामह, काव्यालंकार, १।२५–२८।

२. वही, २।२५–२८।

३ काव्यादर्श १।२३–२८।

४ हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ५४।

५ कथाया सरसवस्तु गद्यैरेव विनिर्मितं—साहित्यदर्पण १।२९।

६ धीरशान्तनायका गद्येन पद्येन वा सर्वभाषा कथा—काव्यानुशासन, अध्याय ८।

किन्तु सामान्य कथा में तो कल्पना का अदि स्वच्छद प्रयोग होता है। अतिमानवी, निजधरी, कुतूहलवर्धक घटनाओ का प्रयोग।

(४) शैली की दृष्टि से कथा एक अलकृत काव्य कृति है।

हमारे विवेच्य काल में तीन कथाएँ प्राप्त होती हैं। लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा, छिताई वार्ता और मधुमालती। तीसरी रचना के समय के विषय मे अभी काफी वाद-विवाद है इसलिए उस पर बहुत ज़ोर नही दिया जा सकता। लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा है जैसा उसके नाम का अन्तिम पद व्यक्त करता है जबकि छिताई चरित को वार्ता कहा गया है।

§ ३८८ वार्ता कहानी का ही एक प्रकार है। वार्ता का अर्थ बातचीत या विवरण होता है। वार्ता में सम्भवत भामह-द्वारा निर्धारित लक्षण, कथा को कहनेवाला नायक स्वय नही होता बल्कि वह दो व्यक्तियो की वार्ता की पद्धति पर लिखी जाती है, वार्ता शब्द में निहित मालूम होता है। वार्ता या बात कहानी को एक श्रेणी है। बात नामक बहुत-सी रचनाएँ राजस्थानी भाषा में लिखी हुई हैं। गुजराती में वार्ता का अर्थ ही कहानी होता है। राजस्थानी का बात-साहित्य ऐतिहासिक व्यक्तियो पर भी लिखा गया है। जैसे राणा उदेसिंघ री बात, हाडे सूरजमल री बात, राजा वीकैजी री बात, जैसलमेर री बात आदि। बात गद्य में भी लिखी जाती थी किन्तु पद्य में लिखी बात-साहित्य भी प्राप्त होता है। मधुमालती के कवि चतुर्भुजदास ने इस प्रेम-कथा को 'वात' ही कहा है।

मधुमालती बात यह गायी, दोय जणा मिलि सोय बनायी

चतुर्भुज कायस्थ और माधव ने मिलकर इस बात की रचना की थी। इसका काल डॉ० माताप्रसाद गुप्त विक्रमी १५५० मानते हैं। रचना काल पर हम पीछे विचार कर चुके हैं। रचना में 'वात' को 'गायी' कहा गया है अर्थात् यह बात न केवल पद्यबद्ध ही होती थी बल्कि यह गेय भी होती थी। छन्दोवद्ध लोककथाओ—विजयमल, लोरिक, चन्दा आदि की तरह वार्ता या वात भी गायी जाती थी। गुजराती भाषा में बहुत से आख्यानक काव्यो का नाम 'वार्ता' मिलता है। प्रो० मजुलाल मजूमदार ने 'गुजराती लोकवार्ताओ' की जो विशेषताएँ बतायी हैं[1] वे व्रजभाषा की वार्ता या कथाओ पर भी लागू होती हैं। ये विशेषताएँ निम्नलिखित हैं।

(१) चक्षुराग अर्थात् प्रथम दर्शन का प्रेम, (२) प्रेम में वर्णाश्रम व्यवस्था की शिथिलता, (३) नारी के दैवी और आसुरी रूपो का विचित्र चित्रण, खास तौर से वेश्या, कुट्टिनी, पुश्चली आदि का चित्रण, वेश्या की श्रेष्ठता का वर्णन, (४) नारी-पुरुष का वेश-परिवर्तन, (५) जादू मत्र तत्र, कामण रत्न परीक्षा, मृत सजीवनी, जादुई छडी, आकाशचरित, पतन, पक्षी, घोड़ों आदि का वर्णन, (६) नीति धर्म की शिक्षा, (७) पुनर्जन्म, (८) कुट राजनीति, षड्यन्त्र, सदाव्रत की प्रशंसादि, (९) नगर राज्यो का वर्णन, और (१०) भयानक तथा अद्भुत रस का पोषण।

मजूमदार-द्वारा संकेतिक विशेषताओ में कई कथानक-रूढ़ियाँ हैं जिसके बारे में विस्तार से चरित काव्य के प्रसंग में विचार किया गया है।

१ गुजराती साहित्य ना स्वरूपो, बडोदा, १९५४, पृ० १९३–९१।

§ ३८९ लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा, छिताई वार्ता तथा मधुमालती तीनो ही प्रेमाख्यानक हैं। हिन्दी में प्रेमाख्यानक का अर्थ प्राय अवधी मे लिखा सूफी काव्य ही लगाया जाता है। इसीलिए बहुत से विद्वान् हिन्दी प्रेमाख्यानको का आरभ मुसलमानी सपर्क के प्रभाव से बताते हैं। परवर्ती काल में लिखी प्रेम-कहानियो पर सूफी साहित्य का ही प्रभाव नही हैं, बल्कि इन पर हिन्दू प्रेमाख्यानको का, जो सूफियो के बहुत पहले से इस देश मे लिखे जा रहे थे, प्रभाव मानना चाहिए। डॉ० दीनदयाल गुप्त ने लिखा है कि 'नन्ददास कृत रूपमंजरी की प्रेम-कहानी में सूफियो द्वारा मसनवी ढंग पर लिखी प्रेम-गाथाओ की किसी विशेषता अथवा आदर्श के अनुकरण का कोई चिह्न नही है, हाँ इन प्रेम-गाथाओ की दोहा-चौपाई की छन्द शैली का नमूना अष्टभक्तो के सम्मुख अवश्य था। ब्रजभाषा में प्रेमाख्यानक काव्य लिखे गये हैं। नन्ददास की रूपमजरी, जिसमें निर्भयपुर के राजा धर्मवीर की कन्या रूपमजरी की कहानी वर्णित है, प्रेमाख्यान ही है। भक्ति का प्राधान्य है, किन्तु शैली हिन्दू प्रेमाख्यानको की है। माधवानल कामकन्दला (आलम कवि की) कविवर रामदास का उषा-चरित, मुकुन्द सिंह का नल-चरित्र, नरपति व्यास कृत नल दमयन्ती (१६८० के पूर्व) दामोदर कृत माधवानल-कथा (१७३७ लिपि काल) आदि प्रेम कथायें सूफ़ी काव्यो की परम्परा में नही प्राचीन ब्रजभाषा के हिन्दू प्रेमाख्यानको की परम्परा में विकसित हुई हैं। इन काव्यो में हिन्दू प्रेमाख्यानको की उपर्युक्त सभी विशेषताएँ पायी जाती हैं। रही दोहे चौपाईवाली शैली की बात। नन्ददास के भागवत दसमस्कंध भाषा के लिए भी सूफी प्रेमाख्यानको की शैली को आदर्श मानना ठीक नही है। क्योकि उनके पहले ब्रजभाषा में कई ग्रन्थ लिखे जा चुके थे जो दोहे चौपाई की ही शैली में हैं। विष्णुदास का रुक्मिणी-मगल, मेघनाथ की गीता-भाषा, सधार अग्रवाल का प्रद्युम्न-चरित चौपाई छन्द में लिखे गये हैं। *रुक्मिणी-मगल* में तो दोहे चौपाई का क्रम भी है। शुक्लजी ने ठीक ही लिखा है कि 'आख्यान काव्यो के लिए दोहे चौपाई की परम्परा बहुत पुराने विक्रम की ११वी शती के जैन चरित काव्यो में मिलती हैं।'[2] इतना ही क्यो कालिदास के विक्रमोर्वशीय में दोहा तथा चौपाई की तरह का छन्द प्रयोग में लाया गया है।[3]

रासक और रासो

§ ३९० रासक अथवा रासो मध्यकालीन भारतीय साहित्य का सर्वाधिक लोकप्रिय काव्य-रूप था। अपभ्रंश, प्राचीन गुजराती और ब्रजभाषा में लिखे हुए रास काव्यो की सख्या काफ़ी बडी है। अपभ्रंश और प्राचीन राजस्थानी के अधिकाश रास-काव्य जैन धार्मिक-कथाओ को प्रस्तुत करते हैं, इसलिए विद्वानो की धारणा थी कि इस प्रकार के धार्मिक काव्य-रूप को, विशेषत जैन धर्म के नैतिकता-प्रधान और विरागोत्पादक जीवन को छन्दोबद्ध करनेवाले काव्य प्रकार को—परवर्ती शृगारमूलक रासो काव्यो से जोडना ठीक न होगा। शैली की दृष्टि से भी इस प्रकार की धारणा को पुष्टि मिलती थी। उदाहरण के लिए पृथ्वीराज रासो की

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, प्रयाग, संवत् २००४, पृ० २०।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, छठा संस्करण, पृ० ७४।
३. विक्रमोर्वशीय, ८।२२।

शैली को देखते हुए, जो नि सन्देह पाठ्य-काव्य की शैली है, रासो और जैन रास काव्यो में जो गेय रूपक माने जाते हैं, सम्बन्ध स्थापित करना भी कठिन कार्य था। पिछले कुछ वर्षों मे रास-सज्ञक कई रचनाएँ प्रकाशित हुई है और इनसे कई गुनी अधिक अप्रकाशित रचनाओ की सूचनाएँ मिली हैं। इन रासको में सन्देशरासक की स्थिति कुछ भिन्न है। वह पहली रचना है जो अहिन्दू-जैन लेखक ने लिखी, जिसमें धार्मिक-नैतिकता या आमुष्मिकता का आतक नही है। लेखक ने लौकिक-प्रेम-व्यापार का चित्रण प्रस्तुत किया है। रास रचनाओ में इस प्रकार को जैन धर्म-कथाओ के अलावा पौराणिक, ऐतिहासिक तथा लौकिक प्रेम-प्रधानक कथानको को स्वीकार किया गया है। इस विपुल और अत्यत महत्वपूर्ण काव्य-प्रकार को शैली तथा वस्तु दोनो का ही अध्ययन परवर्ती मध्यकालीन हिन्दी-ब्रज साहित्य को समझने के लिए अनिवार्यत अपेक्षित है।

रासक काव्यो के बारे में सस्कृत के लक्षण-ग्रथो में यत्र-तत्र कुछ स्फुट विचार दिये हुए है। सभवत रासक काव्य के विषय में सबसे पुराना उल्लेख अभिनवगुप्त की अभिनव-भारती मे प्राप्त होता है।[1] गेय रूपको के डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, भाणिका, रामाक्रीड, हल्लीसक और रासक आदि भेद बताये गये हैं। यहाँ रासक की परिभाषा इस प्रकार बतायी गयी है।

> अनेक नर्तकी योज्य चित्रताललयान्वितं
> आचतुष्पष्ठियुगलद्रासकं मसृणोद्धतम्

इस परिभापा से मालूम होता है अभिनवगुप्त के समय (ईस्वी १०वी शती) में न केवल गेय रूपो में रासक भी शामिल किया जाता था, बल्कि यह भी मालूम होता है कि इसके अभिनय में अनेक नर्तकियाँ भाग लेती थी, यह विचित्र प्रकार के ताल और लय से समन्वित होता था तथा इसमें चौसठ नर्तक-युग्म भाग लेते थे। मसृण और उद्धत इसके दो प्रकार होते थे। परवर्ती आचार्यों ने इस विभाजन और लक्षण को स्वीकार किया है। हेमचन्द्र ने इसी स्थान पर 'चिरन्तननैरुक्तानि' पद से यह भी सकेत कर दिया है कि पहले के आचार्यों ने भी ये लक्षण बताये है। हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में पूर्वकृत-विभाजन को ही प्रस्तुत किया है। उनके मत से गेय काव्य के कई भेदो में एक रासक भी है।

> गेय डोम्बिका भाण प्रस्थान शिङ्गक भाणिका प्रेरण रामाक्रीड
> हल्लीसक रासकगोष्ठी श्रीगदित राग काव्यादि (काव्यानुशासन ८।३)

हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र ने अपने नाट्य-दर्पण में रासक का लक्षण इस प्रकार बताया है[2] —

> षोडश द्वादशाष्टौ वा यस्मिन्नृत्यन्ति नायिका ।
> पिण्डीबन्धादिविन्यासै रासक तदुदाहृतम् ॥
> पिण्डनात् तु भवेत् पिंडी गुम्फनाच्छृङ्खला भवेत ।
> भेदनाद् भेद्यको जातो लताजालापनोदत ॥

---

1 Quoted by Dr B J Sandesara in his book Literary circle of Mahamatya Vastupala and its contribution to Samskrit literature in the Chapter on Apabhramsa Rasa, S J S No 33

२ नाट्य-दर्पण, ओरियटल इन्स्टिट्यूट, बडौदा, १९२९ ई०, भाग १, पृ० २१८-१९।

कामिनीभिर्भुवो भर्तुश्चेष्टितं यत्तु नृत्यते ।
रामाद् वसन्तमासाद्य स ज्ञेयो नाट्यरासक ॥

रामचन्द्र ने अभिनव भारतीवाले भेद को स्वीकार किया है। रासक की परिभाषा मे अवश्य कुछ अन्तर दिखाई पडता है किन्तु गीत-नृत्य आदि का तत्त्व पूर्णत स्वीकार किया गया है। वाग्भट्ट द्वितीय ने अपने काव्यानुशासन में उपर्युक्त विभाजन और लक्षण को पूर्णत अपनाया है। "डोम्बिका-भाण-प्रस्थान-भाणिका-प्रेरण-शिंगक-रामाक्रीड-हल्लीसक-श्रीगदित-रासक गोष्ठी प्रभृतीनि गेयानि' (काव्यानुशासन, पृष्ठ १८)। रासक की परिभाषा वही है जो अभिनव भारती या हेमचन्द्र में प्राप्त होती है। रासक के बारे में विचार करनेवाले चौथे आचार्य विश्वनाथ कविराज हैं जिन्होने साहित्य दर्पण में 'रासक' का लक्षण इस प्रकार बताया है।

रासकं पञ्चपात्रं स्यान्मुखनिर्वहणान्वितम् ।
भाषा विभाषा भूयिष्ठं भारती कैशिकीयुतम् ॥
असूत्रधारमेकांक सवीथ्यंगकलान्वितम् ।
श्लिष्टनान्दीयुतं ख्यातनायिकं मूर्खनायकम् ॥
उदात्त भाव विन्यास संश्रितं चोत्तरोत्तरम् ।
इह प्रतिमुखं संधिमपि केचित्प्रचक्षते ॥

रासक को नाटक के रूप में मानते हुए विश्वनाथ ने उपर्युक्त लक्षण बताये, सामान्य रूप से गेय रूपको का विभाजन और लक्षण[1] अभिनव गुप्तवाला ही रहा।

साहित्य-दर्पण में नाट्यरासक और रासक दोनो के भेदक तत्त्वो पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि रासक मूलत लोक गेय रूपक (Folk opera) ही था और आरम्भिक दिनो में इसका प्रचार अभिजात साहित्य के प्रकार के रूप में नही था। यह शैली जनता मे अवश्य ही बहुत लोकप्रिय थी, जिससे पठित वर्ग भी आकृष्ट होता था, बाद में इसी लोक-प्रचलित रूप को परिष्कृत और सशोधित करके 'नाट्यरासक' का रूप दे दिया गया।

§ ३९१. कुछ लोग रासक की व्युत्पत्ति रास से करते हैं। रास शब्द का प्रयोग संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थो में मिलता है। रास का विस्तृत वर्णन भागवत पुराण में मिलता है। भागवतकार ने कृष्ण-गोपी रास का वर्णन करते हुए लिखा है

तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रत.
स्त्रीरत्नैरन्वित. प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभि.
रासोत्सव संप्रवृत्तो गोपी मण्डलमण्डित
योगेश्वरेण कृष्णेन तासा मध्ये द्वयोर्द्वयो

(भागवत १०।३३।२)

गोपियो और कृष्ण की इस 'रासक्रीडा' को लेकर नाना प्रकार के वाद-विवाद हुए हैं। बहुत से विद्वानो ने इस प्रकार के स्वच्छन्द विहार-विनोद को आभीर-संस्कृति का प्रभाव बताया है। इसी प्रकार के प्रमाणो के आधार पर दो कृष्णो की कल्पना भी की जाती है। इस स्थान

1. साहित्य दर्पण, डॉ० शास्त्री द्वारा सपादित, पृ० १०८–५।

पर विवाद को उठाना प्रासगिक नही मालूम होता, इससे हमारा सीधा प्रयोजन भी नही है, किन्तु रास और आभीरो के सबध को एकदम असभव भी नही कहा जा सकता। अपभ्रंश भाषा आभीरो की प्रिय भाषा थी, इसे कुछ आचार्यों ने तो 'आभीरवाणी' ही नाम दे दिया। रास ग्रथ प्राय अपभ्रश में लिखे गये, कृष्ण और गोपियो के नृत्य का नाम रास-क्रीड़ा रखा गया इन चक्करदार सबधो को देखते हुए यह मानना अनुचित न होगा कि रास नृत्य आभीरो मे प्रचलित था, उनके सपर्क में आने के बाद उनके नृत्य की इस लोकप्रिय शैली को यहाँ के लोगा ने भी अपनाया और बाद में यही नृत्य शैली गेय नाट्य के रूप मे विकसित होकर रासक के नाम से अभिहित हुई। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन आभीरो का सम्पर्क तथा भारतीय सस्कृति पर उनके प्रभाव की चर्चा करते हुए लिखा है कि 'इन आभीरो का धर्ममत भागवत-धर्म के साथ मिलकर एक अभिनव वैष्णव मतवाद के प्रचार का कारण हुआ। बहुत से पडितो का विश्वास है कि प्राकृत और उससे होकर सस्कृत में जो यह ऐहिकतापरक सरस रचनाएँ आयीं उसका कारण आभीरो का ससर्ग था।'[1] अपभ्रश पर आभीरो के प्रभाव तथा मध्यदेशीय सस्कृति से उनके सपर्क का विवरण हम पीछे प्रस्तुत कर चुके हैं (देखिए § ४६) ये आभीर एक जमाने में सौराष्ट्र और गुजरात के शासक थे। १२वी शताब्दी में शारंगदेव ने सगीत-रत्नाकर की रचना की। इस ग्रन्थ में लोकनृत्य के उद्भव और विकास की बडी मनोरंजक कहानी दी हुई है। भगवान् शिव ने जब ताण्डव नृत्य का सृजन किया तो उनके उग्र नृत्य और प्रलयकर ताल से सारी सृष्टि आन्दोलित हो उठी। उस समय उनके क्रोध को शमित करने के लिए पार्वती ने लास्य नृत्य का सृजन किया। इस लास्य नृत्य को कालान्तर में अनिरुद्ध-पत्नी उषा ने पार्वती से सीखा। उषा ने यह नृत्य द्वारावती की गोपिकाओ को सिखाया। इन गोपियो के द्वारा यह नृत्य सारे सौराष्ट्र और गुजरात में फैल गया।[2] शारंगदेव के इस सकेत से भी प्रतीत होता है कि लोकनृत्य लास्य का प्रचार सौराष्ट्र के गोपालो यानी आभीरो में था। सभव है इसी लास्य से रास की उत्पत्ति हुई हो।

रास शब्द के बारे मे अभिधान कोशो मे जो विचार मिलते हैं, उनसे भी आभीर-प्रभाव की पुष्टि होती है।

(१) रास कीडासु गोदुहाम् भाषा शृखलके (अनेकार्थ सग्रह, हेमचन्द्र)

(२) भाषा शृखलके रास क्रीडायामपि गोदुहाम् (त्रिकाण्डशेषे पुरुषोत्तम)

यहाँ रास के दो अर्थ बताये गये हैं ग्वालो की क्रीडा तथा भाषा मे शृंखलाबद्ध रचना। दूसरे अर्थ का सकेत स्पष्ट ही रासक-काव्य से है। पहले अर्थ का सबध आभीरो से स्पष्टतया प्रकट होता है।

§ ३९२ रास काव्य की शैली के दो भेद दिखाई पडते हैं। आरभिक शैली का रासक गेय रूपक था, इसका परवर्ती विकास रासो काव्यो के रूप में हुआ जो बहुत अशो में गेय होते हुए भी [illegible] चरित काव्यो के कारण पाठ्य काव्य की तरह विकसित हुए। पहली शैली के रास ग्रन्थो में सन्देशरासक प्रमुख है और दूसरी मे पृथ्वीराजरासो।

पहली शैली के गेय रूपकों के अभिनय या गाये जाने का सकेत सस्कृत और प्राकृत-अपभ्रंश के कई ग्रन्थो में मिलता है। सस्कृत के लक्षणकारो के विचार हम आरभ मे उद्धृत कर चुके हैं। अभिनवभारती में रासक को 'मसृणोद्धतम्' कहा गया है। विचित्र लय ताल समन्वित इस प्रकार की रचनाओ को नर्तक-युग्म गाते हुए नाचते थे। रेवन्तगिरि रास के अतिम पद्य में रासक के अभिनयात्मक प्रयोग के बारे मे कहा गया है [१]

रगिहि ए रमइ जो रासु सिरि विजयसेन सूरि निम्मविउए।
नेमि जिणु तूसइ तासु अंबिक पूरइ मणि रली ए॥

जिन नेमिनाथ उन्हें सतुष्ट करेंगे तथा अम्बिका उन अभिनेताओ से मन की आशा को पूरी करेंगी श्री विजयसेनसूरि-रचित इस रास को उत्साह से अभिनीत (रगमञ्चित) करेंगे। गेय रूपको की पद्धतियो की चर्चा करते हुए १२वी शती के शारदायन ने अपने भावप्रकाशन ग्रन्थ के दसवें अधिकार मे तीन प्रकार के रासक बताये हैं। लतारासक, दण्डरासक तथा मण्डलरासक

लतारासक नाम त्रेस्यात्त्रेधा रासक भवेत्।
दण्डकरासकमेकन्तु तथा मण्डलरासकम्॥

प्राचीन गुर्जर काव्य सग्रह में सकलित सप्तक्षेत्रि रासु मे लतारास और लकुट रास का प्रसग आता है।[२]

§ ३९३ हमारे विवेच्य काल के अन्तर्गत इस शैली में लिखी व्रजभाषा की रचनाओ में सन्देशरासक (अवहट्ठ में) प्रमुख है। इसी शैली का विकास बाद में रास-लीला के रूप में हुआ। व्रजभाषा में बहुत-से लीला-काव्य लिखे गये। इस प्रकार के काव्यो के बारे में आगे विचार किया गया है (देखिए § ३९५) यहाँ हम सक्षेप मे सदेशरासक के बारे में कुछ विचार करना चाहते है। द्विवेदीजी ने सन्देशरासक को मसृण गेय रासक बताया है। सन्देशरासक और पृथ्वीराज रासो के काव्यरूप का तुलनात्मक अध्ययन करके वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे है 'सन्देशरासक जिस ढग से आरम्भ हुआ है उसी ढग से रासो भी आरम्भ होता है। आरम्भ की कई पक्तियाँ बहुत अधिक मिलती है। सन्देशरासक मे युद्ध का प्रसग नही है। पर उद्धत प्रयोग-प्रधान गेय रूपक मे युद्ध का प्रसग आना प्रयोगानुकूल ही होगा। और युद्ध के साथ प्रेम-क्रीड़ाओ का मिश्रण भी प्रयोग और वक्तव्य विषय के अनुकूल ही होगा। इससे लगता है कि पृथ्वीराज रासो आरम्भ मे ऐसा कथा काव्य था जो प्रधान रूप से उद्धत-प्रयोग प्रधान मसृण-प्रयोग युक्त गेय-रूपक था।'[३] इस प्रकार की मान्यता ने रासो के विकसनशील स्वरूप तथा उसके स्थूलतम, लघु और बृहत् रूपों की कल्पना मे सहायता दिया है, किन्तु रासो के वर्तमान रूप को देखते हुए इसे मसृण या

उद्धृत गेय रूपक की परम्परा मे रखना बहुत उचित नही मालूम होता। क्योकि मसृणोद्धत रासक का जहाँ वर्णन आता है वहाँ 'चित्रताललयान्वित' तथा 'नैकनर्तकीयोज्य' की शर्त भी दिखाई पडती है। रासो अपने वर्तमान रूप में पूरा गेय भी नही है 'नर्तकीयोज्य' होना तो दूर। वस्तुत रासक काव्य-परम्परा पर मध्यकालीन चरित काव्यो खासतौर से सस्कृत के ऐतिहासिक चरित काव्यो का इतना व्यापक प्रभाव पडा कि इसका रूप ही बदल गया। परवर्ती रासक जैन कथाओ को खास तौर से ऐतिहासिक कथाओ को स्वीकार करके लिखे जाने लगे थे।[1] इस तरह के जैन ऐतिहासिक रास काव्यो की सूची जैन गुर्जर कवियो तथा श्री अगरचन्द नाहटा द्वारा सम्पादित ऐतिहासिक जैन काव्य[2] में मिलती है। इन ऐतिहासिक रासको को देखने से मालूम होता है कि धार्मिक कथाओ को रासक रूप में ढालने की शैली मात्र बच गयी थी, वस्तु बिल्कुल ही इतिवृत्तात्मक और घटना पधान होने लगी थी, परवती जैन ऐतिहासिक रास शुद्ध रासक नही रह गये थे। गाये ये अब भी जा सकते थे किन्तु रासकोचित ताल, लय, नृत्य का इनमे अभाव ही दिखाई पडता है। रासो काव्य भी ऐतिहासिक काव्य है। पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो, हम्मीर रासो तथा अन्य कई ऐतिहासिक रासो-काव्य रासक की दूसरी शैली यानी पाठ्य शैली में लिखे गये जिनका मुख्य पयोजन राजाओ की स्तुति तथा उनके सामने इनका सस्वर पाठ रह गया।

पृथ्वीराज रासो की पद्धति के ग्रन्थो मे बहुत-सी ऐसी बातें दिखाई पडती हैं जो आरम्भिक गेय रासको मे नही हैं। कथा तत्त्व की व्यापकता तथा उलझनें, कथानक रूढियो का प्रयोग, राजस्तुति की अतिशयोक्ति, लम्बे-लम्बे वस्तु वर्णन जो मूलत अभिधात्मक होने के कारण नीरस और कवि-समयो से आक्रान्त अथच मौलिक निरीक्षण और उद्भावनाओ से रहित हैं। ये चीजें आरम्भिक गेय रासको मे नही दिखाई पडती, इनका आरम्भ ऐतिहासिक जैन रास ग्रन्थो मे तथा विकास और अवाछित चरम परिणति ब्रजभाषा के हिन्दू रासो ग्रन्थो मे दिखाई पडता है। पृथ्वीराज रासो तथा अन्य रासो काव्यो की उपर्युक्त विशिष्टताओ के बारे मे जो इनमे चरित-काव्यो की शैली के पभाव के कारण आयी, हम पहले विचार कर चुके हैं (देखिए § ३८३)।

इस प्रकार रासक और रासो यद्यपि एक ही उद्गम से विकसित हुए, उनकी मूल प्रवृत्तियाँ भी बहुत कुछ एक-जैसी ही रही, किन्तु परवर्ती काल मे उनकी शैलियो के बीच काफी व्यवधान और अन्तर दिखाई पडता है।

लीला काव्य

§ ३९४. ऊपर रास काव्यो की दो परपराओ का सकेत किया गया है। गेय रास की परपरा काफ़ी विकसित हुई। राजस्थानी मे गेय रासक लिखे गये यद्यपि सख्या वैसे रासो-काव्यो की भी ज्यादा है जो इतिवृत्तात्मकता और नीरस वर्णनो से भरे हुए हैं। ब्रजभाषा मे भी रास नामक गेय रचनाएँ लिखी गयी। ये रचनाएँ जैन कवियो ने ही लिखी क्योकि रास काव्य की जैन-परपरा उन्हे सहज सुलभ थी। वाचक सहजसुन्दर के ब्रजभाषा में लिखे रतनकुमार रास

---

१ जैन गुर्जर कवियो, श्री देसाई-द्वारा सम्पादित, बम्बई।

२ जैन ऐतिहासिक काव्य, अगरचन्द और भँवरमल नाहटा, कलकत्ता।

का विवरण पीछे प्रस्तुत किया गया है (देखिए § १६६)। इस रचना में गेयता और भाव-प्रवणता अपनी चरमसीमा पर दिखाई पडती है।

हँस पपइ जिमि मान सरोवर राज पषइ जिमि पाट रे
सांभर को जल जिमि विनु लोयण गरथ पषइ जिमि हाट रे
विन परिमल जिमि फूल करंडी सील पषइ जिमि गोरी रे
चन्द कला पपइ जिमि रयणी व्रह्म जियस विण वेद रे
मारग पुण्य पवित्र तिमि गुरु विनु कोई न बूझे भेद रे

इस प्रकार की रचनाएँ जैन धर्मानुमोदित भक्ति-भावना से पूर्णत ओत-प्रोत हैं। रास शैली में लिखी रचनाएँ व्रजभूमि में भी लिखी गयी। शैली, रूपाकार करीब-करीब वही है किन्तु इन रचनाओ का काव्य रूप रास न कहा जाकर लीला कहा गया है। लगता है ये रचनाएँ रास-लीला कही जाती थी क्योंकि गेय रूपक होने के कारण इनका अभिनय होता था, जिसे साधारणत लोग रास-लीला कहा करते थे क्योंकि ऐसी रचनाओ मे गोपी-कृष्ण प्रेम के प्रसग ही रखे जाते थे। पश्चिमी प्रदेशो में १५वी शती के पहले कृष्णभक्ति का बहुत व्यापक प्रचार नही था। जैन धर्म के प्रभाव के कारण रास-लीला सबधी कृष्ण काव्य राजस्थानी-गुजराती में कुछ दूसरे ही रग में उपस्थित हुए उनमें जैन-प्रभाव अत्यत तीव्र दिखाई पडता है। उन दिनो कृष्ण भक्ति का प्रचार व्रज से बगाल तक के प्रदेश में बडी तीव्रता से हो रहा था। बगाल में जयदेव का गीतगोविन्द अभिनय के साथ गाया जाता था। डॉ० दशरथ ओझा ने व्रजभाषा के लीला काव्यो के विकास का वर्णन करते हुए लिखा है कि '१२वी शताब्दी में श्री बोपदेव रचित श्रीमद्भागवत में कृष्ण रास लीला के प्रमाण से तथा राजस्थानी रास की उपलब्धि से तत्कालीन कृष्ण रास-लीला की रास पद्धति का अनुमान किया जा सकता है।'[1]

१४वी शताब्दी में सकलित पिंगल-ग्रन्थ प्राकृतपैंगलम् मे एक ऐसा पद्य आता है जो प्राचीन अपभ्रश की किसी कृष्ण लीला से लिया हुआ प्रतीत होता है। इस पद्य में रास लीला की शैली की विशेषताएँ पायी जाती है। रास लीला में रूपकत्व या अभिनेयता लाने के लिये वर्णन सम्भाषण-शैली में होते हैं। यह पद्य इस प्रकार है .

अरे रे वाहहि काण्ह णाव छोडि डगमग कुगति ण देहि
तइ इत्थि णईहि सं तार देइ जो चाहइ सो लेहि

बन गया। हित-हरिवंश, वल्लभाचार्य, गदाधरभट्ट आदि वैष्णव महात्मा राम-लीला के संस्थापक माने जाते हैं। ब्रजभाषा के अष्टछापी कवियों में से अनेक ने लीला काव्य लिखे। ध्रुवदास (१६६० संवत्) ने दानलीला, मानलीला तथा वृन्दावनदास ने चालीस लीलाएँ लिखी। नन्ददास ने स्याम सगाई लिखी। हमारे आलोच्य काल के अन्दर विष्णुदास की स्नेह-लीला (१४९२ संवत्) तथा परशुराम देव की अमरबोध लीला, नाथ लीला, नन्दलीला, आदि रचनाएँ लिखी गयी। यदि विष्णुदास की स्नेहलीला प्रामाणिक कृति मानी जाये तो लीला काव्य का आरंभ अष्टछापी कवियों से बहुत पहले का साबित होता है। सनेह लीला में केवल कवि का नाम विष्णुदास दिया है, प्रति उनकी रचनाओं की प्रतियों के साथ ही मिली है, तिथिकाल आदि कुछ ज्ञात नहीं है। लीला काव्यों की शैली की मुख्य विशेषताएँ

(१) छन्दोबद्धता तथा गेयता प्रधान गुण-धर्म।

(२) मधुर प्रेम-विरह और संयोग दोनों ही लीला काव्य के विषय हो सकते हैं।

(३) लीला काव्य अभिनय की दृष्टि से लिखे जाते थे इसलिए इनके कथोपकथन अर्थात् संभाषण-शैली का प्रयोग होता है।

(४) जैन रास की तरह लीला काव्य में भी नृत्य, गीत आदि की प्रधानता रहती है।

(५) ब्रजभाषा के लीला काव्यों में भक्ति और शृंगार का अद्भुत संमिश्रण दिखाई पड़ता है। यह जैन रासो में नहीं है। जैन रास एकदम नैतिकतावादी तथा धर्ममूलक हैं। जो गृहस्थ जीवन को लेकर लिखे गये हैं उनमें आमुष्मिकता का घोर आतंक दिखाई पड़ता है। लीला काव्य इस दृष्टि से संदेसरासक आदि मसृण लय-ताल-युक्त गेय रूपकों की कोटि के बहुत नजदीक हैं।

षड्ऋतु और बारहमासा

§ ३९६ प्रकृति मनुष्य की चिर सहचरी है। मानव जीवन को नाना रूपों में प्रभावित करनेवाली, उसे प्रेरणा और चेतना प्रदान करनेवाली माया-शक्ति के रूप में प्रकृति की भारतीय वाङ्मय में अभूतपूर्व अभ्यर्थना हुई है। प्रकृति और पुरुष के युगनबद्ध रूप में, दोनों के पारस्परिक संबंधों के संतुलन तथा सहयोग से जीवन की सफलता बतायी गयी है। मनुष्य अपने व्यक्ति-निष्ठ स्वार्थ के वशीभूत होकर जब जब प्रकृति को पराजित करने के उद्देश्य से परिचालित हुआ है तब तब उसकी शान्ति और समृद्धि का ह्रास हुआ है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि काव्य का चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत कराके अनुभव कराना है, उसके साधन में अहंकार का त्याग आवश्यक है, जब तक इस अहंकार से पीछा न छूटेगा तब तक प्रकृति के सब रूप मनुष्य की अनुभूति के भीतर नहीं आ सकते। भारतीय कवियों ने इस सत्य को सदा स्वीकार किया था। परिणामतः ऋग्वैदिक मंत्रों से लेकर वर्तमान युग के गीतिकाव्यों में इस प्रकृति की शान्ति, समृद्धि और शक्ति का मनोरम चित्रण भरा हुआ है।

षड्ऋतु और बारहमासा इसी प्रकृतिचित्रण के रूढ़-प्रकार हैं जो ६वीं-७वीं शताब्दी में अलग काव्य रूप (Poetic form) की भाँति विकसित हुए। इसके पहले ऋतुओं

का विवरण प्रकृति के समष्टिगत विवरण मे प्रासगिक रूप से किया जाता था। वैदिक मंत्रो मे ऋतु या प्रकृति का चित्रण आलम्बन के रूप में ही होता था वह स्वय वर्ण्य थी, आकर्षण और सौन्दर्य की अधिष्ठात्री होने के कारण। यह बात दूसरी है कि सर्वत्र वैदिक ऋषि आह्लाद-युक्त भाव से ही उसका चित्रण नहीं कर पाता था। उसे प्रकृति के उग्र रूप का भी अनुभव था और इस प्रचण्डभीमा प्रकृति की उग्रता से भयातुर होकर भी वह उसकी स्तुति करता था। वाल्मीकि के काव्य में भी प्रकृति प्रधान रही। कालिदास तो निसर्ग के कवि ही कहे जाते हैं। कालिदास के ऋतु सहार काव्य को देखने से ऐसा लगता है कि यद्यपि प्रकृति उनके लिए मानवीय रति या शृगार के उद्दीपन भाव का साधन बनकर ही नही रह गयी है, फिर भी उसमें स्वाभाविकता और यथार्थ का अभाव दिखाई पड़ने लगता है। वस्तुओ के विवरण में रूढियो का प्रभाव गाढा होने लगा था। शुक्लजी का अनुमान है कि उद्दीपन के रूप में प्रकृति के चित्रण की परिपाटी तभी से आरम्भ हुई है। उन्होने लिखा कि ऐसा अनुमान होता है कि कालिदास के समय से या उसके कुछ पहले ही से दृश्य वर्णन के सम्बन्ध में कवियो ने दो मार्ग निकाले। स्थल-वर्णन में तो वस्तुवर्णन की सूक्ष्मता कुछ दिनो तक वैसी ही बनी रही, पर ऋतु-वर्णन में चित्रण उतना आवश्यक नही समझा गया जितना कुछ इनी-गिनी वस्तुओ का कथन-मात्र करके भावो के उद्दीपन का वर्णन। जान पड़ता है कि ऋतु-वर्णन वैसे ही फुटकल पद्यों के रूप में पढे जाने लगे जैसे 'बारहमासा' पढा जाता है।[1]

अभाग्यवश मध्यकालीन काव्य में प्रकृति चित्रण का रूप अत्यन्त कृत्रिम और रूढिग्रस्त हो गया। षट्ऋतु के वर्णन में कवि की दृष्टि प्रकृति के यथार्थ स्वरूप पर आधारित न होकर आचार्यों द्वारा निर्मित नियमो और कवि-समयो से परिचालित होने लगी। कवियो के लिए बना-बनाया मसाला दिया जाने लगा, उनका कार्य केवल घरौंदे बना देना रह गया। काव्य मीमासा में काल-विभाग के अतर्गत इस प्रकार का पूरा विवरण एकत्र मिल जाता है। राजशेखर ने तो यहाँ तक कह दिया कि देश-भेद के कारण पदार्थों में कहीं-कही अन्तर आ जाता है किन्तु कवि को तो कवि-परपरा के अनुसार ही वर्णन करना चाहिए। देश के अनुसार नहीं।[2]

> देशेषु पदार्थाना व्यत्यासो दृश्यते स्वरूपस्य ।
> तन्न तथा बध्नीयात्कविबद्धमिह प्रमाण न ॥
>
> (काव्यमीमासा, १८वाँ अध्याय)

अर्थात् कवि की अपनी अनुभूतियो और निरीक्षण-उपलब्धियो का कोई मूल्य नही।

हमारे विवेच्य काल के अतर्गत इस काव्य-प्रकार में कई रचनाएँ लिखी गयी हैं। व्रजभाषा की अवहट्ट या पिंगल शैली में भी और आरभिक शुद्ध व्रजभाषा में भी। इनमें सदेश-रासक का षट्ऋतु वर्णन, प्राकृतपैंगलम् के स्फुट ऋतु वर्णन के पद, पृथ्वीराज रासो का षट्ऋतु वर्णन, नेमिनाथ चौपई का बारहमासा तथा नरहरि भट्ट का बारहमासा आदि अत्यत महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं।

---

1. चिन्तामणि, भाग १, काशी, सवत् २००२, पृ० २१।
2. काव्य मीमांसा, पटना, १९५४, पृ० २५२।

§ ३९७ सदेशरासक और पृथ्वीराज रासो के षड्ऋतु वर्णन उद्दीपन के रूप में ही दिखाई पडते हैं। संदेश-रासक का ऋतु-वर्णन विरहिणी नायिका के हृदय के दग्ध उच्छ्वासो से परिपूर्ण है। पथिक उस प्रोषितपतिका से उसकी दिनचर्या पूछता है वह जानना चाहता है कि कब से नूतन मेघ-रेखा से विनिर्गत चंद्रमा के समान नायिका का निर्मल बदन इस प्रकार विरह धूम से श्यामल हो रहा है और तब नायिका एक वर्ष पहले ग्रीष्म ऋतु में विदा होनेवाले प्रियतम के वियोग की सविस्तर वर्णना सुना जाती है। सदेशरासक का ऋतु-वर्णन कवि-प्रथा के अनुसार निश्चित वस्तुओ की सूची उपस्थित करता है, इसमें शक नही, किन्तु जैसा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है 'कि जायसी की भाँति अद्दहमाण के सादृश्यमूलक अलकार और बाह्य वस्तु निरूपक वर्णन बाह्य वस्तु की ओर पाठक का ध्यान न ले जाकर विरह-कातर मनुष्य के मर्मस्थल की पीडा को अधिक व्यक्त करता है।'[1]

रासो का ऋतु-वर्णन यद्यपि विरहाशकिता नायिकाओ के हृदय की पीडा को व्यजित करने के उद्देश्य से प्रस्तुत किया गया है किन्तु इन पदो मे सयोगकालीन स्मृतियो की विवृति दिखाई पडती है, इसीलिए इसे हम सयोगकालीन उद्दीपक ऋतु वर्णन की प्रथा का ही निदर्शन कहेंगे। सयोगिता से मिलने के लिए उत्सुक पृथ्वीराज जयचन्द के यज्ञ में उपस्थित होना चाहते हैं, वे प्रत्येक रानी के पास विदा लेने के लिए जाते हैं, किन्तु रानियो का ऐसे ऋतु मे बाहर न जाने का मधुर आग्रह वे टाल नही पाते और रुक जाते हैं। रासो के ऋतु वर्णन की विशेषताओ पर डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने विस्तार से विचार किया है।[2] प्राकृत-पैंगलम् एक सग्रह काव्य है, छन्दो के उदाहरण के लिए पद्य सकलित हैं इसलिए उसमें पूर्णता के साथ षड्ऋतु वर्णन का मिलना कठिन है। किन्तु इस काव्य मे स्थान-स्थान पर प्रकृति का जो चित्रण मिलता है, खास तौर से ऋतुओ का चित्रण, वह निश्चय ही किसी अज्ञात-ज्ञात काव्य के ऋतु-वर्णन प्रसग से लिया गया है। उदाहरण के लिए वसन्त ऋतु का एक चित्रण देखिए

फुल्लिअ केसु चन्द तँह पअलिअ मजरि तेजिअ चूआ
दक्खिण वाउ सीअ भइ पवहइ कम्प विओइणि हीआ
केअइ धूलि सव्व दिसि पसरइ पीअर सव्वउँ भासे
आउ वसन्त काइ सहि करिअइ कन्त ण थक्कइ पासे

(प्राकृतपैंगलम्, पृ० २१२)

प्राकृतपैंगलम् का एक और ऋतु-वर्णन सम्बन्धी पद हम पीछे उद्धृत कर चुके है (देखिए § ११०) इस पद में शिशिर के बीतने और वसन्त के आगमन का बडा ही सुन्दर चित्रण किया गया है। प्राकृतपैंगलम् मे ऐसे ऋतु-वर्णन की विशेपता यह है कि ये वर्णन उद्दीपन के रूप में चित्रित होते हुए भी कालिदास के ऋतु सहार की परम्परा में हैं अर्थात् केवल उद्दीपन-मात्र ही नही है, प्रकृति के सौंदर्य का चित्रण भी अभीष्ट रहा है।

---

१ हिन्दी साहित्य का आदिकाल, १९५२, पटना, पृ० ८४।
२ वही, पृ० ८२-८३।

नेमिनाथ चतुष्पदिका[1] और नरहरि भट्ट के ऋतु-वर्णन बारहमासा-पद्धति मे लिखे हुए हैं। नेमिनाथ चौपई में राजमती के विरह का सविस्तर वर्णन मिलता है। नेमिनाथ के वियोग में उनकी परिणीता राजमती आषाढ से आरभ करके ज्येष्ठ तक के बारह महीनो को अपनी विरह-पीडा तथा नेमि की कठोरता का विवरण अपनी सखी को सुनाती है। नेमिनाथ चतुष्पदिका के प्रसग पीछे दिये हुए हैं (देखिए § १२३) नरहरि भट्ट के बारहमासे भी विरह काव्य ही हैं। आरभ आषाढ से होता है। वर्णन रासोकार की पद्धति पर उद्दीपन-प्रधान ही है, भाषा भी प्राय ऐसी ही है रासो के वर्षा-वर्णन और नरहरि का सावन मास का चित्रण मनोरजक तुलना का विषय है। नरहरि भट्ट का श्रावण और भाद्र का वर्णन देखिये[2] :

> विज्जु तरक्कि चमक्कि पपीहा चहक्किंत स्याम सुहर्ष सुहावन
> भुम्मि हरित्त सरित्त भरित्त दिगन्त रहित्त जिन्तितिय आवन
> नरहरि स्वामि समीप जहां लगि रचहि हिंडौल सखी सुख गावन
> वे आदर विलपत्तहि न कह विन विट्ठल विलपति हे सावन ?
> जल जगल महिय गगन गूंजत दादुर मोर रोर घन सादव
> जदपि मघा मेघ झरि मंडि बुझि विरह विकल विन कादव
> नरहरि निरषि जात जोवन वन प्रगटित प्रेम वृथा विन जादव
> अब तक परती विकल व्रज सुदरि दुम्भर नयन भरति भरि भादव

§ ३९८ षड्ऋतु और बारहमासा सबधी रचनायें गुजराती, राजस्थानी तथा हिन्दी की विभिन्न बोलियो में प्राप्त होती है। इन रचनाओ की वस्तु तथा भावधारा का विश्लेषण करने पर मालूम होता है कि इसमें षड्ऋतु वर्णन मूलत सयोग शृगार का काव्य है जब कि बारह-मासा विरह या विप्रलभ का। वैसे सदेशरासक में षड्ऋतु का वर्णन विरह प्रधान है जो इस मान्यता के विरुद्ध में दिखाई पडता है, किन्तु अधिकाश रचनाओ से उपर्युक्त मत की पुष्टि ही होती है। षड्ऋतु का चित्रण रासो में सयोग काव्य की प्रथा मे ही हुआ है। पद्मावत में षड्ऋतु और बारहमासा दोनो ही के प्रसग आते हैं। षड्ऋतु वर्णन खड मे पद्मावती और रतनसेन के सयोग-शृङ्गार का चित्रण हुआ है। ठीक उसी के बाद आनेवाले नागमती वियोग खड में नागमती के विरह का वर्णन बारहमासे की पद्धति पर प्रस्तुत किया गया है। इसी को लक्ष्य करके प० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा कि 'प्राप्त प्रथा के अनुसार पद्मावती के सयोग सुख के सम्बन्ध में षड्ऋतु और नागमती की विरह वेदना के सग मे बारहमासे का चित्रण किया गया है।'[3] नेमिनाथ चतुष्पदिका तथा नरहरि भट्ट के बारहमासे में भी वियोग-वेदना की अभिव्यक्ति की गई है। विद्यापति ने भी विरह का चित्रण बारहमासे की पद्धति पर किया है।

> मोर पिया सखि गेल दुर देस
> जौबन दये गेल साल सनेस

---

1. गायकवाड ओरियण्टल सीरिज नबर १३, १९२६, बडौदा।
2. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृ० ३१७।
3. चिंतामणि, द्वितीय भाग, सवत् २००२, काशी, पृ० २६।

मास असाढ़ उनत नव मेघ
पिया विसलेस रहओं निरथेघ
कौन पुरुष सखि कौन सो देस
करब माय तहाँ जोगिनि वेस

आषाढ़ में नवीन मेघो के उनय आने से प्रिय-विश्लेष-दु ख को काली छाया निरतर घनी होती जा रही है और पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश को सूजी आँखो से देखते-देखते अपने ताप से जगत् को धूलिसात् कर देनेवाला ज्येष्ठ आ जाता है। विद्यापति ने अत्यत कौशल से विरह की इस करुण वेदना को बारहमासे में अकित किया है।[1] सूरदास ने बारहमासे की शैली में अलग से कोई काव्य नही लिखा किन्तु गोपी-विरह में इस शैली की छाप स्पष्ट दिखाई पडती है। ब्रजभाषा के परवर्ती लेखको ने षड्ऋतु और बारहमासे की पद्धति में कई काव्य लिखे। सेनापति (सवत् १६४६) का ऋतु वर्णन अपनी अत्यत सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण की कुशलता तथा भाषा के स्वाभाविक प्रवाह के लिए प्रसिद्ध है। सवत् १६८८ में सुन्दर कवि ने तथा १८११ में हसराज ने बारहमासो की रचना की।

इन बारहमासो में प्रकृति का चित्रण प्राय आषाढ़ मास से आरम्भ होता है। षड्ऋतु मे ऋतु का आरम्भ ग्रीष्म से दिखाया जाता है। ऋतु सहार में इसी पद्धति को अपनाया गया था। किन्तु इन नियमो के अपवाद भी कम नही दिखाई पडते। उदाहरण के लिए गुजराती में १८वी शती में लिखा इन्द्रावती कृत षड्ऋतु वर्णन वर्षा से आरम्भ होता है उसी प्रकार गुजराती के दूसरे कवि श्री दयाराम ने सवत् १८४५ में लिखे गए अपने षड्ऋतु विरह वर्णन काव्य में ऋतु का आरम्भ वर्षा से किया है।[2] षड्ऋतु वर्णन में जायसी ने ऋतु का आरम्भ वसन्त से किया है।[3]

प्रथम वसन्त नवल ऋतु आई, सुऋतु चैत बैसाख सुहाई
चदन चीर पहरि धरि अगा सेन्दुर दीन बिहँसि भर मगा

सन्देशरासक मे षड्ऋतु का वर्णन आरम्भ ग्रीष्म ऋतु से ही होता है। बारहमासे के प्रसङ्ग मे आषाढ से आरम्भ की पद्धति प्राय सर्वमान्य दिखाई पडती है। कविप्रिया में केशवदास ने १०वें प्रभाव मे बारहमासा का वर्णन चैत्र से किया है जो फाल्गुन मे समाप्त होता है। ७वें प्रभाव मे षड्ऋतु का वर्णन वसन्त ऋतु से हुआ है।[4] अलङ्कारशेखर में १६वे मरीचि में षड्ऋतु वर्णन सुरभि ऋतु यानी वसन्त से ही शुरू होता है।[5] वैसे भी इस

---

१ विद्यापति पदावली, रामवृक्ष बेनीपुरी-द्वारा सपादित, द्वितीय सस्करण, पृ० २७१।

२ गुजराती साहित्य ना स्वरूपो, पृ० २५८-६०।

३. जायसी ग्रथावली, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, १९८१ सवत्, षड्ऋतु वर्णन खड दोहा ५।

४ कविप्रिया, केशव ग्रथावली खड १, सपादक विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, १९५४, पृ० १५७–१६० तथा १३६–३८।

५. श्री माणिक्यचन्द्र कारित श्री केशव मिश्र कृत अलकार शेखर, सपादक शिवदत्त, बबई, १९२६, पृ० ५९।

देश में नव वर्ष का आरम्भ भिन्न-भिन्न महीनो से माना जाता है राजशेखर कवि के अनुसार ज्योतिप शास्त्रवेत्ता सवत्सर का आरभ चैत्र मास से यानी वसन्त ऋतु से तथा लौकिक व्यवहार वाले श्रावण से मानते हैं। स च चैत्रादिरिति दैवज्ञा. श्रावणादिरिति लोकयात्राविद. (काव्य-मीमासा १८वाँ अध्याय) इसी आधार पर राजशेखर ने जो ऋतुओ का क्रम बताया है वह वर्षा से आरभ होता है। वर्षा, शरत्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म।[1] यहाँ पर वर्षारभ की पद्धति वही है जिसे गुजराती कवियो ने स्वीकार किया है। लगता है कि राजशेखर के काल में भी इस क्रम में व्यत्यय होता था इसीलिए उन्होने यह व्यवस्था दी है कि ऋतु-क्रम में व्यत्यय करने से कोई दोप नही पैदा होता, हाँ इतना अवश्य है कि वह प्रसगानुकूल हो।[2]

न च व्युत्क्रमदोषोऽस्ति कवेरर्थपथस्पृष.।
तथा कथा कापि भवेद्व्युत्क्रमो भूपण यथा ॥

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम षड्ऋतु और बारहमासे के सम्बन्ध में निम्नलिखित विशेषताएँ निर्धारित कर सकते हैं।

(१) दोनो ही उद्दीपन के निमित्त व्यवहृत काव्य-प्रकार हैं किन्तु सामान्यत षड्ऋतु का वर्णन सयोग-शृगार में, बारहमासे का विरह में होता है। इन नियमो का पालन बडे शिथिल ढग से होता है, अत अपवाद भी मिलते हैं।

(२) षड्ऋतु वर्णन ग्रीष्म ऋतु से आरम्भ होता है, बारहमासे की पद्धति के प्रभाव के कारण कई स्थानो पर वर्षा से भी आरम्भ किया गया है। बारहमासा प्राय. आषाढ़ महीने से आरम्भ होता है।

(३) इन काव्यो की पद्धति बहुत रूढ हो गयी है, कवि-प्रथा का पालन बहुत कडाई से होता है, इसलिए मौलिक उद्भावना की कमी दिखाई पडती है।

वेलि काव्य

§ ३९९ वेलि का अर्थ वल्लरी या लता होता है। जाहिर है कि इस लतासूचक शब्द को काव्य-रूप का अभिधान कुछ विशिष्ट कारणो से मिला होगा। राजस्थानी के प्रसिद्ध वेलि काव्य किसन रुक्मिणी वेलि में कवि ने इस शब्द को लक्ष्य करके एक रूपक का प्रयोग किया है

वेल्लि तसु बीज भागवत वायउ, महि थाणउ प्रथिदास मुख।
मूल ताल जड अरथ माडतह सुथिर करणि चढिछाँह सुख ॥ २९१ ॥
पत्र अक्खर दल डाला जस परिमल नवरस ततु विधि अहोनिसि।
मधुकर रसिक सुभगत मजरी सुगति फूल फल भुगति मिसि ॥ २९२ ॥
कलि कल्प वेलि वलि काम धेनुका चिन्तामणि सोम वेलि पत्र।
प्रगटित प्रथमी प्रिथु मुख पवजि अखरावलि मिसि थई एकत्र ॥ २९३ ॥
प्रिथु वेलि कि पच विध प्रसिद्ध प्रनाली आगम नीगम कजि अखिल।
मुगति तणी नीसरणी मडी सरग लोक सोपान इल ॥ २९४ ॥

---

1. राजशेखर, काव्यमीमासा, पटना, १९५४, पृ० २३८।
2. वही, पृ० २६३।

पृथ्वीराज अपनी-अपनी 'वेलि' को भक्ति-लता के समान बताते हैं और सागरूपक की पद्धति से इसके विभिन्न अगो का वर्णन करते हैं। यहाँ पर 'वेलि' के काव्य रूप के लक्षण पर कोई प्रकाश नही पडता। २९२वें पद्य में 'दलदाला' से लेखक यह सकेतित करता है कि वेलि में दोहले या दोहे हैं जो लता के दल की तरह हैं। श्री नरोत्तमदास स्वामी ने 'वेलि किसन रुकमिणी' की भूमिका में वेलि को छन्द बताया है।[1] इसका आधार उक्त वेलि में प्रयुक्त वेलियो छन्द है जिसका लक्षण इस प्रकार है

मुहरावाली तुक मही मुहरामांहि मुणन्त।
वणे गीत इस वेलियो आद गुरू लघु अन्त ॥

चारो चरण क्रमश १६-१५-१६-१५ मात्राओ के होते हैं। वस्तुत यह साणौर नामक छन्द का एक प्रकार होता है। साणौर छन्द के चार भेद होते हैं, उसमें एक बेलियो भी होता है। इस गीत में प्रथम चरण मे सर्वत्र दो मात्राएँ अधिक होती हैं अर्थात् १६ के स्थान पर १८ मात्राएं। ये दो मात्राएँ हमेशा चरण के आदि में बढ़ती हैं।[2]

वेलि काव्यो की सामान्य शैली को देखने से मालूम होता है कि इनमें दोहे तथा बीच-बीच में १६-१५ मात्रा के चार चरणवाले छन्द प्रयुक्त होते हैं और इनकी व्यवस्था आल्हा छन्द की तरह से होती है। इसमें निश्चित क्रम में दोहे चार चरण के छन्द प्रयुक्त होते हैं। सभव है इसी क्रम को देखकर इस पर वेलि या लता का साम्य आरोपित किया गया हो। डॉ० मजूमदार वेलि को विवाह-काव्य मानते हैं किन्तु वेलि शैली में कई ऐसे काव्य दिखाई पडते हैं जिसमें विवाह या मगल का वर्णन नहीं मिलता। उदाहरण के लिए हमारे विवेच्य काल में ब्रजभाषा की पचेन्द्रिय वेलि में विवाह का कोई प्रसग ही नही है।

§ ४०० वेलि काव्यो में अद्यावधि प्राप्त सबसे पुरानी रचना सव्वत् १४६२ की चिहुँगति वेलि है। यह पुरानी राजस्थानी में लिखी हुई है। इसमें मनुष्य, देव, तिर्यक् और नारकी इन चार गतियो का वर्णन किया गया है।[3] प्राचीन राजस्थानी गुजराती में और भी बहुत-सी वेलि-रचनाएँ प्राप्त होती हैं जिनमे सिहा कवि की सवत् १५३५ की जम्बूस्वामी वेलि तथा नेमिवेलि, जयवत सूरि की स० १६१५ की नेमि राजुल बारहमास वेलि, केशवदास वैष्णव की १७वी शती की वल्लभवेल, कवि वजिया कृत सीतावेल तथा सवत् १६०७ में लिखी केशव किशोर रचित श्री कीरतलीला मे वल्लभ कुल वेलि महत्वपूर्ण हैं। इनमें अन्तिम तीन रचनाएँ वैष्णव भक्ति से प्रभावित हैं। श्री कीरतलीला (सवत् १६०७) ब्रजभाषा की बहुत ही सुन्दर रचना है। नीचे एक पद दिया जाता है।

द्राविड़ भक्ति उत्पन्न है गुर्जर पर ले जानि
प्रकट श्री विट्ठलनाथ जू दानी वेलि चढानि ॥ १७१ ॥
सू सा कहे कहे बोले ते जानत हे शिर पूजि
अब वे भये अनन्य सब रहत रास सब गूजि ॥ १७२ ॥

---

१ श्री नरोत्तम स्वामी सम्पादित, वेलिकिसन रुकमिणी भूमिका।
२ प्रो० मजुलाल मजूमदार, गुजराती साहित्य ना स्वरूपो, वडोदा, १९५४, पृ० ३७६।
३ जैन गुर्जर कवियो, प्रथम भाग, बबई, १९२६, पृ० २३।

काशी तजि यम किंकरनि लागत नहिं कहूँ बात।
चित्रगुप्त कागज त्यजे कोउ न पूछत बात ॥ १७३ ॥
श्री द्वारकेस जु कृपा करी लीनो हो अपनाय।
श्री वल्लभ कुल की वेलि पर केशव किशोर बलि जाय ॥ १७४ ॥

विक्रमी संवत् १६८७ में गुजरात के एक कवि ने वल्लभ कुल की यह वेलि ब्रजभाषा में लिखी, ब्रजभाषा के विस्तार और उसकी लोकप्रियता का यह एक सबल प्रमाण है।

संवत् १५५० की लिखी हुई पंचेन्द्रिय वेलि आरंभिक ब्रजभाषा की महत्वपूर्ण रचना है।[1] कवि ठक्कुरसी की इस 'वेलि' में पंच इन्द्रियों के गुण-धर्म का तथा इनके अतिवादी आचरण से उत्पन्न कष्टों का अत्यंत मार्मिक चित्रण किया गया है।

परवर्ती ब्रजभाषा तथा हिन्दी की दूसरी बोलियों में भी वेलि काव्य मिलते हैं। कहा जाता है कि कबीर ने भी एक वेलि काव्य लिखा था। कबीर ग्रंथावली में उनकी एक-दो वेलि संकलित है। बीजक की प्रामाणिकता पर विद्वानों ने संदेह व्यक्त किया है। इसलिए इस वेलि को भी पूर्णत: प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। साखियोंवाले भाग में एक 'बेली का अंग' भी है। यहाँ भी वेलि या अर्थ लता ही है।[2] कल्याणदास और रामराज ने भी मनोरथ वल्लरी नाम से अलग-अलग वेलि-काव्य लिखे हैं। १८वीं शताब्दी के श्री वृन्दावनदास की आठ वेलि-रचनाओं की सूचना मिलती है। इनमें यमुनाप्रकाश वेलि काफी महत्त्वपूर्ण रचना है।[3] घनानन्द-रचित रसकेलि वेलि तथा नागरीदास की कलि वैराग्य वल्लरी प्रकाशित हो चुकी है। ब्रजनिधि ग्रंथावली में जयपुर के महाराज प्रतापसिंह की दुःखहरण वेलि तथा दादू ग्रंथावली में दादू की 'कायावेलि' संकलित है।

बावनी

के उपयुक्त नही होता।[1] इसके विपरीत सामाजिक विघटन, रूढि-विरोधिता, क्रान्ति और संघर्ष के युग में गीति काव्य की अत्यन्त उन्नति होती है। हापकिन्स ने वैदिक और सस्कृत गीतियो का विश्लेषण करके इन्हें चार भागो विभाजित किया है।[2] पहला युग वैदिक गीतियो का है जो ईसा पूर्व ८वी से चौथी शती तक फैला हुआ है। इसमें धार्मिक और वीरगाथात्मक गीतियो की प्रधानता है दूसरा युग ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दी से पहली शती तक है जिसमें आध्यात्मिक तत्वो की प्रधानता है। तीसरा काल पहली शती से चौथी पाँचवी तक आता है जिसमें प्रेम-गीत लिखे गये। इसी काल में चौथी श्रेणी के भी गीत लिखे गये जिनमें रहस्य और वासना दोनो का भयकर मिश्रण दिखाई पडता है। सस्कृत में वस्तुत शुद्ध गीतिकाव्य प्राप्त नही होता वैदिक गीतो की स्वच्छन्द धारा सस्कृत के सामन्तवादी अभिजात साहित्य में खो गयी इसीलिए १२वी शती के जयदेव को कुछ लोग सस्कृत का प्रथम गीतकार मानते हैं। यद्यपि यह पूर्णत ठीक नही है।[3]

§ ४०५ गीतकाल का वास्तविक उदय १२वी शताब्दी के बाद देशी भाषाओ में हुआ। विद्यापति, चण्डीदास, सूर, मीरा आदि इस गीत-युग के प्रमुख स्रष्टा हैं। ब्रजभाषा का १७वी शताब्दी का काव्य मूलत गीत-काव्य है। गेय मुक्तको के रूप में गीतो का जैसा निर्माण उक्त शताब्दी में ब्रजभाषा मे हुआ वैसा अन्यत्र शायद ही सभव हो। इसका मूल कारण उस काल की सामाजिक और सास्कृतिक परिस्थितियो के भीतर निहित है। मुसलमानी आक्रमण से क्षुब्ध जन-मानस, भक्ति का नवोन्मेष, रूढि-विरोधी विचारो की क्रान्तिकारी मान्यताएँ तथा सामन्तवादी सस्कृति के विघटन से उत्पन्न नयी वैयक्तिक चेतना इन गीतो के निर्माण में पूर्णत सहायक हुई है। इस युग मे रचित गीतो को देखकर प्राय विद्वानो को बडा कौतूहल रहा है कि एक सद्य जात भाषा में इतने उच्चकोटि के गीतो का आकस्मिक सृजन कैसे सम्भव हुआ। किन्तु यह कौतूहल बहुत उचित नही है क्योकि सूर-पूर्व ब्रजभाषा में गीत काव्य की बहुत ही पुष्ट और विकसित परम्परा दिखाई पडती है।

परवर्ती अपभ्रश में गेय पद लिखे जाते थे। प्राकृतपैंगलम् वैसे मूलत. छन्द का ग्रन्थ है उसमें छन्दो के उदाहरण पिंगल के लक्षणो के लिए सकलित हैं, सगीत या रागिनियो से उसका कोई सम्बन्ध नही फिर भी कुछ पद्य ऐसे हैं जो गेय प्रतीत होते हैं। उनमें गीत-तत्त्व की विशेषताएँ मिलती हैं। गेय मुक्तक की सबसे बडी विशेषता भावना-मूलकता है अर्थात गीत के लिए अति भाव-प्रवण होना आवश्यक है।

और अन्त में ·—

बावन आखिर जोरे आनि, एक्यो आखिर सक्यो न जानि ।

सारा विश्व इन बावन अक्षरो में ही तो बँधा है किन्तु इन नाशवान् अक्षरो में वह अविनाशी अक्षर कहाँ मिलता है ।

कबीर के अलावा और कई हिन्दी कवियो ने बावनी काव्यो की रचना की । सवत् १६६२ में स्वामी अग्रदास ने हितोपदेश उपखाण बावनी की रचना की ।[1] १७९७ सवत् में श्री किशोरीशरण ने 'बारह खडी' लिखा[2] और १९वी शती मे श्री रामसहाय दास (बनारस) तथा राजा विश्वनाथ सिंह ने 'ककहरा' की रचना की ।[3] केशवदास की रतन बावनी और भूषण की शिवा बावनी मे छन्दो की सख्या की दृष्टि से इस शैली का अनुसरण तो दिखाई पडता है किन्तु वर्णमाला सबधी नियम का पालन नही दिखाई पडता । लगता है बाद में केवल सख्या ही प्रधान हो गयी और बावन पदो की रचना बावनी कही जाने लगी ।

विप्रमतीसी

§ ४०३ यह कोई बहुत प्रसिद्ध काव्य-रूप नही है किन्तु इसका प्रयोग मध्यकाल में कुछ कवियो ने किया है । हमारे विवेच्य काल के अन्तर्गत निम्बार्क सप्रदायी कवि परशुराम ने विप्रमतीसी ग्रन्थ की रचना की है । इसी नाम का एक ग्रन्थ कबीरदास ने भी लिखा है । दोनो ग्रन्थ न केवल भाव-वस्तु में साम्य रखते हैं बल्कि उनकी शैली तथा भाषा भी पूर्णत समान दिखाई पडती हैं । इन रचनाओ की समता और इनकी प्रामाणिकता आदि के विषय में हम पहले ही विचार व्यक्त कर चुके हैं (देखिए § २२५) ।

विप्रमतीसी ब्राह्मण की रूढ़िवादिता और उसके ज्ञानाभिमान का उपहास किया गया है । इनमें छन्द सख्या तीस आती है इसीलिए इसका नाम विप्र-तीसी-विप्रमतीसी हो गया है । इसे कोई विशिष्ट काव्य प्रकार नही कहा जा सकता क्योंकि इसमें काव्य की शैली पर कोई खास ध्यान नही दिया गया है केवल छन्द सख्या का निर्धारण काव्य प्रकार नही हो सकता जहाँ तक मुझे मालूम है इन दो कवियो के अलावा किसी और की इस नाम की रचना हिन्दी मे नही दिखाई पडती । विशिष्ट काव्य प्रकार न होने का यह दूसरा प्रमाण है ।

गेय मुक्तक

§ ४०४ गीतिकाव्य कविता का सर्वाधिक लोकप्रिय और परपरा-प्रचलित प्रकार है । मनुष्य के वैयक्तिक भावो, सवेगो, इच्छाव्यापारो का एक मात्र सहज अभिव्यक्ति-माध्यम होने के कारण गीति-काव्य को जो स्वीकृति और सम्मान मिला वह अद्वितीय है । गीति काव्य का रूप अभिजात साहित्य में उतना सहज और शुद्ध नही होता जितना लोक-काव्यो में होता है । विद्वानो की धारणा है कि सभ्य देशो में बौद्धिकता और सामाजिक रूढियो का युग (जैसा कि योरोप में अठारहवी शताब्दी में था) गीति काव्य में प्रबल अभिरुचि उत्पन्न करने

के उपयुक्त नही होता।[१] इसके विपरीत सामाजिक विघटन, रूढ़ि-विरोधिता, क्रान्ति और संघर्ष के युग में गीति काव्य की अत्यन्त उन्नति होती है। हापकिन्स ने वैदिक और सस्कृत गीतियो का विश्लेषण करके इन्हें चार भागो विभाजित किया है।[२] पहला युग वैदिक गीतियो का है जो ईसा पूर्व ८वी से चौथी शती तक फैला हुआ है। इसमें धार्मिक और वीरगाथात्मक गीतियो की प्रधानता है दूसरा युग ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दी से पहली शती तक है जिसमे आध्यात्मिक तत्त्वो की प्रधानता है। तीसरा काल पहली शती से चौथी पाँचवी तक आता है जिसमें प्रेम-गीत लिखे गये। इसी काल में चौथी श्रेणी के भी गीत लिखे गये जिनमें रहस्य और वासना दोनो का भयकर मिश्रण दिखाई पडता है। सस्कृत में वस्तुत शुद्ध गीतिकाव्य प्राप्त नही होता वैदिक गीतो की स्वच्छन्द धारा सस्कृत के सामन्तवादी अभिजात साहित्य में खो गयी इसीलिए १२वी शती के जयदेव को कुछ लोग सस्कृत का प्रथम गीतकार मानते हैं। यद्यपि यह पूर्णत ठीक नही है।[३]

§ ४०५ गीतकाल का वास्तविक उदय १२वी शताब्दी के बाद देशी भाषाओं में हुआ। विद्यापति, चण्डीदास, सूर, मीरा आदि इस गीत-युग के प्रमुख स्रष्टा है। व्रजभाषा का १७वी शताब्दी का काव्य मूलत गीत-काव्य है। गेय मुक्तको के रूप में गीतो का जैसा निर्माण उक्त शताब्दी मे व्रजभाषा में हुआ वैसा अन्यत्र शायद ही सभव हो। इसका मूल कारण उस काल की सामाजिक और सास्कृतिक परिस्थितियो के भीतर निहित है। मुसलमानी आक्रमण से क्षुब्ध जन-मानस, भक्ति का नवोन्मेष, रूढ़ि-विरोधी विचारो की क्रान्तिकारी मान्यताएँ तथा सामन्तवादी सस्कृति के विघटन से उत्पन्न नयी वैयक्तिक चेतना इन गीतो के निर्माण में पूर्णत सहायक हुई है। इस युग में रचित गीतो को देखकर प्राय विद्वानो को बडा कौतूहल रहा है कि एक सद्य जात भाषा में इतने उच्चकोटि के गीतो का आकस्मिक सृजन कैसे सम्भव हुआ। किन्तु यह कौतूहल बहुत उचित नही है क्योंकि सूर-पूर्व व्रजभाषा में गीत काव्य की बहुत ही पुष्ट और विकसित परम्परा दिखाई पडती है।

परवर्ती अपभ्रंश में गेय पद लिखे जाते थे। प्राकृतपैंगलम् वैसे मूलत छन्द का ग्रन्थ है उसमें छन्दो के उदाहरण पिंगल के लक्षणो के लिए सकलित हैं, सगीत या रागिनियो से उसका कोई सम्बन्ध नही फिर भी कुछ पद्य ऐसे हैं जो गेय प्रतीत होते हैं। उनमें गीत-तत्त्व की विशेषताएँ मिलती हैं। गेय मुक्तक की सबसे बडी विशेषता भावना-मूलकता है अर्थात् गीत के लिए अति भाव-प्रवण होना आवश्यक है। गीत की अन्य विशेषताओ में गेयता, सम्बद्धता, प्रभान्विति आदि को अत्यन्त आवश्यक गुण-धर्म माना जाता है। प्राकृतपैंगलम् का एक पद नीचे दिया जाता है।

---

१ डा० गेंडे मेथड ऐण्ड मैटिरियल्स ऑव लिटरैरी क्रिटिसिज्म, पृ० ४०।

२ इ० डब्ल्यू हापकिन्स द अरली लिरिक पोयट्री ऑव इंडिया, इन द इंडिया, न्यू ऐण्ड [illegible]।

३ [illegible] का निबंध, गीति काव्य उदय और विकास, कल्पना, हैदराबाद, जुलाई-[illegible] म्बर १[illegible] ईस्वी।

जिणि कस विणासिअ किति पआसिअ ।
मुट्ठि अरिट्ठ विणास करे, गिरि हत्थ धरे ॥
जमलज्जुण भंजिअ पअ भर गंजिय ।
कालिय कुल संहार करे, जस भुवण भरे ॥
चाणूर विहंडिअ णियकुल मंडिय ।
राहा मुह महु पान करे, जिमि भ्रमर वरे ॥
(प्राकृतपैंगलम्, पृ० ३३४, पद सं० २०७)

इसमें अन्तिम वाक्यार्थ का प्रयोग यद्यपि छन्द की गति के अनुकूल है किन्तु यह पदो की टेक की तरह बीच में प्रवाह तोड कर नये आरोह से गीत-तत्त्व को बढाने में सहायक भी होता है। इन पदो की तुलना मे गीत गोविन्द के श्लोको से कर चुका हूँ। गीत गोविन्द में बहुत से श्लोक इसी शैली में लिखे गये हैं और उन्हें भी गीत ही कहा जाता है। लोगो की धारणा है कि जयदेव ने लोक-जीवन से गीत-तत्त्व प्राप्त किया था। उस समय की लोक भाषा का हमें पूरा ज्ञान नही है। किन्तु उपर्युक्त प्रकार के अवहट्ठ-पद इसका कुछ सकेत देते हैं।

चर्यागीत गेय काव्यो की परपरा के अत्यत उज्ज्वल स्मृति-चिह्न हैं। चर्या के पद राग-रागिनियो में बँधे हुए हैं। सरहपा के पदो में गूजरी (पद न० २), राग देशाख (पद न० ३२), भैरवी (पद न० ३३), राग मालशी (पद न० ३९) आदि तथा शवरपा के पदो मे राग वलाड्डि (पद न० २८) डोम्बिपा के पदो में राग धनसी अर्थात् धनश्री (पद १४), राग वराडी (पद ३४) आदि का नाम दिया हुआ है। सिद्धो के समूचे गीत इसी प्रकार राग-बद्ध हैं। सिद्धो के गीतो की भाषा पूर्वी प्रभाव के बावजूद मूलत शौरसेनी के परवर्ती रूप का आभास देती है। इन गीतो की शैली का प्रभाव नाथ योगियो तथा सन्तो के गेय पदो पर भी बहुत पडा। गोरख-बानी में बहुत से गीत राग-रागिनियो में बँधे हुए मिलते हैं। यद्यपि गोरखबानी के पदो मे राग का नामोल्लेख नही है, किन्तु सबदी मे सकलित पद गेय हैं इसमें शक नही।

सन्त-साहित्य का अति प्रसिद्ध पारिभाषिक शब्द 'शब्दी' गेय पदो के लिए ही प्रयुक्त होता है। कबीर दास के तथा अन्य सत कवियो के गेय पदो मे रागो का निर्देश किया गया है। गुरु ग्रन्थ साहब मे सकलित सत कवियो की रचनाओ में, जिनका विस्तृत परिचय हम पिछले अध्याय में दे चुके हैं, पदो के राग निश्चित हैं। सन्तो के पद न केवल अपनी शैली, रागतत्त्व और गेयता आदि गुण-धर्म की दृष्टि से सूरकालीन अष्टछाप के कवियो के पदो के पूर्वरूप हैं बल्कि इनकी भाषा-अभिव्यक्ति सभी कुछ सूरकालीन व्रज पदो की पृष्ठ भूमि प्रस्तुत करती हैं।

सूरकालीन पदो के अत्यत परिष्कृत और पुष्ट रूप के निर्माण में सगीतज्ञ कवि [illegible], बैजू बावरा, गोपाल नायक, हरिदास, तानसेन आदि का भी प्रचुर योग मिला है ([illegible] २३८)।

किनारे पर श्री कृष्ण का गुण-गान करने लगी। गोपियो का गान मात्रिक छन्द में लिखा है।[१] गीत इस प्रकार है

ललित विलास कला सुखलेखन
ललना लोभन शोभन यौवन
मानित नव मदने
अलिकुल कोकिल कुवलय कज्जल
कालकलिन्द सुता विगलज्जल
कालिय कुल दमने

इस पद्य का छन्द वही है जैसा प्राकृतपैंगलम् के पहले उद्धृत पद का है। गीत की इस मार्मिक रचना को देखते हुए यह कहना उचित नही है कि गीतो का प्रथम निर्माण पूर्वी प्रदेशो में ही हुआ। वस्तुत गीत समष्टि मानव-मन की स्वभावोत्पन्न सपत्ति है। जैसे, जल, पवन, धरती किसी एक प्रदेश की वस्तु नही, आकाश में इन्द्रधनु और जल पर लहरें सर्वत्र बनती बिगडती रहती हैं वैसे ही गीतो का उदय मानवी-कठ से आरभिक भावोद्रेक की अवस्था में अनायास ही होता है। ब्रजभाषा में इस प्रकार के गेय मुक्तको का कुछ विशेष महत्व है। वैसे अपनी-अपनी भाषा किसे अच्छी नही लगती, किन्तु प्रत्येक भाषा का एक निजी छन्द होता है। सस्कृत के अनुष्टुप्, प्राकृत के गाथा, अपभ्रश के दोहाछन्द की तरह पद ब्रजभाषा का निजी काव्य रूप है। सूरदास तो इस प्रकार के पदो के आचार्य ही थे। सूर सागर गीतो का भाडार है। शायद ही सगीत की कोई ऐसी प्रसिद्ध रागिनी बच गयी हो जिसका प्रयोग सूरदास ने न किया हो। डॉ० मुशीराम शर्मा ने लिखा है कि सूर के गान कुछ ऐसी रागरानियो में हैं जिनमे कुछ के तो अब लक्षण भी प्राप्त नही हैं।[२] किन्तु इस अद्भुत कौशल, पूर्णता और अद्वितीय अभिव्यक्ति-शक्ति के पीछे जयदेव से लेकर तानसेन तक की परपरा का योग-दान भी मानना चाहिए।

मंगल काव्य

§ ४०७ काम मानव-जीवन के चार पुरुषार्थों में अन्यतम है। भारतीय वाङ्मय में काम के उन्नयन और महत्व को अपूर्व अभ्यर्थना की गयी है। वैसे तो विश्व के किसी भी देश में व्याह-मगल का महत्व है, किन्तु वैवाहिक सस्थाएँ और उनकी उपयोगिता ज्यो-ज्यो नियमग्रस्त और राज्य-सचालित व्यवस्था से आबद्ध होती जाती हैं त्यो-त्यो उनके सहज सौन्दर्य का रूप भी नष्ट होता जाता है, इसी कारण पाश्चात्य देशो में विवाहोत्सवो में उल्लास और कौतूहल नही रहा जो भारत में खास तौर से विदेशी-प्रभाव से मुक्त लोगो के विवाहोत्सवो में होता है। मगल-काव्य मूलत अपने प्रकार में लोकात्मक काव्य-रूप है। आज भी हमारी लोक-भाषाओ में विवाह से सम्बद्ध सहस्रो लोकचित्तोद्भूत गीत वर्तमान हैं जिनकी विविधता मार्मिकता और सौन्दर्य अप्रतिम है। भारतीय-विवाह की पद्धति कुछ इतनी उन्मुक्त साथ ही मर्यादित उल्लासपूर्ण तथा करुणा-विगलित रही है कि इस वातावरण में किसी

---

१ हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० १०८-९।

२ सूर सौरभ, डॉ० मुशीराम शर्मा, तृतीय संस्करण, पृ० ३८३।

भी सहृदय को शोकोल्लास की विचित्र अनुभूति अवश्य होती है। कवियो ने इसी असाधारण भावावेग को नाना प्रकार के छन्दो मे बाँधने का प्रयत्न किया है। भारतीय विवाह के बारे में विचार करते हुए श्री दोई ने लिखा है कि 'विवाह हिन्दू-जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा सर्वव्यापक घटना माना जाता है, यह अनन्त वार्तालाप और लम्बी तैयारी के बाद निश्चित होता है। अविवाहित हिन्दू का समाज मे कोई ऊँचा स्थान नही होता।[1] इसी प्रसग में दोई ने लिखा है कि जीवधारियो की बात तो दूर, हिन्दू वृक्ष, लता, कुएँ, पशु-पक्षी, गुडिया तक की शादी करना अपना पवित्र कर्तव्य मानता है।[2] यह है महत्व विवाह का भारतीय जीवन में, इसी अद्भुत महत्वपूर्ण घटना को काव्य मे प्रस्तुत करनेवाले प्रकार को मगल, विवाहलो, माहरो आदि नाम दिये गये हैं।

मगल काव्य बगाल में भी लिखे गये हैं किन्तु उनकी परम्परा कुछ भिन्न प्रतीत होती है। बगाल के मगल काव्यो मे देवताओ की शक्ति, अपने भक्त को असह्य कष्टो से बचाने की क्षमता और त्राणकर्त्री दया का परिचय देते हुए उनकी स्तुति गायी जाती है। इस प्रकार के मगल काव्यो में मनसा मगल अत्यन्त प्रसिद्ध है।

हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती आदि भाषाओ मे मगल काव्य का अर्थ विवाह-काव्य ही है। मगल, धवल, विवाहलो, स्वयवर, परिणय आदि के नाम से इस प्रकार के बहुत से काव्य लिखे गये हैं। गुजरात मे जैन मुनियो ने अपने महापुरुषो के विवाहादि का वर्णन किया है। आचार्य हेमचन्द्र के 'त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित' मे सर्ग २, श्लोक ६६८-७९ मे श्री ऋषभदेव और सुमगला के लग्न का विशद वर्णन किया है। गुजराती-राजस्थानी में सैकडो की सख्या में इस प्रकार के काव्य लिखे गये है।[3]

त्मिक रग बहुत गहरा हो जाता है और कही-कही सासारिक वृत्ति और आध्यात्मिक विराग में प्रतीकात्मक ढग से विवाह कराया गया है। ऐसे स्थानो पर भाव के परिपाक में बाधा का होना स्वाभाविक है।

नरहरि भट्ट द्वारा लिखे हुए रुक्मिणी मगल की पूरी रचना डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल ने अकबरी दरबार के हिन्दी कवि मे प्रकाशित करायी है। रचना सामान्य कोटि की है, किन्तु इस विशिष्ट काव्य-रूप को समझने में अवश्य सहायक हो सकती है।

परवर्ती काल में तुलसी, सूर तथा अष्टछाप के दूसरे कवियो ने भी मगल काव्य लिखे। तुलसी के पार्वती और जानकी मगल प्रसिद्ध हैं। मीरा रचित 'नरसी जी को माहेरो' में मगल काव्य का रूप दिखाई पड़ता है। इसकी चर्चा हम मीरा वाले प्रसग में कर चुके हैं।

इस प्रकार मगल काव्यो की एक काफी पुरानी अविच्छिन्न परम्परा रही है। यह काव्य का अत्यन्त लोकप्रिय प्रकार है, इसकी शैली आदि का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

उपसंहार

§ ४०८. सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसके साहित्य के इस अध्ययन का मुख्य उद्देश्य १०वीं शताब्दी से १६वीं तक की उस उच्छिन्न कड़ी को पुनः परम्परा-शृंखलित करना था, जिसके अभाव के कारण ब्रजभाषा और उसके साहित्य को १७वीं शताब्दी में आकस्मिक रूप से उदित मानना पड़ता है। अपभ्रंश, अवहट्ठ, पिंगल तथा औक्तिक ब्रज के विभिन्न स्तर की रचनाओं की भाषा और साहित्य का विश्लेषण करने के बाद भाषा और साहित्य सम्बन्धी जो उपलब्धियाँ और निष्कर्ष प्राप्त होते हैं, उन सबका उल्लेख कर पाना संभव नहीं मालूम होता, इसलिए यहाँ संक्षेप में कुछ विशिष्ट उपलब्धियों का ही संकेत किया गया है। भाषा-सम्बन्धी अध्ययन कई हिस्सों में बँटा हुआ है। अलग-अलग रचनाओं की भाषा का पूरा विवरण तत्तत् प्रसंगों में आया है। यहाँ केवल सर्वव्यापक कुछेक प्रवृत्तियों का उल्लेख किया जाता है।

§ ४०९. मध्यदेशीय भाषा की एक अविच्छिन्न साहित्य-परम्परा रही है। वैदिक भाषा या छन्दस् से शौरसेनी अपभ्रंश तक की महिमा-मंडित परम्परा अपने रिक्थ क्रम में ब्रजभाषा को प्राप्त हुई। ब्रजभाषा के विकास में इन सभी भाषाओं का योग-दान है। भाषा-निर्माण की कुछ स्थितियाँ जो १७वीं शताब्दी की ब्रजभाषा की विशेषताएँ कही जाती हैं वैदिक भाषा में ही वर्तमान थीं। स्वरागम, स्वरभक्ति, र् का विकल्प लोप तथा र-ल की परस्पर विनिमेयता (देखिए § २१) वाक्यविन्यास में कर्ता, कर्म, क्रिया की पद्धति भी वैदिक भाषा में ही मिलती है (देखिए § २२) ऋ का अ, इ, ई, उ, ए, ओ, आदि में परिवर्तन अशोक के शिलालेखों की भाषा में ही शुरू हो गया था (§ २५) इसी भाषा में आदि अ लोप, अन्त्य 'अ' के ओ में परिवर्तन तथा र के [illegible] में परिवर्तन की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है (§ २५)।

§ ४१० पालि [illegible], मध्यदेश की भाषा थी (§ २६) व्यंजन-समीकरण, [illegible], स्वरभक्ति, र-ल की विनिमेयता तथा अस् धातु के विभिन्न रूपों के सहायक क्रिया

के रूप में प्रयोग की प्रवृत्ति जिसे हम नव्य भाषाओ के विकास में सक्रिय देखते है पालि में ही शुरू हो गयी थी। (§ २७)

§ ४११ **महाराष्ट्री प्राकृत** मध्यदेश की भाषा थी यह मध्यदेशीया शौरसेनी की कनिष्ठ रूप थी (§ २९) ह्रस्व से दीर्घ और दीर्घ से ह्रस्व में परिवर्तन की स्वर-प्रक्रिया यही से शुरू हुई। मध्यग व्यजनो का लोप, श्रुतियो का प्रयोग बढने लगा (§ २९) कारको की सख्या में न्यूनता, सम्बन्ध-सम्प्रदान का एकीकरण, भाषा मे अश्लिष्टता का प्राधान्य 'रामाय कए दत्तम्' जैसे रूपो में परसर्गों के आविर्भाव के सकेत इस भाषा में मिलते हैं (§ २९)। ध्वनि-प्रक्रिया की दृष्टि से ब्रजभाषा पर **शौरसेनी अपभ्रंश** का घोर प्रभाव है (देखिए § ३३) कारक विभक्तियो का तीन समूहो मे श्रेणी विभाजन, लुप्तविभक्तिक पदो का प्रयोग, परसर्गों के विविध, रूप, सर्वनामो के विकारी रूपो की वृद्धि, क्रिया और काल रचना में नयी प्रवृत्तियाँ-कृदन्तो सहायक क्रियाओ का विधान अपभ्रश में दिखाई पडता है (देखिए § ३४)।

§ ४१२ **हेम व्याकरण मे संकलित दोहों की भाषा** ब्रजभाषा की निकटतम पूर्वज है, ध्वनि-विकास और रूप-विकास के प्रत्येक पहलू से यह भाषा ब्रजभाषा की आरम्भिक अवस्था की सूचना देती है। ल्ह, म्ह, न्ह जैसी ध्वनियो का प्रयोग हेम व्याकरण के दोहो की भाषा मे प्राप्त है (§ ५३) सरलीकरण की प्रवृत्ति, व्यजन द्वित्व का ह्रास (§ ५४) हिं विभक्ति का अधिकरण और कर्म मे समान रूप से प्रयोग (§ ६०) परसर्गों का सविभक्तिक कारको में प्रयोग जैसा ब्रजभाषा में वर्तमान है (§ ६१) सर्वनामो के हउ, हौं, मइ, प्राकृताश में मो (हेम० ८।३।१०६) मध्यमपुरुष के तुहु, तुव, तुज्झ, तइ (ब्रज का तै) का परवर्ती विकास पूर्णत ब्रजभाषा मे दिखाई पडता है (§ ६३) साधित रूप 'जा' (हेम० ४।३९५) भी यहाँ मिलता है। ब्रज मे साधित जा, वा, का आदि का प्राधान्य है। सर्वनामिक विशेषण ज्यो के त्यो किंचित् ध्वन्यात्मक परिवर्तन के साथ ब्रज मे गृहीत हुए (§ ६४) भूतकाल के निष्ठा रूप उ–ओ का तथा तिङन्त रूपो का ब्रज में सीधा विकास हुआ हेमचन्द्र के दोहो की भाषा में–ह्–प्रकार के भविष्यत्कालिक रूपो का बहुत प्रयोग हुआ है (देखिए § ६५)। भूतकृदन्त सहायक क्रिया के प्रयोग महत्वपूर्ण हैं। शब्दावली की दृष्टि से हेमचन्द्र के दोहो मे प्रयुक्त तथा देशी नाममाला मे सकलित बहुत से शब्द ब्रजभाषा में दिखाई पडते है। इस प्रकार करीब एक सौ शब्दो के समानान्तर ब्रज-प्रयोग इस बात को प्रमाणित करते हैं कि ब्रजभाषा इस भाषा से कितने घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है (§ ६८-७०)।

(५) व्यंजन द्वित्व का सरलीकरण, यह नव्य आर्यभाषाओं की अत्यन्त व्यापक प्रवृत्ति है, ब्रज की तो यह एक प्रकार से आन्तरिक प्रवृत्ति है (§ ९२, ११२, १३०)

(६) मध्यग व का उ में परिवर्तन (§ ११५ तथा § ५८)

(७) अनुस्वार का ह्रस्वीकरण, क्षतिपूर्ति के लिए अनुस्वार का पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ भी हो जाता है (§ ११३)

(८) निर्विभक्ति कारक रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति का बहुत विकास हुआ (§ ७१, § ९५)

(९) विभक्ति व्यत्यय के उदाहरण मिलते हैं सन्देशरासक की भाषा में तथा (§ ९६) हेमचन्द्र के दोहों से यह प्रवृत्ति शुरू हुई (§ ७१।२)

(१०) परसर्गों में अभूत पूर्व वैविध्य और विकास दिखाई पड़ता है, तृतीया में सो, ते, सू, सरिस चतुर्थी में लगि, तणउ, कारन, कारने षष्ठी में कै, कउ, तणे, केरि आदि सप्तमी में महँ, माँह, मज्झ, उपरि, पइँ आदि के प्रयोग महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। परसर्गों के रूप में बहुत से सार्थक शब्दों के प्रयोग भी होने लगे। (§ १०३, १०७, ११९, १४२)

(११) कर्त्ता करण का 'ने' परसर्ग १०वीं शताब्दी की किसी भी रचना में प्रयुक्त नहीं हुआ है। इसके प्रयोग केवल कीर्तिलता में दिखाई पड़ते हैं (देखिए § १०७) रासो की भाषा में बीम्स ने इस तरह के प्रयोग बताये थे किन्तु उनकी प्रामाणिकता में सन्देह है (§ १४२)

(१२) सर्वनामों के विविध रूपों के प्रयोग। साधित रूपों जा, का, वा से बने रूपों के प्रयोग प्राकृतपैंगलम् की भाषा में मिलते हैं (देखिए § ११८ तथा § १४३)।

(१३) ब्रजभाषा में प्रचलित सभी सर्वनाम-रूप पिंगल, तथा अवहट्ट में प्राप्त होते हैं देखिए (११८, § १४३)।

(१४) क्रिया में भूतनिष्ठा का ओकारान्त रूप मिलता है (देखिए § १२०) अ+उ= ओ की एक मध्यन्तरित अवस्था भी थी अओ तथा एओ। इसी से–औ और–यो रूप विकसित हुए (§ १०६, § १२९)।

(१५) रासो की भाषा में दीधो, कीधो, लिद्ध, किद्ध का प्रयोग (देखिए § १४५) प्रद्युम्न चरित तथा परवर्ती नरहरिभट्ट, केशव आदि में भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं।

(१६) सामान्य वर्तमान में तिङन्त रूपों का प्रयोग अपभ्रंश अवहट्ट पिंगल, में समान रूप से होता है। निश्चित वर्तमान में ब्रज में तिङन्त+सहायक क्रिया का प्रयोग होता है। प्राकृतपैंगलम् में ऐसे बहुत से प्रयोग मिलते हैं (दे० § १२०)।

वाले रूपो का अभाव है। रासो के करिग, फिरिग आदि से इसके विकास का अनुमान हो सकता है (§ १४५)

(१९) सयुक्त काल और सयुक्त क्रिया का प्रयोग (§ १०१, § १०७)।

(२०) नकारात्मक ण के साथ 'जाइ' के प्रयोग से क्रियार्थक सज्ञा से बने रूप कहण न जाइ आदि (§ १०२)।

(२१) वर्तमान काल मे 'अन्त' वाले वर्तमानकालिक कृदन्त रूप का प्रयोग (§ ९८, १०७, १२०, १४४)।

यह सक्षेप में १२०० से १४०० विक्रमाब्द की ब्रजभाषा की मुख्य विशेषताएँ हैं। औक्तिक या बोलचाल की ब्रजभाषा के अनुमानित रूप की कल्पना की गयी है, उसमें भाषा-सम्बन्धी निम्नलिखित सकेत-चिह्न प्राप्त होते है।

(२२) तत्सम शब्दो की बहुलता, (देखिए § १५४ ।

(२३) समवत प्राचीन ब्रज में भी कभी तीन लिंगो का प्रयोग होता था, भाषा में कोई प्रयोग नही मिला परन्तु उक्ति वैयाकरणो ने ऐसा सकेत किया है (§१५६।३)।

(२४) रचनात्मक प्रत्ययो का विकास और विविध रूपो में प्रयोग करतो, लेतो, करण-हार, लेनहार, करिवो, लेवो, देवो आदि के प्रयोग (§ १५६)।

§ ११४ १४०० से १६०० तक की ब्रजभाषा के अध्ययन की मुख्य उपलब्धियाँ—

(१) अन्त्य 'अ' सुरक्षित है, मध्यकालीन ब्रज की तरह इसमें लोप नही दिखाई पडता (§ २५७)।

(२) आद्य या मध्यग अ का इ में परिवर्तन (§ २५८)।

(३) आद्य अ का आगम (§ २५९)।

(४) अन्त्य इ परवर्ती ब्रज की तरह ही उदासीन स्वर की तरह प्रयुक्त हुआ है (§ २६२)।

(५) मध्यग् इ का य् रूपान्तर (§ २६३)।

(६) सम्पर्कज सानुनासिकता की प्रवृत्ति पूर्वी भाषाओ में ही नही पश्चिमी में भी है, प्राचीन ब्रज में ऐसे प्रयोग हुए हैं (§ २७०)।

(७) पदान्त अनुस्वार अनुनासिक ध्वनि की तरह उच्चरित होता था (§ २७१)।

(८) मध्यवर्ती अनुस्वार सुरक्षित रहता था (§ २७२)।

(९) ण–न परस्पर विनिमेय हैं र–ड–ड़ में भी यह प्रवृत्ति दिखाई पडती है (§ २७४ तथा (§ २७५)।

(१०) [illegible], न्ह, [illegible] तीनो महाप्राण ध्वनियो का प्रयोग बहुतायत से होने लगा था [illegible])।

(११) [illegible] का कभी-कभी [illegible] में रूपान्तर होता था (§ २७६)।

(१२) संयुक्त व्यंजन प्रायः सरलीकृत दिखाई पडते है (§ २८२)।

(१३) वर्ण विपर्यय—मात्रा, अनुनासिक, स्वर और व्यजन चारो मे होता था। (§ २८७)।

(१४) कर्ता कारक की ने विभक्ति का प्रयोग १५वी तक की लिखी रचना में प्राप्त नही है। (§ ३१४)।

(१५) 'नि' विभक्ति जो परवर्ती ब्रज में बहुवचन के रूप द्योतित करती है, १५वी शताब्दी के पहले की ब्रजभाषा में शुद्ध रूप मे नही मिलती। वर्णरत्नाकर, कीर्तिलता आदि में 'न्हि' रूप मिलता है। रासो में ऐसे रूप हैं, १५वी के बाद की ब्रजभाषा मे इसका प्रयोग शुरू हो गया था (§ २९०)।

(१६) सर्वनाम प्राय परवर्ती ब्रज की तरह ही हैं। १४११ सवत् के 'प्रद्युम्न चरित' में 'वहइ' रूप मिलता है जो काफी महत्वपूर्ण है (§ ३०२) मध्यमपुरुष के कर्तृकरण का 'तै' रूप प्राप्त नही होता (§ २९६) निकटवर्ती निश्चय में 'इ' रूप मिलता है ये बाद में भी प्रयुक्त हुए (§ ३०३) किस्यो रूप केवल रासो की वचनिकाओ में आता है (§ ३०८) 'रावरे' १४९२ सवत् के रुक्मिणी मगल मे प्रयुक्त हुआ है (§ ३१०)।

(१७) परसर्गों की दृष्टि से प्राचीन ब्रजभाषा में कई महत्वपूर्ण प्रयोग हुए हैं। इसमें कई अपभ्रश के अवशिष्ट है और परवर्ती ब्रज के परसर्गों के विकास की मध्यन्तरित कडी की सूचना देते हैं (§ ३१३–२१)।

(१८) क्रियाओ में कई महत्वपूर्ण रूप मिलते हैं जो परवर्ती ब्रज में नही हैं यद्यपि क्रियाएँ पूर्णत ब्रज के ही समान हैं (§ ३२२–३४१)।

इन विशिष्ट निष्कर्षों के आधार पर कहा जा सकता है कि १४वी-१६वी शताब्दी की ब्रजभाषा परवर्ती ब्रज से जहाँ एक ओर समानता रखती है, उसके विकास की प्रत्येक प्रवृत्ति के उद्गम-स्रोत का पता बतलाती है वही वह इस बात का भी सकेत मिलता है कि इस भाषा की कई प्रवृत्तियाँ बाद में अनावश्यक समझकर छोड दी गयीं। बहुत से ऐसे रूप, जो आवश्यक और अपेक्षित थे तथा जिनका प्राचीन ब्रजभाषा मे अभाव है या अत्यल्पता है, प्रयोग में आने लगे।

है वल्कि आरम्भिक व्रज में इसकी काफी विकसित परपरा थी जो सूरादि के काव्य में प्रतिफलित हुई। व्रजभाषा-जैनकाव्य का यहाँ प्रथम बार विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। ऐहितापरक तथा घोर शृङ्गार की परवर्ती प्रवृत्ति जो रीतिकाल में दिखाई पडी, वह भी आरम्भिक व्रजभाषा में वर्तमान थी। जैन काव्यो में शृङ्गार के नखशिख वर्णन, वियोग-सयोग के चित्रणो ने परवर्ती काव्य को अवश्य प्रभावित किया। निर्गुण भक्तो की कविताओ में सगुण भक्ति के तत्व विद्यमान थे। सगीतज्ञ कवियो के गेय पदो में कृष्ण भक्ति का बहुत ही सरस और मनोहारी रूप दिखाई पडता है।

§ ४१६ **काव्यरूपों का विस्तृत अध्ययन** हिन्दी में नही दिखाई पडता। मध्य-कालीन काव्य रूपो का अध्ययन अन्य सहयोगी नव्य भाषाओ में प्रचलित समान काव्य रूपो के अध्ययन के बिना सभव नही है। गुजराती, राजस्थानी, ब्रज, अवधी तथा मैथिली आदि में प्रचलित काव्य रूपो के परिचय और विवरण के साथ ही आरम्भिक व्रजभाषा के काव्य रूपो का सन्तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। रासो, चरित काव्य, कथा वार्ता, प्रेमाख्यानक, वेलि, विवाहलो या मगल, लीला काव्य, विप्रमतीसी, बावनी आदि काव्य रूप शास्त्रीय और लौकिक दोनो प्रकार के काव्य-रूपो के सम्मिश्रण से बने हैं। इन काव्यरूपो की पृष्ठभूमि में तत्कालीन समाज की सास्कृतिक चेतना का पता चलता है।

परिशिष्ट

१. राउरवेल की भाषा

२ प्राचीन व्रजभाषा का

३. कुछ स्फुट काव्य-कृति

४. नरसी मेहता का पद

५. पारिजातहरण नाटक

राउरवेल की भाषा

हिन्दी अनुशीलन के धीरेन्द्र वर्मा विशेषाङ्क में डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने रोडा कृत 'राउरवेल' (राजकुल विलास), [११वी शती का एक शिलाङ्कित भाषा काव्य] नाम से एक लेख छपवाया। इस काव्य का परिचय इसके पहले डॉ० हरिवल्लभ भायाणी ने 'भारतीय विद्या' पत्रिका में (भाग १७, अक ३–४, पृष्ठ १३०–१४६) उपस्थित किया था। डॉ० गुप्त के निबध से ज्ञात होता है कि उन्होने यह जानकर कि इस विषय पर डॉ० भायाणी पहले से कार्य कर रहे हैं, अपने शोध-कार्य को कुछ दिनो तक रोक रखा और जब डॉ० भायाणी का निबध छप गया तो, उन्होने अपने निबध को हिन्दी अनुशीलन में प्रकाशित कराया।

यह काव्य एक शिला पर अकित है जो प्रिंस ऑव वेल्स म्यूजियम, बम्बई में सुरक्षित है। शिलाखड टूटकर चार टुकडो में विभक्त हो गया है जिसके कारण कोने की पर्तें तो निकल ही गई हैं, तोड पर भी पर्तों के निकल जाने से यह महत्त्वपूर्ण शिलालेख कई स्थलो पर अवाच्य हो गया है। यह शिलालेख ४५"×३३" के परिमाण का है। डॉ० गुप्त ने लिखा है कि यह कहाँ से प्राप्त हुआ ठीक ज्ञात नही है। पर डॉ० भायाणी इसे धार से प्राप्त 'कूर्मशतक' वाले शिलालेख के साथ आया ही बताते हैं। कूर्मशतक के शिलालेख के विषय में 'इपिग्राफिका इडिका' जिल्द ८, पृष्ठ २४१ पर विचार किया गया है। राउरवेल के शिलालेख और कूर्मशतक वाले धार के शिलालेख की लिखावट के आधार पर डॉ० गुप्त और डॉ० भायाणी दोनो ने ही इसे ११वी शती के आस-पास का स्वीकार किया है।

डॉ० गुप्त इसका लेख-स्थान त्रिकलिंग मानते हैं। उनका अनुमान है कि इस काव्य में प्रयुक्त 'टेल्लि और 'टेल्लिपुतु' शब्दो से ऐसा सकेत मिलता है। चूँकि इसमें 'गौड' शब्द भी आता है इसलिए डॉ० गुप्त का मत है कि यह कलचुरि वश के अधीन किसी राजा के गौड सामत से सम्बद्ध हो सकता है क्योकि त्रिकलिंग उस समय कलचुरियो के आधिपत्य मे था और कलचुरि तथा गौड एक नही है। डॉ० गुप्त के अनुसार इस काव्य में उक्त गौड सामन्त की कुछ नायिकाओ का नखशिख है। पहली नायिका ठीक से स्पष्ट नही होती, दूसरी हूणि है, तीसरी राउल नामकी क्षत्रिय कन्या, चौथी टक्किणी, पाँचवी गौडी और छठी कोई मालवीया है। प्रथम पाँच नखशिख पद्य में तथा छठाँ गद्य में है। लेख की भाषा डॉ० गुप्त के मत से पुरानी दक्षिण कोसली है, जिस प्रकार उक्ति-व्यक्ति प्रकरण की पुरानी कोसली है।

डॉ० गुप्त का कहना है कि 'आठहँ भासह' पाठ ठीक नही है। पाठ होना चाहिए तहँ भासहँ जइसी जाणी। और इसका अर्थ है उस भाषा में जैसा मैंने जाना।

वस्तुत अपभ्रश मे 'तहँ भासहँ' का अर्थ 'भाषा' ही नही 'भाषाओ' भी हो सकता है और इन नखशिखो को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने अलग-अलग नायिका के रूप का वर्णन करते समय यह प्रयत्न भी किया है कि यथार्थ और चमत्कार के लिए वह उनकी भाषाओ की कुछ छौंक भी ले आये। अन्तिम पक्ति का अर्थ कवि के मन में शायद यही था कि ये नखशिख उनकी भाषाओ में, जितना मैं इन भाषाओ को जान सका हूँ, वखानित किये गए हैं। इसलिए नायिका की भाषा को दृष्टि में रख कर उसके वर्णन के प्रसग मे कुछ तत्त्व उस भाषा के भी स्वभावत आ गए हैं।

राउरवेल हमारी भाषा और साहित्य दोनो के अध्ययन की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण आलेख है। इसका महत्त्व सिर्फ इसी बात में नही है कि यह ११वी शती की कृति है बल्कि इसलिए भी कि पत्थर पर टकित होने के कारण यह उस काल की भाषा का बहुत ही प्रामाणिक रूप उपस्थित करता है। लेखन-सौकर्य और अनुलेखन-पद्धति से उत्पन्न उन विकृतियो से भी यह बचा हुआ है जिनका शिकार हमारे अधिकाश काव्य-ग्रथ हो चुके हैं।

जहाँ तक इसकी भाषा के अध्ययन का प्रश्न है, इस पर दो दृष्टियो से विचार होना चाहिए। पहला तो यह कि क्या यह अपभ्रशोत्तर भिन्न-भिन्न बोलियो में लिखा गया है जैसा डॉ० भायाणी कहते हैं। दूसरा यह कि यदि यह सिर्फ एक ही भाषा में लिखा हुआ है, जैसा कि डॉ० गुप्त कहते हैं, तो वह भाषा क्या पुरानी दक्षिण कोसली ही है या और कुछ ?

मै डॉ० गुप्त की राय से सहमत हूँ कि यह भिन्न-भिन्न भाषाओ मे नही लिखा हुआ है, पर मैं यह नही मानता कि इस पर दूसरी भाषाओ के प्रभाव हैं ही नही। मैं मानता हूँ कि राउरवेल परवर्ती अपभ्रश (अवहट्ठ) में लिखी हुई कृति है। यह अपभ्रश मध्यदेशीय है। इस पर पछाँही अपभ्रश का प्रभाव घना है। चूँकि इसमें पूर्वी नायिकाओ का वर्णन भी है, और यदि डॉ० गुप्त का कथन सत्य है कि यह किसी गौड सामन्त के राजकुल के विलास का वर्णन है, तो स्वाभाविक रूप से इसमें पूर्वी भाषा के या भाषाओ के भी अनेक तत्त्व दिखाई पडेंगे। पर मूल भाषा पछाँही अपभ्रश का विकसित परवर्ती रूप है इसमें सन्देह नही।

दूसरी बात यह कि लेखक ने टक्किणी, गोडी नायिका के वर्णन और तीसरे नखशिख में (पर चाहे जिस प्रदेश की नायिका का वर्णन हो, वह हूणि तो नही ही है) क्रमश पूर्वी [illegible], मागधी अपभ्रश और मराठी के तत्त्वो का सम्मिश्रण भी किया है।

मैं अपने विषयों पर विस्तार से कुछ कहने के पहले राउरवेल का मूल (जिसमें छठें [illegible] पूरा नही उतारा गया है) यथासम्भव अविकल रूप में प्रस्तुत कर रहा हूँ

(१)

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।
[illegible] [illegible] . [illegible] [illegible]॥
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥ ३ ॥

विउढणु सॅदुरी सेलउहीं कीजइ।
रुअ ठेसि तारउ मव सीजउ॥
धवलउ कापड ओढियल कइसे।
मुह समि जोन्ह पसारेल जइसे॥ २७॥

अइसो वेसु जो गउडन्हि केरउ।
छाडि नत दिठ सव तोरउ।
जेहउ रूचइ तेहउ बोलु।
तारें वेसहि आथि कि मोलु।
अइसी गउडि ज राउल पइसइ।
सो जणु लाछी मॉडेउ दीसइ॥ २८॥

(६)

गौड़ तुहुँ एकु कोप न अवरउ
को तइसउ मइ बोलइ।

विउढणु सेंदुरी सेलदही कीजइ ।
रुअ देखि तारउ सव खीजइ ॥
धवलर कापड़ ओढियल कइसे ।
मुह ससि जोन्ह पसारेल जइसे ॥ २७ ॥

अइसो वेसु जो गउडन्हि केरउ ।
छाडि नत दिठ सव तोरउ ।
जेहर रूचइ तेहर वोलु ।
तारे वेसहि आथि कि मोलु ।
अहसी गउडि ज राउल पइसइ ।
सो जणु लाछी मॉडेउ दीसइ ॥ २८ ॥

(६)

गौड़ तुहुँ एकु कोप न अवरउ
को तहसहु मइ वोलइ ।
ज पुणु मालवीउ वेसुहिं आवतु
काम्वदेउ जाउ आपणाह हथियार भूलइ ॥ २९ ॥
इहॉ अम्हारइ दुमगी सोप करिउ मइ ।
तर्ति सारिखउ कहॉ इउ अथि एउ किम ।
सोपहिँ ऊपर सोलडहउ देगउ वानु त किमउ मारइ ।
जिसउ सिंदूरिअउ रजायसु काम्वदेवह करउ नारउ ॥ ३० ॥
निलाडु रतु सरउ सुवराणु न मान्टउ न ऊचउ ।

(१) शब्दो में द्वित्व-व्यजनो की अधिकता—शब्दो के द्वित्व-व्यजनो को सरलीकरण के आधार पर बदला नहीं गया है। द्वित्व व्यजनो को उच्चारण-परुपता को सुरक्षित रखने की यह प्रवृत्ति परवर्ती उपभ्रश की प्रवृत्ति के विरुद्ध है। जैसे, एक्कु, वन्निजइ, भिज्जइ, अड्डा, वद्धा, सोप्पर, लद्धा, किय्यइ, एक्के, मडिज्जइ, दित्ता, कय्यू, विच्चहिं, गन्न, अन्न, आदि। यह प्रवृत्ति पजाबी मे न केवल प्राप्त होती है वल्कि सचेष्ट रूप से सुरक्षित रक्खी जाती है।

युग्म-व्यजनो के प्रयोग की इस विशिष्टता को लक्षित करते हुए डॉ० चाटुर्ज्या ने "भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी" के पृष्ठ १२४ पर लिखा है कि "पजाबी मे अब भी मभाआ के युग्म-व्यजन सुरक्षित हैं" जब कि दूसरी भाषाओं में सरलीकृत कर लिये गए हैं।

(२) 'में' के अर्थ में 'विच्च' का प्रयोग भी पजाबी की अपनी विशेषता है। 'कय्यू विय्यहिं या विच्चहिं' ऐसा ही प्रयोग है। कच्चू स्वय में एक विशेष ध्वन्यात्मक विशेषता से सयुक्त है। कच्चू का कय्यू रूप भी पजाबी ध्वनि-प्रक्रिया की विशेषता है। यह प्रवृत्ति हमें लहदा भाषा में मिलती हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि चौथे नखशिख मे 'टक्किणी' नायिका के वर्णन में कवि ने भाषा में तत्कालीन पजाबी के कुछ तत्त्वो का सम्मिश्रण अवश्य किया था।

नखशिख नं० ५—अब गौडी नायिका से सम्बद्ध पाँचवाँ नखशिख देखिए। इसकी भाषा में भी गौड अपभ्रश या मागधी अपभ्रश का प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है। भूतकाल की 'ल' विभक्ति कई क्रियाओं में व्यवहृत हुई है। गौड सज्ञा एक काफी बडे क्षेत्र के लिए प्रयुक्त होती थी। इसमें मिथिला, बगाल, आसाम, उडीसा के क्षेत्र भी सम्मिलित थे। सबको मिलाकर 'पचगौड' कहा जाता था। इन सभी क्षेत्रों भाषाओं मे भूतकाल में 'ल' विभक्ति चलती है। इस नखशिख में ऐसे उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं

पहिले, पैहिअल, ओटियल, पसारेल आदि।

एक अर्धाली देखिए

धवरल रापइ ओटियल रहने।

अइसउ ३३ (अइसो) अइसोउ २८ (अइसौ या ऐसो) आँगउ ५ (आँगो या अंगो) ऊँचउ १३ (ऊँचो) उतरियउ ३२ (उतर्यो) कउणू ४२ (कौनू या कौनो) घालिउ ३४ (घाल्यो) चढाविअउ ३२ (चढाव्यो या चढायौ) जइसउ २६, ३१ (जैसो) तइसउ ३३ (तैसो) तोरउ २८ (तोरो) दीनउ १२, ३४ (दोन्यो, कन्नौजी) पाविउ ३३ (पावियौ) पाविअउ ३२ (पावियो या पायौ) भणिउ ४३ (भन्यौ) बोलउ ४२ (बोल्यो) रूरउ २२, ३१, ३४ (रूरो) सरिसो २२ ।

दूसरी वात कर्म वाच्य के प्रयोग की है। अपभ्रश इज्जइ>ईजइ>ईजे रूप ब्रजभाषा मे पाया जाता है और इसे भाषाविदो ने पश्चिमी अपभ्रश को मौलिक विशेषता स्वीकार किया है। राउरवेल के उदाहरण देखिए

वन्निजइ १६ भिज्जइ १६, कियइ १६, कीजइ २४, २७, आदि ।

तीसरी वात सर्वनाम के साधित रूपो की है। ब्रज में जा, ता, का आदि साधित रूप प्रयुक्त होते हैं जे, ते, के आदि नही। इनसे रूप जाको, ताको, याको या जापै, तापै, यापै आदि वनते हैं। जेकहँ, तेकहँ आदि नही। ऐसे रूप राउरवेल में आते हैं।

जा १५, जा घर ६, ताकरि ४। करण मे जेण, तेण से नि सृत जे, तें या तैं रूप जैसे तें ३०, ४०, ४१, तेइ ४५ जें १६ कें कें ३५ आदि रूप पश्चिमी प्रभाव के सूचक हैं।

इसी प्रकार प्रश्न वाचक सर्वनाम भी ब्रजभापा में 'को' से वनते हैं के से नही। जैसे को २५, २६, ४३, ४५, कोउ ६, कोउ १३, कोवकु १२। जो से वने सर्वनाम जो १२, १३ (कुल ६ वार) जो केरा १८ ।

परसर्गो के प्रयोगो में भी भापा पर पश्चिमी प्रभाव की छाप दिखाई पडती है। क्रिया वर्तमान काल के तिङन्त रूप तथा वर्तमान में ही कृदन्तज रूपो की भी अधिकता है।

वैसे जैसा कि मैंने पहले हो कहा इस पर पूर्वी हिन्दी यानी अवधी आदि का प्रभाव भी कम नही है।

इतना तो निःसन्देह कहा ही जा सकता है कि राउरवेल हिन्दी भापा के अध्ययन की अमूल्य कडी है। मध्यदेशीय अपभ्रश के अभाव की वात सभी विद्वान् किसी-न-किसी रूप में स्वीकार करते हैं। उक्तिव्यक्ति प्रकरण के साथ राउरवेल का सयोग इस कमी को दूर करेगा और हमारे साहित्य और भापा के अध्ययन को एक सबल आधार प्रस्तुत करेगा यह निर्विवाद है।

प्राचीन ब्रजभाषा का रास-काव्य

मध्यकालीन साहित्य में रास-काव्यो का अपना महत्त्व है। प्रसन्नता की बात है कि इधर अपभ्रंश और परवर्ती अपभ्रश की रचनाओ के निरतर प्रकाश में आते रहने के कारण इस काव्य-रूप का सागोपांग अध्ययन होने लगा है। विद्वानो ने इसके विकास के ऐतिहासिक क्रम को अकित करने और इसके आधार पर इस काव्य-रूप के लक्षणो के निर्धारण का प्रयत्न भी आरम्भ कर दिया है। मैंने इस पुस्तक मे § ३९०–३९३ में इस काव्य-रूप का यत्किंचित् परिचय उपस्थित किया। वस्तुत रास-काव्य संस्कृत के रासक शब्द से बना और रासो इसी का परवर्ती विकास है। तालरास और लकुटरास इसके दो भेद होते हैं। चरित-काव्यो से रास-काव्य इस अर्थ में भिन्न होता है कि इसमें किसी एक अत्यन्त तीव्र मन स्थिति का चित्रण होता है जब कि चरित्र-काव्य जीवन की समष्टि का चित्रण होता है। रास-काव्यो की दो धाराएँ दिखाई पडती हैं। एक धार्मिक दूसरी अधार्मिक अथवा लौकिक। धार्मिक श्रेणी के अन्तर्गत हम वैष्णव और जैन रास-काव्यो को रख सकते हैं। जब कि अधार्मिक के अन्तर्गत चरितकाव्यात्मक रासो और अन्य प्रेममूलक रासक-काव्य आदि परिगृहीत हो सकते हैं। वैष्णव रास का सर्वप्रथम उल्लेख हरिवश पुराण में उपलब्ध है। इस हरिवंश पुराण को विद्वानो ने महाभारत का परिशिष्ट कहा है। इस प्रकार यह भागवत आदि पुराणो से प्राचीन प्रतीत होता है। जैन रास का सर्वप्रथम सकेत देवगुप्ताचार्य विरचित 'नवतत्त्व प्रकरण' के भाष्यकार अभयदेवसूरि की कृति (स० ११२८ वि०) मे विद्यमान है। जैन रास-काव्यो में जैन मुनियो, दानवीरो, तीर्थस्थान-महिमा आदि का चित्रण किया गया है। इसी से फागु नामक एक नयी रासक शैली ही विकसित हुई। फाग-काव्यो के बारे में डॉ० साडेसरा ने विचार करते हुए इसे रास-काव्य का ही एक भेद माना है। अपनी पुस्तक रास और रासन्वयी काव्य मे फाग-काव्य के बारे में विचार करते हुए डॉ० दशरथ ओझा ने लिखा है "साधारण जनता को आकर्षक प्रतीत होनेवाला वह शृङ्गार वर्णन जिसमें शब्दालकार का चमत्कार कोमलकान्त पदावली का लालित्य आदि साहित्य रसास्वादन कराने की प्रवृत्ति हो और जिसमें 'सयम श्री' की प्राप्ति द्वारा जीवन के सुन्दरतम क्षण का अभीष्ट हो, फागु-साहित्य की आत्मा है।" फागु की ही एक शैली "धोना" नाम से भी प्रचलित हुई और डॉ० ओझा के अनुसार १५७६ वि० में रचित चतुर्भुज

सत्य तो यह है कि मध्यकालीन काव्य की सबसे सबल प्रेरणादायिनी शक्ति 'काम' या शृङ्गार की ही थी। उसी के उन्नयन के विविध प्रयत्न इन काव्यो में सर्वत्र बिखरे हुए दिखाई पडते हैं। मध्यकालीन समाज मे, विदेशी सस्कृतियो के मिश्रण के कारण, लौकिकता की एक नयी नवल स्वस्थ धारा बडे वेग से प्रवाहित होने लगी थी—इस धारा के मूल में एक अज्ञात ग्रामीण, हँसमुख, समर्पणशील, अनन्यप्रेमोत्सुका नारी सर्वत्र विद्यमान है। यह नारी-शृङ्गार भावनाओ का उत्स है, प्रतीक और उद्देश्य है। कृष्ण-काव्य की राधा, जैन-काव्यो की 'सयम श्री' और वसन्त, फागु आदि काव्यो मे 'ऋतु श्री' भी यही है। इसी के नानाविध रूपो से मध्यकालीन साहित्य भरा हुआ है।

'राधा' इस पूरे लौकिक प्रणय की आध्यात्मिक साधना के दौर का केन्द्र रही है। वह आभीर बाला अपने आकर्षण और हृदय निवेदन के बल पर पूरे भारतीय साहित्य पर छा गयी। इस अदृश्य घटना का मूल स्थान भी शौरसेनी का प्रदेश ही बना। इसी कारण शौरसेनी अपभ्रश या उसी का परवर्ती पिंगल अवहट्ठ रूप इस काल की अनेकानेक रचनाओ की अभिव्यक्ति का माध्यम बन गया। ब्रजभाषा-काव्य के प्रेमियो और अनुसधित्सुजनो को यह बात हमेशा ध्यान मे रखनी चाहिए कि ब्रजभाषा मे लोकगीत और रास-काव्य ईस्वी सन् १००० के बाद निरन्तर लिखे जाते रहे। ब्रज में कृष्णभक्तो का आवागमन वल्लभाचार्य के ब्रज आगमन के बहुत पहले से होता रहा है। ये भक्तकवि अपने साथ न केवल कृष्ण की जन्मभूमि और लीलाधाम का दर्शन-सुख ले जाते रहे बल्कि आदि ब्रजभाषा के लोकगीत, रास-काव्यो की शैली.

देवकी अपने पुत्रो की बाल-लीला न देख पाने के कारण दुःखी रहती थी। मुनि की कृपा से गज सुकुमार का कृष्ण के छोटे भाई के रूप मे जन्म हुआ। उसी का चित्रण इस रास-काव्य में किया गया है। रचना से कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते है—

द्वारिका का वर्णन :

> वारह जोयण जसु वित्थारु, निवसइ सुन्दरू गुणिहि विसालू।
> वाहत्तर कुल कोडि विसिट्ठो। अन्नवि सुहड रणगणि दिट्ठो ॥४॥
> नयरिहि रज्जु करेहि तहि कन्ह नरिन्दु
> नरवइ मति सणाहो जिवँ सुरगणि इदू ॥५॥
> शख चक्र गय पहरण धारा।
> कस नराहिव कय सहारा।
> जिणि चाणउरि मल्लु वियारिव।
> जरासिधु वलवतउ धाडिउ ॥६॥

(२) नेमि वारहमासा रास—इसके कवि पाल्हणु थे। श्री अगरचन्द नाहटा ने सम्मेलन पत्रिका भाग ४९ स० १ में १३वी श० का नेमि वारहमासा शीर्षक से एक लेख प्रकाशित कराया। इसमें इन्होने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पाल्हणु आबू रास के रचयिता कवि पाल्हण से अभिन्न है अत इसका काल १५८९ स० मानना चाहिए।

नेमि वारहमासा नेमि राजमति की प्रसिद्ध कथा पर ही आधारित है। इसमें वारहमासा काव्य की रूढ पद्धति के अनुसार ही विरहिणी राजुल की वियोगावस्था का चित्रण किया गया है। सावन में सघन वादल आकाश में घुमडने लगते हैं। दादुर और मोर बोलते हैं, चतुर्दिक विद्युत का नर्तन होता है। पपीहा पुकारता है, कोयल कूकती है, राजुल सोचती है कि ऐसे में बिना नेमि के दिन कैसे व्यतीत होगे

> 'सावणि' सघण घुडुक्कइ मेहो, पावमि पत्तउ नेमि विछोहो।
> दद्दुर मोर लवहि असगाह, दह दिह बीजु खिवइ चउवाह ॥
> कोइल महुर वयणु चवेइ, रवइ विवोहउ चाह करइ।
> 'सावणु' नेमि जिणिद–विणु, भणइ कुमरि किम गमणउ जाइ ॥

और तभी धारासार वृष्टि से चहुँओर अँधेरा करता भादो आ पहुँचा। वापी-कूप और नदी तडाग भर गये। रास्तो पर सर्वत्र जल ही जल बहने लगा। पृथ्वी पर बादल झुक आये। पृथ्वी जलमय हो गई, पथ दिखलाई नही पडते। राजुल कहती है, आँखो मे बिना नेमि के ऐसे नये भादो भी "अकारथ" गया।

आश्विन :

'असउजह' घण आस संपुन्नी, घरणि कणय फल फुल्लि उपन्नी ।
सरवर सथिर सत्य छामेह, निरमल नीर समग्गल नेह ॥
जणु परिमणु रहसिउ भमइ, महु मणि असुहु असेसु निवड्डइ ।
नेमि कुमरि अवगन्नियओ, 'पाल्हणि' सुत मोरउ हियडउ फूटइ ॥

कार्तिक :

'कत्तिय' घण घवलहि निय-मेह, मढ-देव लिहि चर्हहि घजेरह ।
घरि घरि मगल-चार उछाह, सुर जागहि नर रचहि विवाह ॥
हय गय वर नरवइ गुडहिं, मडलिक सुहड सनाह सिगारु ।
देखि कुमरि मन गहवरिओ, मइ मेल्हिवि गउ नेमि कुमारो ॥

मार्गशीर्ष :

भउ 'मागसिर'–तणउ पइसारो, भरत कणय तहि करहि सिगारो ।
पहरहि मयण मजीण चीर, ले कूकू सवलहि सरीर ॥
निय पिय किहि आयरु करहि, ते पेखिवि राइमइ विसूरइ ।
हा विहि को अपराघु किउ, नेमि कुमरि विणु अनु दिणु झूरइ ॥

पौष :

'पोस' सुपत्तहु मतिहि सियारु, घिउ घेउर लापसिय कसारु ।
लाडू लावग भोयणु होइ, पोसउ पिंडु सयल जगु लोए ॥
जादरि गजवडि ओढण ए, रमणि दिवसि नतु पडइ तुसारो ।
कु-कुमरि स-दुखिय इव भणए, मइ मेल्हिवि गउ नेमि कुमारो ॥

माघ :

'माहु' महाभडु हिम मिवयासु, वणु वणसइ पुडइणि सिय दावु ।
सिउ मिउ सिउ मिउ जणु अचरए, जा हरि सवडि तहउ अनुसरए ॥
एक रयणि वरिसागलिय, कुमरि गणइ किम करि पयणाउ ।
नेमि–विहुणा परि दिन, हा विहि दइय न लेखे लाए ॥

फाल्गुन :

आउ आगमु 'फागुण' तणउ, अति सिउ पवणु फल्क (इ) घणउं ।
गिर तरुवर फल पात झलाहि, डालहि डाल सिखा घरि जाहि ॥
दिणि दिणि अगु झकोल्लिजए, तिम्व तिम्व सालहि बहु दुख मार ।
कुमरि भणइ किमि नीगमओ, तइ विणु सामिय नेमिकुमार ॥

चैत्र :

'चैतु' मनिह सपत्तु वनतु मालद-कोर-कमल-विहसंतु ।
महुअ करहिं मडलिया महार, कोइल महुर करहिं झंकार ॥
वनि नयनि [illegible] करहिं, निरमहि चीद [illegible] हारो ।
वा [illegible] चन्द मनु मुज [illegible], तुप बहु मरणु कि नेमिकुमारो ॥

सपादक श्री मोतीलाल मेनारिया इसे १६२५ स० की कृति मानते हैं। इसका उन्होंने कोई आधार नही दिया है। इधर इस पर डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने "हिन्दी की 'रासो परपरा' का एक विस्मृत कवि जल्ह" शीर्षक एक निबन्ध छपाया है जो उनकी पुस्तक रासो साहित्य में सकालित है। उन्होने लिखा है, "जल्ह के नाम से कुछ छद 'पृथ्वीराज रासो' के वृहद पाठ में भी मिलते हैं, जिसमें उसे चद की अधूरी कृति का पूरक कवि भी कहा गया है। यह असम्भव नही कि यह दोनो जल्ह एक ही है, यद्यपि निश्चित रूप से यह नही कहा जा सकता है। 'बुद्धि रासो' के रचयिता ने उसमें रचना-काल नही दिया है। 'पृथ्वीराज रासो' के पूरक कृतित्व वाले जल्ह का समय 'पृथ्वीराज रासो' की रचना (स० १४०० के लगभग) के वाद और 'पुरातन प्रबन्ध सग्रह' मे सकलित 'जयचन्द प्रवन्ध' लेखन के और पूर्व पडना चाहिये। जिन प्रतियो के आधार पर 'पुरातन प्रबन्ध सग्रह' में पृथ्वीराज प्रबन्धो का सम्पादन किया गया है, उनमें से एक स० १५२८ की है। अत इस जल्ह का समय स० १४०० तथा स० १५२८ के बीच स० १४५० के आस-पास होना चाहिये। यदि वही जल्ह 'बुद्धि रासो' का भी रचयिता हो तो 'वुद्धि रासो का समय स० १४५० के लगभग माना जा सकता है।"

वुद्धि रासो की कथा इस प्रकार है चम्पावती नगरी का एक राजकुमार नायिका जलधि तरगिणी के साथ समुद्र के किनारे किसी निर्जन स्थान में आकर रहता है। बीच में किसी कार्यवश वह एक महीने के लिये बाहर चला जाता है। वह अवधि बीतने पर भी नही लौटता। विरह के कारण जलधि तरगिणी बहुत दु खी होती है और संसार से विरक्त हो जाती है। उसको माँ देव दुर्लभ मानवदेह के वैभव और सौन्दर्य का प्रतिपादन करके उसे ससार के भोग-विलास में आकृष्ट करना चाहती है, तभी राजकुमार वापस लौट आता है। दोनो का मिलन होता है और वे आनन्द और उल्लास में अपना जीवन व्यतीत करते हैं।

नीचे जलधि तरगिणी के रूप-चित्रण का एक अश दिया जा रहा है

इति प्रतिवाद मधु-माधव आये, जागी भमरि पिय भभरि जगाये।
सुनि कोकिल कलरव कल सुछी, इन सुष विलसि वसत सुलछी॥
घरि घरि कुसुम वास अरिव्यदा, अली लुटहि अहि निसि तजि न्यदा।
जलधि तरगनी कीन्ह वनदा, किय षोडस जनु पूरन चदा॥
चन्द्र मुखी मुख चन्द किय, चखि कज्जल अवर हार लिय।
घण घटणि छिद्र नितव भरै, मनमत्त सुधा मनमच्छ करै॥
अति अरिय तवोल अमोल मुख, अहिलोक सु अच्छ कोण सुख।
कुच ढकति कचु कसी कसिये, जुग मीर जुरे मनमच्छ भये॥
घन जघति कचन रग वनी, पहिराति पटवर अग तणी।
चख भू अति वक निसख खरै, विस वाण कटाछनि प्राण हरै॥
कर ककण अकण जाइ नहीं, ग्रिहि जानु गुहे भुज पल्लवही।
वर हस विराजन हम वनी, तप छडि जोगेन्द्रती सद्द सुनी॥
चरणावल वेस विलास अंगे, कदली दल जानि कुसुभ रंगे।
बनि ठाटीम अगनि आइ खरी, रय खचि रह्यौ रवि एक घरी॥

भरतेश्वर वाहुवलि घोर रास—स० १२२५ के आस-पास वज्रसेन सूरि ने इसकी रचना की है। यह अत्यन्त प्राचीन महत्त्वपूर्ण रासग्रन्थ है। श्री अगरचन्द नाहटा का कहना है कि चूँकि इसमें भरत और वाहुवलि के बीच होनेवाले घोर युद्ध का वर्णन है अत इसका नाम भरतेश्वर वाहुवलि घोर रास है।

तीर्थंकर ऋषभदेव के १०० पुत्रो में भरत और वाहुवलि प्रमुख थे। राज्य से विरक्त होने पर ऋषभदेव ने पुत्रो में राज्य बाँटकर तपस्वी जीवन कतीत करना आरम्भ किया। अपने हिस्से से असतुष्ट भरत ने वाहुवलि को छोडकर और भाइयो को परास्त किया और चक्रवर्ती नरेश बने। अत में उन्होंने वाहुवलि पर भी आक्रमण किया। दोनो भाइयो में मल्लयुद्ध होने लगा। ज्येष्ठ भ्राता पर प्रत्याक्रमण के लिए प्रहार करते समय वाहुवलि को वहुत ग्लानि हुई और उन्होंने विरक्त होकर सन्यास ले लिया।

इस रचना में प्राचीन शौरसैनी अपभ्रश के परवर्ती रूप का वहुत ही सुन्दर परिग्रहण दिखाई पडता है

पहिलउ रिसह जिणंदु नमवि भवियहु। निसुणहु रोलु धरेवि ॥
वाहुवलि करेउ विजय ॥१॥
समलह पुत्तह राणिवि देवि। भरहेसरू निय पाटि ठवेवि ॥
रिसेहेसरि सिंजमि थियउ ॥२॥
वरिस जाउ दिणि दिणि उपवासु। मूनिह थाकउ वरिस ससासु।
इव रिसहेसरि तपु कियउ ॥३॥
तो जुगाइ-देवह मुपहाणु। उप्पन्न वर केवल नाणु ॥
चक्कु रयणु भर हेसरह ॥४॥
भर हेसर जिण वदण जाइ। रिद्धि नियती आगि न माइ।
मरु देवी केवल लहइ ॥५॥
तो पच्छी दिगु-विजय करेवि। भर हेसरू राणा मेलेवि ॥
अवज्झा नयरिहि आइयउ ॥६॥
तो सेणावइ कहियं देव। तज्जउ आउह-आउह सालह येव ॥
चक्कु रयणु नउ पइसरइ ॥७॥
भरह भाइ सून मन्नइ आण। देवगन्धु नवि न्वय सवाण।
वाहुवलि पुण आगलउ ॥८॥
[illegible] । [illegible] । [illegible] राजु ॥
[illegible] पठावियउ ॥९॥
[illegible] । [illegible] ॥
[illegible] ॥१०॥

कुछ स्फुट काव्य-कृतियाँ

राजमल्ल—कवि राजमल्ल[1] ने १६०० वि० के कुछ थोडा पहले ही 'पिंगलशास्त्र' नामक ग्रंथ की रचना की। नागौर के करोडपति धनकुबेर भारमल्ल के लिए इसकी रचना की गई थी। भारमल्ल की प्रशसा करते हुए कवि ने लिखा है—

स्वातिबूंद सुरवर्स निरन्तर, सपुट सीपि वयो उदरन्तर
जम्मो मुक्ताहल भारहमल, कण्ठाभरण सिरी अवलोहल

अब कवि के शब्दो में ही जरा भारमल्ल के दैनन्दिन आय-व्यय का हिसाब सुनिए

सवालक्ख उग्गवइ भानु तहँ ज्ञानु गणिज्जइ
टका सहस पचास रोज जे करहिं मसक्कति
टंका सहस पचीस सुतनुसुत खरच दिन्न प्रति
सिरिमालवंस सघाधिपति वहुत वडे सुनियत श्रवण
कुलतारण मारहमल्ल सम कौन वडउ चढहि कवण

धनकुबेर भारमल्ल से मिलने के लिए निरन्तर राजा-राजकुमार उसके दरवार में खडे रहते थे। उसके वैभव का वर्णन करते हुए कवि कहता है·

वडभागी घर लच्छि वहु, करुणामय दिवदान।
नहिं कोउ वसुधावधि वणिक भारहमल्ल समान॥
ठाढे तो दरवार राजकुमर वसुधाधिपति।
लिजे न इक्कु जुहार भारहमल्ल सिरिमाल कुल॥

विद्धणू—ज्ञानपचमी चउपई मगधदेश की यात्रा में निकले उदयगुरु के शिष्य तथा ठक्कर माल्हे के पुत्र विद्धणू ने सम्वत् १४२३ में रची। इसमें श्रुतपचमी व्रत का वर्णन किया गया है, और श्रावको के प्रचलित धर्मों का उपदेश दिया है। एक पद देखिए·

चिंता सायर जवि नर परइ। घर धवल सयलइ वीसरइ॥
कोहु मान माया पद मोहु। जर झंपे परिअ सदेहु॥
दान न दिन्नउ मुनिवर जोगु। ना तप तविउ न भोगेउ भोगु॥
सावय घरहिं लियउ अवतार। अनुदिन मन चिंतहु नवकार॥

ठक्कुरसी—कृपण चरित्र सम्वत् १५८० में कवि ठक्कुरसी द्वारा लिखा गया। इसमें एक कृपण व्यक्ति की कंजूसी और उससे उत्पन्न दयनीयता का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया गया है। ३५ छन्दों में लिखी इस छोटी-सी रचना के विषय में श्री नाथूराम प्रेमी ने लिखा है : "यह छोटा-सा पर बहुत ही सुन्दर और प्रसाद गुण सम्पन्न काव्य है।"

धन की जो शुभ गतियां हैं, उनमें यदि नियोजित न किया गया और जमीन में गाड दिया गया तो इस प्रकार के दुःख और शोक से बचना कठिन हो जाता है। कथा इस प्रकार है·

---

1 हिन्दी जैन साहित्य का सक्षिप्त इतिहास, श्री कामताप्रसाद जैन, प्रथम सस्करण, १९४७।

एक प्रसिद्ध नगर में एक कृपण रहता था। कर्म संयोग से उसे पत्नी बडी विचक्षण मिली थी। यह जोडी देखकर सारा जग मनोविनोद करता। वह तो धर्म-कर्म की सभी रीतियो का निर्वाह करती, और कृपण उसे खान-खरच भी नही देता। एक दिन कृपण की पत्नी ने गिरिनार-यात्रा की बात की। कृपण बडा क्रुद्ध हुआ। उसने पत्नी को किसी युक्ति से मायके भेज दिया। यात्रियो का सघ गिरिनार यात्रा से लौटा तो बहुत से लोग वहाँ से भी काफी धन कमाकर लौटे। अब तो कृपण को दूसरा आघात लगा। उसने चारपाई पकड ली। लोगो ने दान-पुण्य की सलाह दी, तो वह आगबबूला हो गया। हाँ, वह दान करके धन को नष्ट करे! उसने लक्ष्मी से प्रार्थना की वे उसके साथ परलोक यात्रा करें। लक्ष्मी भला धैर्यहीन कृपण के साथ परलोक यात्रा करती हैं! कृपण बडा निराश हुआ और इसी नर्क यातना मे उसके प्राण चले गये। लोगो ने खुशी मनायी। उसके कुटुम्ब-जनो ने धन का भोग भोगा।

आरम्भ के कुछ अंश यहाँ दिये जा रहे हैं

कृपण एक परसिद्धु नयर निवसतु निलक्खणु।
कही करम सयोग तासु घरि नारि विचक्षणु॥
देखि दुहूँ की जोड सयलु जग रहिउ तमासै।
याहि पुरिस के याहि, दई किम देइ इय भासै॥
वह रह्यौ रीति चाहै भली, दाण पुञ्ज गुण सील सति।
यह दे न खाण खरच्चण किवै, दुवै करहिं दिढि कलह अति॥१॥

गुरु सौ गोठि न करै, देव देहुरौ न देखै।
मागणि भूल न देइ गालि सुनि रहे अलेखै।
सगी, भतीजो, भुवा, वहिणि भाणिजी न ज्यावै।
रटै रूसडो माडि आप न्योतौ जब आवै।
पाहुणौ सगौ आयौ सुणै, रहइ छिपिउ मुहु राखि कर।
जिव जाय तवहिं पणि नीसरइ इम धनु सच्यो कृपण नर॥२॥

ठक्कुरसी नाम के एक कवि की रचनाओ का परिचय इसी ग्रन्थ में § १८६ में दिया गया है। ठक्कुरसी ने १५७८ से १५८० विक्रमी तक कई कृतियां लिखी। पचेन्द्रिय वेलि में जो रचना-काल मिलता है यानी 'सवत् पद्रह सौ पचासो'। इसमें 'पचासो' का पचास और पचासी दोनो अर्थ किया जा सकता है। इस प्रकार ये ठक्कुरसी 'कृपणचरित्र' के लेखक ठक्कुरसी के समसामयिक प्रतीत होते हैं। हो सकता है कि दोनो कवि एक ही हो, किन्तु जब तक कोई निश्चित प्रमाण नही मिलता, कुछ कहना सभव नहीं।

धर्मदास—कवि के विषय में हम § १९४ में विचार कर चुके हैं। इनकी एक और रचना 'मदन जुद्ध' के नाम से प्राप्त हुई है। जिसकी हस्तलिखित प्रति अभयजैन पुस्तकालय बीकानेर में सुरक्षित है। यह भी मदनपराजय के प्रसिद्ध जैन आख्याना की परम्परा मे लिखी गयी रचना है। एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है

मुनिवर मकरध्वज जुद्ध मांडी गारि।
रतिवन्त दलो नति उतहि नवल ब्रह्मचार॥

दोउ सुभट दल साजि चले सग्राम ।
तम तेज सहसय तउ तहि महाभद्रकाम ॥
प्रथम जय परमेष्ठी पच पचम गति पाउं ।
चतुर्विंश जिन नाम चित्त धरि चरण मनाउं ॥
सारद गनि मनिगुन गभीर गवरी सुत मचो ।
सिहि सुमति दातार वचन अमृत गुन पचो ॥
गरु गावत मुनिजन सकल जिनको होइ सहाय ।
मदनजुद्ध धर्मदास को वरणत माँहि पसाइ ॥

नरसी मेहता का एक ब्रजभाषा-पद और उसका महत्त्व

नरसिंह मेहता १५वीं शताब्दी के उन बहुत थोड़े-से भारतीय वैष्णव कवियों में अन्यतम थे, जिन्होंने अपने रस ऐश्वर्यपूर्ण साहित्य के बल पर भक्ति आन्दोलन को सबल आधार प्रदान किया। इनकी एक महत्त्वपूर्ण कृति रास सहस्रपदी मानी जाती है। यह काव्य कृष्ण की अलौकिक रासलीला को छन्दों में बाँधने का अभूतपूर्व प्रयत्न है। इसका एक दूसरा महत्त्व यह है कि भारत की किसी दूसरी आधुनिक आर्य-भाषा में रासलीला पर इतने प्राचीन और सुन्दर गीत नहीं लिखे गये। इन पदों में से १५९ का संग्रह डॉ० दशरथ ओझा ने अपनी पुस्तक 'रास और रासान्वयी काव्य' में प्रस्तुत किया है। इनमें से ११९ संख्या के पद के विषय में हम ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। यह पद राग सामेरी में आबद्ध है। पद इस प्रकार है

साखी : कुञ्ज भवन (भुवन) खोजती प्रीते रे, खोजत मदन गोपाल।
प्राणनाथ पावे नहिं तातें, व्याकुल भइ ब्रजबाल॥
चाल चालता तें व्याकुल भइ ब्रजबाला।
ढुढती फिरे श्याम तमाला॥
जाइ बुझत चंपक जाइ। काहु देखो नन्दजी को राइ॥

साखी : पीय संग एकान्त रस, विलसत राधा नार।
कब चढ़ावन (चडावन) को कहो, तातें तजि गये जु मोरार॥

चाल : तातें तजि गये जु मुरारी। लाल आय संग ते टारी।
त्यां ओर सखी सब आई। काइ देखो मोहन राइ।
ये तो मन कीधो मेरी बाइ। ताते तजि गये कनाइ॥

साखी : कृष्ण चरित्र गोपी करे, विलसे राधा नार।
× × × ॥
एक भई त्यां पूतना एक भई जु गोपाल लाल।
एक भई जु गुपाल लाल री, तेणे दुष्ट पूतना मारी॥

चाल : एक भेख मुकुंद को कीनो। तेणे तृणावन्त हरि लीनो।
एक भेख दामोदर धारी। तेणे जमला-अर्जुन तारी॥

साखी प्रेम प्रीत हरि जानि कै (जीनके) आये उनके पास।
मुदित भई त्यां भामिनी, गुन गावै नरसैयो दास॥

रासहस्रपदी की भाषा पूर्णतः गुजराती है। ओझाजी के द्वारा संगृहीत पदों में भी १५८ की भाषा गुजराती ही है। ऊपर का यह पद ही अपवाद है, जिसकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। हाँ, यह अवश्य है कि इसमें कहीं-कहीं छिट-फुट ढंग से गुजराती के प्रभाव भी परिलक्षित होते हैं। ध्यान से देखने पर प्रतीत होगा कि यह प्रभाव भी अत्यन्त ऊपरी स्तर का है। इस पूरे पद में 'त्यां, कीधो' और 'तेणे' ये तीन शब्द ही गुजराती प्रभाव की सूचना देते हैं। पर, ये

रूप भी पिंगल ब्रजभाषा मे मिल जाते हैं। किद्धउ, लिद्धउ आदि रूप जिनसे कीधो, लीधो आदि बने, चन्दवरदाई के रासो में भी मिलते हैं। त्या ब्रजभाषा के सर्वनामिक विशेषण 'ता' का ही विकृत रूप है और तेणे अपभ्रंश का तेणउ ब्रजभाषा का तैं या तैने और पुरानी राजस्थानी का तेणे, सभी समानान्तर रूप ही हैं। इस प्रकार इस पद मे ऊपर से परिलक्षित होनेवाला गुजराती का प्रभाव भी निराधार ही प्रतीत होता है। साखी और चाल इन दोनो अंगो की भाषा भी किंचित् भिन्न प्रतीत होती है। साखी की भाषा तो शुद्ध ब्रजभाषा के दोहो से मिलती-जुलती है। चाल में अलबत्ता गुजराती चाल का असर दिखाई पडता है। अब प्रश्न यह होता है कि इस साखी का अर्थ क्या है? गुजरात में दोहे के लिए साखी शब्द का प्रयोग किस अर्थ में होता है, यह मुझे मालूम नही। किन्तु हिन्दी में साखी कहे जानेवाले दोहो का एक अपना अभिप्राय और अर्थ है। साखी शब्द का प्रयोग विशेष रूप से कबीर ने एक निश्चित साम्प्रदायिक अर्थ में किया है। साखी संस्कृत साक्षी का ही विकसित रूप है। इसका अर्थ है कि कवि अपनी बात के प्रमाण के रूप में अपने प्रत्यक्ष अनुभव अथवा अपने पूर्वज किसी साधक कवि की उक्ति को उपस्थित करना चाहता है। बौद्ध सिद्ध कण्हपा ने एक चर्या में अपने गुरु जालन्धर पाद की साक्षी दी है।[1] कबीर ने भी साखी शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। कालान्तर मे निर्गुनियाँ सन्तो द्वारा लिखे हुए उपदेशमूलक काव्य को ही साखी माना जाने लगा। 'साखी सब्दी दोहरा' कहकर तुलसीदासजी ने इसी ओर संकेत किया है।

क्या नरसिंहदास द्वारा प्रयुक्त यह साखी शब्द भी किसी विशिष्ट अर्थ का द्योतन करता है? निर्गुण संतो द्वारा प्रयुक्त उस शब्द से नरसिंहदास अपरिचित रहे हो ऐसा तो नही कहा जा सकता। परन्तु उन्होने इस शब्द का प्रयोग थोडा भिन्न अर्थ में किया है। ब्रजभाषा प्रदेश मूलत मथुरा वृन्दावन के आसपास का क्षेत्र वैष्णव भक्तो के लिए बहुत समय से आकर्षण का केन्द्र रहा है। नरसिंहदास के विषय में जहाँ तक प्रमाण उपलब्ध होता है, यह पता नही चलता कि उन्होने मथुरा-वृन्दावन की यात्रा की अथवा नही। पर यह सत्य है कि द्वारिका-निवास के समय वे ऐसे साधु महात्माओ से मिले होगे जो कृष्ण की जन्म-भूमि की यात्रा से आते रहे होगे अथवा वही रहते रहे होगे। वल्लभाचार्य के आगमन के पूर्व ही मथुरा-वृन्दावन का भक्ति-क्षेत्र भारत के विभिन्न भागो के कृष्ण-भक्तो के लिए आकर्षण का स्थान रहा है, यह निर्विवाद है। साखी शब्द से इस सन्दर्भ में एक नया प्रकाश पड सकता है। क्या यह [illegible] मथुरा वृन्दावन में होनेवाली रासलीलाओ से लिये गये हैं? अथवा क्या इन्हें कवि ने कृष्ण-भक्त यात्रियो से सुना था? इसके आधार पर कई दिशाओ मे अन्वेषण किया जा सकता है।

के वड गीतो में व्रजभापा के तत्त्व विद्यमान हैं, यह हम पहले ही दिखा चुके हैं। १६वी शती में तो गोविन्ददास, राधामोहन, वलरामदास और चण्डीदास आदि अनेक भक्तो ने व्रजवुलि में काव्य किया। पश्चिमी भारत में १५वी शताब्दी में व्रजभापा के विकास का पता लगाना एक महत्त्वपूर्ण विपय है। इस दिशा में गुजरात और गुजरात तथा वृन्दावन के मध्य पथ पर वर्त्तमान ग्वालियर प्राचीन नाम 'गोपाचल' के क्षेत्रो में प्राचीन व्रजभाषा साहित्य के अन्वेषण का कार्य होना चाहिए। यह प्रदेश आभीर जाति का भी गढ रहा है। गोवर्धन से गोपाद्रि अथवा गोपाचल और वहाँ से लास्य अथवा रास के केन्द्र गुजरात के बीच के सम्बन्ध-सम्पर्कों को यदि हम दृष्टि मे रखकर पूरे सास्कृतिक परिवेश का अध्ययन करें तो व्रजभाषा काव्य को अनेक प्रवृत्तियो, उसके केन्द्र-विन्दु राधा, ग्वाल जीवन तथा उच्छल लौकिक प्रेम आदि के अनेक तत्त्वो का कार्य-कारणमूलक परिज्ञान हो सकेगा। नरसिंहदास के उपर्युक्त पद में प्रयुक्त साखी शब्द इस विस्मृत सास्कृतिक सम्पर्क के परिचय की शायद कुछ साक्षी दे सके!

पारिजातहरण नाटक के गीतों की भाषा

हम § १०४–१०७ मे यह दिखा आये हैं कि किस प्रकार पूर्वी प्रदेशो में शौरसेनी अपभ्रंश का कनिष्ठ रूप अवहट्ठ साहित्य रचना का माध्यम हो गया था। इसी भाषा का परवर्ती पिंगलरूप सम्पूर्ण उत्तर भारत मे चारण कवियो अथवा राज प्रशस्ति गायको की रचनाओं का माध्यम रहा। मथुरा वृन्दावन की भाषा किस प्रकार वैष्णव भक्तो और महात्माओ के सम्पर्कों से व्रज भूमि के बाहर के क्षेत्रो मे प्रसारित हो रही थी, इस पर भी हम विचार कर चुके हैं। तत्कालीन व्रजभाषा का ही एक रूप पूर्वी प्रदेशो में मागधी अपभ्रंश नि.सृत भाषाओं के तत्वो के साथ, विशेष रूप से प्राचीन् मैथिली के भाषिक तत्त्वो के साथ मिश्रित होकर "व्रजबुलि" नाम से वैष्णव कीर्त्तन का माध्यम बन रहा था। इसी को विद्यापति तथा चण्डीदास जैसे कवियो ने स्वीकार किया और अपनी भावविभोर करनेवाली तन्मयता के बल पर इसी भाषा मे अपने मधुर गानो की सृष्टि की।

पारिजातहरण एक छोटा-सा नाटक है जिसकी रचना उमापति ने की। उमापति के समय के विषय मे अब तक काफी विवाद था। उमापति के विषय मे कहा जाता है कि उन्होंने मिथिला के हिन्दूपति श्री हरिहरदेव के समय में इसकी रचना की। इस नाटक के अतरग से भी इस बात की पुष्टि होती है। कवि ने हरिहरदेव की प्रशसा करते हुए नान्दी श्लोक सख्या २ और ३ में लिखा है कि हरिहरदेव ने यवनो को पराजित किया था तथा मिथिला मे उच्छिन्न होनेवाले वैदिक धर्म की पुन प्रतिष्ठा की थी। यह हरिहरदेव कब हुए, इस बात पर भी विवाद है। अपनी पुस्तक "उमापति का पारिजात हरण" में कवि के स्थिति-काल आदि विषयक सामग्री का अध्ययन करके श्री कृष्णनन्दन 'पीयूष' ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उनका समय १४वीं शताब्दी का आदि था। प० बलदेव उपाध्याय ने भी 'हिन्दी में वैष्णव पदावली का प्रथम रचयिता' शीर्षक अपने निबन्ध मे उमापति को १४वी शताब्दी के प्रथम चरण का ही माना है। उन्होंने उन्हें १३२० ई० के आस-पास का बताया है।[1]

अनगिनत किंशुक चारू चंपक वकुल वकुहल फुल्लिआ
पुनु कतहु पाटलि पटलि नीप नेवारि माधवि मल्लिआ ।
अति मजु वंजुल पुज पिंजल चारु चूअ विराजही
निज मधुहि मातल पल्लवच्छवि लोहितच्छवि छाजही ।
पुनि केलि कलकल कतहु आकुल कोकिला कुल कूजही
जनि तीनि जग जिति मदन नृप मुनि विजय राज सुराजही ।
नव मधुर मधुर समुगुध मधुकर कोकिला रस भावही
जन मानिनी जन मान भजन मदन गुण गुरु गावही ।
वह मलय परिमल कमल उपवन कुसुम सौरभ सोहही
ऋतुराज रैवत सकल दैवत मुनिहु मानस मोहही ।
जदुनाथ साथ विहार हरषित सहस षोडश नायिका
भन गुरु 'उमापति' सकल नृपपति होथु मंगल दायिका ।। १ ।।

सखि हे रभस रसु चलु फुलवाडी
तहाँ मिलत मोर मदनमुरारी ।
कनक मुकुट मणि भल भासा
मेरू शिखर जनु दिनमणि वासा ।
सुदर नयन वदन सानदा
उगल जुगल कुवलय लय चदा ।
पीत वसन तनु भूषण मनी
जनि नव घन उग दामिनी ।
वनमाला उर उपर उदारा
अजनगिरि जनु सुरसरि धारा ।। २ ।।

इन दोनो गीतो में 'मातल', 'होयु' और 'उगल' इन तीन शब्दो को छोडकर बाकी समूचे गीत ब्रजभाषा के निकट प्रतीत होते हैं । एक तीसरा गीत देखिए

सहस पूर्ण ससि रहओ गगन वसि
निसि वासर देओ नदा ।।
भरि वरिसओ विस वहओ दहओ दिन
मलय समीरन मदा ।।
साजनि आब जिवन किअ काजे
पहु मोहि [illegible]
[illegible] भेल
सहए न पारिअ लाजे ।। ध्रुवम् ।।

कोकिल [illegible] आकुल
[illegible] पाने ।

सिसिर सुरभि जत देह दहओ तत
हनओ मदन पचबाने ॥
सुकवि उमापति हरि होए परसन
मान होएत समधाने।
सकल नृपति पति हिंदू पति जिउ
महेसरि देई विरमाने ॥

इन पद की भाषा करीब-करीब वही है जिसमें विद्यापति ने सिवसिंह के सिंहासनावरोहण के समय की प्रशस्ति लिखी अथवा जैसी भाषा विद्यापति के गीत सग्रह (प्राचीन नैपाली प्रति) में मिलती है। इसके बारे मे इसी पुस्तक मे §१०५–१०६ देखना चाहिए।

शेष गीतो की भाषा में मैथिली प्रभाव की अधिकता दिखाई पडती है। यदि ये रचनाएँ वस्तुत उतनी पुरानी हैं जितनी कही जा रही हैं तो इनसे मैथिली भाषा के अध्ययन में बडी सहायता मिलेगी, इसमें सदेह नही।

पारिजातहरण का एक दूसरा भी महत्त्व है। इन गीतो में स्थान-स्थान पर कृष्ण के प्रति भक्ति निवेदन किया गया है। "भगति भाव" की चर्चा है। नारद भक्ति-गदगद होकर कहते हैं

जेहें न जानिअ जन्हीं। दिठि भरि देखव तन्हीं ॥
ब्रह्मा सिव सेव जाही। काहि भजव तेजि ताही ॥
मनहि भगति लेव मागी। समय परम पद लागी ॥

कृष्ण प्रिया सत्यभामा कृष्ण को जीवन धन तो कहती ही हैं हरिचरणो की सेवा में भी उनकी कम श्रद्धा नहीं है

पिअर वसन तन तन भूखन मनो।
जनि नव घन अचल दामिनी ॥
जीवन धन मन सरवस देवा।
मे लय करब हरि-चरनक सेवा ॥

परिशिष्ट २

[चौदहवीं-सोलहवीं शताब्दी में लिखित
अप्रकाशित रचनाओं के अंश]

प्रद्युम्न-चरित

सधार अग्रवाल, रचनाकाल १४११ संवत्, स्थान आगरा

सारद विणु मति कवितु न होइ, मकु आपर णवि बुझइ कोइ ।
सो सादर पणमई सुरसती, तिन्हि कहुँ बुधि होइ कत हुती ॥१॥
मयु कोइ सारद सारद कहई, तिसु कउ अन्त कोउ नहिं लहई ।
अठ दल कमल सरोवर वासु, कासमीर पुर माहि निवास ॥२॥
हस चढो करि लेखनि लेइ, कवि सधार सारद पणभइ ।
सेत वस्त्र पदमावतीण, करइ अलावणि वाजइ बीण ॥३॥
आगम जाणि देइ बहु मतो, पुणु हुई जे पणवइ सुरसती ।
पदमावती दड कर लेइ, जालामुखीव केसर देइ ॥४॥
अव माहि रोहिणि जे सारू, सासण देवी नवइ सधारू ।
जिण सासन जो विघण हरेइ, हाथ लकुट ढाणे सौ होइ ॥५॥
सरस कथा रस उपजइ घणउ, निसुणहु चरित पदूमह तणउ ॥१०॥
सम्वत चउदह सौ हुइ गयौ, ऊपर अधिक एगारह भयो ।
भादव वदि पचमी सो सारू, स्वाति नक्षत्र सनीचर वारू ॥११॥
सायर माहि द्वारिका पुरी, मयण जच्छ जो रचि करि धरी ।
बारह जोजण कौ विस्तारा, कचण कलसति दीसइ दारा ॥१५॥
छाया चउवारे बहू भति, सुद्ध फटकि दीसइ ससि कति ।
मर्गज मणि जाणो जडे किमाड, सोहै मोती वन्दन माल ॥१६॥
इक सौ वने धवल आवास, मठ मदिर देवल चउपास ।
चौरासी चोहट्ट अपार, वहुत भाति दीसइ सुविचार ॥१७॥
चहुदिस खाई गहिर गभीर, चहुदिस लहरि अकोलइ नीर ।
सो वासइ जाणियो, कोडिध्वज निवसहि वाणियो ॥१८॥

नारद आगमन :

निसुणि वरण रिनि मन
देह जगोनि सो ट टे मय
नहैं निगार रतिनाम क
[illegible]
[illegible] धर
सो [illegible] पाछेउ [illegible]

---

१ [illegible] मन्दिर जयपुर से ।

विपरित रूप रिपि दिखउ ताम, मन विसमादी सुन्दर वाम ।
देपि कुडीया कियउ कुताल, माति करन आयेउ वेताल ॥३१॥
वडो वार रिपि ढाढेउ भयउ, दुइकर जोडि रमणि सन कहियउ ।
उपनी कोप न सक्यो सहारि, तउ नारद रिसि चल्यो पचारि ॥३२॥
विणहु तूर जु णाव ण चलई, ताकहु तूर आण जु मिलई ।
इकु स्याली इकु वीछी खाई, इकु नारद अरु चल्यो रिसाइ ॥३३॥
नारद रिपि पण चल्यो रिसाइ, श्रीगिरि पर्वत वइठे जाइ ।
मन मा वइठयो चिन्तइ सोइ, कइसइ मान भग या होइ ॥३४॥

प्रद्युम्न-वियोग :

नित नित भीजइ विलपी खरी, काहे दुपी विधाता करी ।
इकु धाजइ अरु रोवइ वयण, आसू वहत न थाके नयण ॥१३६॥
की मइ पुरिप विछोहो नारि, की दव घालो वणह मझारि ।
की मइ लोग तेल घृत हरउ, पूत सताप कपण गुण परउ ॥१३७॥
इमि सो रूपिणि मनहि विपाइ, तो हरि हलहरु वइठउ आइ ॥१३८॥

प्रद्युम्न-कृष्ण युद्ध :

इहि मोसो वोल्यो अगलाइ, अव मारउ जिन जाइ पलाइ ।
उपनेउ कोप भई चित काणि, धनुप चढायेउ सारग पाणि ॥४०२॥
अर्धचन्द्र तिहि साधिउ वाण, अव या कउ देपिअउँ पराण ।
साधिउ धनुष उदीठउ वाम, कोपारूढ मयण भौ ताम ॥४०३॥
कुसुमवाण तव वोल्यो वयणू, धनु हरि छोनि गयउ मह महणू ।
हरि को चाप तूटि गो जाम, दूजिउ धनुप सचारेउ ताम ॥४०४॥
फुनि कद्रपु सर दीन्हेउ छोडी, वहइ धनुप गयो गुण तोडी ।
किसन कोप रण ध्यायउ जाम, रूपिणि मन अवलोकइ ताम ॥४०५॥
दऊ पआरे मेरो मरणु, जूझइ कान्ह परइ परदमणु ।
नारद निसुणि कहइ सति भाइ, अव या भयौ मीचु को ठाँइ ॥४०६॥
कोपारूढ कोप तव भयऊ, तीजउ चाप हाथ करीलयऊ ।
परमलइ वाण मयण तुजि चडिउ, सोउ वाण तूटि धर परउ ॥४०७॥
विष्णु सँभालइ धनहर तीनि, पिन परदमणू घालइ छीनि ।
हसि हसि बात कहै परदमनू, तो सम नाही छत्री कमणू ॥४०८॥
का पह सीख्यो पोरिस ठाउण, मो सम मिलहि तोहि गुरु कउण ।
धनुप वाण छीनेउ तुम्ह तणे, तेउ राषि न सके आपणे ॥४०९॥
तो पतरिछ मैं दीठेउ आज, इहि पराण तउ भुजिउ राज ।
फुनि परदमणू जपइ तास, जरासध क्यो मारिउ कास ॥४१०॥

अन्त :

पडित जन विनवउ कर जोरि, हउँ मति हीन म लावउ खोरि ।
अगरवाल कौ मेरी जाति, पुर आगरे माँहि उतपत्ति ॥७०२॥

सुघणु जननि गुणवइ उरिधरिउँ, सामहराज घरहिं अवतरिउँ ।
एरव नगर वसन्ते जाणि, सुणिउँ चरित मोहि रचिउँ पुराण ॥७०५॥
सावय लोग वसहि पुरमाहि, दस लक्षण' ति धर्म कराहि ।
दूसण माहि न दूजो भेउ, झावहि चित जिणेसर देउ ॥७०६॥

संवत् १६०४ वर्षे आसोज वदि मंगलवासरे श्री मूलसंघे ।
लिखायित श्री ललितकीर्ति सा चांदा, सा० सरणग सा ।
नाथू सा दशायोज्य दत्तं । श्रेयातु शुभामस्तु मांगल्य ददातु ।

हरीचन्द पुराण

कवि जाखू मणियार, रचना काल १४५३ सं०

शूलपाणि सत समरू गणेस, स्वर मडन मति देहि असेस ।
सिधि बुधि मति दे करउ पसाउ, ज्यु धुरि पयडो हरिचंद राउ ॥ १ ॥
ब्रह्मकुँवरि स्वामि स्वर माय, सुर किन्नर मुनि लागइँ पाँय ।
कियो सिंगार अलावण लेइ, हस गमणि सारद वर देइ ॥ २ ॥
सारद ढूवे कथ्यो पुराण, पावो मति बुधि उपनो जाँण ।
करूँ कवित्त मन लाँवो वार, सतहरिचन्द पयडो ससार ॥ ३ ॥
चौदह सै तिरपनै विचार, चैतमास दिन आदित वार ।
मन माँहि सुमिर्‍यो आदीत, दिन दसराहै कियौ कवीत ॥ ४ ॥
किस्न दीपायन भारथ कीयो, आस्रम छाँडि रिपि नीसर्‍यो ।
जनमेजय के रावलि गयो, भेट्यो राउ हरिपि मन भयो ॥ ५ ॥
किस्न द्वीपायन कहै सुभाव, पाँडव चरित मभाल्यो राव ।
सिर धुनि नरवै पूछा कान, एह बोल म सभल्यो आन ॥ ६ ॥
गोत्र वध्यो उणि मान्य कर्ण, उन त्रिसवासि वध्यो रण द्रोण ।
निर्‌णो रिपि यो केशव जाण, तिन्ह कौ कैसे सुणू पुराण ॥ ७ ॥

ऑचली

मूरिजवन राज सगवित्त, वन हरिचन्द न मेल्हो चित्त ।
सुणो भाव धरि जापू कहै, नामै पाप न पीडो रहै ॥ ८ ॥
भणै रिपेस्वर सभल्यो राय, सुचित्ता आय ।
जो तुम बाहुडि पूछो मोहि, किये न भारथ कहिहो तोहि ॥ ९ ॥

× × ×

पाल्यो राय निन्हहि मन भाव, कियो प्रणाम जो लाग्यो पाय ।
किस्न दीपायन रिता नव करा, बेगि माहि भारथ उच्चरी ॥ २२ ॥

जो प्रति पुस्तक में सुरक्षित, श्री अगरचन्द नाहटा के

वैषम्पायन शिष्य हकारि, किस्न दीपायन कहै विचारि ।
जन्मेजय भारथ सुणाव, ब्रह्म हत्या को फेरे पाव ? ॥ २६ ॥
भारथ सुणायो परव अठार, मिटी हत्या भयो जय जयकार ॥ २७ ॥

वस्तु

जाई पातिक सयल असेस
होइ धरम वहु, दुक्खं हॅणिज्जइ
देवप्रिया रन रभावतो ? एक लोह केम थूणीज्जइ
कृष्न दीपायन उच्चरइ जे यहि छन्द सुणन्तु
मनसा वाचा कर्मणा घोर पाप फीटन्तु

पत्नी-पुत्र वियोग

रोवइ कुँवर माइ मुह चाहि, मेलि मोहि चली कहाँ माइ ।
अवसि न चूकै जाइ पराण, फाटै हियो पसीयो थान ॥
रोहितास मन झुरै घणै, भागो लाभ वच्छ तोहि तणै ।
धरि वाहडी नीरालौ करइ, तब-तब वालक हो आगे सरइ ॥
कलीयल कोहल करै अति घणै, चोरन मेल्है माई तणै ।
मार्‌यो थाप पड्यो मुरझाइ, पडता साभल्यो वापरु माय ।
ध्रगु ध्रगु दुप पर्‌यो अतिदाह, जाणे चन्द्र मिल्यो जिमि राह ॥

रोहिताश्व की मृत्यु

विप्र पुछि वन भीतर जाइ, रानी अकली षरी विलखाइ ।
सुत सुत कहै वयण ऊचरइ, नयण नीर जिमि पाउस झरइ ॥
हा ध्रिग हा ध्रिग करै ससार, फाटइ हियो अति करइ पुकार ।
तोडइ लट अरु फाडइ चीर, देषै मुष अरु चौवै नीर ॥
दीठे पड्यो जीवन आधार, सूनौ आज भयौ ससार ।
धरि उछग मुष चूमा देय, अरे वच्छ किम थान न पेय ॥
दीपउ करि दीणेउ अधियार, चन्द विहुणि निसि घोर अंधार ।
वछ् छ विण गौ जिमि कार् हो आहि, रोहितास विणु जीवौं काहि ॥
तोहि बिणु मो जग पालट भयौ, तोहि विणु जोवतह मारउ गयौ ।
तोहि विणु मैं दुप दीठ अपार, रोहितास लायो अकवार ॥
तोहि विणु नयन ढलै को नीर, तोहि विणु सास ज्यो मुके सरीर ।
तोहि विणु बात न स्रवण सुणेइ, तोहि विणु जीव पयाणो देइ ।
तोहि विणु घडीय न रहतो बाल, रोहितास लायो अक्वाल ॥

वस्तु

नयण नीर झुरझुरइं अपार ।
श्रवण ताल कर कवल सूखइ, मरय हसउ सास मेल्है ॥
एक कुवर तोही तणै विसहर डस्यो पचारि ।
दइव अनास्तिक सिरजिय मन आपणह विचारि ॥

अंत
नगर अजोध्या भयो उछाह, पसू जाति लै चाल्यो राय।
प्रिय भगति घर कीजै घणी, परजा सुखी कीजै आपणी ॥
महत पुरिष ह्वै दीजौ मान, गुरू वचन कीजौ परमाण।
मेल्ही कुंवर चाल्यो हरिचंद, कचन पूरि भयो आणद ॥
पुहुप विवाण बैठि करि गयौ, हुयो बधावो आरती भयौ।
जिणि परिमिलियो वाप पूत अरु माय, तिणि परि मिलि यो सबको राय
एहि कथा को आयो छेव, हम तुम जयो नारायण देव ॥
इति श्री हरिचंद पुराण कथा, सम्पूर्ण

महाभारत कथा[1]

गोस्वामी विष्णुदास, रचनाकाल संवत् १४९२

विनसै धर्म किये पाखडू, विनसै नारि गेह परचडू।
विनसै राडु पढाये पाडे, विनसै खेले ज्वारी डाडे ॥ १ ॥
विनसै नीच तनै उपजारू, विनसै सूत पुराने हारू।
विनसै मागनौं जरै जु लाजै, विनसे जूझ होय विन साजै ॥ २ ॥
विनसै रोगी कुपथ जो करई, विनसै घर होते रन धरमी।
विनसै राजा मंत्र जु हीनू, विनसै नटकु कला विनु हीनू ॥ ३ ॥
विनसै मन्दिर रावर पासा, विनसै काज पराई आसा।
विनसै विद्या कुसिषि पढाई, विनसै सुन्दरि पर घर जाई ॥ ४ ॥
विनसै यति गति कीनै व्याहू, विनसै अति लोभी नर नाहू।
विनसै घृत हीनें जु अगारू, विनसै मन्दो चरै जटारू ॥ ५ ॥
विनसै सोनू लोह चढायें, विनसै सेव करै अनभायें।
विनसै तिरिया पुरिप उदासी, विनसै मनहिं हसे विन हासी ॥ ६ ॥
विनसै रूख जो नदी किनारै, विनसै घरु जु चलै अनुसारे।
विनसै खेती आरसु कीजै, विनसै पुस्तक पानी भीजै ॥ ७ ॥
विनसै करनु कहै जे कामू, विनसै लोभी व्योहरै दामू।
विनसै देह जो राचै वेश्या, विनसै नेह मित्र परदेसा ॥ ८ ॥
विनसै पोखर जामें काई, विनसै बूढो व्याहे नई।
विनसै कन्या-हर-हर हसयी, विनसै सुन्दरि पर घर वसयी ॥ ९ ॥
विनसै विप्र विन षट कर्मा, विनसै चोर प्रजा से मर्मा।
विनसै पुत्र जो वाप लडायें, विनसै सेवक करि मन भायें ॥१०॥
विनसे यज्ञ क्रोध जिहि कीजै, विनसै दान सेव करि दीजै।
इतो कपटु काहे को कीजै, जो पडो वनवास न दीजै ॥११॥

---

१ तिनहाट, जिला आगरा के श्री चौबे श्रीकृष्ण जी की प्रति से (खोज रिपोर्ट १९२९-३१, पृ० ६५३-५४)।

अहकार तें होई अकाजू, ऐसे जाय तुम्हारो राजू ।
हीनि कीनिहूँ है दिन मारी, जम दीसै नर वदन पसारी ।।१२।।

× × ×

किरपा कान्ह भयो आनन्द, जो पोपन समर्थ गोव्यद ।
हरि हर करत पाप सब गयो, अमरपुरी पाप सब गयो ।।२९४।।

अविचल चोक जु उत्तिम थान, निश्चल वास पाडवन जान ।
यकादशी सहस्र जो करै, अस्वमेध यज्ञ उच्चरै ।।२९५।।

तीरथ सकल करै अस्नाना, पडो चरित सुनै दै काना ।
वरिप दिवस हरिवस पुरान, गऊ कोटि विप्रन कह दान ।।२९६।।

जो फल मकर माघ अस्नाना, जो फल पाडव सुनत पुराना ।
गया क्षेत्र पिंड जो भरै, सूर्य पर्व गंगाजी करै ।।२९७।।

पडो चरित जो मन दै सुनै, नासै पाप विष्णु कवि भनै ।
एक चित्त सुनै दै कान, ते पावें अमरापुर थान ।।२९८।।

पडो कथा सुनै दै दानु, तिनको होय प्रयागै थानु ।
स्वर्गारोहण मन दै सुनै, नासैं पाप विष्णु कवि भनै ।।२९९।।

रामकृष्ण लेखक को लिखी, बाँचै सुणै सो होसी सुखी ।
श्री वल्लभ राम नाम गुण गाई, तिनके भक्ति सुदृढ़ ठहराई ।।३००।।

रुक्मिणी मंगल

(दोहा)

रिधि-सिधि सुख सकल विधि नवनिधि दे गुरुज्ञान ।
गति मति सुति पति पाईयत गनपति को धर ध्यान ।।१।।
जाके चरन प्रताप ते दुख मुख परत न डिठ ।
ता गज मुख सुख करन की सरन आवरे डिठ ।।२।।

(पद)

प्रथम ही गुरु के चरण बद्यत गौरो पुत्र मनाइये ।
आदि है विष्णु जुगाद है ब्रह्मा सकर ध्यान लगाइये ।।
देवी पूजन कर वर मागत बुध औ ज्ञान दिवाइये ।
ताते अति सुख होय अवे आनद मगल गाइये ।।
गौरा लक्ष्मी स्वुरुहा सरस्वति तिनको सीस नवाइए ।
चद्र सूर्य दोऊ गगा जमुना तिनको ते अति सुख पाइए ।।
सत महत की पग रज ले मस्तक तिलक चढाइए ।
विष्णुदास प्रभु प्रिया प्रीतम को रुकमनो मंगल बनाइए ।।

(राग गौरी)

गुण गाउं गोपाल के चरण कमल चित लाय ।
मन इच्छा पूरण करो जो हरि होय सहाय ॥
भीषम नृप की लाडली कृष्ण ब्रह्म अवतार ।
जिनकी अस्तुति कहत हौं सुन लीजै नर-नार ॥

(पद)

तुछ मत मोरी थोरी सी बौराई भाषा काव्य बनाई ।
रोम रोम रसना जो पाऊ महिमा वर्ण नहिं जाई ॥
सुर नर मुनि जन ध्यान धरत हैं गति किनहूँ नहिं पाई ।
लीला अपरंपार प्रभू की को करि सकै बडाई ॥
वित्त समान गुण गाऊ स्याम के कृपा करी जादोराई ।
जो कोई सरन पडे हैं रावरे कीरति जग मे छाई ॥
विष्णुदास धन जीवन उनको प्रभुजी से प्रीति लगाई ।

(रागिनी पूर्वी दोहा)

विदा होय घनस्याम जू तिलक करै कुल नारि ।
तात मात रुकमन मिली अँखियन आँसू डारि ॥
मोहन रुकमिन ले चलै पहुँचे द्वारका जाय ।
मोतियन चौक पुराय के कियो आरती माय ॥
आज बधाई बाजै माई वसुदेव के दरबार ।
मनमोहन प्रभु व्याह कर आए पुरी द्वारका राजै ॥
अति आनद भयो है नगर में घर-घर मगल साजै ।
अंगन तन में भूषन पहिरे सब मिलि करत समाज ॥
बाजे बाजत कानन सुनियत नौबत घन ज्यूँ बाज ।
नर नारिन मिलि देत बधाई सुख उपजे दुख भाज ॥
नाचत गावत मृदग बाज रग बसावत आज ।
विष्णुदास प्रभु को ऊपर कोटिक मन्मथ लाज ॥

(रागिनी धनासिरी दोहा)

पूजन देवी अम्बिका पूजत और गणेश ।
चन्द्र सूर्य दोउ पूज के पूजन करत महेश ॥
कुल की रीति सबु आइके बहुत करी जन सेव ।
मोहन रुकमिन देव के और पूजी कुल देव ॥

(—)

रुकमिन चरन सिरावै पिय के पूजी मन की आस।
जो चाही सो अम्वे पावो हरि पत देवकी सास॥
तुम विन और न कोऊ मेरो धरणि पताल अकास।
निस दिन सुमिरत करत तिहारो सव पूरन परकास॥
घट-घट व्यापक अन्तरजामी त्रिभुवन स्वामो सव सुखरास।
विष्णुदास रुकमन अपनाई जनम जनम की दास[1]॥

स्वर्गारोहण

(दोहा)

गवरी नन्दन सुमति दै गन नायक वरदान।
स्वर्गारोहण ग्रथ की वरणो तत्व वखान॥

(चौपाई)

गणपति सुमति देह आचारा। सुमिरत सिद्धि सो होइ अपारा।
भारत भाषौ तोहि पसाई। अरु सारद के लागौ पाई॥
अरु जो सहज नाथ वर लहहूँ। स्वर्गारोहण विस्तर कहहूँ।
विष्णुदास कवि विनय कराई। देहु बुद्धि जो कथा कहाई॥
रात दिवस जो भारथ सुनई। नाषै पाप विष्णु कवि भनई।
यौं पाडव गरि गये हेवारै। कहौ कथा गुरु वचन विचारै॥
दल कुरुखेतहिं भारत कियौ। कौरव मारि राज सब लियौ।
जदुकुल में भयै धर्म नरेसा। गयो द्वापर कलि भयो प्रवेसा॥
सुनहु भीम कह धर्म नरेसा। बार बार सुन ले उपदेशा।
अब यह राज तात तुम लेहू। कै भैया अर्जुन कह देऊ॥
राज सकल अरु यह ससारा। मैं छाडौं यह कहै भुवारा।
बन्धु चार ते लये बुलाई। तिनसो कहीं बात यह राई॥
लै लै भूमि भुगतु बरबीरा। काहे दुर्लभ होउ सरीरा।
ठाढ़े, भये ते चारो भाई। भीमसेन बोले सिरनाई॥
कर जुग जोरे विनई सेवा। गयो द्वापर कलि आयो देवा।
सात दिवस मोहिं जूझत गयऊ। टूटी गदा खड द्वै भयऊ॥
हारो युद्ध न जीतो जाई। कलि जुग देव रह्यो ठहराई।
इतने वचन सुने नरनाथा। पाचो बधे चले इक साथा॥
नगर लोक राखें समुझाई। मानत कह्यो न काहु की राई।
कचन, पुरी सु उत्तम ठाऊ। तहा बसै पाडव को राऊ॥

× × ×

---

१ गडवापुर, जिला सीतापुर के प० गणपतलाल दूबे की प्रति से (खोज रिपोर्ट १९२६–२८, पृष्ठ ७५९–६०)।

एकादशि व्रत यो मन धरई । अरु जो अश्वमेध पुनि करई ।
तीरथ सकल करै अस्नाना । सो फल पाडव सुनत पुराना ।।
वर्ष द्वैस हरिवश सुनाई । देइ कोटि विप्रन कौं गाई ।
गया मध्य को पिन्ड भराई । अरु फट कर आचमन कराई ।।
सूर्य पर्व कुरु खेत नहाई । ताको पाप सैल सम जाई ।।
स्वर्गारोहण मन दै सुनई । नासे पाप विष्णु कवि भनइ ।
वित उनमान देहि जो दाना । ताको फल गगा अस्नाना ।।
यह स्वर्गारोहण की कथा । पढत सुनत फल पावै जथा ।
पाडव चरित जो सुनै सुनावै । अन्न वन्न पुत्रहि फल पावै ।।

(दोहा)

स्वर्गारोहण की कथा पढै सुनै जो कोइ ।
अष्टदशो पुराण को ताहि महाफल होइ ।।[1]

स्वर्गारोहण पर्व

और जो जब सुन विस्तार कहै । कहत कथा कछु अछल है ।।
ताही समै हसि बोलै जगदीसा । पाचो वीरहि वरु घीसा ।
तुम जिन हथिनापुर ठहराहू । पाचो वीरहि वारै जाहू ।।
तुम जिन वीर धरौ सदेहू । पूरब जन्म लहौ फल एहू ।
सुनि कौंता बिलखानी वैना । जल थल रूप भये ते नैना ।।
जा धरती लगि भारथ कीना । द्रोवाण गगे वेंपी लीना ।
कमल फूल सेइ रमझारो । सो भैया घाले सिघारी ।।
मारै कर्न सक्ति सजूता । से घर छाडि चले अब पूता ।
धरिति छाटि सर्ग मन धरिया । इतनो सुनी कौंता लरखरिया ।।
बिलखि परीछित राखि समझाई । वैठे राज प्रजा प्रतिपाला ।
राज सहदेव नकुल कौं देहूँ । हमको सग आपने लेहू ।।
तुमे छाडि मोपै रह्यो न जाई । साथ तुम्हारे चलिहौं राई ।
इतनो सुनि बोले नरनाथा । जुगति नही चलो तुम साथा ।।

× × ×

कायापरन्ट नई उन देहा । पिछलौं उनको नाहि सनेहा ।
उनकी नाहिन सुरति तुम्हारी । अब तुमहि कौं धर्म द्वै चारी ।।

कलि खोटी सुरपति जहाँ कहिया । ताको पास छाडिते रहिया ।
देव दृष्टि उन भये सरीरा । तुम्हें नाहिं पहचानत बीरा ।।
कलियुग देव पाप की रासी । साध लोग छाडेंगे जासी ।
कलि में ऐसी चलिहैं राई । जाति बडी बिस्वा घर जाई ।।
और कही सब कलिके भेवा । कहत सुनत जग बीती देवा ।
ब्रह्मकुंड तुम करो अस्नाना । और अचयो तुम अमिरत पाना ।।
देव गननि के वन्दो पाई । मुनि नारद को जाहुँ लिवाई ।
अब तुमको पहिचानिहैं राई । देखत चरन रहे लपटाई ।।
तुव चरनन में माथो लावै । ऐसो इन्द्र जू कहि समुझावै ।।

लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा

कवि दामो, रचनाकाल १५१६ संवत्

(प्रारम्भ)

श्री श्री गणपति कुलदेव्याया नम
सुनउ कथा रस लील विलास, योगी मरण राय वनवास ।
पदमावती बहुत दुख सहइ, मेलउ करि कवि दामउ कहई ।।१।।
कासमीर हुँती नीसरइ, पचन हूँ सत अमृत रस भरइ ।
सुकवि दामउ लागइ पाय, हम वर दीयो सारद माय ।।२।।
नमु गणेस कुंजर सेस, मूसा वाहन हाथ फरेस ।
लाडू लावण जस भरि थाल, विघन हरण समरुँ दुदाल ।।३।।
सम्वतु पनरह सोलोत्तरा मझारि, जेष्ट वदी नवमी बुधवार ।
सप्त तारिका नक्षत्र दृढ जाणि, वीर कथा रस करूँ वखाण ।।४।।
सरस विलास कामरस भाव, जाहु दुरीय मनि हुऊ उछाह ।
कहइति कोरत दामो कवेस, पदमावती कथा चिहुँ देस ।।५।।
सरसति आयसि दीवउ जाम, रच्यउ कवित कवि दामह ताम ।
लक्षण छंद गूढ़ का भाई, तेह ज दीउ हरिष करि माई ।।६।।
सिधनाथ योगी भो जाम, हीडउ घर पुरु पाटण गाम ।
खापर कातो करि लइ डंड, इहि परि फीरइ सिद्ध नव खंड ।।७।।
गढ सामौर हंस तिहाँ राय, योगी उपमि गयो तिमि ठाय ।
सबद घालइ सो जषन जाई, पदमावती दीठउ तिहि ठाय ।।८।।
ससि वयणी नितु अमृत स्रवइ, पूछइ सिंधु कुमरि ढिग जाय ।
कइ तु वरणी कइ कुआरी अछइ, योगी कह त्रिसासण पछइ ।।९।।
एक उतर सउ नखइ वहइ, सो मो वरइ कुमरि इमि कहइ ।
वचन प्रमाण हीयइ दृढ़ लीय, धन-धन हंस राय की धीय ।।१०।।

१. बीकानेर के श्री अगरचन्द नाहटा के पास सुरक्षित प्रति से ।

एकोतर सउ नरवइ मरइ, तउ कुमरीय सयंवर वरइ ।
सुणयो वचन योगी तिहि ठाय, सिधिनाथ विमायण भाय ॥ ११ ॥

(वस्तु)

दिढ योगी दिढ योगी रूप बेर जरि त घूम विघरणी परयो मनि मूकी
चल नयनी ससि घटी वचन देहु नहु जीभ सूकी ।
तप जप सजम सहु रह्यो, नयन वाण कियो मारि ।
एक उतर सउ नर वहई सो नर परणइ नारि ॥ १२ ॥

(चौपाई)

एतउ कहि पदमावती जाई, जोगी पहुँचो पुहवी आई ।
करइ आलोच मरम आपणा, पुण लागे नखइ देखणा ॥ १३ ॥
योगो सिधनाथ तिण ठाइ, सुरग दीठी निण कूआँ माँहि ।
गढ सामउर हस की बाल, तिणि कारण नर भरइ भूपाल ॥ १४ ॥
चन्द्रपाल भड सहास धीर, आण्यउ चण्डसेन वर बीर ।
आण्यउ अजयपाल घरवाल, हल हमीर आण्येउ हरपाल ॥ १५ ॥
डडपाल घर आण्यउ वली, ग्रह करि घाल्यउ कूआँ नली ।
सहसपाल सामन्त सी भेव . .. ..

(अन्त)

हसराय राणी प्रति कहइ, पदमावती उछंग लेइ रहइ ।
धीर हीर नेउर झुणकार, पदमावती करइ शृंगार ॥ ५५ ॥
दूजी चन्द्रावती सू जाण, राजा लखमसेन अगेवाण ।
पाट वइमाणी अचल जोड, तव हरख्यो तेत्रीसउ क्रोड ॥ ५६ ॥
हसराय घरि विधि आचार, घरि बाध्यो तोरणिवार ।
दोइकर जोडी बोलइ राय, अम्ह लखणउती देहु पठाय ॥ ५७ ॥
इन बोलइतब हरख्यो राय, हय गय वर दीन्हो पलणाय ।
दोधो पेई भरीय सजूत, मणि माणिक आनीयो बहूत ॥ ५८ ॥
सासू सुहारण चाल्यउ राय, घोय उटग वगो छइ माय ।
लखमसेन चाल्यउ ततखणा, नयरि लोक मिलि चलीया छणा ॥ ५६ ॥
दोइ राजा मिलिया तिणि काल, नयन नीर वहइ असराल ।
हसराय पाछो वाहुडि गयो, लखमसेन पयाणउ कीयउ ॥ ६० ॥

मिल्यो महाजण राजा तणा, नयर देस म उडउ धाघणा ।
बाप पूत अर धीय कुमारि, लखमसेन भेट्यो तिहि वार ।। ६४ ।।
भणइ प्रधान स्वामी अवधारि, काइ देव रहियो इणवार ।
योगी सरिसउ मइ दुख सहयउ, घाल्यउ कथा कष्ट भोगयउ ।। ६५ ।।
गढ सामउर रहइ छइ राय, तात धीय परणी रण माहि ।
पछंइ कपूर घार हूँ गयउ, चंद्रावती वीवाहण लियउं ।। ६६ ।।
अब आयउं लखणौती राय, कुटुब सहित हूँ मिलीयो माय ।
लखमराय तणउ सयोग, सुणउ कथा या परिमल भोग ।। ६७ ।।
अतरी सयल सहज सुभाइ, रमइ जेम लखणउती राय ।
षायो पीउ नीतु विलस्यउ भोग, साभलइ तेह नइ नही वियोग ।। ६८ ।।
ईखइ ठाइ जे अपाइ दान, मातु पिता तसु गग सनान ।
हाथ उचाइ दान जो दीयइ, ते बासउ वइकुठा लीयइ ।। ६९ ।।
सुणइ कथा जे आवइ दान, गाइ दक्षिणा अर कापड पान ।
वीर कथा सभलइ जे रली, नहि वियोग नही एको घडी ।। ७० ।।
हरि जल हरि थल हरि पयालि, हरि कसासुर बधोयो बालि ।
दैत्य स्यघारण त्रिभुवन राय, सुरताजै वैकुठा ठाइ ।। ७१ ।।
ईगुणीस विस्वा एक न राज, रचइ कवित कवि दामउ साच ।
इणी कथा कउ योही विरतत, हम तुम्ह जयउ गवरि कउ कत ।।७२।।

ईती श्री वीर कथा लसमसेन, पद्मावती सपूर्ण समाप्ता ।। सवत् १६६९ ।।
वर्षे .... लिषत फूलसेडा मध्ये ।

बैताल पचीसी[1]

मानिक कवि, रचनाकाल संवत् १५४६, स्थान ग्वालियर

(चौपही)

सिर सिदूर वरन मैमत । विकट दन्त कर फरसु गहन्त ।
गज अनन्त नेवर झकार । मुकट चन्दु अहि सोहै हार ।।
नाचत जाहि धरनि धसमसे । तो सुमिरन्त कवितु हूलसे ।
सुर तेतीस मनावैं तोहि । 'मानिक' भनै बुद्धि दे मोहि ।।
पुनि सारदा चरन अनुसरो । जा प्रसाद कवित्त उच्चरो ।
हस रूप ग्रथ जा पानि । ताको रूप न सको बखानि ।।
ताकी महिमा जाइ न कही । फुरि फुरि माइ कद भा रही ।
तोपसाइ यह कवितु सिराइ । सा सुवरनो विक्रम राइ ।।

× × ×

---

१ कोसीकला, जिला मथुरा के प० रामनाराणजी की प्रति से (खोज रिपोर्ट १९३२-३४, पृ० २४०-४१) ।

सुनै कथा नर पातग हरै । ज्यौ वैताल बुद्धि बहु करे ।
विक्रम राजा साहस करे । कह 'मानिक' ज्यो जोगी मरे ॥
सवत् पन्द्रह सै तिहिकाल । ओरु बरस आगरी छियाल ।
निर्मल पाख आगहनु मास । हिमरितु कुम्भ चन्द्र को वास ॥
आठे ओसु वार तिहि भानु । कवि भाषै वैताल पुरानु ।
गढ ग्वालियर थानु अति भली । मानुसिह तोवरु जा बली ॥
सघई खेमल वीरा लीयो । 'मानिक' कवि कर जोरें दीयो ।
मोहि सुनावहु कथा अनूप । ज्यौं वैताल किये बहु रूप ॥

× × ×

काइथ जाति अजुध्या वासु । अमऊ नाऊ कविन को दासु ।
कथा पचीस कही वैताल । पोहोचो जाइ भीव के पताल ॥
ताके वस पाचइ साख । आदि कथनु सो मानिक भाखि ।
ता 'मानिक' सुत सुत को नदु । कविता वन्त सुननि को वदु ॥
जैसे भाटु छल्यौ पाताल । ज्यो माग्यो विक्रम भुवाल ।
जैहि विघि चित्ररेख वस करी । ओरु आपनी आपदा हरी ॥

× × ×

मति ओछी थोरी ग्यान । करी बुद्धि अपने उनमानु ।
अछर कटे होइ तुक भग । समझो जाइ अर्थ को अंग ॥
जहा जहा अनमिली बात । तह चौकस कीजो तात ।
जो पढि है वैताल पुरानु । ओरु सत सुनि दैहै कान ॥
तिनि के पुत्र होहि धन रिघि । ओरु सहस्र जिती सब सिघि ।
कर जोरैं भाये सावन्तु । जै जै कृश्नु सत को तंत ॥
विक्रम कथा सुनै चित कोइ । कायरु सो नर कबहू न होइ ।
रात साहसु पुरषारथ धरे । जो यह कथा चित अनुसरे ॥
सो पण्डित कवि होइ अपार । वानी बुद्धि होइ विस्तार ॥

छिताई वार्ता[1]

कवि नरायन दास कृत, रचनाकाल संवत् १५५० के आसपास

आरन के पाच पत्र नष्ट हो गए हैं

सुमरि गनेस [illegible]नो, लागो बुधि रचन आपनी ।
प्रथम रचो [illegible], चकित चित्त जिमि होइ अनूप ॥१२०॥
नैषधि निरखनि [illegible] सयोग, नल दमयन्ती तणो वियोग ।
भारथ [illegible] चित्रयो, मृगया महामनोहर कीनो ॥१२१॥
[illegible] और योगमो भांति, चारि प्रकार नारि की जाति ।
[illegible] चित्रनि महा मनोहर बनो ॥१२२॥

अरु गज षर नषर-सुवार, चारि पुरुप चहू आकार।
कवियन कहै नरायन दास, जब लागौ चित्रन आवास ॥१२३॥
देखन लोग नगर को जाई, चितइ चित्र तन रहइ भुलाई।
जेता पंडित चतुर सुजाण, तहि आवैं देपइ दिन मान ॥१२४॥
एक दिवस को कहन न जाइ, छजइ छिताई उझुकइ आइ।
दामिन जूं सुन्दरि दुरि गई, देषि चितेरौ मुरछा भई ॥१२७॥
रहौ चितेरौ मनहि लगाइ, वहुरि न कवही झकइ आइ।
जब जब सूनो होइ अवास, तब तब देखनि आवइ वास ॥१२८॥
गैं कत दिन निरखैं वारि, रचि रचि राग सवारि सवारि।
काम विथा तन खरी उदास, आई देखन चित्र अवास ॥१२९॥
गज गति चली मदन मुस्काइ, सखी पाच लइ साथ लगाइ।
देखन चली चित्र की सार, लिखो चित्र जहा विविध प्रकार ॥१३०॥
लिषति चितेरे दीनी पीठ, तिह नेवर सुनि फेरी दीठ।
कहौ छिताई कौ मुह जोइ, इहैं रभा कइ अपसर होइ ॥१३१॥
देषति फिरति चित्र चहुँ पासि, वीन सबद सुनि श्रवन निवास।
देखी कोक कलाति षान्ति, चउरासी आसन की भाति ॥१३२॥
आसन देखत खरी लजाइ, अचल मुख दीन्हेउ मुस्काइ।
सखी दिखावइ वाह पसारि, कहौ काहि अहु कहो विचार ॥१३३॥
देषै चित्र सुरत विपरीत, बाल भरम भयौ भयभीत।
देखौ नाटक नाटारभ, लिखो चित्र चउरासी खभ ॥१३४॥
चतुर चितोरे देषी तिसी, करि कागज महि चित्री तिसी।
चितवनि चलनि मुरनि मुसक्यानि, चतुर चितोरे चित्री वानि ॥१३५॥
सुन्दरि सुघर सुघर परवीन, जोवन जानि बजावइ वीन।
नाद करत हरि कौ मन हरई, नर वापुरा कहा घु करई ॥१३६॥
इक सुन्दर अरु सवन शरीर, मिश्री मिश्रित भो जिमि षीर।
इकु सोनो इकु होइ सुगन्व, लहइ परस प्रिया गह कघ ॥ १३७॥
चित्र देषि वहुरी चित्रनी, आलस गति गयद गुर्वनी ॥१३८॥
कवियन कहै नरायन दास, गई छिताई वहुरि अवास।
पहिरौ अग कुसुवी चीर, गोर वर्न अति सुवन सरीर ॥१४०॥
कुच कचुकी सो सोहइ स्याम, मनहू गूदडी दोन्ही काम।
मृग चेटवा लगाए साथ, आपन लए हरे जो हाथ ॥१४१॥
तिन्हहिं चरावति वाह उचाइ, कुच कचुकी सद तिह जाइ।
तब कुच मोरि चितौरे देष, काम घटा जनु ससि को रेख ॥१४२॥

अन्त

श्री संवत् १६४० वर्षे माघ वदि ९ दिन लिषत। वेला करमसी। साह राम जी पठनार्थं शुभम् भवतु]।

पंचेन्द्रिय वेलि[1]

कवि ठक्कुरसी, रचनाकाल १५५०

दोहड़ा

वन तरुवर फल खात, फिऱ्यो पइ पीवतो सुछिन्द ।
परसण इन्द्रिय पऱ्यो सो, वहु दुप सह्यो गयन्द ॥ २ ॥
वहु दुप सह्यो गयन्दो, तइ होइ गई मति मन्दो ।
कागद कुंजरि को काजै, पडिखा सक्यो नहि भाजै ॥ ४ ॥
तेइ सही घणो तिस भूपा, कवि कौण कहै वहू दूषा ।
रखवालण वल गयो जाणो, वेसासि राइ घर आणो ॥ ६ ॥
वधे पग साकल घाले, त्यो कि वै सकइ न चाले ।
परसणे पऱ्यो दुप पायौ, नित आकुस छावा घायौ ॥ ८ ॥
परसण रस रावण नामो, मारियो लक श्री रामो ।
परसणि रस सकर राच्यौ, तिय आगे नट् ज्यो नाच्यौ ॥ १० ॥
परसणि रस कीचक पूऱ्यौ, गहि भीम सिला तल चूऱ्यौ ।
परसणि रस जे नर पूता, ते सुरनर घणा विगूता ॥ १२ ॥

दोहड़ा

केलि करन्तो जन्म जलि, गाल्यो लोभ दिपालि ।
मीन मुनिप संसार सर सो काढ्यो धीवर कालि ॥ १४ ॥
सो क.ढ्यो धीवर कालि, हि गालो लोव दिपालि ।
मछि नीर गहीर पईटै, दिठि जाइ नही तिहि दीठै ॥ १६ ॥
इहि रसना रस के घालें, थल आइ मुवे दुप सालें ।
इहि रसना रस के लीयो, नर कौण कुकर्म न कीयो ॥ १८ ॥
इहि रसना रस के ताई, नर मुसै वाप गुरु भाई ।
घर फोडै मारै वाटा, नित करै कपट घन घाटा ॥ २० ॥
मुपि झूठ साच वहु वोलै, घरि छोडि देसाउर डोलै ।
इहि रसना विषय अकारो, वसि होई औगनि गारो ॥ २२ ॥
जेहि हर विपै वस कीयो, तहि मुनिप जनम फल लीयो ।
जिन जहर विपै वस कीते, तिन्ह मुनिप जनम विगूते ॥ २४ ॥

दोहड़ा

जब उगै लौ रवि भलो, सरवरि विकसैलो कवलो ।
नीसरिस्यो इ तब छोडि, रस लैस्यो आइ वहोडि ।। ३० ।।

यो चितवत ही गज आयौ, दिनकर उगिवा नहि पायौ ।
जल पैठि सरोवरि पीयौ, नीसरत कमल षुडि लीयौ ।। ३२ ।।

गहि मुडि पाव तलि चवियौ, अलि मरिगो थरहरि कपियो ।
इहि गध विषै छै भारी, मन देष्यो मूढि विचारी ।। ३४ ।।

इहि गध विषै वस हूआ, अलि ज्यो उन घुटि मूआ ।
अलि मरण कारण दिठि दीजै, अति गध लोभ नहु कीजै ।। ३६ ।।

दोहड़ा

नेह अथागल तेल तसु वाती वचन सुरंग ।
रूप ज्योति पर त्यजहि सो पडहित पुरुष पतंग ।। ३८ ।।

सो पडहित पुरुष पतगो, पडि दीवै दहतो अगो ।
पडि होइ जहा जिव पाषै, मूरखि दीठि ऐंचि न राखै ।। ४० ।।

दिठि देषि करै नर चोरी, दिठि लष्षि तकै पर गोरी ।
दिठि देषि करै नर पापो, दिठि देषि परै सतापो ।। ४२ ।।

दिठि देषि अहल्या इदो, तन विकल भई मति मदो ।
दिठि देषि तिलोत्तम भूल्यो, तप तप्यो विधाता डोल्यो ।। ४४ ।।

ये लोइन लम्पट झूठा, बरज्यो तैं होइ अपूठा ।
जिन नैनन होइ वस क्रीता, ते मानुष जनम जूगोता ।। ४६ ।।

ज्यो वरज्यो त्यो रस वाया, रग देषे अपने भाया ।
ये नैन दुवै वसि राषै, सो हरत घरत सुष चाषै ।। ४८ ।।

दोहडा

वेगि पवन मन सारि कै सदा रहै भयभीत ।
वधिक वाण मारै मृगी, काणि सूणन्तो गीत ।। ५० ।।
यौं गीत सुणन्तो काणि, मृग खड्यो रहै हैरानि ।
धनु षैंचि वधिक सर हन्यो, रस वोध्यो वाण न गिन्यो ।। ५२ ।।
यो नाद सुणन्तो सायो, विल छोडि नीसरो आयो ।
पापी घरि घालि फिरायौ, फिर फिर दिन दुष्षि दिषायौ ।। ५४ ।।
कोदरी नाद रगु लागै, जोगी होइ भिक्षा मागै ।
सो रहै नही समझायौ, फिरि जाइ घर घर आयौ ।। ५६ ।।
इ ना दर तणु रग्यो ऐसो, यो महा विषे जगि जैसो ।
इ नाद जकै भारी भीलिया, नर नारी वानै मीलिया ।। ५८ ।।
इ नाद जकै रगि रातौ, मृग गिणै नहि जिव जातौ ।
मृग याव उपाइ विचारै, अति सुवणो नाद निवारै ।। ६० ।।

दोहड़ा

अलि गज भीन पतग हरिन एक एक दुप दीय।
न्या इति ? मैं मैं दुप सहैं जेहि वस पञ्चम कीय ॥६२॥

ए जेहि वस पञ्चम किरिया, ये पलु इन्द्रिन ओगुन भरिया।
जे जप तप मयम खोयी, सुकृत सलिल समोयौ ॥६४॥

ये पञ्च वसैं इक अगे, ये अवर अवर ही रगें।
चपि चाहै रूर जो दीठो, रसना रस भावै मीठो ॥६६॥

अति न्हाले घ्राण सुगधो, कोमल परसन रस वधो।
अति स्रवण गीत जो हरैं, मनो पच पापी फिरैं ॥६८॥

कवि घेल्ह सुजण गुण गावो, जग प्रकट ठकुरसी नावो।
तो वेलि सरस गुन गायो, चित चतुर मुरख समझायौ ॥७०॥

सम्वत पन्द्रह सो पचासी, तेरह सुदि कातिग मासो।
इ पाचो इन्द्रिय वस राखै, सो हरत घरत फल चापै ॥७२॥

इति पचेन्द्रिय वेलि समाप्त। सवत् १६८८, आसोज वदि दूज, सुक्रवार लिखितम् जोता पारणी, आगरा मध्ये।

रासो, लघुतम संस्करण का गद्य

चन्दवरदाई, रचनाकाल १५५० संवत् के पूर्व

९ वार्ता—हिव चन्द वरदायी कहै ।

१०. वार्ता—तब चाद बोल्यउ ।

११ वार्ता—हिव राजा प्रिथीराज चाद सूं कहतु हइ।

१२ वार्ता—सावंत टारियन लागे, कुण-कुण ?

१३ वार्ता—राजा प्रिथीराज चालता शकुन होइत हइ ।

१४ वार्ता—राजा कूं इह उतकठा भयी, साव ।न की पाछिली आसा गयी, राजा नै आइस दीन्हो जे ठाकुर पगुराय प्रगट है ताकी आधीन हुइ के रूपे दुरावो, वाकी कैस रूप ही साथि आवउ । सामतनु मानिया निसा जुग अेवा रजनी।

१५. वार्ता—राजाइ गगा जाइ देखी ।

१६ वार्ता—राजा स्नान कीयो, सावत ने स्नान कीयो, तब राजा गगा को समरनु करत है ।

१७ वार्ता—तब लगि अरनोदय भयो । गगोदक भरिवै के निमित्त आनि ठाढी भयी, मानो मुकति तीरथ अरु की तीरथ दोऊ सकीरन भये, या जानियतु है ।

१८. वार्ता—ते किसी–अके पनिहारि है ?

१९ वार्ता—अबहि नगर देखत है ।

२० वार्ता—चाँद राजा के दरबार ठाढो रह्यो ।

२१ वार्ता—राजा ने पूछ्यो-दड आडबरी भेखधारी सु कव्वी च्यारि प्रकार भट्ट प्रवर्ततु है, देखो घीं जाइ इनमें को है ।

२२ वार्ता—छहै भाखा नो रस चाँदु कहतु है ।

२३ वार्ता—अब चाँद भाट राजा जैचद को वर्णवतु है ।

२४ वार्ता—देख्यो अे भवस्यत् दरिद्र को छत्रु लिये फिरै चौहान को बोल याकै मुहि क्यो निकसें ।

२५ वार्ता—राजा पूछइ ते चद ऊत्तर देत हइ ।

२६ वार्ता—देखे भलो भाट है, जाको लून-पानि खात है ताको पूरउ बोलत है, राजा मनि चितवत है ।

२७. वार्ता—चाँद को पान देवै कै ताँई राजो उठि धवलग्रिहा कूँ आइ ।

२८. वार्ता—ता खवास की दासी सुगन्धादिक तबोलादिक घनसार म्रिगमद हेम—सपुट रतनहि जटित ले चली । सु कैसी है।

२९ वार्ता—राजा अनेक हास्य करन लागे, अनेक राजान के मान-अपमान सगि अँवर तै दिनयर अदरसै ।

३० वार्ता—अहनिसा तो राओ जोग वीवाही लिखा पागुरहि क्यो जाती है ?

३१ वार्ता—पात्र-नाम । दर्पकागी, नेह चगी, कुरगी, कोकाक्षी कोकिलरागी, से भागवानी अंगाल लाज डोल अके बोल अमोल पुष्फाजुली पगासिर आइ जयति विय कामदेव ।

३२ वार्ता—राजा कइसी नीद विसारि ।

३३ वार्ता—रात्र गते थे, राजा अर्क सो देखियतु है ।

३४. वार्ता—राजा आइसु दियो, ते गोज सोघा चहुवान को भट्ट आयो है, ताहि इतनौ दिज्यो ।

३५ वार्ता—राजा प्रिथीराज कनवजहि फिरि आवतु हइ, इतने सामंतन सूँ पगु राजा को कटकु सज्ज होई लरतु है।

३६ वार्ता—अे तो राजा कूँ सुख प्रापत भयो, सावतन को कुण अवस्था हइ।

३७ वार्ता—तउलूँ राजा भाव देखइ, जेसो मदोमस्त हस्तो होइ।

३८ वार्ता—राजा कहै—सग्राम विसै स्त्री विवर्जित है।

३९ वार्ता—राजा प्रिथीराज कोऊ बाँधत है, अमरावली छद इही बाँचीइ।

४०. वार्ता—पहिली सामत सूर झूझे तिनके नाउँ अरु वरणतु कहतु है।

४१ वार्ता—अेते कहे तैसुनिकार दासी आइ ठाढी भइ।

४२. वार्ता—राजा प्रिथीराजा के सेना कहतु हैं।

४३ वार्ता—विरदावली किमो दीन्ही।

४४ वार्ता—इतनी बात सुणते तातार खाँ, रुस्तम खाँ, माय खाँ, विहद खाँ, अे चारि खान सदर वजीर आनि खरे होइ अरदास करी।

४५. वार्ता—हम तमासगीरहा, भाइ वेहु जब खाहु वसी इमके साहिब जू दास हत्थ राखि गल्ही कराउ। राज छइ दिखाउ किस्यो देख्यो।

४६ वार्ता—राजा है समस्या माहि आसीर्वाद दीन्हउ।

४७. वार्ता—सुरतान जलालसाह की दोहितीन फुरमान भइ दिउँगा।

४८. वार्ता—चद फुरमाण माँगिवे-कूँ जाइ-गोरी बादसाहि। प्रिथीराज फुरमाण मागइ। तबहि फुरमाण देवे कूँ बादिसा ह हजूर हुउ, तब चाँद राजा, सूँ कह्यो राजा प्रिथीराज। सब देस्वर सुरताण सइमुख फुरमाण देव हइ।

भगवत गीता भाषा[1]

थेघनाथ, रचनाकाल १५५७ संवत्, स्थान ग्वालियर

चौपाई

नारद कहु बन्दो करि जोर। पुनि सिमरी तैंतीस करोर।
रामदास गुरु ध्याऊँ पाइ। जा प्रसाद यह कवितु सिराइ ॥१॥
मढ़िनि को है विष वल्लरी। गुनियनि को अम्रति मजरी।
थेघनाथ अम्रत विस्तरै। विनती गुनी लो सो करै ॥२॥
आगि माहि जारियै स्वर्न। बुरे भले को लीजे मर्म।
तैसें मत [illegible] तुम जानि। मैं जु कथा यह रही बखानि ॥३॥
पन्द्रह सै सत्तावनि जानु। गढ़ गोपाचल उत्तम थानु।
नग्रमाहि नित दुर्ग तिरिंदु। मनु अमरावती सोहै इंदु ॥४॥
[illegible] व पुन सो पुन [illegible]। जमुना गम्वन को अवतरो।

जीभ अनेक सेष ज्यौ धरै । सो थुत मानस्यघ की करै ।
ताकै राज धर्म को जीन । चले लोक कुल मारग रीत ॥६॥
सबहो राजनि माहि अति भलै । तोवर सत्य सील ज्यावलै ।
ता घर भान महा भटु तिसै । ह्यनापुर महि भीपम जिसे ॥७॥
पाप परहरै पुनहि गहै । निस दिन जपतु क्रश्न कहु रहै ।
सर्व जीव प्रतिपालै दया . मानु निरदु करै तिहि मया ॥८॥
ग्यानी पुरुषनि मैं परिधान । एकहि सदा जस्यसी भानु ।
दयावत दाता गभीरु । निर्मल जनु गगा को नीरु ॥९॥
जौ बृह्मा गरुवै गुन जागु । तौ गुन तत जोग मनु लश्गु ।
जै रुप मगद द्रिढ व्रतु लहै । जौ द्रिढ सरु जुघि स्थिर गहै ॥१०॥
स्वामि धर्म यौं पारे भानु । जा सम भयो न दूजो आन ।
सब ही बिथा आहि बहूत । कीरतसिंघ नृपति कै पूत ॥११॥
षट दरसनि के जानै भेव । मानै गुरु अरु ब्रह्मनु देव ।
समुद समानि गहरुता हियैं । इक वृत पुत्र बहुत तिह कियै ॥१२॥
भलै बुरे को जानै मर्म । भानु कुवरु जनु दूजौ धर्म ।
इहि कलयुग मैं है सब कोई । दिन दिन लोभ चौगुनो होई ॥१३॥
अनु धनु जनु गाडित तिन गयौ । पै वै क्यौं हूँ साथ न भयौ ।
इतौ विचारु भान सब कियौ । त्रिभुवन माहि बहुत जस लियौ ॥१४॥
भानु कुँवर गुन लोगहि जिते । मोपे वर्नें जाहि न तिते ।
जीभ अनेक जु प्रानी होई । याके जसहि वखानै सोई ॥१५॥
कै आइबुंल होइब घने । वरनै गुन सो भानहि तनै ।
कै सारद कौ दरसनु होई । आदि अत गुन वरनै सोई ॥१६॥
थेघू इन मै एकै लहै । ऊची बुद्धि करि चहु गुन कहै ।
सौ जीगना सूर समय होई । तौ गुन बरनि कहै सब कोई ॥१७॥
जावैं सायर पैरयो परै । सो गुन भान तनै बिसतरै ।
अगनित गुन ता लहै न पारु । कल्पवृक्ष कलि भानु कुमारु ॥१८॥
कल्पवृक्ष की साखा जिती । गढ़ि करि लेखन कीजै तिती ।
कागद तहाँ धरन को होई । पर्वतु जौ काजर कौ होई ॥१९॥
फुनि सारद करि लेखन लेई । ।
लिखन ताहि भान गुन ताहि । तऊ न ताकै चित्त समाहि ॥२०॥
है को भानहि गुन विस्तरै । गुनिभर लोग खरै मन हरैं ।
तिहि तवोर थेघू कहुँ दयो । अति हित करि सो पूछन ठयो ॥२१॥
जाकें अधिक वहुत जुग भागु । ताही को भावै वैरागु ।
एकहि तव चित्त होइ उल्हास । जव काहू पहिनि सुनहि हास ॥२२॥
देख जाहि रीझै ससारु । एकनि को भावे सिगारु ।
वहुत भयानक उपर भाउ । काहू करुना ऊपर चाउ ॥२३॥

एकनि कै जिय भावै वीरु । जौ अरि देखति साहिस धीरु ।
कहै भान मो भावै राम । जातैं ज्यौ पावै विश्राम ।।२४।।
इहि ससार न कोऊ रह्यौ । भान कुवरु येघू सो कह्यौ ।
माता पिता पुत्र ससारू । यहि सब दीसै माया जारू ।।२५।।
जाहि नाम ना कलजुग रहै । जीवै सदा भुवौ कौ कहै ।
कहा वहुत करि कीजै आनु । जो आनै गीता को ध्यानु ।।२६।।
जो नीकै करि गीता पढै । सब तजि कहिबे को नहि चढै ।
गीता ग्यान हीन नरु इसो । सार माहि पसु वावौ जिसो ।।२७।।
यातैं समझैं सारु असारु । वेग कथा करि कहे कुमारु ।
इतनो वचन कुवरु जब कह्यौ । घरीक मनु घोखे परि रह्यौ ।।२८।।
सायर को वेरा करि तरै । कोऊ जिन उपहासहि करै ।
जौ मेरे चित गुरु के पाय । अरु जौ हियै वसैं जदुराय ।।२९।।
तौ यह मोपै है है तैसें । कह्यौ क्रस्न अर्जुनको जैसें ।
सुनहि जे प्रानी गीता ग्यान । तिन समानि दूजौ नहि आनि ।।३०।।
सजय लीने अब वुलाई । ताको पूछनि लागे राई ।
धर्म खेत्र कुरु जगल जहा । कैरो पाडव मेले तहा ।।३१।।
कैसे जुझ कहा तह होई । मो सो वरनि सुनावो सोई ।
मेरे सुत अरु पडो तनें । तिनकी वात सुसजय भने ।।३२।।

संजय उवाच

दोउ दल चढि ठाढे भये । जिर्जोधन गुरु पूछन लये ।
विपम जनी यह कही न जाई । आचारजहि दिखावैं राई ।।३३।।
तेरे सिष्य पड के पूत । कुटल वचन तिन कहे वहूत ।
घृष्ट दमनु अरु अर्जुन भीमु । निकुलु सहदेराऊ जीमु ।।३४।।
राउ विराट द्रुपदु वर वीरु । कुन्त भोज रन साहस धीरु ।
धृष्टकेतु कासीस्वर राउ । कह्यो न जाइ जिनहि वडवाउ ।।३५।।
महारथी द्रौपै के पूत । एते दीसै सुदृट वहूत ।

अति आनद पितामहि भयौ। उपज्यौ हरप सख करि लयौ।
सिघनाथ गर्ज्यों बर बीरु। सतनु सुत रन साहिस धीरु ॥४१॥
पूरे पच सब्द तिन घने। नारायनि अर्जुन तन सने।
सेत तुरी रथ चढे मुरार। पथ लिये गोविन्द हकार ॥४२॥
पचजननु सख करि लिये। देवदत्त अर्जुन को दिये।
आन जुझार पड दल जिते। सखनि पूरन लागे तिते ॥४३॥
सुनि करि शब्द अध सुत डरै। विनती पथ क्रस्न सो करै।

अर्जुन उवाच

कैरो पाडव को दल महा। मेरो रथ लै थापौ तहा ॥४४॥
पहिलै इनहि देखौं पहिचानि। को मो सो रन जोधो आनि।
ए दुबुद्धि अध के पूत। अब इन कीनी कुमति बहूत ॥४५॥
सजै काया अंध सौं कहै। इतनी सुनि तव अर्जुन कहै।
लै रथ क्रस्न थापियै तहा। दोऊ दल रन ठाढे जहा ॥४६॥
दैखे अर्जुन भीषम द्रोन। कर्न महाभरु वर्नै कोनु।
भैया ससुर देख सब पूत। पथहि बिथा भई जू बहूत ॥४७॥

अर्जुन उवाच

ए सब सुहृद हमारे देव। कै रन मडो विनवो सेव।
सिथिल भयो सब मेरौ अग। कापै हाथ करत रन रग ॥४८॥
सूकै मुख अरु कपहि जाघ। बहुत दुख ता उपजै मन माझ।
इष्ट मित्र क्यौं सकि यह मारि। गोपीनाथ तुम हिर्दै विचारि ॥४९॥
वरु पडव कै बूडै राज। मानौ बुरौ जुधिष्टरु आजु।
हौं न क्रस्न अब जुधहि करौं। देखति ही क्यो कुल सघरौ ॥५०॥
देखा सगुन कैसे बर बीर। ए बिपरीत जु गहर गभीर।
सोऊ मोको देखहि देव। होइ दुष्ट गति विनवो सेव ॥५१॥
अर्जुन बोलै देव मुरारि। जिहि ठा तुम्ह तइ होइ न हारि।
हौ न विजौ चाहो आपनै। अरु सुख राज जुधीठल तनै ॥५२॥
कहा राजु जीवनु यह भोग। भैया वध हसै सव लोग।
जिनकै अर्थ जोरियै दर्व। देपति जिनहि होइ अति गर्व ॥५३॥
राज भोग सुख जिनकै काम। तै कैसे वधियै सग्राम।
द्रोन पितामहि वहुत कुवारु। सार ससुर ते आहि अपारु ॥५४॥
मातुल सवधी है जिने। हौं गोविंद न मारौं तिते।
इन मारै त्रभुवन को राजु। जो मेरे घरि आवे आजु ॥५५॥
हौ न घाउ घाला इन देव। मधसूदन सो विनवै सेव।
इन मारैं हमको फल कौन। अर्जुन कहै क्रस्न सो वैन ॥५६॥

याही लगि हो सेवो वीर। इन मारो सुख होइ सरीर।
अरु हम लोगन देई लोक। इनहि वधै विगरै परलोक ॥ ५७ ॥

तातै हौं न इनहि सघरो। माधौ तुम सौं विनती करौं।
ए लोभी सुनि क्रश्न मुरारि। कछू न सूझै हिये मझारि ॥ ५८ ॥

कुरवा वधै दोप अति मान। मित्र दोष कै पाप समान।
कै यह पापु निवत्रौं हरि। पथ क्रश्न सो विनती करी ॥ ५९ ॥

कुल क्षय भयै देखियै जबही। बिनसै धर्म सनातन तबही।
कुल क्षय भयौ देखिये जाई। बहुरि अधर्म होइ नव आई ॥ ६० ॥

जब क्रश्न यह होइ अधर्म। तब वै सुन्दरि करैं कुकर्म।
दुष्ट कर्म वै करि है जबही। वर्ण मलटु कुल उपजै तबही ॥ ६१ ॥

परहि पितर सब नर्क मझार। जौ कुटम्ब घालियै मार।
नारिन को नरु रक्षकु कोई। धर्म गये अपकीरत होई ॥ ६२ ॥

कुल धर्महि नरु बाटै जबही। परै नर्क सदेह न तबही।
यह मै वेदव्यास पहिं सुन्यो। बहुरि पथ क्रश्न सो भन्यौ ॥ ६३ ॥

सोई एक अचम्भे मोहि। द्वै करि जोरै बुझो तोहि।
तेरे सनिधान जो रहै। पापु न भेदै अर्जुन कहै ॥ ६४ ॥

छीहल बावनी[1]

कवि छीहल अग्रवाल, रचनाकाल १५८४ संवत्

ओंकार आकार रहित अविगति अपरम्पर।
अलष अजोनी सभ सृष्टिकर्ता विश्वभर ॥
घटि घटि अतर वसइ तासु चीन्हइ नहिं कोई।
जल थलि सुरगि पयालि जिहाँ देख तिहँ सोई ॥
जोगिन्द सिद्ध मुनिवर जिके प्रबल महातप सिद्धयउ।
छीहल कहइ तसु पुरुष को किण ही अन्त न लद्धउ ॥ १ ॥

नाद श्रवण धावन्त तजइ मृग प्राण तत्षिण।
इन्द्री परस गयद वारि अलि मरइ विचक्षण ॥
लोयण लुवुध पतग पडइ पावक पेपन्तउ।
रसना स्वादि विलगि मीन वज्झइ देखन्तउ ॥
मृग मीन भँवर कुन्जर पतग ए सभ विणसइ इक्क रसि।
छीहल कहइ रे लोइया इन्दी राखउ अप्प वसि ॥ २ ॥

---

१ अनूप सस्कृत लायब्रेरी, बीकानेर, अतिशय क्षेत्र भाडार जयपुर, अभय जैन पुस्तकालय, बीकानेर की हस्तलिखित प्रतियो के आधार पर लेखक-द्वारा सपादित।

मृग वन मज्झि चरत डरिउ पारधी पिक्खि तिहि।
जब पाछिउ पुनि चल्यो वधिक रोपियउ थभ तिहिं॥
दिसि दाहिणी सु स्वान सिंह जिय सनमुख धायउ।
वाम अग परजलिय तासु भय जाण न पायउ॥
छीहल्ल गमण चहुँ दिसि नही चित चिन्ता चिन्तउ हरिण।
हा हा दैव सकटु पर्यौ तो विण अवर न को सरण॥ ३॥

सवल पवन उत्पन्न अगिनि उजि फद दहे सव।
तत्पिण घन वरसत तेज दावानलउ गयउ तब॥
दिस दाहिणी जु स्वान पेपि जबुक कौ धायउ।
जिय जाणिउ मृग जाइ चित्त पारधी रिसायउ॥
अनचिन्त वाण गुण तुट्टिगो दिसि च्यारउ मुगती भई।
छीहल्ल न को मारवि सकै जसु राखणहारा तूँ दई॥ ४॥

धनि ते नर सलि दियइ जे पर कज्जु सवारण।
भीर सहइ तन आप सामि सकट्ट उबांरण॥
कघो घर कुल, मज्झि सभा सिंगार सुलक्खण।
विनयवत वड चित्त अवनि उपगार विचच्छण॥
आधार सहित अति हित्त सो धर्म नेम पालै घणो।
पर तरुणि पेक्खि छीहल कहै सील न पडइ आपणो॥ ५॥
अवनि अमर नहिं कोई सिद्ध साधक अरु मुनिवर।
गण गन्धर्व मनुष्य जक्ख किंनर असुरासुर॥
पन्नग पावक उदधि शब्द सूर वर अट्टादस।
ध्रु नव ग्रह ससि सूर अति सव खयइ काल वस॥
प्रस्ताव पिक्ख रे चतुर नर जा लगि किजइ ऊँच कर।
तिहुँ भुवन मज्झि छीहल कहइ सदा एक कीरति अमर॥ ६॥

आवति सपइ वार वार सम देहु मूढ नर।
मिट्ठ वयण बुल्लियइ विनय कीजइ बहु आदर॥
दिन दिन अवसरि पेपि वित्त विलसिये सुजस लगि।
पिण रीती पिण भरी रहति घटी सारिस लगि॥
चिरकाल दसा निहचल नही जिम उगै तिमि आथमण।
पलटइ दसा छीहल कहइ वहुरि वात वूझइ कवण॥ ७॥

इदी पचम अत्ति सकति जव लगि घट निर्मल।
जरा जजोरी दूर खीण नहिं हुवइ आयुर बल॥
तव लगि भल पण दान पुण्य करि लेहु विचक्षण।
जव जम पहुँचइ आइ गवे भूलिहइ ततपिण॥
छीहल्ल कहइ पावक प्रवल जिमि वर पुर पाटण दहइ।
तिणि कालि जउ कूप खोदियइ सो उद्यम किमि निरवहइ॥ ८॥

ईस ललाट मज्झि गेह कीयो सु निरन्तर।
चहु दिस सुरसरि सहित वास तसु कीजइ अन्तर॥
पावक प्रबल समीपि रहइ रखवाल रयणि दिन।
प्रतिहार विसहर बलिष्ट सोवइ नहि इकु षिण॥
अतिहिं जतन छीहल कहै ईस मस्तक हिम कर रहइ।
पूर्व लौं लिख्यो चुक्कइ नही तवसि राह ससि कौं ग्रहइ॥ ९॥
उदरि मांज्झ दसमासु पिण्ड देखिये बहुत दुष।
उर्ध होई दुइ चरण रयणि दिन रहइ अधोमुष॥
गरभ अवस्था अधिक जाणि चिन्ता चितै चित।
जइ छूटउँ इकवारि बहुरि करिहौं निज सुकृत॥
बोलइ ज बोल सकड़ु पडइ बहुडि जन्म जग महि भयौ।
लागी जु वाउ छीहल कहै सबै मूढि बीसरि गयौ॥१०॥
ऊसरि फागुण मास मेघ बरसइ घोरकरि।
विधवा प्रतिव्रत तणौ रूप जोवन आनन परि॥
कवियण गुण विस्तार नृपति अविवेकी आगे।
सुपनन्तर की लच्छि हाथ आवइ नहिं जागे॥
करवाल कृपण कायर कराह सुनि मेह दीपक ज्युं (?)
छीहलु अकारण ए सबै विनय जु कीजै नीच स्यु॥११॥
रितु ग्रीषम रवि किरण प्रबल आगमइ निरन्तर।
पावस सलिल समूह अधर झिल्लउ धाराधर॥
सीतकाल सीतल तुषार दूरन्तर टाल्यउ।
पत्त सही दुरवत्थ अधिक मित्तप्पण पाल्यउ॥
रे रे पलास छीहल कहै धिक धिक जोवन तुझ तणो।
फूलीयो मूढ अब पत्त तजि ए अयुत्त कीयउ घणो॥१२॥
रीतो होइ सो भरै भरी पिण इक वै ढालै।
राई मेर समाणि मेर जड सहित उषालै॥
उदधि सोपि थल करै थलि जल पूरि रहै अति।
नृपति मगावइ भीख रक कूं थपै छत्रपति॥
सब विधि समर्थ भाजन घडन कवि छीहल इमि उच्चरै।
निमिष माझि करता पुरुष करण मतो सोई करै॥१३॥
लिखा तणइ परमाणि राम लच्छण वनवासी।
सीय निसाचर हरी भई द्रौपदि पुनि दासी॥
कुन्ती सुत वैराट गेह सेवक हुई रहियउ।
नीर भन्यउ हरिचन्द नीच घरि बहु दुष सहियउ॥
आपदा परै परिग्रह तजि भम्यो इकेलउ नृपति नल।
छीहल कहइ सुर नर असुर कर्म रेख व्यापइ सकल॥१४॥

लीन्ह कुदाली हाथ प्रथम खोदियउ रोस करि।
करि रासभ आरूढ घालि आणियउ गूण भरि ।।
दे करि लत्त प्रहार मूड गहि चक्कि चढायौ।
पुनरपि हाथहि कूटि धूप धरि अधिक सुखायौ ।।
दीन्हो अगिन छीहल कहै कुंभ कहै हउ सहिउ सब।
पर तरुणि आइ टकराहणै ये दुप सालेइ मोहि अब ।।१५।।

ए जु पयोहर युवल अमल उरि भज्झि उवन्ना।
अति उन्नत अति कठिन कनक घट जेम रवन्ना ।।
कहइ छिहल प्रिण एक दिष्टि देखइ जे चतुर नर।
धरणि पडइ मुरझाइ पीडउ उपजी चित अन्तर ।।
विधना विचित्र विधि चिंत कर ता लगि कीन्हउ किमन मुख।
होइ स्याम वदन तिह नर तणौ जौ पर हिरदय देइ दुख ।।१६।।
अइ अइ तू द्रुमराय न्याय गरु अत्तणतेरउ।
प्रथम विहगम लक्ष आइ, तहँ लेइँ वसेरउ ।।
फल भुजहि रस पीवइ अवर सतोपइँ काया।
दुष्ष सहइ तनि आप करइ अवरन कूँ छाया ।।
उपकार लगै छीहल कहइ धनि धनि तू तरुवर सुयण।
सचइ जु सपइ उदधि पर कज्जि न आवै ते कृपण ।।१७।।

अमृत जिमि सुरसाल चवति धुनि वदन सुहाई।
पखिन मइँ परसिद्ध लहैं सो अधिक वडाई ।।
अब वृक्ष मनि वसइ ग्रसइ निर्मल फल सोई।
एहि गुण कोकिल माँहि पेषि वन्दइ नहिं कोई ।।
पापिष्ठ नीच खजन सुकर करत सदा क्रमि मल भुगति।
छीहल्ल ताहि पूजइ जगत करम तणी विपरीत गति ।।१८।।
कवहूँ सिर धरि छत्र चढवि सुख आसन धावइ।
कवहुँ इकेलउ भमइ पाव पाणही न पावइ ।।
कवहि अठारह भक्ष करइ भोजन मन वछित।
कवहि न खलु सपजइ क्षुधा पीडित कलइ चित ।।
कवहि न तृण को साथरो कवहि रमइ तिय भाव रसि।
वहु भाइ छन्द छीहल कहइ नर नित नच्चइ देव वसि ।।१९।।

अहनिस मज्जन मच्छ कच्छ जल मज्झि रहइ नित।
मीन सहित वग ध्यान रहइ लिउ लाइ एक चित ।।
ऊदर गुफा निवास मुड गाडरी मुडावइ।
पवन अहारी सर्प भमस तउ गदह चढावइ ।।
तूणि महि कहउ किण यह लहउ कहा जोग साधइ जुगति।
छीहल्ल कहइ निष्फल सवे भाव विना नहु हुई मुगति ।।२०।।

खत्तिय रणि भंजणो विप्प आचार विहीणो।
तप तउ जीति कइ अंगि, रहै चित लालच लीणो॥
अवला जु तीय निलज्जं लज्ज तजि घरि घरि डोलइ।
सभा मांहि मुख देखि साखि जउ कूडी बोलइ॥
सेवक स्वामी द्रोह करि सग्राम न रहै एक छिण।
छीहल कहइ सु परिहरउ नृपति होइ विवेक विण॥२१॥

अन्त

लछण ससि कउ दियउ किन्ह खार अति उदधिजल।
सफल एरड धतूर नाग वल्ली सो नीफल॥
परमल विणु सोवन्न वाम कस्तूरी विविध परि।
गुणियन सम्पति हीण बहु लच्छिय कृपण घरि॥
तिय तरुणि वेम विधवापणउ सज्जन सरिस वियोगदुख।
एतले ठांइ छीहल कहैं कियो विवेक न विधि पुरुख॥४०॥
होइ धनवन्त आलसी तउ उद्दमी पयपइ।
क्रोधवंत अति चपल तउ थिरता जग जवइ॥
पत्त कुपत्त जनि लखइ कहइ तसु इच्छा चारी।
होइ बोलण असमत्थ ताह गुरुअत्तण भारी॥
श्रीवन्त लख्ख अवगुण सहित ताहि लोग गुण करि ठँवइ।
छीहल्ल कहै ससार मँहि संपत्ति को सहु को नँवइ॥५२॥
चउरासी अग्गल सइ जु पनरह सवच्छर।
सुकुल पष्ख अष्टमी कातिग गुरु वासर।
हृदय उपन्नी बुद्धि नाम श्री गुरु को लीन्हो।
सारद तणइ पसाइ कवित सम्पूरण कीन्हो॥
नातिग वस सिनाथु सुतनु अगरवाल कुल प्रगट रवि।
बावन्नी वसुधा विस्तरी कवि ककण छीहल्ल कवि॥५३॥

इति छीहल कवि बावनी सम्पूर्ण समाप्त सवत् १७१६ लिपित्त पंडि नीरू लिखतै व्यास हरि राय महला मध्ये राज्य श्री सिवसिंघ जी राज्ये। सवत् १७१६ का वर्षे मिति वैसाप सुदि ५ शनि सुर वार में शुभ भवतु।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी

१ अकबरी दरबार के हिन्दी कवि	सरजूप्रसाद अग्रवाल, लखनऊ।
२ अलकार शेखर	केशवचन्द्र मिश्रकृत, सम्पादक शिवदत्त १९२६ई०
३ अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय	डॉ० दीनदयाल गुप्त, साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संवत् २००४।
४ आवे हयात	मुहम्मद हुसेन आजाद
५ उक्तिव्यक्ति प्रकरण	सिंघी जैन ग्रन्थमाला, सं० मुनि जिनविजय।
६ उर्दू-शहपारे	डॉ० मोहिउद्दीन कादरी
७ उत्तरी भारत की सत-परंपरा	परशुराम चतुर्वेदी, भारती भडार, प्रयाग, २००८ सवत्।
८ उज्जवल नीलमणि	रूप गोस्वामी
९ ऐतिहासिक जैन काव्य-सग्रह	अगरचन्द नाहटा तथा भँवरमल नाहटा, कलकत्ता, सवत् १९९४।
१० ओझा निबन्ध सग्रह (प्र० भाग)	उदयपुर, सन् १९५४।
११ कविप्रिया	केशव ग्रन्थावली खण्ड १ सम्पादक विश्वनाथ प्रसाद मिश्र। हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग, १९५४।
१२ कबीर ग्रन्थावली	चतुर्थ सस्करण स० बाबू श्यामसुन्दर दास सवत् २००८।
१३ कबीर साहित्य की परख	परशुराम चतुर्वेदी, इलाहाबाद २०११ सवत्।
१४ काव्य निर्णय	भिखारीदास
१५ काव्यानुशासन	हेमचन्द्र
१६ काव्यालकार	रुद्रट
१७ काव्यादर्श	दण्डी
१८ काव्यालकार	भामह
१९ किसन रुकमिणी वेलि	नरोत्तम स्वामी द्वारा सम्पादित।
२० कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा	डॉ० शिवप्रसाद सिंह, प्रयाग सन् १९५५।
२१ कुमार पाल प्रतिबोध	गायकवाड सीरीज़ न० १४ सम्पादक मुनि जिनविजय।
२२ कुम्भनदास-पदसग्रह	सम्पादक व्रजभूषण शर्मा, विद्याभवन, काकरौली, सवत् २०१० ।
२३ खिलजी कालीन भारत	ले० सैयद अतहर अब्बास रिजवी, अलीगढ़ १९५८।

२४ गाथा सप्तसती	हाल
२५ गोरखबानी	डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल, साहित्य-सम्मेलन प्रयाग ।
२६ गीतगोविन्द	गणेश रामकृष्ण तैलग - द्वारा सम्पादित बम्बई १९१३ ।
२७ गुरुग्रन्थ साहब	तरनतारन सस्करण, भाई मोहन सिंह
२८ चन्दवरदाई और उनका काव्य	डॉ० विपिन विहारी त्रिवेदी, प्रयाग, १९५२ ।
२९ चिन्तामणि (दूसरा भाग)	रामचन्द्र शुक्ल, काशी, सवत् २००२ ।
३० जयदेव चरित	लेखक रजनीकान्त गुप्त, बाँकीपुर ।
३१ जायसी ग्रन्थावली	सम्पादक रामचन्द्र शुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सवत् १९८१ ।
३२ ढोला मारु रा दूहा	सम्पादक नरोत्तम स्वामी, ना० प्र० सभा, काशी १९९७ सवत् ।
३३ दक्खिनी हिन्दी का गद्य और पद्य	ले० श्रीराम शर्मा, हैदराबाद, १९५४ ।
३४ दशम ग्रन्थ	गुरुगोविन्द सिंह, अमृतसर ।
३५ देशी नाम माला	द्वितीय सस्करण स० परवस्तु वेंकट रामानुज स्वामी, पूना १९३८ ।
३६ नाट्य दर्पण रामचन्द्रकृत	ओरियन्टल इन्स्टिट्यूट बडौदा, १९२९ ।
३७ नाथ सम्प्रदाय	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग ।
३८ पउम चरिउ	स्वयभूदेव, सम्पादक डॉ० हरिवल्लभ भायाणी, सिंघी जैन ग्रथमाला, बम्बई ।
३९ पउमसिरिचरिउ	धाहिल रचित, विद्याभवन बम्बई २००५ ।
४० परमात्मप्रकाश और योगसार	योइन्दुकृत सम्पादक, ए० एन० उपाध्ये । सिंघी जैन ग्रन्थमाला १९३७ ।
४१ पद्मावत	डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, झाँसी, २०१२ ।
४२ प्रबन्धचिन्तामणि	स० मुनि जिनविजय, सिंघी जैन ग्रन्थमाला ।
४३ प्राकृत व्याकरण	डॉ० पी० एल० वैद्य सम्पादित, बम्बई सस्कृत प्राकृत सीरीज १९३६ ।
४४ प्राकृतपैंगलम्	सम्पादक मनमोहन घोष, विब्लोथिका इण्डिका १९०२ ।
४५ प्राचीन गुर्जर काव्य	गायकवाड ओरियन्टल सीरीज न० १३ स० चिम्मनलाल डी० दलाल १९३६ ।
४६ पुरातन प्रबन्ध सग्रह	सम्पादक मुनि जिनविजय, सिंघी जैन ग्रथमाला ।
४७ पुरानी हिन्दी	चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, ना० प्र० सभा, काशी सवत् २००१ ।

४८ पुरानी राजस्थानी — तेसीतोरी, ना० प्र० सभा हिन्दी संस्करण १९५६।
४९ पृथ्वीराज रासो — सम्पादक मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ना० प्र० सभा, काशी १९१२।
५० पृथ्वीराज रासो — कविराज मोहन सिंह, उदयपुर, २०११ संवत्।
५१ बनारसी विलास — बनारसीदास जैन, अतिशय क्षेत्र जयपुर से प्रकाशित सन् १९५५।
५२ बाँकीदास ग्रन्थावली — ना० प्र० सभा काशी, चतुर्थ संस्करण।
५३ ब्रजभाषा — डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, १९५४।
५४ बिहारी रत्नाकर — सम्पादक, जगन्नाथदास रत्नाकर, काशी।
५५ बीसलदेव रास — सं० डॉ० माताप्रसाद गुप्त, हिन्दी परिषद् विश्वविद्यालय प्रयाग, १९५३ ई०।
५६ व्यास वाणी — प्रकाशक राधाकिशोर गोस्वामी, वृन्दावन १९९४ संवत्।
५७ भक्तमाल — नाभादास, सम्पादक श्रीसीतारामशरण भगवान् प्रसाद, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ १९५१।
५८ भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी — डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, हिन्दी संस्करण १९५४ दिल्ली।
५९ भोजपुरी भाषा और साहित्य — डॉ० उदयनारायण तिवारी, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना १९५४।
६० मध्यदेश और उसकी संस्कृति — डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना १९५४।
६१ मध्यदेशीय भाषा — हरिहर निवास द्विवेदी, ग्वालियर २०१२।
६२ मानसिंह और मानकुतूहल — हरिहर निवास द्विवेदी।
६३ महाराणा सांगा — हरिविलास शारदा, अजमेर १९१८।
६४ मीराबाई की पदावली — सं० परशुराम चतुर्वेदी।
६५ मीराबाई का जीवन-चरित — मुंशी देवीप्रसाद, लखनऊ।
६६ युगल शत — श्री भट्टदेव, सम्पादक श्री ब्रजविहारी शरण, वृन्दावन, २००९ संवत्।
६७ राजस्थानी भाषा और साहित्य — मोतीलाल मेनारिया, साहित्य सम्मेलन प्रयाग, २००६ विक्रमी।
६८ राधा का क्रम विकास — शशिभूषणदास गुप्त, हिन्दी संस्करण सन् १९५६ काशी।
६९ राजपूताने का इतिहास (दूसरा खण्ड) — महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा,
७० रदासजी की बानी — बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।
७१ राजस्थानी भाषा — डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, उदयपुर १९४९।

७२ राजपूताने में हिन्दी पुस्तकों की खोज — मुंशी देवीप्रसाद, सवत् १९६८ ।

७३ रागकल्पद्रुम — कृष्णानन्द व्यास देव-द्वारा सकलित, बंगीय, साहित्य परिषद्-द्वारा १९१४ ई० में प्रकाशित ।

७४ विद्यापति पदावली — सम्पादक रामवृक्ष बेनीपुरी, लहेरिया सराय, पटना ।

७५ संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएँ — सम्पादक नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, साहित्य भवन, प्रयाग ११५५ ई०

७६ सतकाव्य सग्रह — परशुराम चतुर्वेदी

७७ साहित्यदर्पण — कविराज विश्वनाथ

७८ सूरदास — रामचन्द्र शुक्ल, प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र-द्वारा सम्पादित, सरस्वती मन्दिर जतनवर काशी, सवत् २००६ ।

७९ सूर-साहित्य — नवीन सस्करण डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, १९५६ बम्बई ।

८० सूरसागर — सम्पादक नन्ददुलारे वाजपेयी, ना० प्र० सभा, काशी संवत् २००७ ।

८१ हिन्दी साहित्य का इतिहास — रामचन्द्र शुक्ल छठाँ संस्करण, काशी सवत् २००७ ।

८२ हिन्दी साहित्य का आदिकाल — डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पटना १९५४ ।

८३ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास — डॉ० रामकुमार वर्मा, सशोधित सस्करण १९५४ ।

८४ हिन्दी भाषा उद्गम और विकास — डॉ० उदयनारायण तिवारी, भारती भण्डार प्रयाग, सवत् १९५५ ।

८५ हिन्दी भाषा का इतिहास — डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, प्रयाग ।

८६ हिन्दी काव्यधारा — राहुल साकृत्यायन, प्रयाग १९५४ ।

८७ हिन्दुई साहित्य का इतिहास — (तासी) हिन्दी सस्करण, डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ।

८८ हिन्दी साहित्य की भूमिका — डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, बम्बई, प्रथम सस्करण १९४० ।

गुजराती

१ वाग्व्यापार — डॉ० हरिवल्लभ भायाणी, भारतीय विद्या-भवन, बम्बई १९५४ ।

२ वैष्णव धर्मनो सक्षिप्त इतिहास — श्री दुर्गाशकर केवलराम शास्त्री ।

३ भालण कृत दशम स्कन्ध — सम्पादक इ० द० काँटावाळा, बडोदा १९१४ ।

४ गुजराती साहित्य ना स्वरूपो — डॉ० मजुलाल मजूमदार, बडोदा, १९५८ ।

५ प्राचीन गुजराती गद्य सन्दर्भ — सम्पादक मुनि जिनविजय, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, १९८५ संवत् ।

६ प्राचीन गुर्जर काव्य — केशवलाल हर्षद्राय ध्रुव बी० ए०, गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी, अहमदाबाद संवत् १९८३ ।

७ जैन गुर्जर कवियो — मोहनलाल दलीचद देशाई, जैन श्वेताम्बर सभा, बम्बई, ई० सन् १९२६ ।

८ आपणां कवियो (खण्ड १) (नरसिंह युगनी पहेलां) — केशवराम काशीराम शास्त्री, गुजरात । वर्नाक्यूलर सोसाइटी, अहमदाबाद १९४२ ।

९ बुद्धि प्रकाश — अप्रैल, जून १९३३ ।

१० रामचन्द्र जैन काव्यमाला — गुच्छक पहेलो ।

११ हिन्दुस्तान गुजराती दैनिक — ११ नवम्बर, बम्बई १९४९ ।

असमिया

१ बरगीत, महापुरुष श्री श्री शङ्करदेवेर आरु श्री श्री माधवदेवेर विरचित — सम्पादक श्री हरिनारायण दत्त बरुआ वलवारी, असम, ई० १९५५ ।

२ श्री शकर देव — डॉ० महेश्वर नेओग, गुवाहाटी ।

हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ

१ नागरी प्रचारिणी पत्रिका — ना० प्र० सभा, काशी ।

२ विश्व भारती — खण्ड ६ अक २

३ सम्मेलन पत्रिका — पौष १९९६ सवत्

४ हिन्दी अनुशीलन — वर्ष ७ अक ४, १९५५ ई०

५ राजस्थान-भारती — भाग १, अक २, ३

६ त्रिपथगा — अक १०, जुलाई, १९५६ ई०

७ आलोचना (त्रैमासिक) — अक १६, १९५६ ई०

८ कल्पना — सितम्बर १९५४, जुलाई-अगस्त १९५६

९ विशाल भारत — मार्च १९४६

१० नवनीत — अप्रैल १९५६

११ सर्वेश्वर — वर्ष ४ अक ६

१२ राजस्थानी — कलकत्ता, जनवरी १९४०

१३ व्रज-भारती — मथुरा ।

कोष और खोज-विवरणादि

१ जिनरत्न कोष खण्ड १

२ प्रशस्ति सग्रह — स० कस्तूरचद कासलीवाल, आमेर भडार, प्रकाशक, अतिशय क्षेत्र जयपुर, १९५० ई०

३ पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ	सम्पादक, वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रकाशक ब्रजमण्डल, मथुरा।
४ हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज का विवरण	१९०० से १९४६ तक—ना० प्र० सभा
५ आमेर भाण्डार की हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची	भाग १, सम्पादक कस्तूरचंद कासलीवाल अतिशय क्षेत्र, जयपुर १९५४।
६ राजस्थान के जैन शास्त्र भांडारों की ग्रन्थप्रशस्ति	भाग १, सम्पादक कस्तूरचंद कासलीवाल अतिशय क्षेत्र, जयपुर १९५४।

हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची

१ प्रद्युम्न चरित	सधार अग्रवाल रचनाकाल १४११ वि० प्रति श्री बधीचद जैन मदिर जयपुर में श्री कस्तूरचद कासलीवाल के पास सुरक्षित है।
२ रविवार व्रत कथा	कवि भाऊ अग्रवाल, आमेर भाण्डार, जयपुर की प्रति।
३ हरिचंद पुराण	जाखू मणियार, रचनाकाल संवत् १४५३, प्रति अभय जैन ग्रन्थ पुस्तकालय, बीकानेर में सुरक्षित है।
४ महाभारत कथा	विष्णुदास, रचनाकाल वि० १४९२ प्रति दतिया राज-पुस्तकालय में सुरक्षित है।
५ स्वर्गारोहण पर्व	,, ,,
६ रुक्मिणी मगल	विष्णुदास रचनाकाल वि० १४९२ प्रति वृन्दावन के गोस्वामी राधाराम चरण के पास सुरक्षित है।
७ लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा	कवि दामो, रचनाकाल १५१६ वि०, प्रति अभयजैन पुस्तकाल बीकानेर में।
८ डूंगर बावनी	कवि डूंगर उपनाम पद्मनाभ, रचनाकाल वि० १५३८, प्रति अभयजैन पुस्तकालय, बीकानेर में।
९ वैताल पचीसी	कवि मानिक, रचनाकाल वि० १५४६, प्रति कोशी कला मथुरा के पडित रामनारायण के पास सुरक्षित है।
१० पचेन्द्रियवेलि	कवि ठक्कुरसी, रचनाकाल १५५०, प्रति अतिशय क्षेत्र जयपुर के सग्रह में।
११ नेमराज मतिवेलि	कवि ठक्कुरसी, रचनाकाल १५५०, प्रति अतिशय क्षेत्र जयपुर के सग्रह में।

१२ छिताई वार्ता	कवि नरायनदास, रचनाकाल १५५० के लगभग, प्रति अभय जैन पुस्तकालय बीकानेर में सुरक्षित है।
१३ गीता-भाषा	कवि थेघनाथ, रचनाकाल १५५७ वि० प्रति याज्ञिक सग्रह आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी।
१४ मधुमालती कथा	चतुर्भुजदास कायस्थ, रचनाकाल, १५५० के लगभग, प्रति उमाशकर याज्ञिक, लखनऊ के सग्रहालय में सुरक्षित है। ग्वालियर में इसकी कई प्रतियो के होने की सूचना मिली है।
१५ नेमीश्वर गीत	चतरुमल, रचनाकाल १५७१ सवत्, प्रति आमेर भाण्डार में सुरक्षित है।
१६ धर्मोपदेश	धर्मदास, रचनाकाल १५७८, प्रति आमेर भाण्डार में।
१७ पच सहेली	कवि छीहल, रचनाकाल १५७८, प्रति अनूप सस्कृत लायब्रेरी के राजस्थानी सेक्शन में। न० ७८, न० १४२, न० २१७, न० ७७—चार प्रतियाँ उपलब्ध।
१८ छीहल बावनी	कवि छीहल, रचनाकाल, १५७८ प्रतियाँ आमेर भाण्डार, जयपुर, अभय जैन पुस्तकालय बीकानेर तथा अनूप सस्कृत लायब्रेरी बीकानेर में सुरक्षित।
१९ रतनकुमार रास	वाचक सहज सुन्दर, रचनाकाल १५८२, प्रति अभयजैन ग्रथ-पुस्तकालय बीकानेर में।
२० प्रह्लाद चरित	कवि रैदास रचित, रचनाकाल १५वी शताब्दी, प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित। 'प्रह्लाद लीला' नाम से एक अन्य प्रति भी प्राप्त।
२१ हरिदासजी की परचई	हरिरामदास, रचनाकाल अज्ञात, हरिदास निरजनी सम्बन्धी विवरण के लिए महत्त्वपूर्ण। प्रति दादू महाविद्यालय के स्वामी मगलदास के पास।
२२ हरिदास के पद और साखियां	कवि हरिदास निरजनी, रचनाकाल १६वी शताब्दी, प्रति डॉ० बडथ्वाल के निजी सग्रह में।

२३ युगल सत	कवि श्री भट्टदेव विरचित, रचनाकाल १६वी शती, प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित है।
२४ परसुराम-सागर	कवि परशुराम देवाचार्य। रचनाकाल १६वी शती, ग्रन्थ में १३ रचनायें संकलित, प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा मे। दूसरी प्रति श्री कुज वृन्दावन के श्री व्रजवल्लभ शरण के पास। पं० मोतीलाल मेनारिया के सूचनानुसार तीसरी प्रति उदयपुर में प्राप्त जिसमें वाइस रचनायें सकलित हैं।
२५ नरहरि भट्ट के फुटकल पद और बादु संज्ञक रचनायें	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
२६ वेलि क्रिसन रुक्मिणीं की रसविलास टीका	कवि गोपाल, रचना सवत् १४४०। अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर में प्रति सुरक्षित।

अंग्रेजी

1. A Grammar of the Brajbhakha — By Mirza khan, Ed. By Sri Ziauddin, Shantiniketan 1934
2. An Outline of the Religious Literature of India — Dr. J H Farquhar
3. A Grammar of the Hindostani Language with Brief notes of Braj and Dakhini Dialects — By J R Ballentyne, London, 1842.
4. Ancient History of Near East — H R. Hall, London 1943
5. Avesta Grammar — A B. W Jackson
6. A Short Historical Survey of Music of Upper India — V N. Bhatkhande.
7. Aspects of Early Assamese literature — Ed. By Banikant Kakati, Guahati, 1953.
8. Assamese literature — Dr. B K Barua, P E. N Bombay, 1941.
9. A History of Indian Literature — H Winternitz, Calcutta, 1933
10. Annals and Antiquities of Rajasthan — By. Col. James Tod.
11. A Comparative Grammar of the Gaudian Language — By R Hoernle, London, 1880.
12. A Grammar of Hindi Language. — By S H Kellogg London, 1893.
13. A Comparative Grammar of Modern Aryan Languages of India — J Beames London, 1875.
14. Bhavisatta kaha — Harmann Jacobi
15. Bhavisatta kaha of Dhanpal — P D Gune, G. O. S Baroda, 1923
16. Buddhist India — T W Roydeveis, London, 1903.
17. Classical poets of Gujrat. — G M. Tripathi, Bombay.
18. Dictionary of world Literay Terms — Joseph T Shipley, London, 1955.
19. Essays on the Sacred Languages, writings Religions of Parsis and Aitareya Brahmana — Martin Haug London 1860
20. Encyclopaedia of Religion and Ethics — James Hastings, London

21. Gujrati Language and Literature. — N V. Divatia Bombay, 1921.
22. Gujrat and its Literature. — K M Munshi, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1954
23 Hindi and Brajbhakha Grammar. — J R Ballentyne London, 1839
24 History of India — A R Hoernle and H A. Stark Calcutta, 1904
25 Historical Grammar of Inscriptional Prakrits. — M. A. Mahandale Poona, 1948.
26 Historical Grammar of Apabhramsa — G. V. Tagare Poona, 1948
27. Indo Aryan and Hindi. — S. K Chatterji, Ahmedabad, 1942
28 Literary Circle of Mahamatya Vastupal and Its contribution to Sanskrit literature — B J. Sandeara S J. S No 33
29. Linguistic Survey of India. — G A Grierson Vol IX, Calcutta, 1905
30 Life and work of Amir khusro — M. B Mirza
31. Life in Ancient India in the age of Mantras. — P T. Srinivas Ayangar, Madras, 1912
32 Memoirs of the Archeological Survey of India No. 5. — Sri Ram Pd. Chanda,
33 Morawall Inscription — Epigraphica Indica, Report of the Archeological Survey of India, For Kankaliteela Excavation, 1889–91
34 Medieval Mysticims of India — K. M Sen
35 Milestones in Gujrati literature — K M. Jheveri, Bombay, 1914
36 Music of Scuthern India. — Capt. Day.
37 Method and Material of Literary Criticism — Galay.
38 Origin and Development of the Bengali Language — S K Chatterji, Calcutta, 1926
39 On the Indo Aryan Vernaculars. — G A Grierson
40. Preliminary Report on the Operation in Search of Manuscripts of Bardic Chronicles — H P Shastri
41. Pali Grammatik (German) — W. Geiger, 1913
42 Standard Dictionary of Folklore Mythology and Legends — New York, 1950.

43	Scientific History of Hindi Language.	S. S Narula, 1955.
44	Sandesa Rasaka.	Edited by Muni Jin Vijaya Linguistic Study by Dr. H B. Bhayani, Bombay, 1946.
45	Sidha Sidhant Paddhati	Dr. Kalyani Mallik, Poona, 1954.
46	The Lyrical poetry of India.	In India New and Old by E.W. Hopkins.
47	The ten Gurus and their Teachings.	Baba C. Singh.
48	The History of India, as told by its own Historians.	Henery Illiot
49	The Linguistic speculations of Hindus	P. C Chakraborty, Calcutta.
50.	The Ruling chiefs and Leading personages in Rajputana.	VI Edition.
51	Vedic Grammar.	Dr Macdonell IV Edition, 1955.
52	Vedic Index	Macdonell & Keith, 1912.
53	Varnaratnakar of Jyotirishwar	Biblotheca Indica Edited by Chatterji and Babuaji Misra, Calcutta, 1940.
54	Vaishnavism, Shaivism and other minor Religious Systems	R G Bhandarkar.
55	Wilson's Philological Lectures	R. G Bhandarkar.

ENGLISH PERIODICALS

1 Journal of Royal Asiatic Society of Bengal—1875, 1908.
2 Bulletin of the School of Oriental Studies—Vol. I, No 3
3 Journal of the Department of Letters of Calcutta University—Vol 23, 1933.
4 Proceedings of the Eighth Oriental Conference Mysore, 1935.
5 Viena Oriental Journal—Vol VII, 1893
6 Indian Culture, 1944.
7. Proceedings of the Asiatic Society of Bengal, January 1893.
8 The Calcutta Review, June 1927.

अनुक्रमणिका

नामानुक्रम

भाषानुक्रम